

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली
का
स्वर्ण-जयन्ती गौरव-ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक
डॉ. ऋषभचन्द्र जैन



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली
बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार) - 844128

2010

मैं समझता हूँ कि वैशाली में प्राकृत अनुसंधानशाला की स्थापना बहुत ही सामयिक है। मैं आशा करता हूँ कि यहाँ जो अध्ययन होगा और जो खोज की जायगी, उनके परिणाम स्वरूप जहाँ भारतीय इतिहास की टूटी हुई शृंखलाओं के जुड़ने की आशा है, वहाँ हम एक अत्यन्त प्रतापी और यशस्वी विभूति की जीवन-कथा तथा विचारधारा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने आपको कृतकृत्य कर सकेंगे। मुझे विश्वास है कि यह प्राकृत अनुसंधानशाला, जिसका शिलान्यास का दायित्व आपने मुझे सौंपने की कृपा की है, शीघ्र ही बन कर तैयार हो जायगी। मुझे सन्देह नहीं कि कालान्तर में इस शाला के कारण वैशाली फिर विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन जायगा। बिहार सरकार और दूसरे जिन लोगों ने इस अनुसंधानशाला की स्थापना में आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता की है, हमारे धन्यवाद के अधिकारी हैं। आगे भी इस पुण्य कार्य में सभी का पूर्ण सहयोग रहेगा, ऐसी मेरी आशा है।

- डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
(प्रथम राष्ट्रपति)

ISBN : 978-81-904865-7-6

रु. 600.00

प्राकृत, जैन शोध संस्थान ग्रन्थमाला - 78

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

का

स्वर्ण-जयन्ती गौरव-ग्रन्थ

**THE GOLDEN-JUBILEE
GLORIOUS-VOLUME**

of

Research Institute of Prakrit Jainology & Ahimsa, Vaishali

प्रधान सम्पादक

डॉ. ऋषभचन्द्र जैन

निदेशक

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार) - 844128

2010

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली का स्वर्ण-जयन्ती गौरव-ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक : डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, निदेशक, प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

© प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

प्रथम संस्करण : 2010

ISBN : 978-81-904865-7-6

मूल्य : रु. 600.00

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार) - 844128 के लिए डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, निदेशक द्वारा प्रकाशित।

इम्प्रेशन पब्लिकेशन, सालिमपुर अहरा 'बॉलिया' कदमकुआँ, पटना-800003, मो. 09234255597 द्वारा भारत में मुद्रित।



The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955, with the object, inter alia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This institute is one of the six research institutes being run by the Government of Bihar. The other five are : (i) Mithila Institute of Post-graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) K.P. Jayaswal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasha Parishad for research and advanced studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihara for research and post-graduate studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-graduate Studies and Research in Arabic and Persian at Patna.

As part of the programme of rehabilitating and reorienting ancient learning and scholarship, this is the Research Volume no. 78 which is the **The Golden-Jubilee Glorious-Volume** of Research Institute of Prakrit Jainology & Ahimsa, Vaishali (प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली का स्वर्ण-जयंती गौरव-ग्रन्थ). The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fullness of time.

प्रधान सम्पादकीय

ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा धार्मिक दृष्टि से प्राचीन विदेह की राजधानी रही वैशाली नगरी का सातिशय महत्व है। वैशाली के निकटवर्ती कुण्डग्राम वर्तमान वासोकुण्ड में जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म हुआ था। डॉ. जगदीशचन्द्र माथुर के सत्प्रयत्न से वैशाली में भगवान महावीर के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में 1944 ई. में वैशाली महोत्सव के आयोजन का श्रीगणेश किया गया। तब से अब तक वैशाली महोत्सव का आयोजन प्रतिवर्ष हो रहा है। वैशाली के विकास को दृष्टि में रखकर श्री माथुर ने वैशाली संघ नामक संस्था की स्थापना की थी। संघ ने आठवें वैशाली महोत्सव के अवसर पर 6-7 अप्रैल, 1952 को वैशाली में प्राकृत जैन इन्स्टीच्यूट की स्थापना हेतु एक प्रस्ताव पारित किया था। यह प्रस्ताव बिहार सरकार तथा जैन समाज के गणमान्य लोगों को भेजा गया। तत्पश्चात् बिहार सरकार, दानवीर साहु शान्ति प्रसाद जैन एवं स्थानीय लोगों के सहयोग से 1955 ई. में बिहार सरकार ने प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान की स्थापना की थी। दिनांक 23 अप्रैल, 1956 ई. को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने वासोकुण्ड ग्राम में संस्थान भवन की आधारशिला रखी थी। शिलान्यास के अवसर पर बिहार के राज्यपाल श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, शिक्षामंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा, साहु शान्ति प्रसाद जैन एवं अन्य अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। प्रारम्भ में यह संस्थान मुजफ्फरपुर में किराये के भवन में कार्यरत रहा। संस्थान का अपना भवन निर्मित होने के बाद मार्च, 1965 में संस्थान के सभी कार्य वासोकुण्ड में संचालित होने लगे।

संस्थान की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य प्राकृत भाषा और साहित्य को संरक्षण प्रदान करना तथा जैनविद्या की विभिन्न विधाओं का अध्ययन-अध्यापन, शोध तथा व्यक्ति और समाज में अहिंसा के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना है। इन उद्देश्यों के पूर्ति के निमित्त संस्थान में प्राकृत और जैनशास्त्र विषय में स्नातकोत्तर अध्यापन, पी-एच. डी. एवं डी.लिट् उपाधियों हेतु शोध कार्य, प्राकृत भाषा और साहित्य से सम्बन्धित ग्रंथों का प्रकाशन, वैशाली इन्स्टीच्यूट रिसर्च बुलेटिन नाम से द्विभाषिक शोध पत्रिका का प्रकाशन, संगोष्ठियों तथा विशिष्ट व्याख्यान आदि का आयोजन निरन्तर होता है।

स्नातकोत्तर अध्यापन : संस्थान में वर्ष 1956 से प्राकृत और जैनशास्त्र विषय में स्नातकोत्तर (एम.ए.) कक्षाओं का नियमित रूप से अध्यापन कार्य संचालित हो रहा है। यह संस्थान बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर के स्नाकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग के रूप में कार्य कर रहा है तथा इसका संचालन बिहार सरकार के मानव संसाधन विकास विभाग द्वारा हो रहा है। यह पूर्णतः बिहार सरकारी संस्थान है। संस्थान में स्नातकोत्तर छात्रों के लिए पाँच छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था है।

शोधकार्य : संस्थान में प्राकृत और जैनशास्त्र की विभिन्न विधाओं यथा - जैन-दर्शन, इतिहास, साहित्य, कला आदि विभिन्न विषयों पर पी-एच. डी., डी.लिट् उपाधियों के लिए शोध कार्य कराया जाता है। दो शोध छात्रवृत्तियाँ भी प्रतिवर्ष छात्रों को दी जाती हैं। संस्थान के उत्कृष्ट शोध-प्रबन्धों को संस्थान द्वारा प्रकाशित भी किया जाता है।

ग्रन्थ प्रकाशन : संस्थान प्राकृत भाषा और साहित्य के मूल ग्रंथ, उनकी टीकाएँ, हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद तथा शोध अध्ययन ग्रंथों को प्रकाशित करता है। संस्थान के विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रंथों के अतिरिक्त देश के अन्य विद्वानों द्वारा किये गये कार्यों का भी प्रकाशन किया जाता है। प्रकाशन योग्य ग्रंथों के चयन हेतु सरकार द्वारा एक उच्च स्तरीय प्रकाशन समिति गठित है, जो संस्थान के उद्देश्यों के अनुरूप उत्कृष्ट प्रस्तावों पर विचार कर प्रकाशन हेतु अनुशासित करती है। अभी तक संस्थान से कुल 77 ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है। इसमें 21 रिसर्च बुलेटिन भी शामिल हैं। इस शृंखला में प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के मूल साहित्य के प्रकाशन को प्राथमिकता दी जायेगी।

व्याख्यानमालाएँ : संस्थान के उद्देश्य के अनुरूप तथा समाज में प्राकृत और जैनशास्त्र के अध्ययन के प्रति रुचि जागृत करने के निमित्त संस्थान में व्याख्यानमालाओं का आयोजन किया जाता है। वैशाली के प्रति स्व. जगदीशचन्द्र माधुर के योगदान का स्मरण करते हुए संस्थान की अधिष्ठात्री परिषद् ने “जगदीशचन्द्र माधुर स्मृति व्याख्यानमाला” प्रारम्भ की है। इसका आयोजन संस्थान में प्रतिवर्ष भगवान महावीर के जन्म दिवस चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वैशाली महोत्सव के प्रसंग में होता है। संस्थान के पूर्व निदेशक तथा जैन इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी की पुण्य स्मृति में “डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी स्मारक व्याख्यानमाला” प्रारम्भ की गयी है। 2009 ई. में संस्थान के संस्थापक निदेशक डॉ. हीरालाल जैन की स्मृति में “डॉ. हीरालाल जैन स्मृति व्याख्यानमाला” एवं आचार्य कुन्दकुन्द की स्मृति में “आचार्य कुन्दकुन्द व्याख्यानमाला” प्रारंभ की गई हैं, जो क्रमशः 27 नवम्बर, 2009 एवं 23 फरवरी, 2010 को संस्थान में आयोजित हो चुकी हैं। जिनमें डॉ. राजाराम जैन, डॉ. जयकुमार उपाध्ये, डॉ. कमलेश कुमार जैन, डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, डॉ. प्रमोद कुमार सिंह, डॉ. देव नारायण शर्मा, प्रभृति मनीषियों के व्याख्यान सम्पन्न हो चुके हैं। इन व्याख्यानमालाओं के आयोजन से संस्थान की गरिमा बढ़ी है। आगे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, प्रथम राष्ट्रपति के नाम से भी एक व्याख्यानमाला प्रारम्भ करने का प्रस्ताव है। उन्होंने प्राच्य भाषाओं और उनके साहित्य को संरक्षित करने हेतु राष्ट्र को प्रेरित किया था। संस्थान के विद्वानों एवं अन्य विद्वानों द्वारा एक मासिक व्याख्यानमाला का भी आयोजन किया जाता है। संस्थान में विशिष्ट विद्वानों का भी समय-समय पर आगमन होता रहता है, जिनके ज्ञान एवं अनुभवों का भी लाभ संस्थान के लोगों एवं अन्य स्थानीय लोगों को प्राप्त होता रहता है।

पुस्तकालय : उपर्युक्त अध्ययन, शोध आदि विभिन्न प्रकार की अकादमिक गतिविधियों के संचालन हेतु संस्थान में एक आदर्श पुस्तकालय है, जिसमें प्रायः सभी विधाओं का जैन साहित्य, सभी वैदिक दर्शनों का साहित्य, बौद्ध साहित्य, तुलनात्मक अध्ययन विषयक

साहित्य, वेद, पुराण, कोष के साथ-साथ इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, आदि महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रंथों का विशाल संग्रह है। पुस्तकालय में अनेक प्रकार के प्राचीन जर्नलों का भी संग्रह है। पुस्तकालय में पुस्तकों की कुल संख्या लगभग 17,000 है।

संस्थान में श्रीमती हीरा कुमारी, कलकत्ता ने अपना 804 पुस्तकों का निजी संग्रह दानस्वरूप प्रदान किया था, जिसे उन्हीं के नाम से संस्थान पुस्तकालय में रखा गया है। अन्य जो महानुभाव और संस्थाएँ अपना संग्रह दानस्वरूप संस्थान को देना चाहेंगे, संस्थान उसे आभारपूर्वक स्वीकार करेगा तथा पुस्तकालय में उन्हीं के नाम से संरक्षित करेगा। इस दिशा में डॉ. हीरालाल जैन के निजी संग्रह को प्राप्त करने हेतु संवाद जारी है। उनके परिजन संस्थान को डॉ. जैन का ग्रंथालय सुपुर्द करने का विचार कर रहे हैं।

संस्थान के अध्येता प्रतिष्ठित विद्वानों में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. के.आर. चन्द्र, डॉ. योगेन्द्र चन्द्र सिकदर, डॉ. योगेन्द्र प्रसाद सिन्हा, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. प्रेम सुमन जैन, डॉ. गोकुल चन्द्र जैन, डॉ. विमल प्रकाश जैन, डॉ. विधाता मिश्र, डॉ. दामोदर शास्त्री, डॉ. राम प्रकाश पोद्दार, डॉ. नागेन्द्र प्रसाद सिन्हा, डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, डॉ. रामजी राय, पं. पद्मचन्द्र जैन, डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, डॉ. डी.पी. श्रीवास्तव, डॉ. छगन लाल शास्त्री, डॉ. राय अश्विनी कुमार आदि विद्वानों ने संस्थान में अध्ययन कर अर्जित ज्ञान से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं अन्य सरकारी-गैर सरकारी संस्थानों में अपनी सेवा देकर संस्थान का गौरव बढ़ाया है इतना ही नहीं, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. गोकुलचन्द्र जैन एवं डॉ. प्रेम सुमन जैन ने प्राकृत भाषा और साहित्य के क्षेत्र में विशेषज्ञता के लिए राष्ट्रपति सम्मान भी प्राप्त किया है, जो संस्थान के लिए विशेष रूप से गौरवपूर्ण है।

सर्वप्रथम संस्थान के संस्थापक निदेशक प्राच्य भाषाओं के मनीषी डॉ. हीरालाल जैन नियुक्त हुए थे, उन्होंने पाँच वर्षों तक संस्थान के कार्यों को सुचारु रूप से संचालित किया। तत्पश्चात् 12 वर्षों तक पालि एवं प्राकृत के प्रतिष्ठित विद्वान डॉ. नथमल टाटिया ने निदेशक का दायित्व निभाया। उसके बाद डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, डॉ. नागेन्द्र प्रसाद, डॉ. राम प्रकाश पोद्दार, डॉ. देव नारायण शर्मा, डॉ. लालचन्द्र जैन, डॉ. युगलकिशोर मिश्र आदि विद्वानों ने संस्थान के निदेशक का पदभार सम्भाला। संस्थान के प्रतिष्ठित प्राध्यापकों में डॉ. सत्करी मुखर्जी, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, डॉ. अनन्त लाल ठाकुर, डॉ. छगन लाल शास्त्री, डॉ. ओम प्रकाश शरण आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि संस्थान के दो विद्वान निदेशकों - डॉ. लालचन्द्र जैन एवं डॉ. ऋषभचन्द्र जैन को शौरसेनी प्राकृत भाषा और साहित्य विषयक “आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार” प्रदान किया गया तथा डॉ. लालचन्द्र जैन को “विद्वत्तल” एवं डॉ. ऋषभचन्द्र जैन को “प्राकृत भाषा विशारद” की मानद उपाधि से 15 जनवरी, 2004 को नई दिल्ली में सम्मानित किया गया। इस प्रकार प्राकृत भाषा और जैन साहित्य के क्षेत्र में प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान अपने स्थापना काल से अनवरत जैनधर्म एवं संस्कृति की सेवा में समर्पित है।

प्रस्तुत ग्रंथ में संस्थान के इतिहास, प्राकृत भाषा और साहित्य, जैन दर्शन तथा जैन साहित्य से सम्बन्धित 53 शोध निबन्धों/आलेखों का संग्रह किया गया है जिनमें प्राकृत भाषा की प्राचीनता और जैन संस्कृति के इतिहास पर विस्तार से विचार हुआ है। मुझे विश्वास है कि यह सामग्री शोध जगत् के लिए उपयोगी साबित होगी। एतदर्थ मैं विद्वान लेखकों का कृतज्ञ हूँ। ग्रन्थ संयोजन में सर्वश्री प्रमोद कुमार चौधरी, दिवाकर झा और विजय कुमार सिन्हा के सहयोग हेतु उन्हें धन्यवाद देता हूँ। अन्य जिन विद्वानों ने समय-असमय, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में मार्गदर्शन किया है, उन सभी का हृदय से आभारी हूँ। आकर्षक मुद्रण के लिए इम्प्रेशन पब्लिकेशन, पटना के संचालक श्री राकेश रंजन धन्यवादार्ह हैं।

चैत्र शुक्ल त्रयोदशी

28 मार्च, 2010

ब्रह्मभचन्द्र जैन

निदेशक

अनुक्रमणिका

1. सुपंडिय-पसत्थि (सत्पण्डित-प्रशस्ति) 1-2
प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन
2. राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का भाषण 3-7
3. **Presidential Address of Shri R.R. Diwakar,
Governor of Bihar** 8-10
4. बिहार के शिक्षा-मंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा का भाषण 11-13
5. **Address of Shri Shanti Prasad Jain** 14-15
6. प्राकृत शोध संस्थान के उदय एवं विकास की गौरव गाथा 16-22
डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल
7. प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (वासोकुण्ड) 23-25
का अतीत गौरव और वर्तमान
डॉ. देवनारायण शर्मा
8. वैशाली के सारस्वत सन्त पुण्यश्लोक डॉ. हीरालाल जैन 26-31
साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
9. **My Revered Guru : Dr. Jain** 32-44
Late Dr. J.C. Sikdar
10. डॉ. हीरालाल जैन : ग्रंथ परिचय 45-56
डॉ. धरमचंद जैन
11. डाक टिकट से सम्मानित डॉ. स्व. जगदीश चन्द्र जैन 57-58
डॉ. कपूरचन्द जैन
12. प्राकृत-भाषा की प्राचीनता एवं सार्वजनीनता 59-97
प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन
13. प्राकृत एवं पालि भाषा का सम्बन्ध 98-103
डॉ. विजयकुमार जैन
14. कुवलयमाला कहा 104
स्व. रमा कान्त जैन
15. संस्कृत-नाट्य-साहित्य में प्राकृत-प्रयोग की पृष्ठभूमि 105-107
प्रो. (डॉ.) प्रमोद कुमार सिंह
16. **Jaina Theory of Production of Sound and Evolution
of Language** 108-113
Dr. R.P. Poddar

- | | | |
|-----|--|---------|
| 17. | आचार्यश्री सुनीलसागरजी का प्राकृत काव्य साहित्य
डॉ. महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज' | 114-118 |
| 18. | प्राकृत साहित्य में वर्णित वास्तुविज्ञान
डॉ. जयकुमार उपाध्ये | 119-126 |
| 19. | ज्ञाताधर्म कथा में वर्णित बौद्धिक दृष्टि
डॉ. एच. सी. जैन | 127-135 |
| 20. | आधुनिक युग में भगवान महावीर के जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता
दुलीचंद जैन | 136-141 |
| 21. | जैनधर्म सम्मत अहिंसा का प्रशिक्षण
प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' | 142-149 |
| 22. | विश्व-शांति और अनेकांतवाद
डॉ. शेखरचन्द्र जैन | 150-159 |
| 23. | An Introduction to Jain Philosophy
Dr. Vijaya Kumar | 160-181 |
| 24. | जैन दर्शन में मन-एक तुलनात्मक अध्ययन
डॉ. नेमिचन्द्र जैन | 182-186 |
| 25. | जैन दर्शन में पर्याय का स्वरूप
डॉ. वीरसागर जैन | 187-191 |
| 26. | क्षमा की शक्ति
सुरेश जैन आई.ए.एस. (से.नि.) | 192-197 |
| 27. | आगम और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में श्रमणाचार
डॉ. श्रेयांसकुमार जैन | 198-205 |
| 28. | श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों में मुनि-आर्यिकाओं की वन्दना-विधि
डॉ. कमलेश कुमार जैन | 206-211 |
| 29. | श्रावक के षट्कर्म-उपादेयता
विमला जैन 'विमल' | 212-217 |
| 30. | जैन आगम के आलोक में पूजन विधान
प्रतिष्ठाचार्य पं. वर्द्धमान कुमार जैन सौरया | 218-223 |
| 31. | भारतीय तन्त्र-साधना और जैन धर्म-दर्शन
(एक समन्वयात्मक विवेचन)
प्रो. सागरमल जैन | 224-253 |
| 32. | अष्टाङ्गयोग
डॉ. रामप्रकाश पोद्दार | 254-263 |
| 33. | अहिंसा की परिधि में पर्यावरण सन्तुलन
प्रो. (डॉ.) पुष्पलता जैन | 264-274 |

34. पर्यावरण संतुलन और जैन सिद्धान्त 275-283
डॉ. पी.सी. जैन
35. जैनदर्शन में जीव और पर्यावरण चेतना 284-291
रामनरेश 'नीरज' जैन
36. महावीर-युग की वैशाली 292-296
साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
37. जैन संस्कृति 297-333
डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा
38. तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण स्थल 334-343
डॉ. रमेशचन्द्र जैन
39. जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकर 344-358
डॉ. शर्मिला जैन
40. सूरिमंत्र और उसकी महत्ता 359-366
प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सौर्या
41. जैन साहित्य में रामकथा 367-371
डॉ. गोकुलचन्द्र जैन
42. राजा श्री खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख 372-375
डॉ. शशिकान्त
43. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख एवं जैनधर्म 376-381
डॉ. चितरंजन प्रसाद सिन्हा
44. केरली संस्कृति में जैन योगदान 382-399
राजमल जैन
45. South East Asia and Indian Ocean in
Jaina Literature 400-413
Prof. Bhagchandra Jain
46. आचार्य कुंदकुंद और उनके चौरासी पाहुड 414-417
ले. जितेन्द्र सौगानी
47. अज्ञात जैन विद्वान पं. नन्दलाल जी छावड़ा का 418-426
साहित्यिक अवदान
प्रो. (डॉ.) फूलचन्द्र जैन प्रेमी
48. भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति एवं उनकी गुरु-शिष्य-परम्परा 427-431
डॉ. कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'
49. श्री पं. नाथूराम 'प्रेमी' की सम्पादन-कला 432-436
अर्द्धकथानक के संदर्भ में
डॉ. जिनेन्द्र जैन

- | | | |
|-----|--|---------|
| 50. | वेदना की गणितीय समतुल्यतादि निश्चलताएँ
डॉ. एल. सी. जैन | 437-443 |
| 51. | सूर्यप्रज्ञप्ति में वर्णित जैनप्योतिष
डॉ. जयकुमार उपाध्ये | 444-450 |
| 52. | आयुर्वेद और पतञ्जलि
डॉ. गजेन्द्र कुमार जैन | 451-460 |
| 53. | जैन महिलाओं के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास
विमला जैन | 461-468 |
| 54. | संस्थान चित्रावली | |

सुपंडिय-पसत्थि (सत्पण्डित-प्रशस्ति)

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन*

1. वंसाणुमोदिद जणाणुमदस्य कच्चि जे,
राया जडो वि होई इह विणा अयासां।
पंडियत्तु बुद्धि-विहवेण महस्समेण हि,
जादो हि पंडिय राय समत्त णत्थि॥

वंश-परम्परानुमोदित (या राजतन्त्रानुमोदित) अथवा प्रजातन्त्रानुमोदित होने के कारण अज्ञानी व्यक्ति भी राज्य-सिंहासन अथवा सत्ता का अधिकारी बन सकता है, किन्तु सत्पण्डित तो पूर्वजन्म के सुसंस्कार, सुसंगति, स्वाध्याय, बुद्धि की प्रखरता एवं कठोर परिश्रमपूर्ण साधना से ही बन सकता है। (1)

2. जादी ण जीवदि सुसंकिदि अंतरेण,
साहित्तमेव परिरक्खदि सँकिदी तं।
पंडियाहि तं सिजदि तेण बुहो स एगो,
पूर्णं सदा विदहादि जगं समत्थं॥

सुसंस्कृति के बिना कोई भी जाति जीवित नहीं रह सकती और सत्साहित्य के बिना संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकती और उस सत्साहित्य का प्रणयन करने वाला सत्पण्डित ही होता है। अतः वही अखिल विश्व का संरक्षक भी हो सकता है। (2)

3. धम्मं हि रक्खदि णिरिक्खदि वत्थु - तच्चं,
विज्जं वितरदि ण चेच्छदि किंचि अण्णां।
दइण्णं ण गच्छदि ण माणमपेच्छदी जो,
धुदि जोग्ग इह सुपंडिय पुव्व-सग्गो॥

सत्पण्डित ही धर्म की रक्षा कर सकता है। वही वस्तु-तत्त्व का निरीक्षण भी कर सकता है। सद्बिद्या भी वही प्रदान कर सकता है, किन्तु उसके बदले में वह चाहता कुछ भी नहीं। फिर भी, वह दीनता का अनुभव नहीं करता और न मान-सम्मान की अपेक्षा ही करता है। वस्तुतः सत्पण्डित की सृष्टि ही अपूर्व होती है, इस कारण वह सर्वदा स्तुत्य है। (3)

* बी-5/40 सी. धवलगिरी, सेक्टर-34, नोएडा (यू. पी.)-210301.

4. -पंडिएसु जेगा विहिदावराधा,
 विरुद्ध सासणपरा धण-मीहमाणा।
 णस्सदि तहवि ण सुविण्णप्पहावो,
 सव्वं पगासदि ण किं सकलंको वि चंदो?

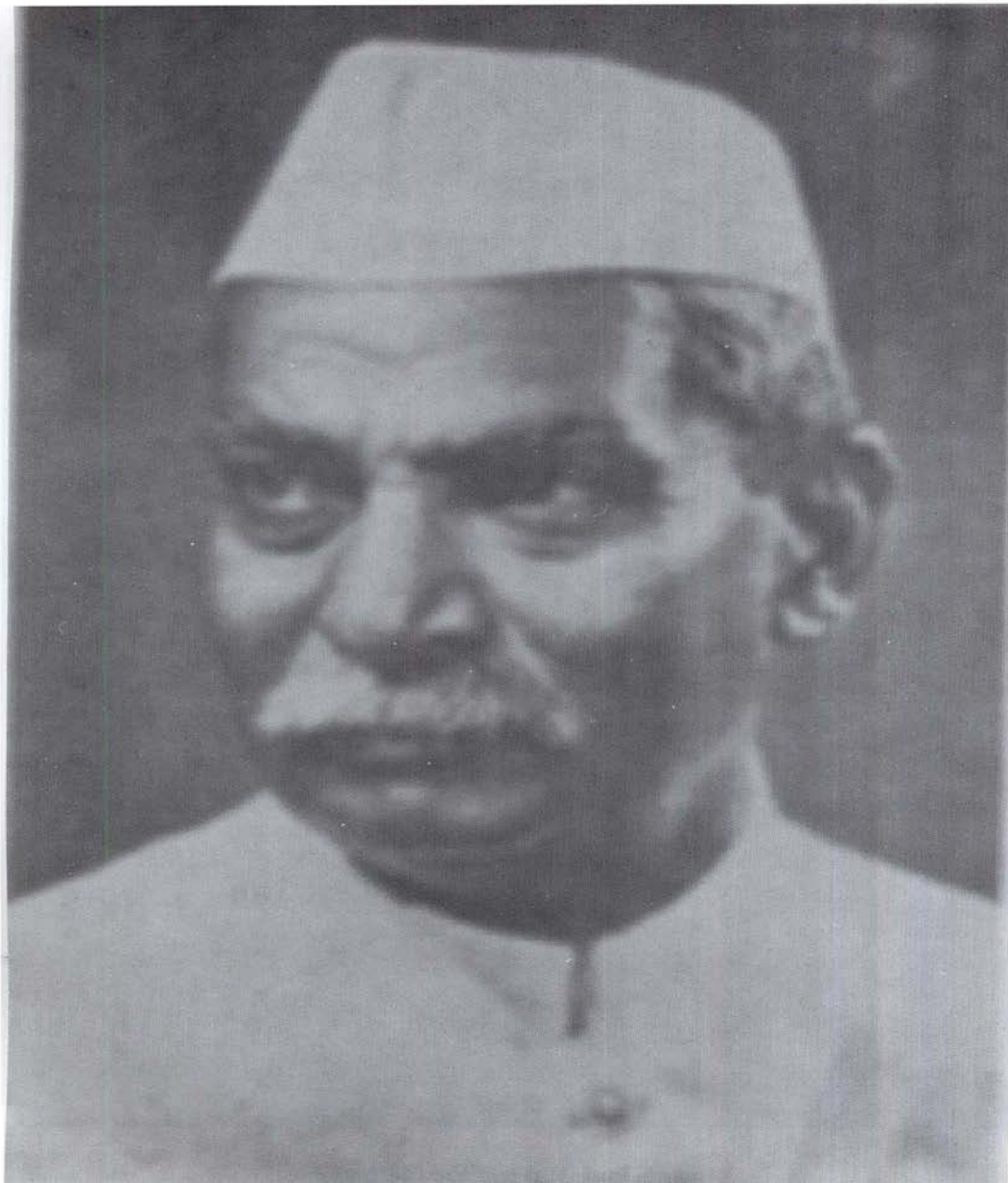
इस संसार में कुछ पण्डित ऐसे भी होंगे, जो धनागम की अभिलाषा से शासन-विरुद्ध-कार्य करते होंगे, किन्तु इससे सत्पण्डित-वर्ग की छवि क्या घूमिल हो सकती है?

पूर्णमासी के चन्द्रमा में कलंक स्पष्ट दिखाई देता है, फिर भी, क्या वह अपनी समस्त कलाओं के साथ संसार को पूर्ण प्रकाशदान नहीं देता? (4)

5. -माया-पवंच पर-वंचण चंचलस्सिरि,
 जस्सामणादराभीदिव जेहि पासं।
 तम्हा अपाव परिपूरिद माणसं तं,
 लोहादकुटिद णिहिं सुधिं णमामो॥

चतुर लक्ष्मी अपने जन्म-जात गुण-माया, प्रपंच, पर-वंचना एवं चंचलता के प्रदर्शन के कारण अपने अनादर के भय से ही मानों विरोधी गुणवाले सत्पण्डितों के पास नहीं फटकती। वस्तुतः सत्पण्डितों की सृष्टि ही निराली है।

ऐसे मनस्वी, सरल-हृदय एवं निर्लोभी सत्पण्डित सदा प्रणम्य हैं। (5)



Dr. Rajendra Prasad
First President of India



Shri R.R. Diwakar
The Governor of Bihar



Shri Shanti Prasad Jain



Acarya Badrinath Verma
Minister of Education, Bihar

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का भाषण वैशाली में प्राकृत शोध संस्थान का शिलान्यास करते समय (23 अप्रैल, 1956)

यह बिहार का सौभाग्य है कि उसका अतीत प्राचीन भारत के इतिहास की पृष्ठभूमि है। इतिहासकालीन भारत के जीवन को समझने के लिए बिहार को समझना आवश्यक है। हमारे गौरवमय अतीत से सम्बन्धित जितने भी प्रमुख स्थल बिहार में हैं, वैशाली निस्सन्देह उनमें से एक है। यह नगरी लिच्छवियों और वज्जियों के गणराज्य की राजधानी थी। प्राचीन काल में गणराज्य अथवा प्रजातन्त्र का यह स्थान प्रसिद्ध केन्द्र था। एक समय था जब इस भूमि में किसी राजा का शासन नहीं था, जनता के सात हजार से अधिक प्रतिनिधि सारा राजकाज चलाते थे और न्याय का विधान इतना सुन्दर था कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने अपने मुख से उसकी प्रशंसा की थी। निश्चय ही लोक-शासन की सारी चेतना यहाँ मूर्तरूप से देखी जाती थी।

इसके अतिरिक्त वैशाली भगवान् महावीर की जन्मभूमि है और भगवान् बुद्ध को भी बहुत प्रिय थी। स्वयं बुद्ध भगवान् ने इस स्थान को बार-बार अपनी चरण-रज देकर पावन बनाया था और इसकी सभा की देवताओं की सभा से तुलना की थी। वैशाली से जो सद्-विचारधारा प्रवाहित हुई उससे समस्त भारत ही नहीं, बल्कि एशिया के निकटवर्ती देश भी लाभान्वित हुए। इसलिए वैशाली का स्थान हमारे प्राचीन इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। मैं समझता हूँ कि प्राकृत अनुसंधानशाला के लिए यह स्थान ही सबसे अधिक उपयुक्त है। हमारे सांस्कृतिक जीवन में और इतिहास के अध्ययन में यह अनुसंधानशाला एक बहुत बड़े अभाव को पूर्ति करेगी।

इस अनुसंधानशाला में जैन साहित्य और प्राकृत ग्रन्थों के संबंध में अनुसंधान और अध्ययन की व्यवस्था होगी। संस्कृति की दृष्टि से ही नहीं, भारतीय इतिहास और चिन्तन की दृष्टि से भी, इस दिशा में प्रयास का विशेष महत्त्व है। चार वर्ष हुए, दिल्ली में प्राकृत ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए प्राकृत ग्रन्थ परिषद् की स्थापना हुई थी। मैं समझता हूँ कि उस परिषद् का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं कि वह प्रस्तावित अनुसंधानशाला द्वारा किये जानेवाले कार्य का भार भी सँभाल सके।

प्राकृत ग्रन्थ परिषद् से मेरा संबंध सौभाग्य से उसी समय से है जब उसकी स्थापना हुई थी। प्राकृत भाषा में लिखित ग्रन्थों की खोज और टीका-सहित उनके प्रकाशन के संबंध में मेरा सदा यह विचार रहा है कि यह कार्य इतिहास, साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से

अत्यन्त आवश्यक है। गत तीस-चालीस वर्षों से ही इतिहासवेत्ताओं और जैन आचार्यों का इस ओर विशेष ध्यान गया है, परन्तु यह कार्य नियमित रूप से हाल ही में आरम्भ किया जा सका है। प्राकृत अनुसंधानशाला में जो उच्चकोटि का कार्य और अनुसंधान किया जायेगा, उससे प्राकृत ग्रन्थ परिषद् के कार्य को पथ-प्रदर्शन और हर प्रकार की सहायता प्राप्त होगी।

आज वैशाली में बैठकर यह कल्पना करना भी कठिन जान पड़ता है कि ढाई हजार वर्ष पहले यह नगरी एक सम्पन्न और प्रभावशाली गणराज्य की राजधानी थी। विभिन्न भाषाओं में लिखे ग्रन्थों, स्तूपों आदि पर अंकित शिलालेखों से ही इस धारणा की पुष्टि नहीं होती, बल्कि धीरे-धीरे जैसे लुप्त ग्रन्थों की खोज होती जा रही है, इस संबंध में हमारी जानकारी में वृद्धि होती जा रही है। वैशाली जो भगवान् महावीर की जन्मभूमि थी और सदियों तक उनके मतावलम्बियों तथा अनुयायियों की धार्मिक और साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र रही, आज जीर्ण-शीर्ण अवस्था में हमारे सामने है। परन्तु ढाई हजार वर्ष की उथल-पुथल के बाद भारत में फिर गणराज्य की स्थापना हुई है। आज इस यशस्वी भूमि के रजकण से हमें उत्प्रेरणा मिलती है। यह स्वाभाविक है कि प्राचीन इतिहास के जानकार वैशाली के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करें और उन ऊँचे आदर्शों को जीवन में फिर से उतारने का प्रयत्न करें, जो बौद्ध तथा जैन विचारधारा के अनुसार, वैशाली के नागरिकों का पथ-प्रदर्शन करते थे।

वैशाली जिस राज्य की राजधानी थी, वह यद्यपि देश भर में प्रभावशाली था, पर बहुत बड़ा राज्य नहीं था। प्राचीन काल में वह देश के हृदय के समान था। यहाँ के गणराज्य की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी और यहाँ की परम्पराओं तथा विचारधारा ने दूर स्थित प्रदेशों को प्रभावित किया था। यहाँ के जैन और बौद्ध आचार्य जो अपनी भ्रमणशीलता के लिए विख्यात थे, देश के सभी भागों में घूमते थे और बुद्ध तथा महावीर के उपदेशों का प्रचार करते थे। भारत में ही नहीं, तिब्बत, नेपाल, ईरान, इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान आदि एशिया के दूसरे देशों में भी इन लोगों का सम्पर्क था।

उस समय देश में संस्कृत के अतिरिक्त दो भाषाएँ प्रचलित थीं- पाली और प्राकृत। महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियों ने अधिकतर पाली को प्रश्रय दिया और महावीर स्वामी तथा उनके मतावलम्बियों ने प्राकृत को अपनाया। इन दोनों मतों के आचार्यों और अनुयायियों ने कालान्तर में जो कुछ लिखा, वह अधिकतर पाली और प्राकृत में ही उपलब्ध है। सौभाग्य से पाली भाषा के क्षेत्र में बहुत कुछ काम हो चुका है जिसके फलस्वरूप प्राचीन-कालीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति के संबंध में हमारी जानकारी में काफी वृद्धि हुई है। सौ वर्ष के करीब हुए जब भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से पाली ग्रन्थ-परिषद् ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया है; किन्तु दुर्भाग्यवश प्राकृत के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। किन्हीं कारणों से हमारा ध्यान उस ओर अधिक नहीं गया है और विदेशी विद्वानों ने भी प्राकृत साहित्य के महत्त्व को बीसवीं सदी के आरम्भ में ही समझा है। यह बताने की मैं आवश्यकता नहीं समझता कि किन कारणों से प्राकृत के क्षेत्र में उतना कार्य नहीं किया जा सका, जितना पाली साहित्य के संबंध में

किया जा चुका है। यहाँ यह कह देना पर्याप्त होगा कि इस अभाव को दूर करना और देश भर में बिखरे हुए प्राकृत ग्रन्थों को प्राप्त कर सम्पादन के बाद उन्हें प्रकाशित करना, इस अनुसंधानशाला तथा ग्रन्थ परिषद् का उद्देश्य होगा।

प्राकृत साहित्य के महत्त्व और उसकी विशालता के संबंध में दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। जहाँ पाली साहित्य की परम्परा अधिक से अधिक सात शताब्दियों तक चली, वहाँ प्राकृत की परम्परा की अवधि करीब पन्द्रह शताब्दियों तक चलती रही। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इन्डो-आर्यन परिवार की भारतीय भाषाओं का पाली की अपेक्षा प्राकृत से कहीं अधिक निकट संबंध है। वास्तव में इस देश की आधुनिक भाषायें पूर्व मध्ययुग में प्रचलित विभिन्न प्राकृतों तथा अपभ्रंश की ही उत्तराधिकारिणी हैं। हिन्दी, बँगला, मराठी आदि किसी भी भाषा को लीजिये, उसका विकास किसी न किसी प्राकृत से ही हुआ है। विकास काल में कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना भी हुई, जिनका वर्गीकरण निहायत कठिन है अर्थात् जिनके संबंध में सहसा यह कह देना कि उनकी भाषा प्राकृत है अथवा किसी आधुनिक भाषा का पुराना रूप, आसान काम नहीं। इस दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति और पूर्ण विकास को समझने के लिए प्राकृत साहित्य का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

अपनी परम्परा के अनुसार जैन आचार्य एक स्थान में तीन चार महीनों से अधिक नहीं ठहरते थे और बराबर भ्रमण करते रहते थे। उन्होंने जो उपदेश दिये और जिन ग्रन्थों की रचना की, वे देश भर में बिखरे पड़े हैं। सौभाग्य से उनमें से अधिकांश हस्तलिखित आलेखों के रूप में भण्डारों में आज भी सुरक्षित हैं। ये ग्रन्थ सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक और उत्तर तथा पूर्व के अनेक स्थानों में पाये गये हैं। इन सबको एकत्र करना और आवश्यक अनुसंधान के बाद आधुनिक ढंग से उनके प्रकाशन की व्यवस्था करना एक आवश्यक कार्य है।

जैन आचार्यों और विद्वानों की एक और विशेषता उनकी रचनाओं की व्यापकता है। प्रायः सभी की भाषा प्राकृत है, परन्तु उनकी साहित्यिक परिधि महावीर स्वामी के उपदेश और धार्मिक विषयों के विवेचन तक ही सीमित नहीं। जैन श्रमणों ने लोकभाषा को साहित्य का वाहन बनाया था। उन युगों की देश की लोकभाषा प्राकृत थी। इसी कारण प्राकृत भाषा में विपुल साहित्य मिल रहा है, शिलालेख मिल रहे हैं, सिक्के मिल रहे हैं। सुनते हैं कि इस भाषा में छोटे बड़े प्रत्येक विषय को मिला कर एक हजार के करीब ग्रन्थ हैं, जिनमें महावीर के उपदेश सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थसूत्र, निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ, भाष्य, महाभाष्य, टीका आदि के 300 से 350 ग्रन्थ हैं। धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक साहित्य भी, जैसे काव्य, छन्द, नाटक, कोश, गणित, मुद्रा-शास्त्र, रत्नपरीक्षा शास्त्र, ऋतु विज्ञान, जातीय विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष, शिल्प-कहानियाँ, चरित्र, कथानक, प्रवासकथा आदि मानव जीवन से संबंध रखनेवाले सभी विषयों पर उत्तम ग्रन्थ जैन श्रमणों ने प्राकृत भाषा में लिखे हैं, और जो भी उन्होंने लिखा, बड़ी बारीक छानबीन के साथ विस्तार से लिखा है।

इस व्यापकता के कारण जैन साहित्य अथवा प्राकृत साहित्य का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जैसा मैंने अभी कहा, ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी से लेकर इधर आठवीं शताब्दी तक प्राकृत में ग्रन्थों की रचना होती रही। हमारे इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण काल में देश के विभिन्न भागों में जो राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति रही है, उस पर इस साहित्य द्वारा काफी प्रकाश पड़ता है। प्राकृत साहित्य का अधिकांश भाग अभी भी इतिहास के साधारण विद्यार्थी की पहुँच से बाहर है और हमारी साहित्य-संबंधी धारणाएँ प्राकृत साहित्य में दिये गये तथ्यों और विवरणों से अभी प्रकाशित नहीं हो पायी हैं। इस बात से आशा होती है कि भारत के साहित्य में जो सबसे अधिक अन्धकारमय काल है, अर्थात् जिस काल के संबंध में हमारी जानकारी बहुत कम है अथवा अधिकतर अटकल पर आधारित है, उस काल के संबंध में प्राकृत साहित्य से प्रकाश मिले। सम्भव है, इससे हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ जायें और टूटी हुई शृंखलाएँ जुड़ जायें।

इन सभी दृष्टियों से प्राकृत साहित्य की खोज तथा अवलोकन और प्राकृत ग्रन्थों के प्रकाशन का महत्त्व असाधारण है। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० शूब्रिंग आदि विदेशी विद्वानों का भी यही मत है। उनका कहना है कि प्राकृत साहित्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये बिना भारत के साहित्य का हमारा ज्ञान सदा अधूरा रहेगा। यदि स्वाधीन होने के बाद भी हम प्राकृत के लुप्त और विस्मृत-प्राय ग्रन्थों की पूरी खोज कर, उन्हें साधारण ज्ञान की सरिता में न मिला सकें, तो यह आश्चर्य ही नहीं, लज्जा की बात होगी।

भगवान् महावीर के सन्देश और उनके लौकिक जीवन के संबंध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का भी हमारे लिए ही नहीं, समस्त संसार के लिए विशेष महत्त्व है। “अहिंसा परमो धर्मः” का सन्देश उनकी अनुभूति और तपश्चर्या का परिणाम था। महावीर के जीवन से मालूम होता है कि कठोर तपस्या करने के बाद भी वे शुष्क तापसी अथवा प्राणियों के हित-अहित से उदासीन नहीं हो गये थे। दूसरों के प्रति उनकी आत्मा स्नेहाद्रि और सहृदय रही। इसी सहानुभूतिपूर्ण स्वभाव के कारण जीवों के सुख-दुःख के बारे में उन्होंने गहराई से सोचा है और इस विषय में सोचते हुए ही वे वनस्पति के जीवों तक पहुँचे हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि और बहुमूल्य अनुभव जिसके आधार पर वे अहिंसा के आदर्श पर पहुँचे, असाधारण जिज्ञासा का ही विषय न रह कर वैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुसंधान का विषय होना चाहिए।

भगवान् महावीर के जीवन से एक और तत्त्व हमें ग्रहण करना चाहिए-वह है उनकी समन्वय-दृष्टि। अपने विचारों को उदार रख दूसरों को सहानुभूतिपूर्वक उनकी दृष्टि से समझने की क्षमता और अपने में मिलाने की शक्ति ही समन्वय-दृष्टि है। महावीर की समन्वयात्मक दृष्टि भारतीय धर्म तथा दर्शनशास्त्र के लिए बहुत बड़ी देन है। इस सिद्धान्त की गहराई और इसके उच्च व्यावहारिक पहलू को हम महावीर के जीवन में ही समझ सकते हैं।

इस सभी कारणों से मैं समझता हूँ कि वैशाली में प्राकृत अनुसंधानशाला की स्थापना बहुत ही सामयिक है। मैं आशा करता हूँ कि यहाँ जो अध्ययन होगा और जो खोज

की जायगी, उनके परिणाम स्वरूप जहाँ भारतीय इतिहास की टूटी हुई शृंखलाओं के जुड़ने की आशा है, वहाँ हम एक अत्यन्त प्रतापी और यशस्वी विभूति की जीवन-कथा तथा विचारधारा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने आपको कृतकृत्य कर सकेंगे। मुझे विश्वास है कि यह प्राकृत अनुसंधानशाला, जिसका शिलान्यास का दायित्व आपने मुझे सौंपने की कृपा की है, शीघ्र ही बन कर तैयार हो जायगी। मुझे सन्देह नहीं कि कालान्तर में इस शाला के कारण वैशाली फिर विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन जायगा। बिहार सरकार और दूसरे जिन लोगों ने इस अनुसंधानशाला की स्थापना में आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता की है, हमारे धन्यवाद के अधिकारी हैं। आगे भी इस पुण्य कार्य में सभी का पूर्ण सहयोग रहेगा, ऐसी मेरी आशा है।

Presidential Address of Shri R.R. Diwakar Governor of Bihar

On the occasion of the Foundation Laying Ceremony of the Institute

Vaishali is a name to conjure with. This place is hardly about twentythree miles from Muzaffarpur. It is associated with the federal republic of the Vajjis as early as the sixth century B.C. It was the federal capital as well as the capital of the Licchavi-clan which was the most powerful of the eight republics which formed the Vajji federation. The republics were run in a very systematic and efficient manner. In organising his religious order Buddha is said to have copied a number of features of the republic set up of the Vajjis.

But the political significance of Vaishali and its formidable citizens, the Licchavis, pales the religious and cultural importance of the place. It was a place loved by Buddha who spent long spells of time preaching there. He designated the people of the place as 'Timsa gods'. He admired their unity and democratic as well as religious spirit. It was here that Amrapali, the wealthiest and most beautiful courtesan of the palace, surrendered herself and everything belonging to her to Buddha proving thereby that inner peace and integrated personality are a far greater prize than charm of person and love of luxury. Nearby is the stupa of Kolhua, dedicated to Ananda, Buddha's greatest disciple, close to a huge 42 feet Asok pillar crowned by a lion couchant.

What is the most important today however, April 23, 1956 is that Basokund in this area is the birth-place of Vardhamana Mahavira, the last of the Jaina Tirthamkaras and today is his birthday. He is worshipped as the founder of present Jainism. He spent here thirty years of his normal life and twelve years of life after he took samnyas. It is for more than two millenium that a small area in village Basokund

lies dedicated to Mahavira as his birth-place. None use it nor is it cultivated. It remains inviolate and virgin. It is there on that plot that the foundation of a memorial to Mahavira is laid today by our beloved President.

It was on account of this significant background, political, cultural and religious, that Vaishali attracted the attention of scholars as well as laymen and it soon turned into a place of archaeological and cultural importance. It became a place of pilgrimage when the Vaishali Sangh under the inspiring guidance of Dr. S.K. Sinha, began to celebrate the Vaishali Mahotsav since a few years.

It is this multi-sanctified area today that the foundation is laid by our Union President of an Institute for Post-graduate Studies and Research in Prakrit, Jainology and Ahimsa.

It should be specially noted that Ahimsa is quite a new and very fruitful subject for research. Here Ahimsa does not mean merely the theological or the religious aspect of it but means the doctrine of Ahimsa including the doctrine of love which in fact is the foundation of all life and relationship between sentient beings. The research in this subject has become much more important in view of our great traditions and emphasis laid on it by Hinduism, Jainism, and Buddhism. In fact, in Jainism, Ahimsa is the keynote and cornerstone. In recent years, Mahatma Gandhi in his own life and in all that he said and did, exhibited the potency and usefulness of Ahimsa in all fields of human activity including relations between nation and nation. Panch-Shila is a corollary of Ahimsa in the international field. Dr. Albert Schweitzer in his profound writings has pointed out that reverence for life (this is but the 20th century western edition of Ahimsa) must be the foundation of new values, if civilization is to be saved. All these point to the fact as to how profound and basic is the doctrine of Ahimsa, how comprehensive is its sweep, and how wide are its implications for man as a social being.

The founding of this Institute is one more proof of the fact that the Bihar Government is fully alive to its obligations in the field *of thought and culture, since Bihar has the richest legacy from the*

past in the whole of India. This is the land of Yajnavalkya and Maitreyi of the Upanisads, of Janaka of Mithila, of Buddha, of Mahavira, of Candragupta, of Canakya, of Asoka and others too many to mention here. It is this living consciousness that inspired this State to organize the Mithila Institute for Sanskrit research in Darbhanga and Nalanda Institute for research in Pali and Buddhism. Those institutes are already running and the Nava-Nalanda Maha Vihar was opened very recently in March at Nalanda by Dr. Radhakrishnan. An institute for research in Persian and Arabic with the noted Khudabux library as a nucleus has already been set up.

Now comes this Institute at Vaishali for Prakrit, Jainology and Ahimsa. I must here pay a very well-deserved tribute to our Jain friends, notably to Mr. Shanti Prasad Jain, who is the industrial magnate of Bihar. The credit for quickening the process of bringing into existence this Institute goes to him and his colleagues because he came forward with a handsome donation of rupees five lacs for the building etc. of this Institute and a share in the recurring expenditure for a period of five years.

The Government as in the case of other similar institutes mentioned above, has already decided to run this Institute on the same lines as others and bear all the expenses. It is expected that rich and liberal as is the Jain community, it would see to it that this Institute would not only attract all Indian scholars but scholars from all over world, especially because it is taking up research in Ahimsa, a subject of world-wide importance.

Nalanda has already attracted scholars from many of the Buddhist countries. But I have no doubt that Vaishali would be as attractive a centre for research scholars as the best in India and elsewhere.

संस्थान के शिलान्यास के अवसर पर बिहार के शिक्षा-मंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा का भाषण

आज बिहार राज्य और यहाँ की जनता की ओर से आपका (डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का) स्वागत करता हूँ। राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास की ओर आपका कितना ध्यान है यह तो इसी से स्पष्ट है कि इस ग्रीष्मकाल और सुदूर ग्राम की अनेक असुविधाओं का विचार न करके भी आपने आज यहाँ श्री महावीर स्मारक और प्राकृत विद्यापीठ की स्थापना के लिए पधारने का कष्ट स्वीकार किया है।

स्वतन्त्र भारत के युगारम्भ में ही बिहार राज्य ने उच्चतम अध्यापन और अनुसन्धान कार्य के लिए जिन तीन विद्यापीठों की योजना तैयार की थी, उनमें से वैदिक और संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना दरभंगा में तथा पाली और बौद्ध धर्म विषयक अध्ययन के लिए नालन्दा विद्यापीठ की स्थापना नालन्दा में आज से कोई साढ़े चार वर्ष पूर्व आपके ही पुण्यशाली हाथों द्वारा की गई थी। हमें यह सूचित करते हर्ष होता है कि वे दोनों विद्यापीठ अपनी-अपनी योजना के अनुसार नियत उद्देश्यों की पूर्ति में लगे हुए हैं और उत्तरोत्तर उन्नति करते जा रहे हैं।

उसी योजना की तीसरी संस्था वैशाली प्राकृत विद्यापीठ की शिलान्यास-विधि आज यहाँ आपके वरदानी कर-कमलों द्वारा सम्पन्न होने जा रही है। हमें यह घोषित करते हुए हर्ष होता है कि बिहार राज्य के प्रमुख उद्योगपति और जैन समाज के गणमान्य अग्रणी श्री शान्तिप्रसाद जी ने अपने उदार दान के द्वारा इस विद्यापीठ की स्थापना में बिहार सरकार का हाथ बटाया है और उसके आरम्भिक आर्थिक बोझ को हलका कर दिया है। उन्होंने इस विद्यापीठ के हेतु पाँच लाख का दान भवन आदि के लिए तथा प्रति वर्ष पच्चीस हजार के हिसाब से पाँच वर्ष तक चालू खर्च के लिए, इस प्रकार सवा छः लाख रुपयों का दान स्वीकार किया है। सरकार ने उनके स्थायी दान से चार लाख तो विद्यापीठ के कार्यालय, पुस्तकालय, छात्रालय तथा निवास भवन आदि बनाने में, एक लाख रुपया पुस्तकालय के लिए आवश्यक ग्रन्थों, शोध-पत्रिकाओं आदि के संग्रह के लिए नियत कर दिया है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि श्री शान्तिप्रसाद जी ने विद्यापीठ के लिए उक्त आवश्यक भवन अपने निजी साधनों द्वारा शीघ्र बनवा देने का वचन दिया है, जिससे आशा की जा सकती है कि यहाँ भवनादि बनने में और उसमें विद्यापीठ का कार्य प्रारम्भ होने में अब अधिक विलम्ब नहीं होगा। इसके लिए बिहार की जनता और सरकार श्री शान्तिप्रसाद जी, श्री हरखचन्द जी तथा उनके द्वारा समस्त जैन समाज का बड़ा उपकार मानती है। जिस

क्षेत्र पर विद्यापीठ की स्थापना हो रही है, वह भी सरकार को स्थानीय जनता से दान के रूप में प्राप्त हुआ है। यहाँ की जनता के सहयोग का प्रत्यक्ष उदाहरण है। विद्यापीठ के लिए पचास एकड़ भूमि प्राप्त करने का निश्चय किया गया है, जिसमें से तेरह एकड़ मिल चुकी है। शेष शीघ्र प्राप्त हो जाने की आशा है। जब तक यहाँ आवश्यक भवन नहीं बन सकेंगे, तब तक विद्यापीठ का कार्य मुजफ्फरपुर में संचालित होगा।

यहाँ हमें यह प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि इस विद्यापीठ के डायरेक्टर पद के लिए डाक्टर हीरालाल जैन की सेवाएँ प्राप्त हो गयी हैं। डाक्टर जैन इसके पूर्व नागपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत, पाली और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष तथा उसकी विद्यापरिषद् के प्रधान (डीन ऑफ दी फ़ैकल्टी ऑफ आर्ट्स) थे। उन्हें उक्त विषयों में स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम पढ़ाने एवं अनुसन्धान-कार्य का संचालन करने का तीस वर्ष का अनुभव है। उनके संशोधित, संपादित लगभग 20-25 प्राकृत और जैन तत्त्व-ज्ञान विषयक ग्रन्थ तथा कोई 50 संशोधनात्मक लेख उनकी विद्वत्ता के परिचायक हैं। आशा है कि उनके संचालकत्व में विद्यापीठ अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होगा।

जिन कारणों से प्रभावित होकर इस विद्यापीठ की यहाँ स्थापना की गयी है और उसकी शिलान्यास-विधि के लिए आज का दिन नियत किया गया है, उसका भी कुछ परिचय देना असामयिक न होगा। बिहार सरकार ने अपने स्थापित विद्यापीठों के लिए चुनने में ऐतिहासिक औचित्य की ओर भी ध्यान दिया है और इसी दृष्टि से मिथिला विद्यापीठ की स्थापना दरभंगा में तथा पाली बौद्ध विद्यापीठ की स्थापना नालन्दा में की है। प्राकृत जैन विद्यापीठ के लिए सरकार के सम्मुख दो स्थानों के सुझाव उपस्थित थे—एक राजगृह के लिए और दूसरा वैशाली के लिए। वैशाली के संबंध में लोगों को पूर्ण जानकारी नहीं थी, किन्तु अब पुरातत्त्व और जैन ग्रन्थों से यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि वर्तमान बसाढ़ और उसके आसपास की भूमि ही प्राचीन काल की सुप्रसिद्ध लिच्छवि राजधानी वैशाली है और उस विदेह स्थित कुंडपुर या कुंडग्राम को जैन शास्त्रों में भगवान् महावीर तीर्थङ्कर की जन्मभूमि तथा कुमार क्रीडाक्षेत्र माना गया है।

यही नहीं, बासोकुंड ग्राम के भीतर लगभग दो एकड़ के एक ऐसे क्षेत्र का भी पता चला है जो स्थानीय जनश्रुति के अनुसार परम्परा से भगवान् महावीर का जन्म-स्थान मान कर कभी जोता-बोया नहीं गया, किन्तु जन साधारण द्वारा पूजा जाता है। इसलिए अब इसमें किसी को सन्देह नहीं रहा कि यथार्थतः यही स्थान इस विद्यापीठ की स्थापना के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा। भगवान् महावीर को जैन ग्रन्थों में वैशालिक अर्थात् वैशाली के नागरिक कहा गया है। उनके प्रव्रजित होने के पश्चात् उनका प्रथम आहार कोल्लाग नामक सन्निवेश में हुआ था जो कोल्हुआ नाम से वासोकुंड से सटा हुआ ग्राम अब भी विद्यमान है। भगवान् के बारह वर्ष निवास वैशाली और वाणिज्य ग्राम में हुए थे। इस वाणिज्य ग्राम का वर्तमान प्रतिनिधि बनिया गाँव अब भी यहीं विद्यमान है। इस प्रकार भगवान् महावीर की सच्ची जन्मभूमि वासोकुंड ग्राम के पास विद्यापीठ की स्थापना उचित मानी गयी। उपर्युक्त दो एकड़ के स्थल को उनके स्वामी किसानों ने सरकार को

दान कर दिया है और वहाँ पर श्री महावीर स्मारक की स्थापना विद्यापीठ के शिलान्यास से पूर्व ही आपके करकमलों द्वारा हो गयी है। इसी प्रकार महावीर के जन्मोत्सव का यह दिवस इस पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त समझा गया।

अब मुझे केवल इस वैशाली प्राकृत विद्यापीठ के उद्देश्य के संबंध में कुछ निवेदन करना है। अभी तक जितना ध्यान संस्कृत तथा पाली भाषा और साहित्य की ओर दिया जा चुका है, उतना प्राकृत भाषा और साहित्य की ओर नहीं दिया जा सका, यद्यपि इस भाषा का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है, क्योंकि प्राकृत भाषा के देशभेदानुसार नाना रूपों से ही वर्तमान हिन्दी, बँगला आदि भाषाओं का विकास हुआ माना जाता है। जैन साहित्य अपनी काव्य-कला तथा ज्ञान-विज्ञान के अतिरिक्त दर्शन, इतिहास एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रचुर सामग्री के लिए भी विख्यात है, किन्तु उसका पूरा-पूरा विश्लेषण होकर उसके द्वारा भारतीय तत्त्वज्ञान का पोषण होना अभी शेष ही है। अहिंसा तत्त्व का महात्मा गाँधी जी ने जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में व्यावहारिक प्रयोग करके दिखलाया, उससे इस तत्त्व ने भारत की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति की आधारशिला बन जाने के साथ ही साथ समस्त चिन्तनशील संसार को भी अपनी ओर आकर्षित किया है। इस अहिंसा तत्त्व का जितना विवरण हमें जैन साहित्य में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। इस तत्त्व और तंत्र का संसारव्यापी दृष्टि से अनुसन्धान करना आवश्यक है। इन्हीं विषयों को दृष्टि में रखते हुए इस विद्यापीठ की स्थापना की जा रही है। इसका मुख्य कार्य अध्ययन और अनुसन्धान होगा, पर इस कार्य के लिए कार्य-कर्त्ताओं को तैयार करना आवश्यक है। इसलिए चुने हुए विद्यार्थियों को उपयुक्त शिक्षा देकर तैयार किया जायेगा। ये बिहार विश्वविद्यालय की परीक्षा दे सकेंगे। जो अनुसन्धान की विशेष शिक्षा लेंगे, वे पी-एच० डी० और डी० लिट्० की उपाधियों की परीक्षा में सम्मिलित हो सकेंगे। अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा किये गये अनुसन्धानों का प्रकाशन भी किया जायगा। विभिन्न विषयक अप्रकाशित ग्रन्थों को सम्पादित कर प्रकाशित करना विद्यापीठ का विशेष कार्य होगा। इन कार्यों में यथाशक्ति बाहर के विद्वानों से सम्पर्क रखने की भी व्यवस्था विद्यापीठ के योजना-आदेश में कर दी गयी है।

प्राकृत विद्यापीठ की स्थापना में जो आपका घरदहस्त और आशीर्वचन प्राप्त हो रहा है, उसके प्रसाद से आशा की जा सकती है कि विद्यापीठ अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता प्राप्त करता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करेगा और देश की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की कड़ियों को जोड़ कर फिर उसके गौरव को संसार के समक्ष उपस्थित करने में सहायक सिद्ध होगा।

Address of Shri Shanti Prasad Jain

On the occasion of the Foundation Laying Ceremony of the Institute

It is my unique honour and privilege to have to welcome you here at the site of old Vaishali for unveiling the Mahavira Memorial and laying the foundation stone of the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa. The establishment of an Institution like this, is one of the most outstanding fruits of free India in the field of our national regeneration and culture. All people and particularly the Jains all over the country are happy that at last, the vicinity where their last Tirthamkara Bhagwana Mahavira was born has been located. The owner of the sacred spot has made a donation of it to the Government of Bihar, and the latter have honoured it by setting up a memorial stone inscription there. The value of the monument has been highly enhanced by its being unveiled by your noble self today which is the 2,555th day of the Tirthamkara's holy birth. This great event of today will, I am sure, gradually lead to the development of the spot as a unique place of pilgrimage for all those who honour the memory of founders of culture, philosophy and religion.

It gives me great satisfaction and joy that I have been allowed to associate myself with the establishment of this Research Institute by an humble donation for the initial cost of the necessary buildings and library etc. The Institute will, I am sure, develop to its full stature by your blessings and serve as a great centre for higher studies and research in Jain history, philosophy and literature which are its special spheres. Ahimsa was great principle of life imparted to us by a series of Jain prophets and saints. It has now been recognised as the basis of Indian nationalism and India's international policy. This principle would be studied and investigated here in its evolutionary and historical aspects. The activities of the Institute are expected not only to revive

interest in the Prakrit language and literature, Jainology and Ahimsa, but also to explore and bring to light the hidden treasures of our ancient glory, and thus to radiate knowledge which otherwise would have been extinct. I am particularly happy at the choice of the first Director Dr. Hiralal Jain who has already distinguished himself as a University teacher of Indian classics and a great scholar in the field of Prakrit and Jainology, under whose care the progress of the Institute is assured.

I thank you, Sir, most heartily once again, for the trouble you have taken and the interest that you have shown in this work of great cultural importance.

प्राकृत शोध संस्थान के उदय एवं विकास की गौरव गाथा

डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल*

यह हर्ष का विषय है कि 'प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली' द्वारा स्वर्ण जयन्ती गौरव ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। वैशाली शब्द का अपना अतिशयकारी आकर्षण है। वैशाली गणराज्य था, जो प्राचीन लिच्छवि गणतंत्र का स्मारक है। यह वज्जिसंघ के नाम से विख्यात था। इसके सातधर्म अर्थात् संवैधानिक कार्य प्रणाली, एकजुटता, कानून की प्रतिबद्धता, वृद्धों का सत्कार, कुलनारियों एवं कुलकुमारियों के सम्मान की रक्षा, धर्म स्थलों का संरक्षण और धार्मिक सहिष्णुता आज भी श्रेष्ठ प्रजातंत्रीय प्रणाली की सफलता के आधार हैं।

विदेह देश स्थित वैशाली गणराज्य के अंतर्गत वासोकुण्ड में जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर राजकुमार महावीर-वर्द्धमान का जन्म ईसा पूर्व 599 में हुआ था। यहाँ महावीर के गर्भ, जन्म और तप कल्याणक सम्पन्न हुए थे। वैशाली महात्मा बुद्ध को अतिप्रिय थी। यह उनकी कर्म और साधना स्थली थी। बुद्ध महावीर के समकालीन थे। उन्होंने ज्ञान की खोज में वैशाली के दो महायोगी अलारकमाल और उद्धत रामपुत्र के आश्रम में रहकर योग विद्या सीखी थी। ये भ. पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। वैशाली (वसाद) में महात्मा बुद्ध के अनेक स्मृति चिन्ह विद्यमान हैं। इस प्रकार वैशाली (वासोकुण्ड) विश्व की दो महान विभूतियों से उपकृत हुई। लोक जीवन में महावीर के दर्शन और आचार के चिन्ह अभी भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होते आ रहे हैं। यह महावीर के व्यक्तित्व का विशिष्ट प्रभाव है जो वैशाली वासियों में अनुभूत किया जा सकता है।

बिहार राज्य में विदेह, अंग और मगध देश सम्मिलित थे। जैनधर्म के चौबीसों तीर्थंकर परम्परागत रूप से हजारीबाग जिले के सम्मेद शिखरजी से मोक्ष जाते हैं। विद्यमान हुंडावसर्पिणी काल के दोष के कारण इस युग में बीस तीर्थंकर सम्मेद शिखर जी से निर्वाण को प्राप्त हुए। बिहार स्थित पावापुर एवं चम्पापुर से एक-एक तीर्थंकर मोक्ष गये। इस प्रकार बाइस तीर्थंकरों के निर्वाण से बिहार पावन हुआ। ऋषभदेव कैलाश पर्वत और नेमिनाथ भगवान गिरनार जी से मुक्त हुए। चौबीस तीर्थंकरों में पाँच तीर्थंकरों यथा- वासुपूज्य, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत नाथ, नमिनाथ और महावीर का जन्म बिहार में हुआ। इस दृष्टि से बिहार राज्य और वहाँ का जनमानस समन्वय और विशाल दृष्टिकोण का धनी रहा है। इसी

* बी-369, ओ.पी.एम. अमलाई, जिला - शहडोल, म.प्र. - 484117.

वैचारिक उदारता के फलस्वरूप तत्कालीन बिहार सरकार ने दरभंगा में वैदिक और संस्कृत विद्यापीठ, नालन्दा में पाली और बौद्ध धर्म विषयक विद्यापीठ की स्थापना की और उसी क्रम में वैशाली में 'प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान की स्थापना की, जिसका शिलान्यास महामहिम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी द्वारा दिनांक 23.04.1956 को किया गया। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन धर्म विषयक तीन शोध संस्थान बिहार राज्य में कार्यरत हैं। इनकी स्थापना का श्रेय तत्कालीन राज्यपाल महामहिम आर० आर० दिवाकर, मुख्यमंत्री, डॉ. श्रीकृष्ण सिंह एवं शिक्षा मंत्री, आचार्य श्री बदरीनाथ वर्मा की भारतीय दर्शनों के प्रति अगाध निष्ठा और सांस्कृतिक विकास की रुचि को है। इन विद्यापीठों में उच्च स्तरीय अध्यापन और अनुसंधान कार्य, शोध पुस्तकों का प्रकाशन और विद्वद्गोष्ठियाँ आदि कार्य सम्पन्न होते हैं।

प्राकृत शोध संस्थान की स्थापना में वैशाली-संघ की भूमिका:

प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, वासोकुण्ड की स्थापना की पृष्ठभूमि अत्यंत रोचक, विस्मयकारी और धार्मिक सहिष्णुता की जीवन्त मिशाल है। इसका श्रेय 'वैशाली संघ' के संस्थापक श्री जगदीश चन्द्र माधुर, आई. सी. एस., तत्कालीन अनुविभागीय अधिकारी, हाजीपुर को है। वे 17.07.1944 से 17.12.1945 तक हाजीपुर में रहे। साहित्य के विद्यार्थी होते हुए भी इन्होंने वैशाली के इतिहास की ओर झांका। उन्होंने वैशाली के अतीत का परिदृश्य देखा। राजा विशाल से लेकर वज्जिसंघ की गणतंत्रात्मक शासन पद्धति और भगवान महावीर-बुद्ध की स्मृतियों ने उन्हें वैशाली संघ और वैशाली-महोत्सव मनाने के लिए उत्प्रेरित किया। उन्होंने अशासकीय सदस्यों की एक समिति बनाकर दिनांक 31.12.1944 को हाजीपुर के सरस्वती सदन में वैशाली महोत्सव मनाने का संकल्प किया। वासोकुण्ड में प्रथम वैशाली महोत्सव दिनांक 31.03.1945 को आयोजित किया गया, जिसमें ख्यातिप्राप्त इतिहासकार सर्वश्री डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी और डॉ. ओ. सी. गंगुली सम्मिलित हुए। डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी ने अपने अभिभाषण में वैशाली के गरिमामंडित अतीत पर प्रकाश डाला और आविर्भूत होकर कहा 'अपने जीवन में कभी इतने विशाल जनसमूह के सामने मैंने भाषण नहीं दिया था'। उपस्थित जनसमूह को भी प्रथम बार ऐसे उच्च इतिहासकार का भाषण सुनने का अवसर मिला।

द्वितीय वैशाली महोत्सव दिनांक 10.04.1946 (रामनवमी) और तृतीय दिनांक 14.04.1947 (चैत्रसंक्रान्ति) को मनाया गया। इसके बाद प्रत्येक वर्ष महावीर जयंति के पावन पर्व पर वैशाली महोत्सव धूम-धाम से वासोकुण्ड में मनाया जाने लगा। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि वैशाली संघ में कोई भी सदस्य जैन नहीं था और वासोकुण्ड सदियों से जैन-जन विहीन रहा। अष्टम वैशाली महोत्सव डॉ. के. एम. मुंशी, खाद्यमंत्री, भारत सरकार के मुख्य आतिथ्य में दिनांक 07.04.1952 (महावीर जयंति) को सम्पन्न हुआ। इस समारोह में वैशाली संघ ने प्रस्ताव (क्र-2) पारित किया, जो इस प्रकार है-

“संघ, जैनों और बिहार सरकार से अनुरोध करता है कि वे जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की जन्मभूमि वैशाली में वैशाली प्राकृत जैन इन्स्टीच्यूट की

स्थापना करें, क्योंकि बिहार में संस्कृत और पाली के उच्च अध्ययन का प्रबंध हो गया है, पर अभी तक प्राकृत के उच्च अध्ययन का प्रबंध नहीं हो सका है”।

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु डॉ. नथमल टाटिया के संयोजकत्व में एक उपसमिति का गठन किया गया। सर्व श्री लल्लन जैन, नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रो० दलसुख मालवणिया, डॉ. ए. एस. अल्टेकर, जगदीशचन्द्र माथुर आई. सी. एस. (अध्यक्ष), प्रो. योगेन्द्र मिश्र इस उपसमिति के सदस्य थे। श्री बद्रीनाथ वर्मा, शिक्षामंत्री, बिहार ने इसका समर्थन किया। जून 1952 में श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने 'वैशाली इन्स्टीच्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन प्राकृत एण्ड जैनोलॉजी' वैशाली संघ की विस्तृत योजना बनाई और बिहार सरकार के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत की। प्रथम योजनानुसार वैशाली संघ ने 5 लाख पूंजीगत व्यय एवं 5 लाख चालू खर्चों (प्रथम पांच वर्ष हेतु) की योजना निर्मित की और उसके दान हेतु अपील-प्रारूप बनाया। इसी बीच दिनांक 04.02.1953 को मुख्यमंत्री एवं अध्यक्ष, वैशाली संघ डॉ. श्री कृष्ण सिंह के निवास पर वैशाली संघ की साधारण सभा हुई। इसमें यह निर्णय लिया गया कि वैशाली संघ द्वारा इन्स्टीच्यूट स्थापित करने की अपेक्षा बिहार राज्य शासन द्वारा इसकी स्थापना की जाये और संघ ने इस उद्देश्य हेतु जो भी धनराशि एकत्रित की है वह शासन को उपलब्ध करायी जाये। इसी दिन (04.02.1953) को भारत के सभी समाचार पत्रों में इन्स्टीच्यूट की स्थापना हेतु दान देने की अपीलें प्रकाशित हुईं।

संस्थान के स्वरूप और उद्देश्यों का विचार

सन् 1945 में वैशाली संघ की शिक्षा केन्द्र खोलने की योजना थी। उद्देश्य था कि वैशाली भ० महावीर की जन्म स्थली है दूसरे संस्थान उच्च स्तरीय शोध के द्वारा सुदूर ग्रामीण अंचल के सामान्य नागरिकों के जीवन से सम्बंध स्थापित करेगा। राधाकृष्णन समिति के अनुसार संस्थान प्राकृत और जैन शिक्षा के सम्बन्ध में उच्च अध्ययन एवं शोध के साथ ग्रामीण विश्वविद्यालय के रूप में विकसित होगा। बाद में सन् 1953 में महामहिम राज्यपाल (बिहार) श्री आर. आर. दिवाकर महोदय के मन में नया विचार उद्भूत हुआ। उन्होंने सुझाव दिया कि संस्थान जैन और प्राकृत विद्या का उच्च अनुसंधान केन्द्र तो बने ही, साथ ही अहिंसा दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन और जीवन में अहिंसा के आचरण पर भी शोध हो। इस प्रकार राज्यपाल महोदय के पुनीत सुझाव के अनुसार संस्थान के उद्देश्यों में अहिंसा को भी सम्मिलित किया गया। यह सम्भावना व्यक्त की गयी कि कालान्तर में संस्थान इन उद्देश्यों के क्रियान्वयन की उच्च / अनोखी तकनीक विकसित करेगा। जैन दर्शन में अहिंसा की विस्तृत और गूढ़ व्याख्या की गई है। भ. महावीर ने सिद्धत्व की प्राप्ति में अहिंसा का प्रयोग किया। म. गांधी ने राजनैतिक स्तर पर स्वतंत्रता की प्राप्ति में अहिंसा का प्रयोग किया। मानव जीवन के महत्तम कल्याण की अनेक विधाओं में अहिंसा दर्शन किस प्रकार फलीभूत एवं व्यवहारिक सूत्र देगा, इस सम्बन्ध में गहन शोध और प्रयोगों की आवश्यकता है। शोध वही उपयोगी होता है जो जीवन का अंग बने और जो जीवन को स्पष्ट करे। मात्र दार्शनिक चर्चा से जीवन सुखमय-आनंदमय नहीं होता।

संस्थान हेतु दान की अपीलें

बिहार के मुख्यमंत्री डॉ. श्रीकृष्ण सिंह की ओर से वैशाली में प्राकृत शोध संस्थान की स्थापना हेतु प्रथम पांच वर्ष के व्यय हेतु दस लाख रुपये दान देने की अपील जैन समाज एवं अन्यो से की गयी। दूसरी अपील महामहिम राज्यपाल श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर की ओर से प्रकाशित की गयी। उन्होंने अपील में कहा कि अहिंसा के ऊपर शो, विश्वव्यापी हितकर होगा, यह न केवल परस्पर मानवीय व्यवहार किन्तु मानवीय सामाजिक सम्बंधों और सभ्यता तथा संस्कृति के विकास हेतु आवश्यक है। आपने कहा वैशाली संघ को आप सब खुले हृदय से सहयोग करें। पच्चीस शताब्दियों पूर्व वैशाली से 'अहिंसा परमोधर्मः' का उद्घोष हुआ था। वैशाली-संघ द्वारा प्राकृत शोध संस्थान की स्थापना से यह उद्देश्य पूर्ण होगा।

उक्त अपीलों का अद्भुत प्रभाव हुआ। कलकत्ता के स्वनाम धन्य जैन श्रेष्ठी साहु शांति प्रसाद जी जैन ने उत्साहपूर्वक प्राकृत शोध संस्थान के भवन निर्माण हेतु पांच लाख रुपया और प्रथम पांच वर्षों के चालू व्यय हेतु पच्चीस हजार प्रति वर्ष देने की घोषणा की, जिसे बिहार राज्य सरकार ने स्वीकार कर लिया। कलकत्ता के अन्य जैन बन्धुओं ने भी सहयोग दिया।

वैशाली-संघ ने दिनांक 06.02.1953 को राज्य सरकार के समक्ष प्राकृत शोध संस्थान की स्थापना हेतु प्रस्ताव रखा, यह आगे की कार्यवाही का आधार बना। नौवां वैशाली महोत्सव दिनांक 28.03.1953 को डॉ. श्रीकृष्ण सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर प्राकृत शोध संस्थान की योजना दर्शाकर शासन से उसे स्वीकार करने का अनुरोध किया। राज्य शासन ने तत्काल कार्यवाही की और पत्र क्रमांक 1271, दिनांक 18.05.1953 द्वारा वैशाली-संघ को प्राकृत शोध संस्थान की स्थापना की स्वीकृति प्रदान की। श्री जगदीश चन्द्र माथुर, आई. सी. एस. की कल्पना साकार हुई। वैशाली-संघ ने अपने को गौरवान्वित अनुभव किया। तदनुसार, बिहार राज्य सरकार ने पत्रांक-5314 दिनांक 25.11.1955 द्वारा मुजफ्फरपुर जिले के वैशाली में 'इन्स्टीच्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन जैन एण्ड प्राकृत लरनिंग' की स्थापना की स्वीकृति प्रदान की। निर्धनों द्वारा भूमि दान का आदर्श

अब समस्या भूमि प्राप्त करने की थी। संस्थान की स्थापना हेतु तीस एकड़ भूमि आवश्यक थी। जिस स्थान पर संस्थान की स्थापना हेतु भूमि का चयन किया गया उस स्थान के निर्धन अजैन भूमिस्वामियों ने अत्यंत उदारता और त्याग का परिचय दिया। वैशाली-संघ की प्रेरणा से उन्होंने बिना किसी प्रतिदान या यशकामना के अपनी प्राणदयारी और जीवनदायनी तरह एकड़ भूमि अपने आराध्य भ. महावीर का नाम स्मरण करते हुए लोकहितार्थ समर्पित कर दी। दान की यह अद्भुत मिशाल थी, जो सदैव प्रेरणास्पद बनी रहेगी। भूमिदान दाताओं ने जाति और धर्म के संकीर्ण भेद विस्मृत कर धार्मिक सहिष्णुता, अविरोध और त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया। भूमिदान दाताओं में क्षत्रिय, भूमिहार, पासवान (हरिजन) एवं मुसलमान बंधु भी सम्मिलित थे। इनके नाम हैं- अभूचक

ग्रामवासी सर्वश्री काली साह, जनक राय, महावीर राय, मूसाराय और याकूब मियाँ, फतेहपुर निवासी श्री केशव नारायण सिंह, वासोकुण्ड निवासी सर्वश्री खेलावन सिंह, दहाडर पासवान, बिजली सिंह, महावीर पासवान, महावीर सिंह, महेन्द्र सिंह और शांति सिंह तथा इब्राहिमपुर वासी श्री नथुनी सिंह। इन सभी भूमिदान दाताओं के नाम का स्मरण स्मृतिशिला में उत्कीर्ण है। इन सभी को नमन।

भ. महावीर की जन्मभूमि सदियों से दो एकड़ 'अहल्ल भूमि' (बिना जुती) मानी जाती है जो चार कुण्डों के मध्य स्थित है। वैशाली संघ की पावन प्रेरणा से वासोकुण्ड वासी क्षत्रिय परिवार के सर्वश्री महेन्द्र सिंह, बिजली सिंह, खिलावन सिंह, महावीर सिंह और नथुनी सिंह ने अपने आराध्य भ. महावीर के स्मारक निर्माण हेतु महामहिम राज्यपाल महोदय को भ. महावीर के नाम दान दे दी। इस भूमि को पावन माना जाता है और उसे मलमूत्र आदि से सुरक्षित रखकर विशेष अवसरों पर सभीजन एकत्रित होकर महावीर की आराधना करते हैं। जन्म जयंति और निर्वाण दिवस मनाते हैं।

वासोकुण्ड में अद्भुत महोत्सव

वैशाली-संघ के अनवरत प्रयासों और बिहार राज्य सरकार की धार्मिक सहिष्णुता तथा सांस्कृतिक अभिरुचि के परिणाम स्वरूप दिनांक 23.04.1956, महावीर जयंति का दिन वैशाली वासियों के लिए ऐतिहासिक दिन सिद्ध हुआ। महामहिम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी की अगुवानी के लिए वैशाली वासी पलक-पॉवड़े बिछाये उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई। महामहिम राष्ट्रपति जी, महामहिम राज्यपाल जी (श्री आर. आर. दिवाकर), शिक्षामंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा, जैन समाज के अग्रणी नेता साहू श्री शांतिप्रसाद जी (उद्योगपति), डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल (इतिहासकार) आदि सभी भ. महावीर की पावन जन्मभूमि की रजमस्तक पर धारण कर अपने को कृतार्थ मान रहे हैं। अहल्ल भूमि पर महामहिम राष्ट्रपति जी ने करतल ध्वनि के मध्य भ. महावीर जन्मभूमि पट्ट का अनावरण कर लोकार्पित किया। सदियों से अभिशप्त वैशाली के अभिशाप का शमन हुआ। सभी ने भ. महावीर और उनकी परम कल्याणकारी अहिंसा का जयघोष कर नये युग का सूत्रपात किया।

भ. महावीर की जन्मभूमि को उपकृत कर महामहिम राष्ट्रपति जी ने वासोकुण्ड वैशाली में प्राकृत शोध संस्थान का शिलान्यास किया। आपने अपने उदबोधन में प्राकृत भाषा की महत्ता दर्शायी। भ. महावीर के 'अहिंसा परमो धर्मः' सन्देश को स्मरण किया और कहा महावीर ने हमें समन्वयात्मक दृष्टि दी है। यह बड़ी देन है। इसकी गहराई को समझें और उसके व्यवहारात्मक पहलू को जीवन में उतारें। वैशाली में प्राकृत अनुसंधान शाला की स्थापना से भारतीय इतिहास की दूटी हुई शृंखलाएँ जुड़ेंगी और भविष्य में वैशाली पुनः विद्या और संस्कृति का केन्द्र साबित होगा। आपने दानदाताओं और बिहार राज्य सरकार को धन्यवाद दिया। वासोकुण्ड-वैशाली में पुनः नये युग का सूत्रपात हुआ। सभी में नवोदय की भावना जाग्रत हुई। राज्यपाल महामहिम श्री आर. आर. दिवाकर, शिक्षामंत्री श्री आचार्य बदरी नाथ वर्मा और साहू श्री शांति प्रसाद जी ने भी अपने भावभीने उद्गार

व्यक्त किये। इसके साथ भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ जो सन् 1965 में पूर्ण हुआ। मुजफ्फरपुर में प्राकृत शोध संस्थान का प्रारम्भ

वासोकुण्ड में भवन की अनुपलब्धता के कारण प्राकृत शोध संस्थान मुजफ्फरपुर में एक किराये के मकान में सन् 1955 से प्रारम्भ हुआ। इसके प्रथम निदेशक डॉ. हीरालाल जैन थे, उन्होंने सन् 1961 तक संस्थान को गरिमापूर्ण ढंग से चलाया। पश्चात् वर्ष 1961 से 1973 तक प्रो. नथमल टॉटिया निदेशक रहे। इसके बाद वर्ष 1974 से 1984 तक सर्वश्री प्रो. गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रो. नागेन्द्र प्रसाद और प्रो. रामप्रकाश पोद्दार ने निदेशक पद का कार्यभार सम्भाला। सन् 1984 से दिसम्बर 2004 तक का सात प्राध्यापकों ने स्थानापन्न निदेशक के रूप में कार्य किया। डॉ. लालचन्द्र जैन को दो बार निदेशक का कार्यभार सम्भालने का अवसर मिला। सन् 2004 के दिसम्बर में प्रो. (डॉ.) ऋषभचन्द्र जैन ने नियमित निदेशक पद का कार्यभार सम्भाला और वे मनोयोग पूर्वक संस्थान के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संलग्न हैं। उनका व्यक्तित्व गतिशील है, प्रज्ञा और श्रम-साधना के धनी हैं। वैशाली वासियों के लोक जीवन में महावीर के दर्शन-आचरण के लोक सर्वेक्षण में वे लेखक के सहयोगी रहे। इस सर्वेक्षण का प्रतिवेदन वैशाली इन्स्टीच्यूट रिसर्च बुलेटिन नं. 19 में 'वैशाली के मानस में महावीर का प्रभाव' के नाम से प्रकाशित हुआ है। सर्वेक्षण का विस्तृत प्रतिवेदन लेखक की पुस्तक 'जन्मभूमि का सच' में प्रकाशित है।

संस्थान की उपधियाँ

जनवरी 2007 तक प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, वासोकुण्ड से 261 विद्यार्थियों ने स्नातकोत्तर उपाधियाँ अर्जित की हैं। सर्वश्री डॉ. योगेन्द्र प्रसाद सिन्हा और डॉ. विद्यावती जैन ने डी. लिट् की उपाधियाँ प्राप्त कर संस्थान के गौरव में वृद्धि की है। अभी तक 70 शोधार्थियों को पी-एच. डी. की उपाधियाँ मिलीं, जबकि वर्तमान में ग्यारह शोधार्थी शोधकार्य में संलग्न हैं।

शोध संस्थान द्वारा महत्वपूर्ण प्राचीन प्राकृत और संस्कृत ग्रंथों का प्रकाशन 'प्राकृत जैन इन्स्टीच्यूट सीरीज' के अंतर्गत किया जाता है। अभी तक 74 प्रकाशन हुए। इनमें 'भ. महावीर का जन्म स्थान' प्रकाशन जन्म-भूमि सम्बंधित भ्रम निवारण हेतु महत्वपूर्ण है। इसके लेखक डॉ. ऋषभचन्द्र जैन हैं। वैशाली अभिनन्दन-ग्रंथ (द्वितीय संस्करण) सन् 1985 में इसी संस्थान से प्रकाशित हुआ।

वर्ष 1963 से अप्रैल 1986 तक महावीर जयंति के अवसर पर प्रतिवर्ष विविध विषयों पर संगोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं। सन् 1987 से स्व. श्री जगदीश चन्द्र माधुर, आई. सी. एस. की स्मृति में व्याख्यानमाला का आयोजन प्रतिवर्ष होता है। वर्ष 2005 से पूर्व निदेशक डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी की स्मृति में एक व्याख्यानमाला प्रारम्भ हुई। अन्य सामयिक व्याख्यानमालाएँ भी आयोजित की जाती हैं। 2009 में डॉ. हीरालाल जैन स्मृति व्याख्यानमाला और आचार्य कुन्दकुन्द व्याख्यानमाला भी प्रारम्भ की जा रही है। सन् 1982 से प्राकृत और जैन शास्त्रों के विविध आयामों पर संस्थान के सदस्यों द्वारा संगोष्ठी आयोजित की जाती रही है, जो निरंतरित है।

उपसंहार : प्रत्याशा

संस्थान में शोधार्थियों के निवास हेतु सुविधा उपलब्ध है। वाचनालय समूह है। वातावरण शांत और कोलाहल रहित है। शहरी तनावों और व्यस्तताओं से मुक्त है। आवश्यकता है कि जैन समाज की सम्बद्ध संस्थाएँ आकर्षक शोधवृत्ति उपलब्ध कराकर शोधार्थियों को आकर्षित करें तथा सर्व प्रयास कर प्राकृत भाषा को केन्द्रीय प्रतियोगी परीक्षा में एक विषय के रूप में स्वीकृत करवाने के भगीरथ प्रयास किये जावें ताकि शोधार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं में सम्मिलित होने का अवसर मिले।

भ. महावीर की अहिंसा की अवधारणा अत्यंत व्यापक है जो व्यवहारिक जीवन का अंग बनना चाहिये। म. गांधी ने राजनैतिक स्तर पर स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु अहिंसा का सफल प्रयोग किया। वैशाली वासियों के जन-जीवन में धार्मिक सहिष्णुता, अविरोध, समभाव, नैतिक मर्यादाओं के सूत्र विद्यमान हैं। आवश्यकता उन विधियों, तरीकों एवं प्रणालियों की खोज करने की है जो जीवन के हर मोड़ पर अहिंसा की अनुभूति करा सके। इसी में लोक कल्याण निहित है। शोध संस्थान इस दिशा में सार्थक प्रयास करेगा, ऐसी आशा है। संस्थान का स्वर्ण जयन्ति महोत्सव भावी विकास हेतु मील का पत्थर या प्रकाश स्तंभ सिद्ध हो यही कामना है।

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (वासोकुण्ड) का अतीत गौरव और वर्तमान

डॉ. देवनारायण शर्मा*

भगवान महावीर के जन्म स्थान वासोकुण्ड में उनके उद्देशों के प्रचार-प्रसार हेतु एक स्नातकोत्तर शिक्षण-संस्थान की स्थापना का निर्णय राज्य सरकार का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम था और अपने इस कदम को गौरवान्वित करने के लिए उसने संस्थान के प्रथम निदेशक पद पर प्राकृत-जैनशास्त्र के एक उदार अप्रतिम विद्वान डॉ. हीरालाल जैन को नियुक्त किया। इस नियुक्ति ने न केवल संस्थान को अपितु, इस क्षेत्र में कार्यरत राज्य के अनेक शीर्षस्थ विद्वानों को भी अप्रत्याशित लोकप्रियता प्रदान की। डॉ. जैन के छात्र बनने का सौभाग्य मुझे दो वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ, किन्तु उनके सानिध्य का लाभ मुझे प्रारम्भ से ही मिल चुका था। क्योंकि मैं सरकार के ऐसे पद पर था, जहाँ संस्थान के प्राध्यापक और लिपिक दोनों प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए जाया-आया करते थे। मैंने डॉ. जैन को एक उदार हृदय प्रशासक तथा महान प्रतिभासम्पन्न, विनयशील शिक्षक के रूप में देखा था। वे धर्म-सम्प्रदाय के राजनीतिकरण के सर्वथा विरोधी थे। वे अपनी 'जैन' उपाधि के सम्बन्ध में कहा करते कि मेरे अन्य भाईयों के नामों के साथ तो अपनी कुल-परम्परागत उपाधि (मोदी) ही है, किन्तु, मेरे साथ यह विशेष उपाधि जुड़ गयी है। पर, मैंने अपने लड़के के नाम के साथ परम्परागत उपाधि को ही रहने दिया है। यह मुझे अच्छा भी लगता है। उनका जीवन भीतर-बाहर एक जैसा था। वे सदा कहा करते कि 'यदि आप निष्कपट और निर्मल हृदय के हैं तो इस सच्चाई की अनुभूति आपकी नाक के सामने रहने वाले आपके पड़ोसी को भी होनी चाहिए। ऐसा नहीं होने पर अपने को निश्छल-निर्मल बताना व्यर्थ है। एक शिक्षक के रूप में भी वे एक कठोर परिश्रमी और उदार हृदय थे। यदि कभी पद सम्बन्धी व्यस्तता के कारण उन्हें पाठ्यग्रन्थ देखने का अवसर नहीं मिलता, वे वर्ग में आने के तुरन्त बाद छात्रों के सामने निःसंकोच अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उस ग्रन्थ के स्थान में छात्रोपयोगी अन्य साहित्य अथवा दर्शन सम्बन्धी विषय पर ही रोचक चर्चा करते और वर्ग ज्ञान-वर्द्धन के साथ विशेष आकर्षण का केन्द्र बन जाता। उनकी अध्यापन-शैली इतनी आकर्षक और प्रेरक होती थी कि वर्ग के छात्रों की तो बात ही क्या,

* पूर्व निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली।

संस्थान भवन के समीप से निकलने वाले पथिक भी खड़े होकर उन्हें ध्यान-पूर्वक सुनने लग जाते। एक समय था कि कुछ समय के लिए संस्थान में शिक्षक की भारी कमी हो चली थी, उस बीच वे लगातार पाँच-पाँच वर्ग लिया करते थे। एक अनुशासनप्रिय प्रशासक होने के साथ ही वे एक कोमल हृदय उदार अभिभावक भी थे। जब कभी छात्रावास में किसी अनुशासनहीनता का पता उन्हें लगता, वे छात्रावास-अधीक्षक को बुलाकर उस दिन छात्रावास में ही सामूहिक चाय-व्यवस्था करने को कहते और उसके लिए अपनी जेब से उन्हें अर्धराशि भी उपलब्ध करा देते। छात्रावास में उनकी उपस्थिति से ही सारी समस्याएँ अपने आप सुलझ जाती। परीक्षा-फार्म भरने के समय अज्ञानता अथवा असमर्थता के कारण किसी छात्र के पास पैसे की कमी रहती, वे उसे अपनी ओर से पूरा कर देते और उसे वापस न करने की मधुर चेतावनी भी दे देते। उस समय बिहार विश्वविद्यालय के अधीन कॉलेजों के प्रायः सभी विभागों के शिक्षक तथा स्नातकोत्तर के छात्र उनके सरस और सारगर्भित व्याख्यान सुनने को उत्सुक रहा करते थे। उनके इस बहुआयामी व्यक्तित्व के कारण ही प्राकृत भाषा और जैनशास्त्र की ओर शिक्षा के क्षेत्र में रुचि जगी और यह संस्थान अतिलोकप्रिय हो पाया। डॉ. जैन की छत्रछाया में रहकर ही डॉ. योगेन्द्र सिकंदर, डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. विमल प्रकाश जैन आदि विद्वान अपने-अपने क्षेत्र में सम्मानित हुए। उनके निर्देशन में यह संस्थान बड़े-बड़े विद्वानों के लिए आदर्श केंद्र बन चुका था, जहाँ परामर्श हेतु डॉ. अल्टेकर, डॉ. उपाध्ये, पं. नाथूराम प्रेमी जी आदि का आना-जाना हुआ करता था।

डॉ. हीरालाल जी जैन के पश्चात् संस्थान में दूसरे जिस शिखर पुरुष का नाम विशेष उल्लेखनीय है, वे थे डॉ. नथमल जी टाटिया। संस्थान के निदेशक पद को सुशोभित करने का समय इन्हें सर्वाधिक प्राप्त हुआ। इनके कुशल-निर्देशनकाल में ही संस्थान मुजफ्फरपुर के किराये के भवन से वासोकुण्ड के अपने भव्य भवन में स्थानान्तरित हुआ और दशाधिक वर्षों तक विकास की सभी दिशाओं की ओर अग्रसर होता रहा। इस कालावधि में राजभवन से एकाधिक बार दर्शनशास्त्र के दिग्गज विद्वान भी निरीक्षण हेतु भेजे गये और निदेशक से मिलने के बाद पूर्ण संतुष्ट होकर लौटे। इस प्रकार राज्य के सभी शोध संस्थानों में इसका सर्वाधिक लोकप्रिय स्थान रहा। इनके कुशल अभिभावकत्व में प्रो. अनन्त लाल ठाकुर, डॉ. राम प्रकाश पोद्दार, डॉ. देवनाशरण शर्मा जैसे अपने-अपने विषय के मर्मज्ञ विद्वान अध्ययन-कार्य करते थे। दुर्गम दर्शन के संस्कृत ग्रन्थों में मार्गदर्शन के लिए डॉ. सातकड़ि मुखर्जी (पूर्व निदेशक, नव नालन्दा महा विहार), प्रो. ब्रह्मानन्दजी तथा प्राचीन इतिहास के लिए डॉ. डी.एस. त्रिवेद की उपस्थिति भी संस्थान को महिमामंडित करती रही।

इस बीच तीसरे शिखर पुरुष के रूप में प्राकृत के प्रोफेसर डॉ. जगदीशचन्द्र जी जैन का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। इनका प्राकृत साहित्य का इतिहास एक मौलिक ग्रन्थ के रूप में विद्वानों के बीच समादृत है। इस वृहद् ग्रन्थ की पाण्डुलिपि डॉ. जैन ने संस्थान में रहकर तैयार की थी। ये मूलतः दर्शन के विद्वान होते हुए भी प्राकृत एवं हिन्दी-साहित्य

के एक अधिकारी विद्वान के रूप में विख्यात थे। इनका दृष्टिकोण भी संकीर्ण धर्म-सम्प्रदायों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त था। उन्होंने अपनी कन्या का विवाह भी यहीं वैशाली क्षेत्र के एक ब्रह्मर्षि परिवार में किया था और जब कभी संस्थान में आते तो बड़े स्नेह-सम्मान के साथ अपने सम्बंधियों से मिलने जाते। उनकी पुत्री और जामाता भी यहाँ रहने पर उनसे मिलने आते। ये बड़े निर्भीक विद्वान थे, इस कारण डॉ. हीरालाल जी जैन का इन पर बड़ा भरोसा था।

डॉ. जैन और डॉ. टाटिया के बाद संस्थान के निदेशक पद पर डॉ. गुलाबचन्द जी चौधरी आसीन हुए। वे बड़े सरल और सहृदय विद्वान थे। प्राचीन इतिहास के एक अधिकारी विद्वान डॉ. चौधरी दर्शन और व्याकरण शास्त्र में भी निष्णात थे। वे दृढ़ निश्चयी व्यक्ति थे और संस्थान के विकास के लिए उन्होंने कुछ योजनाएँ भी तैयार कर ली थीं। किन्तु, विधाता ने उन्हें ऐसा करने का अवसर ही नहीं दिया और वे अचानक संस्थान परिवार को छोड़ चल बसे।

डॉ. गुलाबचन्द जी चौधरी के बाद डॉ. नागेन्द्र प्रसाद, डॉ. रामप्रकाश पोद्दार और डॉ. देवनारायण शर्मा ने क्रमशः संस्थान का बागडोर अपने कुशल हाथों में लिया और निदेशक पद की गरिमा को सब प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयास भी किया। इसी काल में वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ का पुनरीक्षित-परिवर्धित संस्करण तथा वैशाली क्षेत्र की भाषा बज्जिका पर डी. लीट् शोध प्रबंध का ग्रन्थाकार प्रकाशन हुआ। अभी संस्थान संचालन का गुरुभार डॉ. ऋषभचन्द्र जी जैन के कंधों पर है। वे कठिन परिश्रम और आत्मविश्वास के साथ संस्थान की गाड़ी को पटरी पर लाने के लिए अनवरत प्रयत्नशील हैं। मेरा मानना है कि डॉ. जैन अपनी इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति हैं। इनके निर्देशन में संस्थान अपने अतीत के गौरव को अवश्य प्राप्त कर लेगा।

वैशाली के सारस्वत सन्त पुण्यश्लोक डॉ. हीरालाल जैन

साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव*

प्राकृत-जैनशास्त्र के स्तम्भ पुरुष पुण्यश्लोक डॉ. हीरालाल जैन वैशाली के सारस्वत सन्त के रूप में परिगणनीय माने जाते हैं। यह सर्वमत सत्य है कि वह वैशाली के प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान के संस्थापक निदेशक थे। परन्तु, इससे भी बढ़कर वह ऐसे कूटस्थ महामनीषी थे, जिनकी मनीषा-मण्डित छत्र-छाया में रहकर अनेक व्यक्ति मनीषी-पद की गरिमा से सुशोभित हुए। उनके शिष्यों से एक महनीय विद्वत्परम्परा ही स्थापित हो गई। उनकी विद्वता उतनी ही ऊँची थी, जितनी उनकी भद्रता! उनमें विद्वत्ता और भद्रता का समानान्तर संयोग सुलभ हुआ था। वह आर्ष परम्परा और विद्वत्परम्परा दोनों का एक साथ प्रतिनिधित्व करते थे।

डॉ. जैन ने अपने शुभावतरण से मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध नरसिंहपुर जिले के 'गांगई' गाँव को धन्य किया था। लेकिन उनकी प्रतिभा-पयस्विनी दिग्दिगन्तप्रवाहिनी हो गई। आक्षितीश-समुद्र व्याप्त हो गई। वैशाली प्राकृत-शोध-संस्थान से प्रकाशित बुलेटिन-सं०-2 के प्रधान सम्पादक एवं उस संस्थान के तत्कालीन निदेशक डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी के सम्पादकीय वक्तव्य से ज्ञात होता है कि डॉ. जैन का छात्र-जीवन बहुत ही धन्यतम था। जीवनोत्कर्ष के लिए किया गया उनका सारस्वत श्रम अतिशय स्पृहणीय और अनुकरणीय एवं आदर्शात्मक मूल्य से मण्डित था।

डॉ. जैन ने अपने ग्रामीण विद्यालय से ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की और गाडरवारा एवं नरसिंहपुर से माध्यमिक शिक्षा उपलब्ध की। वह सन् 1916 से 1920 ई० तक जबलपुर के राबर्ट्सन कॉलेज के छात्र रहे। उन्होंने सन् 1920 ई० में बी. ए. की परीक्षा में प्रथम स्थान आयत्त किया और उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त हुई, साथ ही पुरस्कार भी मिला। उन्होंने सन् 1922 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद से संस्कृत में एम. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और शोध-छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। इसी क्रम में उन्होंने एल.एल.बी. की भी परीक्षा पास की। इस परीक्षा में उन्होंने उच्चतम स्थान अधिगत किया। उस समय वकालत का पेशा बहुत ही आकर्षक माना जाता था। परन्तु, उन्होंने सन् 1923 ई. में कारंजा जैन ग्रन्थ-भाण्डार को अपने जीवनाभ्युदय के प्रस्थान-बिन्दु के रूप में

* 37, भा. स्टेट बैंक आफिसर्स कॉलोनी, काली मन्दिर मार्ग, हनुमान नगर, कंकड़बाग, पटना - 800020.

अपनाया और सन् 1924 ई. में भाण्डार में संगृहीत हस्तलिखित पोथियों की विशद सूची तैयार की। उस समय प्राकृत और अपभ्रंश के क्षेत्र में शोध की प्रौढ़ता नहीं आई थी। डॉ. जैन मुख्यतया आचार्य पुष्पदन्त की अपभ्रंश-कृतियों की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने उन कृतियों का समीक्षात्मक सम्पादन कार्य वैदुष्यपूर्ण ढंग से सम्पन्न किया। ये प्रमुख कृतियाँ थीं- 'णायकुमार चरित' और 'जसहरचरित'।

इन दोनों अपभ्रंश-कृतियों के अतिरिक्त डॉ. जैन की सम्पादित कृतियों में निम्नांकित मुख्य हैं-

1. सावयधम्मदोहा (कारंजा सीरीज: 1932 ई.)
2. पाहुडदोहा (प्रथम संस्करण : कारंजा सीरीज 1939 ई.; द्वितीय संस्करण : भारतीय ज्ञानपीठ, 1964 ई.)
3. षट्खण्डागम : धवला टीका-सहित खण्ड 1 से 16 (एस.एल.जैन साहित्योद्धारक फण्ड, 1938 ई. से 1958 ई.)
4. जैन शिलालेख-संग्रह, भाग-1 (एम. डी. जैन ग्रन्थमाला, 1928 ई.)
5. तत्वसमुच्चय (भारतीय जैन महामण्डल, 1952 ई.)
6. सुगंधदशमी कथा (भारतीय ज्ञानपीठ, 1966 ई.)
7. सुदंसणचरित (प्राकृत रिसर्च इन्स्टीच्यूट, वैशाली, 1969 ई.)
8. मयणपराजयचरित (भारतीय ज्ञानपीठ, 1962 ई.)
9. कहकोसु (प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद, 1969 ई.)

डॉ. जैन की कालजयी मौलिक काव्यकृति है- 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान'। यह मध्यप्रदेश शासन द्वारा सन् 1962 ई. में प्रकाशित हुई है। इसका अब द्वितीय संस्करण उपलब्ध है। इस भाग्यशाली कृति का मराठी और कन्नड़ में अनुवाद हुआ है। डॉ. जैन की यथा प्रस्तावित जन्मशती-समारोह के सन्दर्भ में वितरित 'फोल्डर' में यह सूचना अंकित की गई है कि इस महार्थ कृति के अंग्रेजी अनुवाद का कार्य डॉ. जैन के योग्यतम अन्तेवासी अधीती मनीषी प्रो. डॉ. विमल प्रकाश जैन (पूर्व-निदेशक, भोगीलाल लहेरचन्द्र इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली) द्वारा सम्पन्न हो रहा है।

प्रख्यात शिक्षाविद् डॉ. हीरालाल जैन एक आदर्श शिक्षक थे। सन् 1925 ई. में, व्याख्याता के रूप में उनकी नियुक्ति अमरावती गवर्नमेंट कॉलेज में हुई। सन् 1944 ई. में वह नागपुर कॉलेज में स्थानान्तरित हुए। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से डी. लिट् की शोधोपाधि प्राप्त की। वह मध्यप्रदेश शासन की सेवा से सन् 1954 ई. में निवृत्त हुए। तदनन्तर वह बिहार सरकार की सेवा में 'प्राकृत रिसर्च इन्स्टीच्यूट', वैशाली के संस्थापक निदेशक के रूप में नियुक्त हुए और वहाँ सन् 1961 ई. की जुलाई तक सेवारत रहे। सन् 1961 ई. में ही उन्हें जबलपुर विश्वविद्यालय के प्राकृत, पालि और संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया गया। वहाँ वह लगातार सन् 1970 ई. तक उक्त पद को गरिमामण्डित करते रहे। इस प्रकार, डॉ. जैन का सारस्वत व्यक्तित्व बहुव्यापक, बहुविदित एवं बहुजनप्रिय था।

वाङ्मय तप की प्रभा से प्रोदीप्त डॉ. हीरालाल जैन सन्तोचित विभूति से विभासित थे। तत्कालीन बिहार के साहित्य-मर्मज्ञ शिक्षा-सचिव डॉ. जगदीशचन्द्र माथुर की, योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर प्रतिष्ठित करने और उसकी योग्यता को परखने-पहचानने की अद्भुत योग्यता थी। उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर बिहार में संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत-अपभ्रंश एवं पालि के शोध-विकास की बहुमुखता के निमित्त बिहार सरकार द्वारा स्थापित चार संस्थाओं में चार ऐसे व्यक्तित्वों का विनियोजन किया, जो तत्तद् विषय के चूडान्त और निष्णात विद्वान् थे। संस्कृत के लिए दरभंगा में संस्थापित संस्कृत-शोध-संस्थान में पं. उमेश मिश्र को; प्राकृत-अपभ्रंश के लिए वैशाली (बासोकुण्ड) में संस्थापित प्राकृत-संस्थान में डॉ. हीरालाल जैन को; पालि के निमित्त नालन्दा में संस्थापित नवनालन्दा महाविहार या पालि शोध संस्थान में भिक्षु जगदीश कश्यप को और हिन्दी के लिए पटना में संस्थापित बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में आचार्य शिवपूजन सहाय को पदस्थापित किया।

उक्त बुलेटिन सं०-2 में कई विद्वान् लेखकों ने श्रद्धान्त भाव से डॉ. जैन के सदगुणों का उल्लेख किया है। प्राकृत-जगत् के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर पुण्यश्लोक दलसुख मालवणियाजी ने लिखा है कि "डॉ. हीरालाल जी ने अपने जीवनकाल में जो कुछ किया है, उसके कारण उनकी स्मृति चिरकाल तक बनी रहेगी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जैन समाज के विद्वानों के लिए तो वे एक चुनौती छोड़ गये हैं। वह है सत्यनिष्ठा की साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर सत्यप्रिय बनने की"। (पृ.-75)

पुण्यश्लोक मालवणियाजी ने डॉ. जैन का पुण्यस्मरण जिस भावनिष्ठा से किया है, वह इस बात की ओर संकेत करता है कि प्राकृत विद्यापीठ (अब 'प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा-शोध-संस्थान') के उद्भव और विकास के लिए डॉ. जैन ने प्राणपण से परिश्रम किया। 'संस्थान' के निदेशक के रूप में उन्होंने संस्था-संचालन के लिए अपेक्षित प्रशासन-क्षमता एवं कर्मठता का परिचय दिया। आज 'संस्थान' के साथ डॉ. जैन की स्मृति इस प्रकार जुड़ी हुई है कि दोनों एकमेक हो गये हैं। 'संस्थान' को रचनात्मक अस्तित्व प्रदान करनेवाले डॉ. जैन को आज भी उनके सुधी अन्तेवासी और 'संस्थान' के वर्तमान कार्यकर्त्ता परिवार श्रद्धा और आदरपूर्वक स्मरण करते हैं। 'संस्थान' के स्थापत्य के साथ उनकी कीर्ति-काया भी शश्वत्प्रतिष्ठ हो गई है।

मेरा असौभाग्य है कि मुझे परम साधुचरित डॉ. जैन से मिलने और सत्संग करने का अवसर नहीं मिला, परन्तु उनके शास्त्रदीक्षित शिष्यों, जो मेरे सारस्वत मित्रों में अन्यतम हैं, जैसे प्रो. डॉ. विमल प्रकाश जैन, प्रो. डॉ. राजाराम जैन, प्रो. डॉ. रामप्रकाश पोद्दार, प्रो. डॉ. देवनारायण शर्मा आदि से उनका गुण-कीर्त्तन सुनने का सौभाग्य मैंने अवश्य प्राप्त किया है। जब मैंने इस संस्थान के एक परीक्षार्थी के रूप में प्राकृत-जैनशास्त्र में एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और पी-एच. डी. की डिग्री हासिल की और कुछ दिनों तक मुझे उस महामहिम संस्थान में बिहार सरकार द्वारा नियुक्त होकर प्राकृत के व्याख्याता के रूप में अध्यापकीय जीवन जीने का स्वर्णिम अवसर मिला, तब मैं यह सोच-सोचकर गौरवान्वित और हर्ष-पुलकित होता रहा कि मुझे डॉ. जैन की दिव्य आत्मा के अन्तर्नाद

से निनादित इस संस्थान के सक्रिय सम्पर्क में आने का अलभ्य लाभ मिला। सचमुच संस्थान की एक-एक ईंट में, वहाँ के पेड़-पौधों के एक-एक पत्ते में और वहाँ के शोध-ग्रन्थागार के ग्रन्थों के एक-एक पन्ने में डॉ. जैन की वैखरी अन्तर्ध्वनित होती हुई प्रतीत होती है। कहना न होगा कि 'संस्थान' के, डॉ. जैन के परवर्ती सभी निदेशक उनकी गौरव-गरिमा और मान-महिमा को अक्षुण्ण रखने का भरसक प्रयत्न करते आ रहे हैं। यह बात और है कि अब बिहार सरकार में पुण्यश्लोक डॉ. जगदीशचन्द्र माथुर आई. सी. एस. जैसे गुणज्ञ शिक्षा-सचिव और आचार्य बदरीनाथ वर्मा जैसे शास्त्रज्ञ शिक्षामंत्री नामशेष रह गये हैं। वर्तमान बिहार सरकार को 'संस्थान' की सारस्वत उपयोगिता को, उसकी शैक्षिक महत्ता को समझने की शक्ति और समय नहीं है। और फिर, डॉ. जैन जैसे स्वाभिमानी और दबंग निदेशक भी दुर्लभ हैं, जो सरकार की आँखों में ऊँगली डालकर उसे 'संस्थान' की सत्ता, महत्ता और गुणवत्ता से अवगत करायें।

डॉ. जैन शान्त, सौम्य और विनम्र प्रकृति के विद्वान अवश्य थे, पर उनमें अद्भुत दृढ़ता भी थी। वह जितने प्रखर अनुशासक थे, स्वयं उतने ही अनुशासन प्रिय थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने डॉ. जैन का व्यक्तित्व विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "वे शान्तभाव से सारी बातें सुनते थे और बाद में उसपर विचार करते थे। उनमें विनय, शील, विद्वता और दृढ़ता का मिलित रूप था। उन्होंने लगभग चौदह पुस्तकें हमें दी हैं, जो एक से एक महत्वपूर्ण हैं। उन पुस्तकों से जहाँ जैनशास्त्र के उनके प्रगाढ़ अध्ययन का पता लगता है, वहीं अपभ्रंश साहित्य में उनकी गहरी पैठ का भी पता चलता है। उनकी विद्वत्ता और सुजनता अब केवल याद करने की चीज रह गई है।" (द्र. तत्रैव, पृ.-77) निःसन्देह, डॉ. हीरालाल जैन जैसी अतलस्पर्श गम्भीरता अन्यत्र सुदुर्लभ है।

डॉ. देवनारायण शर्मा डॉ. हीरालाल जैन को अपना ऋषिकल्प पूज्य गुरु मानते हुए श्रद्धासिक्त भाव से मर्मस्पर्शी शब्दों में लिखा है कि 'डॉ. जैन साहब से मेरी अन्तिम भेंट उनके महाप्रयाण से पाँच महीने पूर्व जबलपुर अस्पताल में हुई, जब मैं प्राकृत विद्यापीठ (प्राकृत रिसर्च इन्स्टीच्यूट) के अपने सहकर्मी डॉ. रामप्रकाश पोद्दार (ये दोनों 'संस्थान' के निदेशक पद को अलंकृत करने वालों में पांक्तेय हैं) के साथ प्राच्य विद्या-सम्मेलन में भाग लेकर उज्जैन से लौट रहा था। ज्योंही हमारे मित्र डॉ. विमल प्रकाश जैन (डॉ. जैन के सदानुगामी पुत्रकल्प शिष्य) ने डॉ. जैन को सूचित किया- 'भुजप्परपुर के पोद्दारजी तथा देवनारायणजी शर्मा आपसे मिलने आये हैं।' वे इस अधीरता से विस्तर पर उठ बैठे और हाथ बढ़ाकर हम दोनों को उन्होंने ऐसे पकड़ लिया, मानो दीर्घकाल की खोई सम्पत्ति हाथ आ गई हो। उस रुग्णावस्था में भी उनका सहज वात्सल्य उमड़ पड़ा। उस पूज्य गुरु का वह अन्तिम पार्थिव स्पर्श था, जिसने अपने जीवन में छात्रों के लिए सर्वस्व लुटाना ही सीखा था, उनसे कुछ भी प्राप्त करना नहीं। (द्र. तत्रैव, पृ.-79)

महान् चिन्तकों का विनोदी स्वभाव का होना बहुधा देखा जाता है। आचार्य हरिभद्र सूरि महान् दार्शनिक होते हुए भी अतिशय विनोदी थे, यह उन्होंने 'धूर्ताख्यान' लिखकर सिद्ध कर दिया है। इनके परवर्ती आधुनिक काल में महा महोपाध्याय पं.

रामावतार शर्मा ने एक ओर 'परमार्थ दर्शन' जैसे चिन्तन गूढ़ ग्रन्थ की रचना की है, तो दूसरी ओर हास्य-व्यंग्य कृति 'मुद्गरानन्द चरितावली' लिखकर अपने को प्रबल विनोदी भी साबित किया है। इसी प्रकार डॉ. हीरालाल जैन भी जितने महान् चिन्तक थे, उतने ही विनोदी स्वभाव के थे। उनमें विद्या, विनय और विनोद, इन तीनों की युगपद् स्थिति पाई जाती थी। डॉ. जैन प्राच्यविद्या के अध्ययन के क्षेत्र में सदा स्मरणीय रहेंगे और जैन साहित्य के इतिहास लेखकों को उनके लिए अनेक पृष्ठ सुरक्षित करने पड़ेंगे।

आचार्यकल्प डॉ. हीरालाल जैन ने अपने अप्रतिम वैदुष्य से जैन सिद्धान्त के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा साहित्य को स्पृहणीय समृद्धि प्रदान की थी। विशेषतया प्राच्य भारतीय इतिहास संस्कृति, भाषाशास्त्र और शिलालेखीय साहित्य में उनकी सारस्वत उपलब्धि की द्वितीयता नहीं है। इसी प्रकार, जैन धर्म, दर्शन और साहित्य के सर्वतोभद्र विकास की दिशा में उनकी देन अद्वितीय है। वह जैन मनीषा के इतिहास-पुरुष के रूप में अभिनन्दनीय हैं और अभिवन्दनीय भी।

डॉ. जैन की कथनी और करनी में एकमेकता थी। वह 'कर्मण्येक', 'वचस्येक' तथा 'मनस्येक' सूक्ति को सार्थक करने वाले महात्मा थे। वैशाली में तो वह सारस्वत सन्त के रूप में सुप्रतिष्ठित थे। उनके निदेशन-काल में वैशाली प्राकृत-शोध-संस्थान के कर्मचारियों में जैसी कौटुम्बिक भावना थी, वैसी, उनके परवर्ती काल में, पारिवारिकता प्रायोदुर्लभ हो गई है। वैशाली की भूमि के लिए यह महान् सौभाग्य घटित हुआ था कि डॉ. हीरालाल जैन जैसे सारस्वत सन्त के पावन पूत चरण वहाँ पड़े थे। उनके जैसे देवतात्मा के पदार्पण से वैशाली के प्राकृत-शोध-संस्थान की अपनी स्वतन्त्र पहचान कायम हुई। अनुशासन प्रिय डॉ. जैन ने प्राकृत-शोध-संस्थान को उसी प्रकार सरकारी आँच से बराबर बचाये रखा, जिस प्रकार आचार्य शिवपूजन सहाय ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् को सरकारी तन्त्र की जटिलता से सर्वथा अलग रखा था। खेद है कि आज वह स्थिति आकाशकुसुम हो गई है।

'संस्थान' के वर्तमान निदेशक डॉ. ऋषभचन्द्र जैन पुण्यश्लोक डॉ. जैन की सारस्वत पुण्यस्मृति को अपनी रचनात्मक प्रशासनिक क्षमता से अक्षुण्ण रखने के निमित्त निरन्तर प्रयत्नशील हैं, परन्तु सरकारी तन्त्र की अपेक्षित अनुकूलता इन्हें सुलभ नहीं हो पा रही है। फलतः, डॉ. जैन के द्वारा जीवन की बाजी लगाकर रोपे गये इस 'संस्थान' रूप बिरबे के अपेक्षित रूप से पल्लवित-पुष्पित होने की सम्भावना बाधित हो रही है।

प्रथितनामा जैन मनीषी डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' के शब्दों में, "पुण्यचरित डॉ. जैन नई पीढ़ी के लिए वरदान-स्वरूप थे तथा विद्वानों और विद्यार्थियों के लिए अजस्र प्रेरणास्रोत थे। वह निश्चित रूप से सच्चे मानव और कर्मठ प्रतिभाशाली, कुशल विद्वान एवं मार्गदर्शक शिक्षक थे।" (द्र. तत्रैव, पृ.-80)

इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. जैन ने वैशाली के प्राकृत-शोध-संस्थान के आद्य निदेशक के रूप में अत्यन्त परिश्रम तथा बुद्धिमता के साथ इस संस्थान का संयोजन, प्रबंध और विकास किया था। उनके निदेशन-काल में 'संस्थान' से अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-ग्रंथों

का प्रकाशन हुआ। आचार्य अनन्त प्रसाद जैन 'लोकपाल' को डॉ. जैन की आत्मीयता सहज सुलभ थी। इन्होंने उनके सम्बन्ध में उनकी भूरिशः प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "उनके (डॉ. जैन के) सान्निध्य में एक प्रकार के विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती थी। सदा प्रफुल्ल रहना उनका स्वभाव था। उनकी बातें बड़ी मीठी, मनोहारी और हृदयग्राही होती थीं।" (द्र. तत्रैव, पृ.-81)

निश्चय ही, डॉ. जैन ने जैन वाङ्मय की जो अपूर्व सेवा की है, वह तो अविस्मरणीय है ही, वैशाली प्राकृत-शोध-संस्थान की सम्यक् समृद्धि के लिए किये गये उनके बहुमुख प्रयत्नों का भी क्रोशशिलात्मक और ऐतिहासिक महत्व है। डॉ. जैन जैसे अक्षर पुरुष को ध्यान में रखकर आचार्य भर्तृहरि ने लिखा होगा-

जयन्तिते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

निस्सन्देह, डॉ. जैन का पार्थिव शरीर निरस्तित्व हो गया है, पर वह अपने यशःशरीर से सनातन पुरुष के रूप में 'न ममार न जीर्यति' उक्ति को चरतार्थ करते रहेंगे।

My Revered Guru : Dr. Jain

Late Dr. J.C. Sikdar*

It is a very difficult task for me to write something about the life of revered Guru, late Dr. Hiralal Jain, Ex-Director of Vaishali Research Institute and Ex-Prof. of Sanskrit, Pali and Prakrit, University of Jabalpur, for the self within his mortal body was higher and nobler than all his noble works. It was unfathomable and beyond my comprehension with my little knowledge. So I make an attempt to present here a glimpse of his life as he appeared to me as my Pujya Guru in the course of my life as his dear pupil from the 15th March 1957 to the 13th March 1973.

The news of his sudden departure from this mortal world on the 13th March 1973, come to me as a rude shock, leaving me behind as a lonely traveller in the up and down journey of my life. Only he could say what spiritual relation I had with him. Now all is over.

I recall the day when I was groping in the darkness at Vishwa Bharati University (Shantiniketan) as a Research Scholar in 1957 without a Research Guide to work out my Ph. D. thesis on the Bhagavati Sutra, after the sudden death of my first revered Guru, late Dr. Prabodh Chandra Bagchi, Ex-vice-chancellor of Vishwa Barti University in 1956 who saved me from that stranded condition. It was Dr. Hiralal Jain, the then Director of Vaishali Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Muzaffarpur, Bihar, who lifted me up by welcoming there with a beacon light which was rich in meaning and hope for my future life.

* M.A., Ph.D., lit., Ahmadabad.

On my first meeting with him at Muzaffarpur on the 7th March 1957, I was so much impressed by his cordial reception, his solution of my problems with affection and his offer of a research scholarship to me to carry on my research studies under his guidance there that I felt within myself the presence of divine grace through such a Guru for the turn of my life. I welcomed his offer to be a regular research scholar at his Institute, but my mind was still wavering with the thought whether I should join his Institute or not in such a dirty and unhealthy atmosphere of Muzaffarpur. The sight of the new Institute with a very small library, housed in a small rented building in an unsuitable locality, depressed my mind more and more to take the final decision.

When I was walking side by side with Dr. Jain by the Railway Station, he suddenly drew me to his side by pulling my left arm with a fatherly touch to save me from the dashing accident of a running rickshaw driven by a reckless driver. This affectionate magnetic touch of future Guru made my wavering mind settle down and inspired me to come to him as his pupil on the 15th March 1957, by severing all connections with Vishwa Bharti.

On the very day of my joining the Vaishali Research Institute, Dr. Jain told me straightway 'Now you are a member of our small family. I would like to see your day-to-day progress in the field of research. I am here to help you in every respect. Of course, your task is heavy, no scholar upto this time dared to touch this Bhagavati Sutra to work out a Ph. D. thesis on it.' Since then I started my research work under his guidance, sitting at his feet and completed my thesis '**Studies in the Bhagavati Sutra**' within three years. Truly speaking, I did not know Prakrit well and A B C D of Jainism when I began my work under his guidance. But his inspiring teaching raised me up day by day to learn Prakrit and Jainology with devotion to my work with his blessings. Now I do realise how great was my Guru to teach his own religion and philosophy to a pupil of another religion, having a different tradition and to convert him to his ideals gradually. **It was the spiritual relation between the Guru and the Sishya which brought**

them closer in their mutual life and work. If it were not, the latter would have left the former in the very beginning. I remember the day on which he thrice congratulated me on the success in my first drafting of the chapter 'Political conditions as reflected in the Bhagavati Sutra', with these words, 'It is very difficult for a student to satisfy me with the standard of his writing, but you have satisfied me in your first attempt. Keep it up. 'It was this encouragement of his which gave me much confidence in my capacity to work out my thesis.

According to a fixed routine. I had to attend my regular research classes with him thrice a week to show my progress work to him at proper time in course of three years. If there was any mistake in my writings, he at once corrected it and suggested new things to add to my writings. He followed the same method of teaching in the case of other Research Scholars Sri K.R. Candra, D.B. Pathan and others so that all his pupils could make progress equally in their respective work without difficulty. He used to say that the students have the right to make mistakes, but the teachers have the right to correct them. How may teachers in India will follow his maxim? I find most of them condemning the students as mediocre etc. with their so-called empty intellectual snobbery. Here was my Guru Dr. Hiralal Jain above all with his intellectual majesty and fatherly affection for his dear students. But he followed a very strict principle in regard to their study, sanction of scholarship, moral conduct, social behaviour etc.

Here I am citing a few cases. On the termination of my two years scholarship I requested him for the renewal of my research scholarship for another year, as it was not possible for me to complete my thesis within two years. He refused to do so on this principle that it would be a bad precedence if it was done so. He proposed to offer me financial assistance at the rate of Rs. 100/- per month from his own pocket so that I could finish my work within another year without difficulty. But I declined his kind offer with thanks and told him that I would sell out my plot of land at Burdwan to defray my expenses for another year. Having fully realised the whole situation with a

kind heart, he advised me not to sell out my plot of land in this way. He atonce sanctioned a research scholarship for six months, but not for one year and promised to pay my examination fee of Rs. 200/- which he actually gave at the time of submitting my Ph. D. thesis to the Bihar University. From this incident one can easily judge how he followed a strict principle on the one hand and on the other he had the softest heart for his pupils to help them in their needs so that financial difficulties must not come in their way of work.

On another occasion he told me in regard to some Hostel affairs of which I was the prefect, that one student was taking his meal in the hotel because of unwelcome atmosphere in the Hostel. It was no other than good hearted V.P. Jain with his sentimental mind who went to the hotel, because I had to take him to task as his elder brother for his emotional behaviour for many things, i.e. to exhaust the mess-store by entertaining so many guests and to starve on the next morning. Any way Dr. Jain told me that this matter was hanging heavy on his heart. I told him the fact how his emotional behaviour forced me to be strict. At one point Dr. Jain told me, **'all of you have not come for studies, but for fighting.'** This was the anti-climax of our relationship in another direction. When I promised him to bring back Sri V.P. Jain and peace to the Hostel, his face beamed with smile and happiness. I did my job immediately on my return to the Hostel to his satisfaction. Here one can observe his strict principle for our studies in a peaceful atmosphere.

On the report of the Superintendent (Civil Surgeon) of Victoria Hospital of Muzaffarpur regarding a strong letter of my friend Sri K.R. Candra, charging the eye-specialist with corruption of extracting money for treating eyes of the patients, Dr. Jain called my friend for explanation and apology for his unseemly behaviour. He wrote to the Civil Surgeon about his appropriate action, but he added in his letter that the fact remained that the eye-specialist demanded money from my student. Here was **Dr. Jain with strict principle in regard to the social behaviour of his students and moral conduct of others also.**

Besides his own research work and that of guiding his scholars, Dr. Jain used to take regular Post-Graduate classes almost alone, I should say, as there was one halfhearted assistant professor with him. He (Dr. Jain) made the study of Prakrit and Jainology so interesting, popular and attractive with his mode of teachings and magnetic personality endowed with affection for his students that within a short period the old learned Maithili Brahmin Sanskrit Pandits of 60 to 70 years age came to him to study Prakrit and Jainology, by giving up their jobs as teachers in local Sanskrit Colleges and Schools or by taking study leave. All of them were senior to him in age. But they paid their due respect to Dr. Jain always by touching his feet like ancient pupils of India. Here I recall the remark of Dr. Satkari Mukarjee, the erudite scholar of Bengal, about Dr. Jain, when he happened to visit our Institution on his way to Mithila from Nalanda. **The Shudras count seniority by age, but the true Brahmanas count seniority by knowledge. Dr. Jain is senior in every respect by knowledge as a true Brahmana, with a dispassionate feeling towards worldly things.'**

In the course of time some Hindi, Sanskrit and English students having their M.A. degrees in their respective subjects became students of Prakrit and Jainology. Even two clerks (one of them was from R.M.S.) and a principal of local Higher Secondary School studied Prakrit and Jainology under his inspiration and obtained their M.A. degrees in Prakrit and Jainology in the 1st class. What was the attraction behind their study in these subjects? **It was the intellectual majesty of a great Guru like Dr. Jain with a loving heart for his pupils which attracted a host of students from different walks of life. Did this study pay them? I say, no. Then why did they study the subject? The answer is simple. They felt proud to become the pupils of such a noble hearted Guru endowed with the knowledge of the heart of Jainology.** Today the professors of Indology, Sanskrit, Pali and Prakrit lament in the open in all India Seminars for the loss of interest of the students in the study of these subjects and ultimately they blame the students for their mediocre merit, etc. to console themselves for their

own failure as teachers. It is pathetic condition for them to say so. What was the cause of the success of Dr. Jain as a Guru? It was the student's welfare which was the main cause of his success in attracting students with his magnetic affectionate heart.

Dr. Jain as a Welfare Teacher

On the very first day when I joined the Vaishali Institute he told me that there are some places even in London where the people could get their home-made food-stuff at less cost, if they managed their own mess themselves. So he advised me to start, common self-managed mess for our food. Somebody must be there to bell the cat. 'You are the elder, so you should start it in co-operation with other boys.' I don't like to see my boys going for food to the dirty hotels he said. At first I hesitated to take up the responsibility because of my past bitter experiences in Calcutta University Hostel; but at last I had to take the responsibility as the prefect of our newly started hostel, the selection of which was made by me wining over Dr. Jain with my convincing arguments to cancel his own order for another building for the sake of our welfare. Here is the point of student's welfare when the teacher revises his decision and accepts that of his student for the interests of all students. After fifteen days when he visited the hostel, he was glad to see it suitable for living on the completion of its repair, white-washing etc. He told me, 'Sikdar, we have come to the right place. I am pleased to see it as a student's home. Whenever you need anything for it, approach me directly. I shall do the needful. On my recommendation he appointed a ward servant even without the sanction of the Bihar Government and paid his salary for 1½ years from his own pocket as loan to us in the absence of the sanction of this post. Whenever there was shortage of money to run the mess, he at once gave me the required amount as loan so that we could tide our crisis. He sanctioned money for our out-door games so that we could maintain for physical fitness. He used to say that a student must live once at least the collective life of the Hostel; otherwise he could not become fully developed to lead a collective social life. One must depend on his own self for essential work.

Whoever fell sick, whether his students or the ward servant, he made proper arrangements for their medical treatment in the local Hospital by requesting its superintendent for admission there in this regard. Dr. Jain participated in our every feast and function as a father of a small family on invitation. He also invited us now and then for enjoying meals together with him. He was very glad to find us living like brothers without distinction of caste and creed, being free from communalism and provincialism. He once took all of us to Bhainsa Loton, a place situated on the bank of the river Gandak which flows between India and Nepal for excursion on the invitation of his friend Sri Chaudhary, a manager of a local Sugar Mill and showed the working system of the Sugar Mills.

Dr. Jain as a Social Teacher & Guide

Every year Dr. Jain used to take us to Vaishali on the occasion of Lord Mahaveera's birth anniversary and performed himself puja, together with other jains and his students. He equally paid his obeisance to Lord Siva and Lord Buddha. In the last part of his life he once told me that he was fully convinced by all literary evidences that Lord Siva and Lord Rishabhadeva were one and the same divine personality. He firmly believed that Hinduism, Buddhism and Jainism are the three currents of one great Indian culture. Once he expressed this view in his lecture at the local Sri Ramakrishna Sevashram on the occasion of Sri Ramakrishna anniversary that Sri Ramakrishna's Samadhi Mudra (right hand up and left hand touching his heart) indicated that Jivatma and Paramatma were one at the last stage of spiritual development, and the infinite supreme Soul manifested itself in and through the finite Soul. The self and the universe were within oneself. 'So look inside, be introvert.'

He spoke about Swami Vivekanand that he was ready to face the whole world with his spiritual power and remove animality from the human mind and to bring divine light to them. All the Indian saints respected one cultural heritage from the time immemorial. His liberal views on socio-religious matters were reflected in his day-to-day life.

When Muni Lavchandraji observed Chaturmas at Muzaffarpur in 1957, he proposed Dr. Jain and the local people to hold a religious conference of all Indian religions for seven days. He atones took the responsibility and organised it very successfully with the help of his students and the local volunteers. I found in Muni a liberal Jain saint ever come across by me like a spiritual light, while Dr. Jain was the guide spirit of the conference. He came to the resource of the able speakers when they were in difficulties to answer to the queries of the intelligent listeners and thus be satisfied all with his proper answers to them on behalf of the speakers. **Here he had the intellectual majesty above all.**

I remember the day when he spoke to the workers of a Sugar Mill at Bhaisa Lotan on the contribution of Bihar to Indian culture.

¶ He said that Bihar is the birth place of three Indian systems of thought Vedantra of Upanishadic philosophy, Buddhism and Jainism. They took their birth in the North-East, but they were much developed in the South. In a word Bihar (a monastery) was the mother of these three systems. Truly speaking it is so. Biharis are called Buddhus (foolish) by the arrogant foolish people of other parts of India. But Dr. Jain never behaved in that manner, so he won the hearts of the Biharis with his love and respect for them. In return he received their spontaneous love. He told me once that when he was introduced by Sri J.C. Mathur, I.C.S. the then Education Secretary of Bihar Govt. to the people of Hazipur, lakhs of people came to see him with love and respect. At Vaishali I myself observed their love and respect for him on the occasion of Mahavira Jayanti every year. The so-called scholars with their false intellectual ego without any heart or love for the people avoid the association of the people and sometimes dislike them. But Dr. Jain loved them with respect.

Dr. Jain as an Organiser of the Institute

On the request of late Dr. Amarnath Jha and Sri J.C. Mathur, I.S.C. the then Education Secretary of the Bihar Government, Dr. Jain accepted the offer of Directorship of Vaishali Research Institute in 1955-56, which was born in a mysterious way because of the

donation of Sri Sahu S.P. Jain and the dream and effort of Sri Mathur. There was nothing to call an institute. Out of scratch he had to build it up slowly. It was only on paper tell them. He was given only a clerk. He came to Muzaffarpur and hired two small buildings-one for his residence and the other for the office. Then he appointed three office peons. He had to get his meals from the hotel for a few months. Next he appointed Sri Rajaram Jain (now Dr. Rajaram Jain) as librarian and a typist named Sri Brajen Jha. He set to work with this skeleton staff and introduced the post graduate classes in Parkrit and Jainology and research class with a negligible library within a short time. Gradually it grew up within five years and became worthy for a Research Institute because of his strenuous efforts for the collection of necessary books, etc. He straightened the affairs of the office very smoothly, single handed and made the path easy for his successors to run the Institute on his outlined path. Sri J.C. Mathur and Dr. Jain had the plan that the Vaishali Institute at Vasukunda, Mahavira Memorial there, the Archaeological Museum near the International Guest House on the bank of Coronation Tank and the future Degree College near the of King Vishal would be established and be connected culturally by exchange of thoughts and ideas of scholars and the people; so that at new Vaishali would emerge with new light. But their dreams or plans remained dreams for want of helpful cooperation of the authorities.

Dr. Jain moved in the official circle of Bihar with dignity and self-respect and self-respect without bowing his head down to the crafty officials. Sri R.R. Diwakar and Dr. Zakir Hussain, the successive Governors of Bihar had great respect and every praise for him. Or the visit to our Institute Dr. Zakir Hussain told Dr. Jain that the Bihar Government had done the wisest thing by appointing the latter as the first Director of the Institute; and this Infant Institute would be well fed by the Bihar Government, just as the infants of England were well fed by the British Government during the second world war. When Dr. Jain resigned his post as the Director on the expiry of his five years term, Dr. Hussain wrote to him, 'Dr. Jain you did not

give us an opportunity to think over your decision.' I have seen that he always made the direct approach to the concerned secretaries of the Bihar Government to get his things done quickly, as the official correspondences made little effect on them. That to why he was loved and respected by all as he made a great impact on them by his personality.

Dr. Jain at His Farewell

After handing over the charge of his grown up child, the Vaishali Research Institute to his successor, Dr. Jain came to his family of students in July 1961 at the hall of the Institute with a heavy heart. I never saw him in such a mood. In reply to our farewell address he rose slowly and spoke that, 'My boys, a large tree should go away, so that the small trees may grow up luxuriously with the new sun-shine. You are giving me farewell, that is more touching. I have made one scholar here (pointing his figure to me), but I shall not be able to see that he will take the Ph. D. degree in the convocation before my eyes.' Immediately he burst into tears and sat down on his chair with a surcharged living emotions for his dear pupils. We also wept for him-a father-like Guru. The life's events separated us.

Dr. Jain is My Guru at Jabalpur University

Again my revered Guru lifted me up in 1963, from the intellectual stagnant condition of life at Burdwan Raj College, West Bengal, by making arrangements for the award of Senior Research Fellowship of the U.G.C. to carry on my Post-Doctorate research work at Jabalpur University under his guidance. He was very glad to receive me there on the 9th November 1963. Sri V.P. Jain, his another pupil, also joined this University as Lecturer in Pali and Prakrit. We were very happy to join the family of our Guru gain at Jabalpur. We know how he protected us like a big intellectual bird with his spreadout wings of defence so that no mishaps could happen to our life in any form-physical, mental and intellectual. I completed my D. Litt. Thesis 'Doctrine of Matter in Jainism' and Sri V.P. Jain his Ph. D. thesis 'Jambu-Swami Cariu' and obtained our respective degrees in the convocation of Jabalpur University in February 1968 before his eyes.

At the farewell function of Vaishali he expressed his sadness that he would not be able to see me receiving the degree of Ph. D. before his eyes. But this time he was very glad to see his two dear pupils receiving their respective degrees before his eyes. And he was proud of me that **I was the first D. Litt. of the Jabalpur University.** Good helped us both in gladdening the heart of our severed Guru in this way.

During my stay, he had sometimes discussions with me on social, economic and political matters etc. Once he told me that the people who need more money to maintain themselves physically and mentally are not getting. **'But we get more though we do not need it. See how is the economic order of the society.'** This remark gives an insight into his heart having a sympathetic feeling for the needy. Another time he told me the untold misery of the Bengalee refugees due to the partition of India. **'I am surprised to see how you, the Bengalees, still survive intellectually, mentally, socially and spiritually after this great misery of partition. There is surely a great spiritual power in your people 'he said'.**

Dr. Jain once warned me about the condition of service in India that one should note that there is only one relation in the service i.e. the relation of the employers and the employees whether one is an officer or professor or any staff in the Government Institution or Private Institution or Factory of Field. **Don't you see how the ministers are dropped own from the cabinet unceremoniously?**

Now I conclude with a few quotations of his letters written to me, to throw light on his inner soul.

'I am glad to find that by your spiritual strength you are slowly but surely getting a mastery over your bodily ailments and failings; and I am sure you will be soon your normal self again.

' Dhar, 24-10-1969.

I suffered terribly from small-pox in 1969. On hearing this news he wept for me for the so-called intellectual vultures did not come to my help.

'Do not be discouraged by the coolness and silence of most of your readers and listeners. Remember the Jain dictum that the ignorant are infinite, while enlightened are few.'

Balaghat, 17-09-1972

He wrote this to me when I sent the copy of my papers '**Kulkara System with a new approach.**'

I am very sorry that your invitation to the Magadh University Seminar was not kept up, particularly when you had once accepted it and also promised to contribute a research paper. But you should not be too much upset over it or feel any bitterness towards anybody, for such happenings are becoming very common of these days on account of personal likes and dislikes. A scholar and religious man like you should ignore them, and continue to concentrate on one's own programme of work, without taxing the mind with these small things. You should also free your mind of the past unpleasant memories if any, and plan your future with a pure mental vision.'

Balaghat, 22-01-1971

It was written in reply to my letter regarding the unscholarly behaviour of some members of the organising committee of the Prakrit Seminar, Magadh University, to drop my name from the list of the delegates, although I was invited first and also to the heartless behaviour of some scholars not to give a glass of water even to their dying colleague like myself due to attack of pox.

'I also note your growing interest in medicine which of course, affords for more opportunities of serving humanity and relieving its sufferings. My advice to you, however, is that more serious thought should keep it as your side activity or make it your whole-time occupation. Think about it from the point of view of your main interest as well as the practical requirements of life.'

Balaghat, 30-11-1970

As I wrote to him that I had turned a Homoeopath to serve humanity, he wrote this letter to me.

One receipt of the offprint of my papers on '**Jaina Theory of Sound**' he wrote,-

'I am so happy to find that the scholar in you is not being smothered by the medical doctor, as generally happens when rival tendencies grow. You are thus maintaining that balance of life which constitutes Yoga. 'समत्वं योग उच्यते।' Why not? You are truly Yogendra.'

Balaghat, 05-10-1982

At Jabalpur University also he referred to me before his colleagues as '**his recluse student.**' I question myself whether I am worthy of this attribute given by revered Guru. On the contrary I found him as a great sage, a great yogin who maintained the balance of his brain and heart as a great Jain ever come across in my life in India. He came to this world with a divine Soul and left it behind to be remembered with reverence and worshipped by his dear pupils.

(With obligation – SMARIKA, Dr. Hiralal Jain Janmashatabdi Samaroha Samiti, Jabalpur)

डॉ. हीरालाल जैन : ग्रंथ परिचय

डॉ. धरमचंद जैन*

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां सर्वार्थगामिनीम्।

ज्ञाताः सर्वज्ञ सद्भावे निरारेका मनस्विनः॥

उनकी स्वाभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा देखकर विद्वतजन् सर्वज्ञ के सद्भाव के विषय में संदेह रहित हो जाते थे।

भारत में आर्यभाषा का विकास प्रमुख रूप से त्रिस्तरीय माना गया है। एक प्राचीन युग जिसमें वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत की काव्य-भाषा आती है। दूसरा मध्य युग जिसमें लोकभाषाओं का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास हुआ। बौद्धों के त्रिपिटिक की पाली व जैनागमों की अर्धमागधी मध्य युग का पहला चरण है। दूसरा चरण दूसरी शती से पांचवी शती तक है। इसके बाद अंतिम सोपान जिसे अपभ्रंश काल के नाम से जाना जाता है। अपभ्रंश का विकास दसवीं शताब्दी तक चला और उसके साथ आर्य भाषा के विकास का मध्य युग या द्वितीय स्तर समाप्त होकर तृतीय स्तर का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी प्रतिनिधि हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि आधुनिक भाषाएँ हैं वस्तुतः अपभ्रंश से ही हिन्दी आदि भाषाओं का विकास हुआ है और इस दृष्टि से इस भाषा के स्वरूप का बड़ा महत्व है। अपभ्रंश की व्याकरणिक विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें काव्य रचना की बिल्कुल नई प्रणालियों और नये छंदों का प्रयोग पाया जाता है। दोहा और पद्धड़िया, छंद, अपभ्रंश काव्य की अपनी वस्तु हैं और इन्हीं से हिन्दी के दोहों व चौपाइयों का आविष्कार हुआ। अपभ्रंश भाषा में लिखा गया प्रचुर साहित्य अधिकांशतः जैन मनीषियों और कवियों द्वारा लिखा गया है। संभवतः इसीलिए आर्यभाषा और साहित्य के विकास का अध्ययन करने वालों ने उसे धार्मिक साहित्य मानकर साहित्यिक अध्ययन की श्रेणी में शामिल नहीं किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य की भूमिका में इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि मध्य युग के एक हजार वर्ष का साहित्य लोक जीवन से सम्पृक्त है। स्मार्त और बौद्ध दोनों ही हिन्दी के जन्मकाल के समय लोकमत का प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे। जैनियों में तो लोकजीवन और लोकभाषा के प्रभुत्व वाली पुष्ट धार्मिक परंपरा ही थी।

* एम.ए., पी-एच.डी., छत्तरपुर।

हम ऊपर मध्य युग की जिस लुप्त कड़ी की ओर संकेत कर आये हैं उसको ज्ञान-सुलभ करने की श्रम-साध्य चेष्टा करने वाले मनीषियों में डॉ. हीरालाल जैन का स्थान सर्वप्रथम है। डॉ. जैन का पहला महत्वपूर्ण कार्य शौरसेनी प्राकृत और कानडी लिपि में लगभग एक हजार वर्ष तक सूर्य-प्रकाश-वंचित षट्खंडागम की ताड़पत्र की प्रति का उद्धार करना और नागरी लिपि में प्रामाणिक पाठ और टीका सहित षोडशिक भाषानुवाद प्रकाशित करना था। स्मरणीय है कि यह जैनागम पुष्पदंत और भूतबलि आचार्यों द्वारा ईसा की दूसरी शताब्दी में सूत्रबद्ध किया गया था। नौवीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन ने इसकी धवलाटीका रची थी। सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचंद्र ने ग्यारहवीं सदी में षट्खंडागम और धवलाटीका के आधार पर गोमटसार जीवकांड और कर्मकांड खण्डों में सार निचोड़कर 1695 गाथाओं में दो खंडों की रचना की थी। तब से मूल खंडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गयी। डॉ. हीरालाल जैन ने मूल खंडागम और धवलाटीका की प्रामाणिक प्रति भाष्य और भाषानुवाद सोलह ग्रंथों में 20 वर्ष के अध्ययन के बाद प्रकाशित कर दिगम्बर जैन आम्नाय के मूल ग्रंथ को लोक हितार्थ सुलभ कराने का अकल्पित कार्य किया है। इसलिए उन्हें हमें सिद्धांत शोध चक्रवर्ती के रूप में असीमित आदर और परम श्रद्धा के रूप में स्मरण करना चाहिए।

डॉ. हीरालाल जैन का दूसरा महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य अपभ्रंश भाषा में रचित चरित काव्यों का उद्धार कर आर्यभाषा-विकास की मध्यकालीन कड़ी को उसका ऐतिहासिक स्थान दिलाना और अपभ्रंश भाषिक-संरचना, व्याकरण और ध्वन्यात्मक विकास के प्रामाणिक अध्ययन के साथ आधुनिक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की संगति प्रस्तुत करना रहा है।

डॉ. हीरालाल जैन का तीसरा महत्वपूर्ण योगदान उनके पुरातात्विक अध्ययन के रूप में है। उन्होंने प्राचीन जैन शिलालेखों का सूक्ष्म अध्ययन-विश्लेषण कर इतिहास की बिखरी कड़ियों को शृंखलाबद्ध करने का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया है। वे प्राच्य विद्याचार्य थे और आर्यभाषा के विविध स्तरों के विकास से होने वाले परिवर्तनों की समझ रखने वाले और उसकी अभिव्यक्तिक संगति बिठाने की कला में दक्ष अद्वितीय अध्येता और विद्वान थे।

आधुनिक युग में जैन-ज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान को वैज्ञानिक आधार देने वालों में डॉ. हीरालाल जैन अनन्यतम थे। साहित्य, दर्शन, कला, भाषाशास्त्र, तुलनात्मक विवेचन और मौलिक चिन्तन सभी में उनकी प्रतिभा ने नये आयामों का उद्घाटन किया। हम यहाँ उनकी प्रकाशित कृतियों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं। पुस्तक परिचय को कालक्रमानुसार देने की अपेक्षा विषय-संगति के अनुकूल देना औचित्यपूर्ण होगा। अपभ्रंश के चरितकाव्यों और उनकी ऐतिहासिक शोधपरक कृतियों के प्रकाशन को कालक्रमानुसार ही रखा गया है।

षट्खंडागम (शि. ल. जैन न्यास, 1938-58)

आगम प्रत्यक्ष के बराबर का प्रमाण माना जाता है। धरसेनाचार्य ने पुष्पदंत और

भूतबलि को वे ही सिद्धांत सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीर स्वामी तक पहुंचती है। पुष्पदंत और भूतबलि की रचना तथा उस पर वीरसेन की टीका इसी पूर्व परंपरा की मर्यादा को लिए हुए है। इसीलिए वे आगम के रूप में प्रख्यात हैं। आचार्य इन्द्रनन्दि द्वारा इस आप्तवाणी को षट्खंडागम नाम दिया गया है। इस ग्रंथराज के 6 खंड हैं- जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंध स्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध। दिगम्बर आमाम्य की मान्यतानुसार भगवान महावीर स्वामी की वाणी से संबंधित द्वादशांग श्रुत का बारहवाँ अंग दृष्टिवाद ही प्रस्तुत आगम का स्रोत है। दृष्टिवाद के अंतर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच प्रभेद हैं। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेदों में से द्वितीय और आग्रायणीय पूर्व से ही जीवट्ठाण का बहुभाग और शेष पांच खंड सम्पूर्ण निकले हैं।

षट्खंडागम में पुष्पदन्ताचार्य के सूत्र प्राकृत भाषा में है। वीरसेनाचार्य की टीका और उसमें उद्धृत प्राचीन गद्य-पद्य प्राकृत और संस्कृत भाषा में हैं। टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ़ मुहावरेदार और विषयानुकूल संस्कृत की तर्कशैली से प्रभावित है। ग्रंथ की संस्कृत शैली अत्यंत प्रौढ़, परिमार्जित और न्यायशास्त्र के ग्रंथों के अनुरूप है।

धरसेनाचार्य के समकालीन एक और आचार्य गुणधर थे। इन्हें भी द्वादशांग का कुछ ज्ञान था। उन्होंने कषाय प्राभृत की रचना की। इसपर भी आचार्य और उनके शिष्य वीरसेन, जिनसेन ने टीका लिखी जो जयधवल नाम से ख्यात हुई। षट्खंडागम के अंतिम खंड महाबंध की रचना आचार्य भूतबलि ने विस्तार से की। यह कृति इतनी सूक्ष्म विवेचन संपन्न थी कि वीरसेनाचार्य ने स्वतंत्र रूप से लिखी। महाबंध की यही टीका आगम के टीका-इतिहास में महाधवल के रूप में ख्यात हुई।

उक्त महाग्रंथों की ताड़पत्र पर कानड़ी लिपि में लिखी प्रति मूड़विद्री के भंडार में बन्द थी। ग्रंथराज केवल दर्शन सुलभ थे। इनकी नागर लिपि में उसकी प्रतियाँ कराया जाना और उनके पाठ-संशोधन, सम्पादन, भाषा-टीका और हिन्दी अनुवाद की विवृति का संकल्प स्वयं में इतिहास है। विदिशा के सेठ शिताबराय लक्ष्मीचंद ने गजरथ के लिए संकल्पित राशि रु. दस हजार का दान षट्खंडागम के प्रकाशन हेतु समर्पित कर दिया। गजरथ चलवाते तो सिंधई की उपाधि मिलती; षट्खंडागम के प्रकाशनार्थ दान की घोषणा की तो समाज ने उन्हें श्रीमंत सेठ की उपाधि से विभूषित किया। उन्हें और उनके बाद उनकी संतति को एक नहीं सोलह गजरथ चलाने का यश-भाग मिला। डॉ. हीरालाल जैन ने षट्खंडागम के पाठान्तर, सम्पादन, भाषा-टीका और हिन्दी अनुवाद रचना पर अपने बहुमूल्य जीवन के बीस वर्ष और अपनी अमूल्य जीवन संगीनी का उत्सर्ग कर हमें ईश्वरीय वाणी का साक्षात् कराया। ब्राह्मणों के वेद और बौद्धों के त्रिपिटिक की तरह जैनियों के आगम ग्रंथ भी समाज सुलभ हुए तो न केवल जैन धर्मावलम्बियों में चिन्तन की विरासत के गर्व का अहसा हुआ वरन् भारतीय संस्कृति की चिन्तन-त्रिवेणी को प्रकाश में लाने पर होने वाली राष्ट्रीय गर्व के लिए जैन समाज ने परम्परा-सम्मत अलंकरण 'सिद्धांत चक्रवर्ती' से उन्हें विभूषित किया और न ही हमारे देश के कर्णधारों ने 'भारत रत्न' या 'पद्मविभूषण'

जैसे राष्ट्रीय सम्मान (मरणोपरांत ही सही) से उन्हें अलंकृत करने के लिए उनके नाम पर विचार किया।

‘षट्खंडागम’ अर्थात् आप्तवाणी के छः भाग हैं। इन छः भागों की चिंतन सामग्री को उसकी संजीवनी टीका के साथ डॉ. जैन ने सोलह खंडों में पुस्तककारुद्ध किया है। पहले खंड जीवदृष्टाण के आ. अनुयोग द्वारा और नौ चूलिकाओं में गुणस्थान और मार्गणाओं का आश्रय लेकर किये गये विस्तृत वर्णन की छः ग्रंथों में विद्वत्तापूर्ण प्रस्तुति की गयी है। दूसरा खंड ‘खुद्दाबंध’ है। इसके 11 अधिकार हैं सातवें ग्रंथ में इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबंध करने वाले जीव का भेदों सहित वर्णन-विश्लेषण किया गया है।

तीसरा खंड ‘बंधस्वामित्वविचय’ है। इस खंड की सामग्री कर्मबंध सम्बंधी विषयों का बंधक जीव की अपेक्षा से संबन्धित है जो आठवें ग्रंथ में समाहित है। चौथे खंड का नाम वेदना है। इस खंड में कृति और वेदना अनुयोगद्वारा हैं। सात प्रकार की कृति और सोलह अधिकारों के द्वारा वेदना का वर्णन व्याख्या विस्तार के कारण ग्रंथ 9, 10, 11 और बारह में पूरा हो पाया है। पाचवाँ खंड वर्गणा है। यह खंड ग्रंथ क्रमांक 13 और 14 में पूरा हुआ है। इस खंड का प्रधान अधिकार बंधनीय है। जिसमें 23 प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन और उनमें से कर्मबंध के योग्य वर्गणाओं का विस्तार से कथन किया है। छठवाँ खंड स्वयं भूतबलि आचार्य द्वारा सविस्तार रचित इकाई है। आचार्य वीरसेन ने धवला में उसकी टीका की आवश्यकता नहीं समझी। अग्रायणीय पूर्व के 14 अधिकारों में पांचवें अधिकार का नाम चयनलब्धि है। चयनलब्धियों के 20 प्राभृत हैं। इनमें चतुर्थ प्राभृत का नाम कर्मप्रकृतिप्राभृत है। इस प्रकार के 24 अधिकार हैं। मूल षट्खंडागम में उक्त-अनुयोगद्वारों में से पहले 6 का ही विवरण किया गया है। शेष निबंधन आदि 18 अनुयोगद्वारों का विवेचन आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में किया जिसे डॉ. हीरालाल जैन ने दो ग्रंथों में बांटा है। उनके पंद्रहवें ग्रंथ में निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय अनुयोगद्वारों की तथा अंतिम ग्रंथ सं. 16 में मोक्ष अनुयोगद्वार से लेकर शेष 14 अनुयोगद्वारों का परिचय विश्लेषण धवलाटीका और हिन्दी में अनुवाद किया गया है। संक्षेप में हम डॉ. हीरालाल के इस विपुल श्रम की पवित्र उपलब्धि को ‘षट्खंडागम’ का षोडशिक प्रस्फोटन नाम दे सकते हैं।

‘षट्खंडागम’ आप्तवाणी का सर्वाधिक प्राचीन एकमात्र उपलब्ध ग्रंथ है। आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी उसकी धवला टीका अद्वितीय है। इस धवलराज को सैंकड़ों वर्षों तक कौतुहल, श्रद्धा और भक्ति से देखने भर की सुविधा थी। इसके ताड़पत्र भी आठ सौ वर्ष जीर्ण हो गये थे। डॉ. हीरालाल जैन के भगीरथ प्रयत्न के सुफल के रूप में 1958 से वह सोलह भागों में दर्शन, पठन, अध्ययन और आप्तवाणी को आत्मसात करने हितार्थ सहज सुलभ हैं। इन ग्रंथों की प्रस्तावना अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनमें अनेक विषयों पर वैज्ञानिक सोच से विचार किया गया है। विद्वानों की शंकाओं के समाधान हैं। भाषा शास्त्रियों के लिए मध्यकालीन लुप्तकड़ियों को शृंखलाबद्ध करने की परिपूर्ण सामग्री है। बिखरे और छूटे अंशों की प्रस्तुति से भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के उपकरण संस्कृति के इतिहास की पुनः प्रस्तुति की प्रेरणा देते हैं।

अपभ्रंश चरित काव्य

महाकवि पुष्पदंत 'तिसट्टिठ-महापुरिस-गुणालंकार' लिखकर अमर हो गये। उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओं में 'जसहरचरिउ' और 'णायकुमार चरिउ' उल्लेखनीय हैं। 'जसहरचरिउ' का संपादन सन् 1931 में डॉ. पी. एल. वैद्य ने किया था। इस रचना की संशोधित आवृत्ति और उसका हिन्दी अनुवाद डॉ. हीरालाल जैन ने 1973 में अपने महाप्रयाण से कुछ ही समय पूर्व किया था। डॉ. जैन की प्रतिभा और प्रस्तुति कौशल से डॉ. वैद्य अभिभूत थे, इसीलिये उन्होंने अपने संस्मरणात्मक लेख में डॉ. जैन को उत्कृष्ट विद्वान निरूपित करते हुए इस दूसरे संस्करण पर संतोष और प्रसन्नता जाहिर की।

'जसहरचरिउ' चार संधियों में विभाजित है। संधि-1 में राजपुर के राजा मारिदत्त द्वारा आकाशगामिनी विद्या प्राप्ति हेतु नरबलि का आयोजन है। संधि-2 में नरबलि के लिए लाये गये जैनमुनि के स्वरूपवान शिष्य अभयरुचि के पूर्वजन्म का वृत्तांत है। संधि-3 में भव-भ्रमण के वृत्तांत से प्राप्त निष्कर्ष कि मारिदत्त ही अभयरुचि का पिता है। संधि-4 में राजा, पुरोहित भैरव आदि सभी को वैराग्य होने और दीक्षा लेने का प्रकरण है। इस कथानक को पुष्पदंत ने बड़े काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है।

डॉ. जैन ने काव्य में प्रयुक्त भाषा की निवृत्ति, धर्म का लोकहितकारी रूप और कथानक का हृदय-नर्म अनुवाद आकर्षक रूप में किया है।

णायकुमार-चरिउ

(कारंजा 1933) महाकवि पुष्पदंत ने श्रुतपंचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिए कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र, 9 संधियों में वर्णन किया है। मगध जनपद के कनकपुर राज्य में राजा जयंधर का पुत्र श्रीधर हुआ। राजा ने दूसरा विवाह गिरिनगर की राजकुमारी से किया। यथा समय इस रानी को भी एक पुत्र हुआ जो दुर्घटनावश वापी के मार्ग से नागलोक जा पहुंचा और वहीं नागसंस्कृति में पलकर बड़ा हुआ। उसका विवाह मनोहारी किन्नरी से हुआ। कालक्रम से उसे विमाता और सौतेले भाई का द्वेष भाजन बनना पड़ा। इधर नाग कुमार पिता के निर्देश से देशाटन को निकला किन्तु यही देश निकाला उसके यश और पराक्रम में वाढ्ढक्य और वैभव के स्वामी बनने का कारण बना। फिर उसकी भेंट मुनिपिटिस्वव से हुई जिनके मुख से अपने और अपने पितृकुल के पूर्वभव की कथा और श्रुतपंचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय नागकुमार के पिता और परिवारजन आ गये और उन्होंने वैराग्य उत्पन्न होने पर नागकुमार को राज्य सौंप दीक्षा ले ली। नागकुमार भी लम्बे समय तक राज्य किया अंत में अपने राज्य पुत्र को सौंप दिगम्बरी दीक्षा ली और मरकर स्वर्गलोक को गया। इस जटिल कथानक ने महाकवि पुष्पदंत ने अनेकानेक वर्णनों, विविध छंदों के प्रयोग और विविध रस और भावपूर्ण चित्रणों से समृद्ध कर रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

डॉ. हीरालाल जैन ने अपने पांडुलिपियों का अध्ययन और पाठालोचन कर मूल रचना का शुद्ध रूप प्रस्तुत किया है। कथा सौंदर्य में कवि के रज्याश्रय मान्यखेट की साहित्यिक गरिमा, भारत का राजनीतिक मानचित्र चरितनायक की लोकप्रियता आदि तत्वों

तथा राजमहल और लोकजीवन के चित्रों की प्रस्तुति के साथ विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया। महत्वपूर्ण यह है कि डॉ. जैन ने भाषिक रचना और व्याकरण के साथ छायात्मक भाषिक परिवर्तन का सिद्ध भाषा-शास्त्री की तरह विवेचन किया है। अपभ्रंश का प्रतीक विधान और छंद-रचना कड़वक और घत्ता के कौशल का विवेचन पांडित्यपूर्ण है।

करकंडचरिउ

(कारंजा 1934) मुनि कनकामर द्विजवंशी व चन्द्रर्षि गोत्रीय विद्वान थे। वैराग्य से वे दिग्म्बर हो गये थे, उन्होंने आसाई नगरी में एक राजमंत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। इस ग्रंथ का रचना काल 1050 ई. के लगभग है। यह रचना 12 संधियों में पूर्ण हुई है। कथानायक करकंड जैन और बौद्ध परंपरा में प्रत्येक बुद्ध के रूप में स्वीकृत नायक है। वे अंगदेश में चंपानगरी के राजा घाड़ी वाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे किन्तु घटना वशात् उनका जन्म शमशान में हुआ था। ग्रंथ में शमशान, गंगानदी, प्राचीन जिनमूर्ति के भूमि से निकलने एवं रतिवेगा के विलाप का वर्णन बड़ी खूबी से किया गया है।

इस ग्रंथ की रचना अपभ्रंश में हुई है। यही उस युग की लोकभाषा थी और इसी भाषा में उस युग में अनेक विशिष्ट ग्रंथ लिखे गये। 'करकंडचरिउ' महाराज करकंडु के जीवन पर लिखित ललित रचना है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से यह रचना जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी। कथा की रोचकता, छंदों की सरसता रस और अलंकारों की मधुरता तथा सरल सुस्पष्ट, प्रांजल शैली इसकी विशेषता है। डॉ. जैन ने हिन्दी-अंग्रेजी प्रस्तावना में करकंडचरिउ के अध्ययन की पीठिका के साथ ऐतिहासिक तथ्यों पर भी विद्वत्तापूर्ण विचार किया है। मूल रचना के साथ हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद और विवेचनात्मक टीप पाठकों को ज्ञानवर्द्धन में सहायक है। इस ग्रंथ के द्वितीय संस्करण को भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा मूर्तिदेवी ग्रंथमाला के अन्तर्गत 1964 में प्रकाशित किया गया है।

सुदंसणचरिउ

नयनंदि कृत यह रचना वि. सं. 1200 की है। जैन भंडारों में सुरक्षित अपभ्रंश चरित काव्यों में इसका स्थान महत्वपूर्ण है। ग्रंथ की बारह संधियों की पुष्पिकाओं में कवि ने अपना और अपने गुरु माणिक्यनंदी त्रैविद्य का नामोल्लेख किया है। सुदंसणचरिउ कथात्मक काव्य है, जिसकी रचना विशेष रूप से जैनधर्म के सुप्रसिद्ध पंचणमोकार मंत्र के जाप का पुण्य-प्रभाव प्रगट करने के लिए हुई है। ग्रंथ में बारह संधियाँ हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के कथानक से यह स्पष्ट है कि उसकी केन्द्रीय घटना एक स्त्री के पर-पुरुष के ऊपर मोहासक्त होकर उसका प्रेम प्राप्त करने का एक उत्कट करता है। यहाँ कथातल सांसारिक जीवन का एक शाश्वत अंश है और उसके दृष्टांत प्राचीनतम ग्रंथों से लेकर वर्तमानकाल के साहित्य में पाये जाते हैं।

सुदंसणचरिउ की रचना भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुगीन तृतीय स्तर की उसी विशेष भाषा में हुई है जो अपभ्रंश नाम से जानी जाती है। इस भाषा के प्राचीन और प्रकाण्ड कवि स्वयंभू और पुष्पदंत की रचनाओं में इस भाषा और उसकी काव्य शैली का स्वरूप

हमारे सामने स्पष्ट हो चुका है। प्रस्तुत रचना में भी वही टकसाली भाषा का स्वरूप व काव्य शैली पायी जाती है। चरित काव्य या कथा का विभाजन संधि में और संधि का विभाजन कड़वकों में किया जाता है। अंत में एक घत्ता छंद होता है। प्रसंगानुसार विविध छंदों का उपयोग किया जाता है जिसका सामान्य लक्षण तुकबन्दी है। यही इसे संस्कृत-प्राकृत से अलग करता है। प्रस्तुत रचना में छंदों का विपुल वैचित्र्य है। लगभग सौ प्रकार के छंदों में विषम पदी छंद विशेष उल्लेखनीय हैं। मात्रिक और वर्णिक छंदों का अच्छा व्यवहार इस रचना में देखने को मिलता है। यह काव्य विशेष रूप से छंद और अलंकार प्रधान रचना है। यहां कवि की कल्पना और शब्दचातुरी का परिचय मिलता है। संधि चार में वर्णित स्त्री जाति के लक्षणों और संधि नौ में युद्ध विस्तार से वर्णन कवि के पांडित्य और कला-पटुता का उत्तम प्रमाण है। यह प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली से 1970ई. में प्रकाशित तथा सम्प्रति उपलब्ध है।

दोहा काव्य

सावयधम्मदोहा के रचयिता देवसेन हैं। इस कृति की रचना सन् 933 में मालवा प्रदेश की धारा नगरी में हुई है तथा यह ग्रंथ दोहा छंद का अत्यंत प्राचीन उदाहरण है। इस ग्रंथ का विषय श्रावकों का धर्म और आचार है। यह ग्रंथ धार्मिक उपदेश और सूक्ति की दृष्टि से तो सुंदर है ही पर उसका सर्वाधिक महत्त्व उसकी भाषा में है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें जन सामान्य की भाषाएं रही हैं इसीलिये वे अपने-अपने समय में संस्कृत से भी मधुर और प्रिय गिनी जाती थीं। इसीलिये विद्यापति ने कहा है- “देसिलवअना सब जन मिट्ठा तैं तैसन जम्पओ अवहट्ठा” डॉ. हीरालाल जैन ने सावयधम्म की अपभ्रंश भाषा की मिठास को ही प्रकट नहीं किया है उसकी व्याकरणिक विवेचना कर भाषा के अनुशासित चरित्र को भी उजागर किया है। इस कृति के लेखक का नाम भ्रमोत्पादक रहा है। डॉ. जैन ने अनेक प्रतिलिपियों के अध्ययन समकालीन दोहाकाव्यों की विवीक्षा के बाद प्रामाणिक रूप से लेखक की वास्तविकता की जानकारी प्रस्तुत की है। इस ग्रंथ का सर्वप्रथम प्रकाशन हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, मुंबई द्वारा 1939 ई. के पूर्व ही किया गया था।

पाहुड दोहा

सावयधम्मदोहा और पाहुड दोहा में विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय भेद यह है कि पहला गृहस्थों के लिए लिखा गया है और दूसरा ग्रंथ जोगियों के लिए। इस ग्रंथ के कर्ता मुनि रामसिंह एक योगी थे और योगियों को ही यह रचना सम्बोधित है। कर्ता के लिए देह एक देवालय है जिसमें अनेक शक्तियों सहित एक देव अधिष्ठित है। उस देव का आराधन करना, उसे पहचानना, उसमें तन्मय होना एक बड़ी गूढ़ क्रिया है। जिसके लिए गुरु के उपदेश और निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है।

इस ग्रंथ की रचना सन् 1000 ई. के लगभग सिद्ध होती है। ग्रंथ की भाषा सावयधम्मदोहा के काल की ही निर्विवाद है। वस्तुतः अपभ्रंश शब्द का भाषा के संदर्भ में सर्वप्रथम उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। उनका आशय संस्कृत से निकली

अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि सभी भाषाओं को अपभ्रंश कहा जाना चाहिए। डॉ. हीरालाल जैन ने दोहा-पाहुड की प्रस्तावना में संस्कृत-काल और पश्चात युग के मध्यकाल की रचनाओं की भाषा-गत विवेचना भरतमुनि से लेकर आचार्य हेमचंद्र तक के भाषा शास्त्रियों के तर्क को सामने रखकर बड़े मनोयोग से की है।

जिनवाणी

(ज्ञानपीठ-1975) जैन धर्म की संयम सम्बन्धी शिक्षाएँ और दार्शनिक सिद्धांतों की मूल उद्भावनाओं की 856 प्राकृत गाथाओं का संकलन-संपादन कर मूल के साथ हिन्दी अनुवाद कर जिनवाणी को पुस्तकारूढ़ किया गया है। वस्तुतः जैन ज्ञान का पुंजीभूत रत्नराशि में से चुनचुनकर जिन अमूल्य मणि-माणिक्यों की माला डॉ. हीरालाल जी ने तैयार की थी वह उनके महाप्रयाण के पश्चात् ही पुस्तक रूप में प्रकाशित हो पायी।

ग्रंथ की लगभग आधी गाथाएँ ज्ञान-विज्ञान से सम्बद्ध हैं और शेष गाथाएँ आचार-सम्बन्धी हैं। ग्रंथ का प्रारंभ रत्नत्रय से होता है। यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। पहले सम्यक् दर्शन का स्वरूप बतलाया है। फिर छः द्रव्य, मार्गणा, कर्म सिद्धांत, गुणस्थान, स्याद्वाद और नयवाद के विवेचन के साथ सम्यक् ज्ञान का प्रकरण है। सम्यक्चारित्र्य वाले प्रकरण में श्रावकाचार और साधु आचार का विवेचन है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की प्रस्तुति संक्षिप्त होते हुए भी परिपूर्ण है। मुनिआचार के अंतर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, इन्द्रजय, तप, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परिषहजय, ध्यान और सामायिक-विवरण का प्रस्तुति-कौशल दृष्टिगोचर होती है। भगवान महावीर के वचनों पर आधारित अत्यंत प्राचीन और प्रामाणिक गाथाओं के इस संकलन में साररूप में जैन धर्म का सबकुछ मिलता है। गाथाओं का हिन्दी अनुवाद न केवल प्रामाणिक है बल्कि भाषिक विवेचना के साथ स्पष्ट हिन्दी पर्याय और आवश्यकतानुसार विशेषार्थ द्वारा तात्विक भाव भी प्रस्फुटित हुआ है। जैन दर्शन की मौलिक उद्भावनाओं को दर्शन, ज्ञान और चरित्र के अंतर्गत आने वाले सिद्धांतों की वस्तु और प्रस्तुति की ऐसी कला दुर्लभ है।

तत्व-समुच्चय (भ. जै. म. वर्धा 1952)

तत्व समुच्चय में जैनधर्म के प्राचीन प्राकृत भाषा के ग्रंथों की गाथाओं का संकलन किया गया है। प्राकृत भाषा न समझने वालों के लिए हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है। जिज्ञासुओं, स्वाध्यायियों आदि के हितार्थ शब्दकोष, ग्रंथ और ग्रंथकारों का प्रामाणिक परिचय भी डॉ. हीरालाल जैन ने दिया है।

इस संकलन में सोलह पाठ हैं जिनमें जैनधर्म से सम्बन्ध रखने वाली नैतिक, आध्यात्मिक व दार्शनिक व्यवस्थाओं की रूपरेखा प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर दी गई है। पाठों में गाथाओं की संख्या लगभग 600 है। आरंभ में ही संकलन की भूमिका है। इस भूमिका में जैनधर्म, साहित्य और सिद्धांत सम्बन्धी डॉ. हीरालाल जैन, की महत्वपूर्ण विवेचना है। उनकी मान्यता है कि धर्म का स्वरूप देश और काल के अनुसार सदैव बदलता रहा है। भारत प्रमुख और प्राचीन धर्म तीन है- ब्राह्मण, बौद्ध और जैन। वैदिक धर्म में जीवन का विभाग और समाज रचना का प्रयत्न दिखाई देता है। श्रमण सम्प्रदाय के

अनुयायी वेदों की प्रामाणिकता नहीं मानते। न ही यज्ञादि क्रियाकाण्ड को ग्रहण करते हैं। श्रमण मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों में विशुद्धि पर जोर देते हैं। वे इन्द्रियनिग्रह और परिग्रहत्याग को आत्मशुद्धि के लिए आवश्यक समझते हैं और अहिंसा को धर्म का अनिवार्य अंग मानते हैं। विरोध में सामंजस्य जैनधर्म की उदार दृष्टि है जो उसके स्याद्वाद और नयवाद में पायी जाती है। इसीलिये कहा गया है कि जैन नागरिक अपने अनेकान्त और मिथ्यामतों के समूह में ही पूर्ण सत्य देखने का प्रयत्न करता है। यही जैनधर्म की राष्ट्रीय भूमिका है। यही उसकी सामाजिक चेतना है। यदि हम अनेकात्मक विचार सरणि और अहिंसात्मक वृत्ति को अपना लें तो दुखों से मुक्ति मिल सकती है और समाज में शांति, सुख और बंधुत्व स्थापित किया जा सकता है।

इतिहास और संस्कृति (म. प्र. साहित्य परिषद 1962)

‘जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान’ नामक एक कृति हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, मुंबई द्वारा सन् 1939 में प्रकाशित की गई थी। वस्तुतः यह रचना प्रोफेसर हीरालाल जैन द्वारा उनकी प्रथम संतति रामकली देवी के 21 वर्ष की अल्पायु में स्वर्गारोहण पर उनकी स्मृति में जामाता श्रीमान सेठ रामकरण लाल थाला निवासी के उद्विग्न चित्त को शांति प्रदान करने हेतु किये गये अन्यान्य उपक्रमों का एक अंग थी इस पुस्तक की सामग्री प्रो. हीरालाल जी के ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं और व्याख्यानों द्वारा पूर्व में ही प्रकाश में आ चुकी थी। लेकिन इस सामग्री के व्यवस्थित और स्थायित्व की कामना में पुस्तकारूढ़ आ जाने से जनमानस पर प्रोफेसर जैन की चिन्तनधारा का एकीकृत प्रभाव वाञ्छित उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हुआ है।

इस ग्रंथ की सामग्री दो भागों में है। पहला भाग इतिहास है जिसमें जैन इतिहास की पूर्व पीठिका, हमारा इतिहास, प्राचीन इतिहास निर्माण के साधन और भिन्न प्रांतों में जैनधर्म के प्रसार का विवरण है। दूसरा भाग समाज शीर्षक से है। इसमें हमारा अभ्युत्थान, संस्कृति की रक्षा, समाज संगठन और धर्म प्रभावना के उपाय समयोचित उपाय सुझाये गये हैं।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद ने भोपाल में डॉ. हीरालाल जैन के चार व्याख्यान आयोजित किये थे। 7, 8, 9 और 10 मार्च 1960 को दिये गये व्याख्यानों के विषय थे- जैन इतिहास, जैन साहित्य, जैन दर्शन और जैन कला। इन व्याख्यानों की अध्यक्षता क्रमशः मुख्यमंत्री डॉ. कैलाशनाथ काटजू, विधानसभाध्यक्ष पं. कुंजीलाल दुबे, म. प्र. के वित्तमंत्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल और प्रदेश के शिक्षामंत्री डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने की। विषय की रोचकता और उसके महत्व को देखते हुए प्रदेश के शिक्षामंत्री के अनुरोध पर व्याख्यानों को पल्लवित कर पुस्तकारूढ़ प्रकाशन हेतु पाण्डुलिपि तैयार की गई। म. प्र. शासन साहित्य परिषद ने उपर्युक्त शीर्षक से प्रथम संस्करण 1962 में और पुनर्मुद्रण 1975 में प्रकाशित किया। पुस्तक की लोकप्रियता इसी से प्रमाणित होती है कि इसके मराठी और कन्नड़ भाषाओं में अनुवाद के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा उसका अंग्रेजी अनुवाद शताब्दी वर्ष में प्रकाशित किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान ग्रंथ अद्वितीय और शीर्ष महत्व की रचना है। इस कृति में लेखक की उदार दृष्टि, सामाजिक चेतना समन्वयवादी दिशा के भरपूर दर्शन और सम्पूर्ण साक्षात् होता है। उनकी स्थापना है कि जैनधर्म अपनी विचार और जीवन संबंधी व्यवस्थाओं में कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नहीं हुआ। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। प्रान्तीयता की संकुचित भावना एवं देशवाह्य अनुचित अनुराग के दोषों से जैनमतावलम्बी सदैव मुक्त रहे हैं उन्होंने लोक भावनाओं के संबंध में भी यही उदार नीति अपनाई। इसीलिये अधिकांश जैन साहित्य लोकभाषा में ही लिखा गया है। धार्मिक लोक मान्यताओं को भी जैनधर्म में सम्मान देकर अपनी परंपरा में आदरपूर्वक स्थान दिया है।

यह ग्रंथ आश्चर्यजनक रूप में गागर में सागर शतप्रतिशत चरितार्थ करता है। इस देश में श्रमण परंपरा ज्ञात आर्य परंपरा से बहुत पुरानी है। वस्तुतः प्राचीनतम आर्य समूह इस देश की प्रकृति से एकाकार होकर सहज ही जीवन के चरम रहस्य की खोज में उन्मुख हुए थे। वे आचार-विचार में उदार और हिंसा से विरत उदात्त सामाजिक बन गये थे। जब आर्य उस देश में फैले उससे पूर्व ही यहां वैराग्य कृच्छ साधना योगाचार और तपश्चर्या की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। किन्तु श्रमण परंपरा के आर्यों ने द्रविड़ और ब्राह्मण संस्कृति को इतनी आत्मीयता दी कि यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण परंपरा उपनिषदों की अध्यात्म चेतना की ओर उन्मुख हो गई। आगे चलकर बौद्ध और जैन परंपरा ने अपनी स्थापित विशिष्ट चिन्तनधारा के बावजूद वैदिक संस्कृति से आत्मीय संबंध बनाये रखा।

जैनदर्शन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन स्याद्वाद है। अनंकोतवाद का संबंध मनुष्य के विचार से है, किन्तु स्याद्वाद उस विचार के योग्य अहिंसा मुक्त भाषा की खोज करता है। जैनधर्म ने अपनी अनेकांत दृष्टि के अनुसार जीवन के समस्त पक्षों पर यथोचित ध्यान दिया है। जैन परंपरा में कला की उपासना को जो स्थान दिया गया है उससे उसका विधान पक्ष स्पष्ट हो जाता है। डॉ. हीरालाल जैन ने इस ग्रंथ में जैन चिन्तन, जैन साहित्य, जैन कला को जितने सहज रूप और पूर्ण स्पष्टता से बोधगम्य कराया है वह वस्तुतः चमत्कार ही है- दैवी नहीं देव पौरुषेय चमत्कार। यह ग्रंथ उनके प्रज्ञा पुरुष होने का साक्षात् प्रमाण है।

मयणपराजय चरित (ज्ञानपीठ 1962)

इस काव्य रचना में श्री हरिदेव ने तप, संयम आदि भावों को मूर्तमान पात्रों का रूप देकर मोहराज और जिमराज के बीच युद्ध का चित्रण किया है। यह अपभ्रंश भाषा की महत्वपूर्ण ललित रचना है। इसमें मनुष्य की पाशविक वृत्ति पर परमात्म वृत्ति की विजय का प्रतिपादन किया गया है। इस रचना में भारतीय साहित्य की प्रतीकात्मक शैली का मनोहारी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की शैली व उक्ति-समृद्ध विद्या हिन्दी साहित्य में परम्परागत रूप से प्रचलित है। समकालीन चरित काव्यों से इस रचना की विषय और शैली भिन्न है। यहां समस्त घटनाचक्र भावात्मक और कल्पित है। वस्तु और छंद प्रयोग की दृष्टि से यह गेयात्मक काव्य रसिक ग्रंथों की श्रेणी में रखा जा सकता है। कथा में संवाद योजना स्पष्ट और पौन्य हैं। वर्णनात्मक प्रसंग संतुलित है। रचना में स्पष्ट संदेश मिलता है कि अंतिम

कार्यसिद्धि आसक्ति और निषिद्ध व्यापार से नहीं होती उसके लिए आंतरिक शुद्धि और सदाचार ही एकमात्र उपाय है।

मयणपराजय एक रूपक काव्य है। अतः इसमें सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वाभाविक बाहुल्य है। छठवीं शताब्दी में मात्रिक छंदों का असाधारण विकास हुआ है। तुकबन्दी के अविष्कार से छंदों का प्रयोग 'मयण पराजय' में दृष्टव्य है। इस ग्रंथ में बड़ी अर्थगर्भित सूक्तियां मिलती हैं। यह रचना व्याकरणिक दृष्टि से आधुनिक आर्य भाषाओं को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सुअंधदहमी कहा (ज्ञानपीठ 1966)

इस ग्रंथ के रचयिता कविवर उदयचंद थे जो बाद में दीक्षा लेकर मुनि हो गये। इनका निवास और बिहार क्षेत्र मथुरा और भरतपुर राज्य का भूमिभाग रहा है। सुगंध दशमी का रचना काल 1150 ई. माना गया है। सुखलिप्सा की चेतना मनुष्य में आदिकाल से रही है। इसी प्रेरणा से वह कर्म करता है और प्राकृतिक शक्तियों का आह्वान कर उनकी पूजा स्तुति से उन्हें प्रसन्न कर दुःख निवारण तथा सुख साधन की चेष्टा करता है। सुगन्ध दशमी कथा के मूलतत्त्वों का दर्शन हमें महाभारत के मत्स्यगंधा प्रसंग से लेकर अन्य अनेक प्रसंगों में मिलता है। प्रायः हर कथानक में मुनिनिरादर के पाप से दुर्गन्धित शरीर और नीच योनि प्राप्ति की परंपरा दृष्टिगोचर होती है। यज्ञानुष्ठान, अवमृथस्थान, गुरुसेवा और मुनि-आशीष से उसे पुनः उत्तम कुल और गंधमादन देह प्राप्त होती है। इस कथा में भी मुनि के प्रति दुर्भाव के कारण जो रानी दुःखी और दरिद्री और दुर्गन्धा हुई थी वहीं सुगन्धदशमी व्रत के पुण्य से पूर्वोक्त पाप को धोकर पुनः रानी बन गई।

डॉ. हीरालाल जैन ने इसी वस्तु और प्रसंग पर रचित संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी कथाकाव्यों का विवेचन किया है। यही नहीं उन्होंने इन भाषाओं की रचनाओं को मूल और हिन्दी अनुवाद सहित ग्रंथ के कलेवर में तुलनात्मक अध्ययन हेतु स्थान भी दिया है। इन भारतीय भाषाओं की कथा साम्य और भिन्न विशेषताओं को रेखांकित करने के साथ ही उन्होंने फ्रेंच और जर्मन भाषा में उपलब्ध अंग्रेजी कथानक सिंड्रेला का आकर्षक विश्लेषण भी प्रस्तावना में रखा है। इस प्रसंग में उनका लेख 'पैरालिजिम ऑव टेल्लस बिटवीन अपभ्रंश एण्ड वेस्टर्न लिटरेचर' अत्यंत महत्वपूर्ण है। ग्रंथ में अपभ्रंश की सुगंधदशमी कथा की चित्रमय मूल रचना की आर्ट पेपर पर मुद्रित 67 प्लेटें मनोज्ञ हैं।

कहकोसु-ले. श्रीचंद (लघु कथाएं)

श्रीचंद का कथाकोष अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है। इसमें लोकजीवन की सामाजिक चेतना और वर्ग-भेद के असामान्य स्तर को प्रस्तुत करने वाली लघु कथाएँ हैं। वर्ग चेतना कभी संघर्ष में परिणित नहीं हुई। जैन प्रभावना और मुनि उपदेश तथा उससे प्राप्त अनुभूत पूर्व जन्म ज्ञान के उदय से वर्ग भेद तिरोहित होकर समता भाव प्रकट होता है। कषायजन्य पीड़ा की आवृत्ति से मोक्ष पाने के परम लक्ष्य को सामने रखकर कथा पात्र तप-साधना और मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से मुनि और तापस जीवन का इहलोक में सुख और स्वर्ग में वैभव और शांति प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। इन कथाओं का प्राण

है वह विवेक जिसके जागृत होने पर मानव कषाय निवृत्ति और समता तथा प्राणीमात्र से प्रेम को आत्मा का सुख मानने लगते हैं। मोह, परिग्रह, आक्रोश और विषाद, आसक्ति और कामना भाव जैन मुनियों के उपदेश को सुनकर तिरोहित हो जाते हैं तथा कष्टसाध्य जीवनवृत्ति तोष, समता और प्राणीजगत में प्रीति-व्यवहार को विकसित करती है। यहाँ लघुकथाओं के माध्यम से धर्म प्रचार मात्र नहीं है बल्कि लोक जीवन, राष्ट्रीय चेतना और उत्तम चरित्र की प्रवृत्ति को जगाना ही परम लक्ष्य है। डॉ. हीरालाल जैन द्वारा अनुदित यह कथाकोश, प्राकृत सोसायटी, अहमदाबाद से 1969 में प्रकाशित हुआ है।

जैन शिलालेख संग्रह (मा. दिग. जैन ग्रंथमाला - 1928)

जैनधर्म का प्रसार भिन्न-भिन्न प्रदेशों में किस-किस रूप में और कब-कब हुआ इसका विधिवत इतिहास उपलब्ध नहीं है। भारतीय इतिहास नहीं है। भारतीय इतिहास व वाङ्मय में जैन मनीषी और आचार्यों का क्या योगदान था और धर्म की पीठ कहाँ-कहाँ स्थापित थीं इसका प्रामाणिक विवरण पाने के लिए हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय मुंबई के स्वत्वाधिकारी श्री नाथूराम प्रेमी के आग्रह पर डॉ. हीरालाल जैन ने 1926 में विभिन्न क्षेत्रों में धर्मपीठ, मंदिर और साधना-केन्द्र पर्वत गुफाओं में उपलब्ध शिलालेखों का अध्ययन, पाठालोचन और अर्थनिवृत्ति द्वारा महत्वपूर्ण किन्तु जैनधर्म के अज्ञात इतिहास से संबंधित सूचनाओं को एकत्र किया और उसका विद्वतापूर्वक संपादन कर प्रकाशनार्थ पांडुलिपि तैयार की। प्रेमीजी ने जैन शिलालेख संग्रह भाग-1 नाम से इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। उत्तरकाल में डॉ. जैन के शिष्य और सहयोगी डॉ. विद्याधर जोहरापुर ने इस विधा को आगे बढ़ाया और ज्ञानपीठ द्वारा इस सीरीज के भाग-3, 4 और 5 प्रकाशित किये गये।

डॉ. हीरालाल जैन की कृतियों का परिचय देने के लिए जो योजना बनायी गयी योगायोग से उनकी सर्वप्रथम 1928 में प्रकाशित रचना जैन शिलालेख संग्रह को सबसे अंत में स्थान मिला। यह कृति डॉ. जैन के पिता मोदी बालचंद जैन को समर्पित है। डॉ. जैन का कोई अन्य ग्रंथ किसी व्यक्ति विशेष को समर्पित नहीं है। उनका संपूर्ण ज्ञान श्रम और उपलब्धि सदैव लोकार्पित रही। लिप्सा और एषणा से असंपृक्त इस सहस्राब्दि के अनुष्ठे प्रज्ञापुरुष ने घोषणा तो लोकहित की भी नहीं की।

(साभार- स्मारिका, डॉ. हीरालाल जैन जन्मशताब्दी समारोह समिति, जबलपुर)

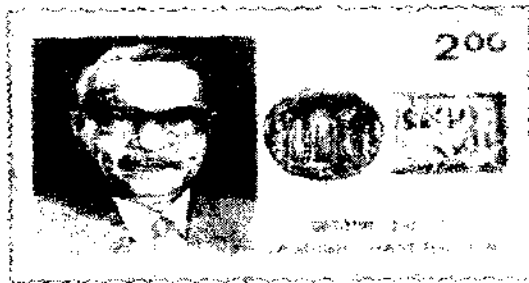
डाक टिकट से सम्मानित डॉ. स्व. जगदीश चन्द्र जैन

डॉ. कपूरचन्द्र जैन*

जैन धर्म / दर्शन / संस्कृति / प्राकृत भाषा तथा भारतीय साहित्य के विश्वविश्रुत विद्वान् डॉ. जगदीश चन्द्र जैन का जन्म मुजफ्फरनगर (उ. प्र.) के ग्राम बसेड़ा में सन् 1909 में हुआ था। बाल्यकाल में ही आपको पितृ-शोक का सामना करना पड़ा, अतः बचपन आर्थिक कठिनाइयों में गुजरा। प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के पश्चात् आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत, जैन साहित्य और आयुर्वेद का अध्ययन किया। उस समय देश परतंत्र था और देश को आजाद कराने की भावना प्रत्येक नौजवान को आंदोलित कर रही थी। जगदीश चंद्र जी भला कैसे पीछे रहते? सन् 1929 में अपनी पढ़ाई छोड़ महात्मा गांधी द्वारा चलाये जा रहे सत्याग्रह आंदोलन में कूद पड़े। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के संपर्क में आये और शान्तिनिकेतन स्थित विश्वभारती विद्यालय में शोध छात्र के रूप में साहित्य की ओर उन्मुख हुए।

डॉ. जैन ने अपने कैरियर की शुरूआत अजमेर रियासत में एक स्कूल अध्यापक के रूप में की। जब मुख्य अध्यापक ने उनके गांधी टोपी पहनने पर आपत्ति की तब डॉ. जैन ने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए नौकरी छोड़ देना ही बेहतर समझा। सन् 1948 में दिल्ली में गांधी जी की हत्या के सिलसिले में चल रहे मुकदमें में डॉ. जैन मुख्य गवाह थे।

कृतज्ञ भारत राष्ट्र ने 28 जनवरी 1998 को डॉ. जगदीश चन्द्र जैन की स्मृति में 2 रु० मूल्य का डाक टिकिट जारी किया था जिसके बायीं ओर डॉ. जैन का चित्र एवं दायीं ओर सिन्धु सभ्यता से प्राप्त दो सीलों को दर्शाया गया है।



* सर्वोदय, जैन मण्डी, खतौली-251201.

जगदीश चन्द्र जी ने अपनी कर्मभूमि बम्बई को बनाया और रामनारायण रुइया कॉलेज में 30 वर्षों से अधिक समय तक हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत के प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। बाद में आप प्राकृत जैन इन्स्टीच्यूट, वैशाली (बिहार) में प्रोफेसर के पद पर अनेक वर्षों तक रहे। 1952-53 में पेचिंग (चीन) में भाषा विज्ञान और साहित्य विभाग में हिन्दी विषय के प्राध्यापक रहे। अहमदाबाद के एल.डी. प्राच्य विद्या संस्थान के तत्वावधान में आपने प्राकृत भाषा में रचित जैन कथा साहित्य के विकास पर अनेक महत्वपूर्ण भाषण दिये।

1970 में डॉ. जैन ने कील (जर्मनी) में भारतीय विद्या विभाग में आमंत्रित प्रोफेसर के रूप में 4 वर्षों तक कार्य किया। सन् 1980 में वे भारतीय दर्शन पर व्याख्यान देने ब्राजील गये। ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार-प्रसार हेतु उन्होंने श्रीलंका, चीन, नेपाल, चेकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, पूर्वी जर्मनी, फ्रांस, पोलेण्ड, रूस, पश्चिमी जर्मनी, स्वीडन, इंग्लैंड आदि अनेक देशों की यात्रा तथा वहाँ भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये।

डॉ. जैन ने भारतीय दर्शन, अर्वाचीन भारत का इतिहास और संस्कृति, हिन्दी साहित्य, प्राकृत भाषा और जैन विचारधारा से संबंधित अनेक शोध लेख एवं 50 से अधिक पुस्तकें हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में लिखीं। आपने संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, गुजराती, मराठी आदि की पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया।

“लाइफ इन ऐशियेंट इंडिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनन्स” नामक आपका बहुचर्चित शोध प्रबंध रहा। इसी का हिन्दी रूपांतरण है “जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज”। इसमें जैन श्रमण संस्कृति के क्रमिक विकास का चित्र प्रस्तुत किया गया है। डॉ. जैन द्वारा रचित अनेक पुस्तकें जैसे “प्राकृत साहित्य का इतिहास”, “पश्चिमी साहित्य समीक्षा एक सर्वेक्षण” आदि विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं।

समय-समय पर आप अनेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार / सम्मान पाते रहे थे। अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कार जैसे “सोवियत लैण्ड पुरस्कार”, “उ. प्र. शासन पुरस्कार”, “ज्ञान भारती पुरस्कार”, “अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा पुरस्कार” आदि से भी आप नावाजे गये। जैन गौरव डॉ. जगदीश चन्द्र पर 28 जनवरी 1998 को एक डाक टिकट जारी किया गया था। उनकी जन्म शताब्दी पर कृतज्ञ राष्ट्र श्रद्धांजली अर्पित करता है।

प्राकृत-भाषा की प्राचीनता एवं सार्वजनीनता

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन*

बोली और भाषा : अन्तर

देश-विदेश के प्राच्य-विद्याविदों ने अपने दीर्घकालीन भाषिक अध्ययन के बाद इस तथ्य की खोज की है कि मानवीय-विचारों के आदान-प्रदान में जिस माध्यम का प्रयोग किया जाता रहा है, उसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) बोली एवं (2) भाषा।

साधारणतया बोली एवं भाषा में लोग अन्तर नहीं मानते, किन्तु व्याकरण और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उन दोनों में भारी अन्तर है। उनके अनुसार बोली का क्षेत्र व्यापक होता है जबकि भाषा का क्षेत्र सीमित।

जन-साधारण (अर्थात् प्राकृत-जन) सामान्यतया अपने दैनिक-जीवन में जिस भाषा का प्रयोग करता है, उसे "बोली" कहा जाता है, जो कि व्याकरण के नियमों से आबद्ध नहीं होती। वक्ता की सुविधा के अनुसार शब्द-रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बोली अशिक्षित या अर्ध-शिक्षित आदि, जन-सामान्य की उच्चारण-सुविधा के अनुसार बोली जाती है और उसे 'हाथी जाती है' 'दही खट्टी है' में भी व्याकरण-दोष दिखाई नहीं देता। उसे अमरूद को अमदुर, सड़क को सरक, मतलब को मत्बल, लखनऊ को नखलऊ के प्रयोग भी गलत महसूस नहीं होते। किन्तु 'भाषा' में ऐसा नहीं होता क्योंकि वह तो व्याकरण के नियमों में बंधी रहती है। भाषा में व्याकरण के नियमों की यत्किंचित् भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

लोकभाषा एवं देवभाषा

भाषा-शास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक युग में (जन-भाषा या बोलचाल की भाषा अर्थात्) प्राकृत तथा (देवभाषा या साहित्यिक-भाषा अथवा) संस्कृत, निरन्तर एक साथ चलती रही हैं। संस्कृत-नाटकों में संस्कृत-भाषा का प्रयोग जहाँ शिक्षित, सभ्य तथा उच्चकुलीन व्यक्तियों से कराया गया है, वहीं पर प्राकृत का प्रयोग साधारण श्रेणी के पात्रों और महिलाओं के द्वारा कराया गया है। वर्तमान में भी यही देखा जाता है कि सभ्य-वर्ग तथा नगर-निवासी-जन साहित्यिक-भाषा का प्रयोग करते हैं जबकि ग्रामीण-जनता राजस्थानी,

* बी-5/40सी., सेक्टर-34, धवलगिरि, नोयडा-201301.

भोजपुरी, मगही, अवधी, हरयाणवी, मराठी, ब्रज अथवा अपने-अपने जनपदों की ग्रामीण बोलियों के प्रयोग करते हैं।

बोली ही भाषा का रूप ले लेती है

भाषा-शास्त्रियों के अनुसार किसी साहित्यिक-भाषा का विकास जनभाषा (या लोकभाषा) से होता है, किन्तु जब उसमें साहित्य-रचना की जाने लगती है, तो वह क्रमशः परिष्कृत होकर धीरे-धीरे स्थिर हो जाती है तथा वह ज्ञान-विज्ञान, कला, धर्म, संस्कृति, इतिहास एवं प्रशासनिक कार्यों की संवाहिका बन जाती है। उसका शब्द-भाण्डार स्तरीय एवं समृद्ध होने लगता है। सन्तकबीर के शब्दों में “संस्करित है कूपजल पिराकिरत बहता नीर” अर्थात् संस्कृत के शब्द-रूप और उसके प्रयोग व्याकरण-सम्मत होने लगते हैं, जबकि जन-भाषा अथवा बोलचाल की भाषा या बोली व्याकरण के अनुशासन से स्वतंत्र रहते हुए अपने स्वाभाविक रूप से ही प्रवहमान रहती है। यही नहीं, उसमें विविध परिवर्तन, शाब्दिक मिश्रण तथा विकास भी आते रहते हैं। इस कारण उसका साहित्यिक-रूप जन-साधारण के लिये जटिल एवं दुरूह हो जाता है। जैसे दूडभ-दुर्लभ, सुवः-स्वः, सुवर्ग-स्वर्ग आदि। और, जब साहित्यिक-भाषा का प्रभाव-क्षेत्र शिक्षित-वर्ग तक ही सीमित रह जाता है, तो साहित्यकार अपनी लोकप्रियता बढ़ाने की इच्छा अथवा व्यापक प्रभाव डालने के उद्देश्य से समकालीन जन-भाषा में लिखने लगते हैं, तब वह जनभाषा भी साहित्यिक-भाषा बनकर व्याकरण के अनुशासन में आबद्ध हो जाती है और इस प्रकार दोनों अर्थात् पूर्ववर्ती-जन-भाषा तथा उसका ही परवर्ती परिवर्तित-परिष्कृतरूप-साहित्यिक-भाषा की, शैली, व्याकरण, शब्द-भाण्डार और उसके उच्चारण में भी अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

तात्पर्य यह कि साहित्यिक-भाषा का विकास जन-भाषा अथवा लोक-भाषा से होता है। सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ. बहरी के शब्दों में- “किसी भी सभ्य देश में भाषा के दो रूप होते हैं- एक बोलचाल का और दूसरा साहित्य का, एक ग्राम्य का और दूसरा शहरी-नागरिक का। दोनों रूप, प्रारम्भ में एक होते हुए भी कालान्तर में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं और एक साहित्य की शैली और शब्दावली (अथवा अल्पजनों द्वारा प्रयुक्त-भाषा) सामान्य जनता के लिये दुरूह और कठिन हो जाती है, तो बहुजन-मान्य वही भाषा (बोली) उसका (साहित्यिक-भाषा का) स्थान ले लेती है।”

इस प्रकार बोली एवं भाषा का यह चक्र सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है तथा आगे भी इसी क्रम से चलता रहेगा, इस सिद्धान्त में कहीं भी दो मत नहीं है।

यदि हम बोली को प्राकृत-जनानामिदं अर्थात् प्राचीन जन-साधारण की वैचारिक अभिव्यक्ति को प्राकृत अर्थात् बोली तथा उसके परिष्कृत रूप को संस्कृत अर्थात् ‘भाषा’ कहें, तो इसमें कोई असंगति नहीं होगी।

भाषाओं का यह द्विविध प्रकार, संसार में हर जगह पाया जाता है। किसी भी देश की अभिव्यक्ति के माध्यम की प्रारम्भिक बोली-प्राकृत (अर्थात् जन-साधारण की स्वाभाविक बोली) कही जाती है तथा युगीन परिस्थितियों के कारण जब उसमें संस्कार

अथवा सुधार होने लगता है अथवा यों कहें कि जब उसे व्याकरणिक अनुशासन में बद्ध कर दिया जाता है, तो वही बोली, भाषा अर्थात् 'संस्कृत' कहलाने लगती है। अंग्रेजी भाषा में भी शेक्सपीयर के पूर्व की अभिव्यक्ति का माध्यम अर्थात् बोली भी यदि भारतीय भाषा में कहें तो वह प्राकृत ही थी, जबकि उसकी पश्चात्पूर्व साहित्यिक अंग्रेजी अथवा परिष्कृत अंग्रेजी-भाषा भारतीय-भाषा में 'संस्कृत' थी। अर्थात् आज की साहित्यिक अंग्रेजी जितनी संस्कृत है, शेक्सपीयर की पूर्ववर्ती अंग्रेजी (स्वाभाविक बोली) प्राकृत थी ऐसा कहा जा सकता है।

प्राकृत एवं संस्कृत की पूर्वापरता : जंगल पहले या वाटिका?

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में प्राकृत तथा संस्कृत की पूर्वापरता को लेकर प्राच्य-भाषाविदों में विवाद चल रहा था। कुछ लोगों की मान्यता थी कि संस्कृत-भाषा, प्राकृत-भाषा की अपेक्षा प्राचीन है अर्थात् संस्कृत से प्राकृत का विकास हुआ। लेकिन इस प्रसंग में भाषाविदों ने उन विवाद-कर्त्ताओं से एक प्रश्न पूछा कि "सृष्टि में सबसे पहले जंगलों की उत्पत्ति हुई अथवा वाटिकाओं की?" तो उनसे स्पष्ट उत्तर मिला कि सबसे पहले तो प्राकृतिक-स्वाभाविक होने के कारण जंगलों की उत्पत्ति हुई और बाद में उसके अंशों का संस्कार करके तथा काट-छांट कर उसे साज-संवार कर सुन्दर वाटिकाएं बना दी गई अर्थात् जंगल प्रकृति की आद्य स्वाभाविक देन है, जबकि वाटिका जंगल के एक हिस्से का मानव के प्रयत्न द्वारा सजाया-संवारा गया परवर्ती एक कृत्रिम सुन्दर हिस्सा। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि जंगल आदिकालीन प्राकृत-स्वाभाविक है और बगीचा परवर्तीकालीन परिष्कृत संस्कृत। ठीक यही स्थिति प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं की उत्पत्ति की पूर्वापरता की मानी गई है।

संस्कृत शब्द-प्रयोग पाणिनिकालीन है

संस्कृत-शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम महर्षि पाणिनी (ईसा पूर्व छठवीं सदी का उत्तरार्द्ध) ने किया जबकि भाषाविदों ने ऋग्वेद में प्राकृत की प्रचुर मात्रा में शब्दावली खोज ली तथा यह भी बताया कि ऋग्वेद-पूर्व-काल में जन-साधारण द्वारा किसी ऐसी बोली का प्रयोग किया जाता था, जो मानव-सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही थी और उसमें परिस्थितिवश आवश्यक संस्कार कर उसमें ऋग्वेद का प्रणयन किया गया। इसीलिये ऋग्वेद की भाषा को संस्कृत नहीं, बल्कि उसे छान्दस्-भाषा कहा गया। इस छान्दस्-भाषा का विकास ऋग्वेद-पूर्वकालीन बोली अर्थात् प्राकृत से हुआ। पुनः इसी छान्दस् का संस्कार कर उससे लौकिक 'संस्कृत' का उदय हुआ।

आचार्य नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति

(आचार्य रूद्रट कृत काव्यालंकार के सुप्रसिद्ध टीकाकार -) आचार्य नमिसाधु ने 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है:- प्राक् पूर्व कृतं प्राकृतम् (2/2 टीका) अर्थात् पहले किया गया अथवा कहा गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि "प्राकृत" वह भाषा है, जो मानव-सृष्टि के प्रारम्भिक काल से व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित होने पर भी स्वाभाविक रूप से सामान्य जनता के विचारों के आदान-प्रदान का स्वाभाविक

माध्यम रहती आई हो। इसीलिए “प्राकृत” शब्द की व्युत्पत्ति में ‘प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्’ तथा ‘प्रकृतीनां अर्थात् साधारण जनानामिदं प्राकृतम्’ कह कर जन-सामान्य की स्वाभाविक भाषा को ‘प्राकृत’ कहा गया।

प्राकृत की उक्त व्युत्पत्तियों तथा अन्य भाषा-वैज्ञानिक खोजों के आधार पर, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, यह भी सिद्ध हो गया है कि वेदों में प्रयुक्त छान्दस-भाषा से ‘लौकिक-संस्कृत’ का विकास हुआ तथा ऋग्वेद-कालीन प्राच्या या पूर्व देशीया-बोली से जो ‘भाषा’ विकसित हुई वह ‘प्राकृत’ कहलाई। इस दृष्टि से उक्त संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के विकास का स्रोत एक ही है अर्थात् दोनों सहोदरा बहनें हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि छान्दस से विकसित भाषा के रूप को चूंकि महर्षि पाणिनी ने व्याकरण के नियमों में बांध दिया, अतः संस्कार हो जाने से यह संस्कृत कहलाई, जबकि प्राकृत का स्वाभाविक अर्थात् जनभाषा (प्राकृत) का ही रूप बना रहा, यद्यपि उसमें देश, काल एवं परिस्थितियों के कारण नाना प्रकार के परिवर्तन अवश्य होते रहे।

प्राकृत-भाषा जन-सामान्य की लोकप्रिय एवं स्वाभाविक बोल-चाल की भाषा होने के कारण ही तथा “जन-साधारण के हित के लिये जन-साधारण की ही भाषा में” भाषा की इस लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के अनुकूल ही बिहार के महान् सपूत लोकनायक महावीर, बुद्ध, सम्राट-अशोक एवं कलिंग-सम्राट् खारवेल ने अपने लोक-मंगलकारी सर्वोदयी आदर्श विचारों एवं आज्ञाओं का प्राकृत-भाषा में ही प्रचार-प्रसार किया।

प्राकृत के जनभाषाई रूप एवं लोकप्रियता के कारण संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों- शूद्रक, भास, कालिदास, हस्तिमल्ल आदि ने भी युग की मांग की अनिवार्यता को देखकर उन्हें सर्वांगीण रूप देने की दृष्टि से अपने-अपने संस्कृत-नाटकों में उसे सम्मानित स्थान प्रदान किया।

ऋग्वेद में प्राकृत की प्रचुर शब्दावली उपलब्ध

संस्कृत एवं प्राकृत के विषय में लोकरुचि में इतनी विभिन्नताएं होने पर भी, दोनों की घनिष्ठता में कभी कोई कमी नहीं आई। संस्कृत के साथ प्राकृत की सहभागिता यथावत् बनी रही। परिष्कृत भाषा वाली संस्कृत में प्राकृत के अनेकों शब्द ऐसे हैं, जो दूध में चीनी के समान उसी प्रकार घुल-मिलकर एक हो गये, जिस प्रकार कि प्राकृत में संस्कृत की शब्दावली।

भाषा-शास्त्रियों के अनुसार वेदों में विविध प्रकार के प्राकृत तथा प्रादेशिक शब्द-प्रयोग बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। यथा-उच्चा, निच्चा, भांड (बर्तन), मुंड, सूर (शूर), पच्छा, भोतु, सिथिर आदि शब्द लोकभाषा-प्राकृत के हैं, संस्कृत के नहीं। इसी प्रकार अमत्त (अमात्य) दूडभ (दुर्लभ), सुवर्ग (स्वर्ग), सुवः (स्वः), देवेभिः (देवैः) आदि प्राकृत शब्दरूप वैदिक-साहित्य में उपलब्ध हैं। महर्षि पाणिनी ने उक्त रूपों में परिवर्तन किया और उन्हें परिष्कृत कर एकरूप बनाने के प्रयत्न भी किये और उन्हें साहित्यिक रूप में स्थिर करना चाहा किन्तु उनके व्याकरणिक बंधन भी उन्हें बांधकर स्थिर न कर सके। अतः वे वैकल्पिक रूप में बने रहे।

प्राकृत एवं संस्कृत की शब्दावलियों का परस्पर में आदान-प्रदान

इसी प्रकार संस्कृत में भी प्राकृत के सैंकड़ों शब्द अपना आसन जमाकर बैठ गये। यथा-घोटक-घोडक (घोटकः), प्रस्तरः (पत्थर), मेढा (मेषः), कुक्कुर, विकट (विकृत), प्लेच्छ (प्लैच्छ), नापित (स्नापित), पुराण, गुग्गुल, गल्ल, शकट, वाटिका जैसे शब्द, जो कि संस्कृत जैसे लगते हैं, वे वस्तुतः प्राकृत के हैं। इनकी व्युत्पत्ति प्राचीन आर्य-भाषा से सिद्ध नहीं होती। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जो संस्कृत में प्राकृत के प्रभाव से दोनों रूपों में मिलते हैं। यथा- मुसल-मुषल, कलस-कलश, कच्छ-कक्ष, शाप या साप (श्राप), पृथिवी-पृथ्वी, गेहे-गृहे, लोम-रोम, प्रगट-प्रकट आदि।

उक्त उदाहरण तो सामान्य जानकारी के लिये प्रस्तुत किये गये हैं, वस्तुतः प्रचुर मात्रा में ऐसे प्राकृत शब्द भी उपलब्ध होते हैं, जिनपर संस्कृत-भाषा का बहुत घना आवरण चढ़ा है और उनकी पहिचान कर पाना शक्य नहीं। कुछ भाषा-शास्त्री तो यहां तक मानते हैं कि संस्कृत-साहित्य का कुछ भाग मूलतः प्राकृत में था। यथा-वड्डकहा, पंचक्खाण आदि। उनका तो यहां तक कथन है कि प्रारम्भ में नाटक प्राकृत-भाषा में लिखे जाते थे तथा बाद में उनका संस्कृत रूपान्तर कर लिया जाता था। कथा-कहानी की आदि जननी-वड्डकहा मूलतया पैशाची-प्राकृत में ही थी। किन्तु उसका मूलरूप नष्ट हो गया, जबकि उसका संस्कृत रूपान्तर अथवा भावार्थ कथासरित्सागर के रूप में ही वर्तमान में उपलब्ध है। डॉ. जॉन हर्टेल के अनुसार संस्कृत-पंचतन्त्र मूल-रूप में उपलब्ध है, जबकि मूल पंचक्खाण वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

एशियाई देशों में प्राकृत की लोकप्रियता

एक ऐसा भी समय था जब लोकभाषा-प्राकृत का महासार्थवाहों एवं पर्यटकों के आवागमन के कारण दूर-दूर अनेक देशों तक प्रचार-प्रसार हो गया था। खोज करने पर विश्व की शब्द-सम्पदा का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो उससे विदित होता है कि प्राकृत शब्द दुग्ध में शर्करा के मिश्रण के समान सर्वत्र मिल सकते हैं। मेरी दृष्टि से इसका कारण सम्भवतः यही रहा होगा कि सहस्राब्दियों पूर्व से ही पणियों (बनियों या व्यापारियों) का व्यापारिक दृष्टि से विदेशों में आना-जाना लगा रहता था। इनके माध्यम से व्यापार के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं भाषिक आदान-प्रदान भी होते रहे थे। पणियों (ऋग्वेदकालीन) के बाद भी इस परम्परा को जारी रखा-सेठ चारुदत्त, श्रीपाल, जिनेन्द्रदत्त, भविष्यदत्त, अचल एवं नट्टल साहू आदि महासार्थवाहों ने जिनका व्यक्तित्व एवं कर्त्तव्य विविध भाषाओं के प्राचीन विविध काव्यों में वर्णित है।

इसी प्रकार विदेश से भी सिकन्दर, सेल्यूकस, मेगास्थनीज, फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग, अवलेरुनी आदि आये और इन सभी के माध्यम से भाषाओं का आदान-प्रदान और मिश्रण होता रहा। भाषाओं का यह तुलनात्मक अध्ययन जितना रोचक है, उतना ही कठिन भी। किस-किस देश में प्राकृत शब्दावली मूलरूप में अथवा कुछ स्थानीय परिवर्तनों के साथ उपलब्ध है, उसके कुछ उदाहरण यहां तालिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

प्राकृत-भाषा	-	थाइ (-लैण्ड)-भाषा
महाविहार	-	महाविहार
धणागार	-	धणागार (बैंक)
तेज	-	देज
अमात्त	-	आमात्त (अमात्य)
अतुल्ल	-	अदुल्य
त्रिजुल	-	पिचुल
कित्तिम (कृत्रिम)	-	कित्तिम
पयासथंभ (प्रकाशखम्भ)	-	पफाखंभ
घोसग (घोषक)	-	खोसक
कल्लाणी	-	गल्याणी
लदा	-	लता
सिरि	-	सिरि
सतांग	-	शतांग (रुपये में एक पैसा)
रट्ठमंती (राष्ट्रमंत्री)	-	रथमोत्री
भूमिवाल	-	भूमिवाल (थाईलैण्ड-नरेश का नाम)
किद (कृत)	-	कित
प्राकृत-भाषा	-	फारसी-भाषा
ससुरो	-	सुसुरा
अंगारो	-	अंगारा
एणं	-	यका
पंज (पांच)	-	पंजा
दह (दस)	-	दहा
गो (गाय)	-	गाड
मूसिक	-	मूसग
तस्स, तसु	-	तेसु
भाया	-	ब्रादर
मे (मुझे, मेरा)	-	मे
हं (मैं)	-	हं, (मैं)
पिदा	-	पिदर
मादा	-	मादर
मित्त	-	मिथ्र
पुत्तं	-	पुथ्रम
सत्त (सात)	-	हप्त

कांतार	-	कतरह
पद (पैर)	-	पा
प्राकृत	-	लैटिन
अंतर	-	इंटर
वसह	-	बोस
अग्नि	-	इग्निस
सूर (सूर्य)	-	सोल
प्राकृत-भाषा	-	अरबी-भाषा
अउच्च (अत्यन्त ऊँचा)	-	अऊज
विहार (भ्रमण)	-	बुहार
थाण (स्थान)	-	इस्तान
चंदण	-	संदल (अरबी में च एवं ट नहीं होते)
कण्णफुल्ल	-	करनफुल
महतार (श्रेष्ठ)	-	महतार या मेहतर
तणु	-	तनु
अंबा	-	उम्मा
एला (इलायची)	-	एला
प्राकृत-भाषा	-	अवेस्ता-भाषा
णर्व	-	नवा
गिरि	-	गिरी
वर्ण	-	बना
तीयं (तीन)	-	थ्री
प्राकृत-भाषा	-	अंग्रेजी-भाषा
णर्व	-	न्यू
कमेल (ऊँट)	-	केमिल
संत	-	सेंट
णवलं	-	नोबुल
पिदा	-	फादर
मादा	-	मदर
रामस्स	-	रेमसे
भाया	-	ब्रदर
सूनु	-	सन (Son)
तारका	-	स्टार (Stars)
थाण	-	स्टेण्ड

हिय	-	हार्द
खट्टा	-	कॉट
चप्प	-	शेपू
तरु	-	ट्री
प्राकृत-भाषा		पश्तो-भाषा
णवं	-	नवी
गिरि	-	गिरी
वणं	-	वना
अंगार	-	अंगार
दहं	-	दसं
पंज (पांच)	-	पिंजा
प्राकृत-भाषा		रूसी-भाषा
अग्नि	-	आगोन
धूम	-	धुइम
ते (चे)	-	ते
मं (मेरा)	-	मोइ, मोंया
एदे	-	एति
कया	-	कोग्दा
तया	-	तोग्दा
सड (छह)	-	षेष्ट
प्राकृत-भाषा		मंगोल-भाषा
सयंभु	-	सोयंभु
संभू (शम्भू)	-	शुभु (राष्ट्रपति की उपाधि)
समन (श्रमण)	-	समन (श्रमण)
गिह (गृह)	-	गेर (घर)
कुवेर	-	कुवेर
सुमेर	-	सुमेर
सुंदरी	-	सुंदरी
प्राकृत-भाषा		ग्रीक-भाषा
चंद्रगुत्त (चंद्रगुप्त)	-	सेंट्रोकोट्टोस
हरिकुलीस (बलदेव)	-	हरकुलिस
गोउल (गोकुल)	-	गोकुला
वसह	-	वुस
पवण	-	पान

प्राकृत-भाषा		अफगानी-भाषा
गिरीसो	-	गीशा
कइलासो (कैलाश)	-	कइलाश
महत्तर (श्रेष्ठ)	-	मेहता
पुत्तो	-	पुट्ट
तात, पिदा (पिता)	-	तता
मादा	-	नन
प्राकृत-भाषा		सोमालिया-भाषा
केरिसा (कैसा)	-	कइसा
जलघट	-	जलहद
वणिय	-	वनिया
गिरीसा	-	गीसा

इसी प्रकार प्राकृत-खट्टा (खट्टा)- हिन्दी-खाट का अंग्रेजी में कॉट तथा प्राकृत-चप्प का अंग्रेजी-शॉपू जैसे अनेक शब्द खोजने से मिल सकते हैं।

ईराकी शासक का नाम था सद्दाम हुसैन। सद्दाम अर्थात् सत्+दाम अर्थात् जिसने मन एवं इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। वस्तुतः उक्त सद्दाम भारत से ही निर्यातित प्राकृत शब्द है। अमेरिकी-ईराकी युद्ध के समय सभी ने पढ़ा ही होगा कि उक्त सद्दाम हुसैन के दो पुत्र थे, जिनके नाम थे उदय एवं कसय। इसी प्रकार खोजने पर विदेशों में अन्य समकक्ष अनेक शब्द मिल सकते हैं।

प्राचीन महाकवियों द्वारा प्राकृत-भाषा का महिमा-गान

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, अपनी सरल, सहज, स्वाभाविक गुणवत्ता एवं लोकप्रियता के कारण प्राकृत-भाषा ने भारत के बाहर कई एशियाई देशों के भाषिक परिवार पर भी अपना प्रभाव छोड़ा था। यूरोपीय एवं अमेरिकी देशों की भाषा एवं संस्कृति पर भी अपना प्रभाव छोड़ा ही था, तत्तद् देशों की भाषाओं के साथ भी व्युत्पत्ति मूलक तथा तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। भाषा एवं सांस्कृतिक प्रभावों का आदान-प्रदान वस्तुतः प्राचीन काल से ही पर्यटकों के आवागमन के कारणों से हुआ है।

प्राकृत की सरलता, सरसता एवं लोकप्रियता देखकर तथा उसके माधुर्य और समृद्ध शब्द-सम्पदा की प्राकृत के प्राचीनतम महाकवि तथा (शक्-संवत् के प्रवर्तक) सम्राट् सातवाहन-हाल (प्रथम सदी ईस्वी) ने अपनी गाथा-सत्तसई (गाथा-सप्तशती) में उसकी प्रशंसा करते हुए उसे अमृत-काव्य "अमिअं पाउअकव्वं" कहा है तथा शृंगार-रस के रसिक होते हुए भी, जो उसे जानते नहीं उसे सुनते नहीं, उनकी इस अज्ञानता पर कवि ने खेद व्यक्त करते हुए कहा है-

अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण जाणंति।

कामस्स तत्ततत्तिं कुणंति ते कहं ण लज्जांति।।

(गाथा-सप्तशती, गाथा-2)

गण्डवहो के लेखक महाकवि वाक्पतिराज (8वीं सदी का पूर्वार्द्ध) ने प्राकृत-भाषा को आदिकालीन बतलाकर उसकी श्री-समृद्धि की प्रशंसा करते हुए बतलाया है-

णवमत्थदंसणसंनिवेस-सिसिराओ बंध-रिद्धीओ।

अविरल मणिमो आभुवण बंधमिह णवरं पययम्मि॥

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रचुर-मात्रा में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचना वाली प्रबंध-सम्पत्ति यदि कहीं है तो वह केवल प्राकृत-काव्यों में ही है।

जन-जन के महाकवि एवं आद्य सट्टककार एवं संस्कृत के महाकवि राजशेखर (10वीं सदी) ने तो संस्कृत एवं प्राकृत की तुलना करते हुए अपनी कूर्परमंजरी सट्टक में यह जयघोष तक कर डाला है कि-

परुसो सक्कय-बंधो पाडअ-बंधो वि होई सुउमारो।

पुरिस महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं॥

अर्थात् संस्कृत-भाषा कर्कश और प्राकृत-भाषा सुकुमार होती है, पुरुष और महिला में जितना अन्तर होता है, उतना ही अन्तर संस्कृत एवं प्राकृत में होता है।

लेकिन महाकवि जयवल्लभ ने अपने 'वज्जालग' काव्य (13-14वीं सदी) में बहुत ही शालीन शब्दों में प्राकृत-भाषा की प्रशंसा करते हुए कहा है।

ललिते महुरक्खरेण जुवईयण वल्लहे स-सिंगारे।

संते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पड्डिउं?

अर्थात् जब ललित, मधुर, युवतियों का प्रिय तथा शृंगार-रस पूर्ण-प्राकृत-काव्य उपलब्ध है ही, तब संस्कृत-काव्य कौन पढ़े?

प्राकृत-व्याकरण

प्राकृत-भाषा सर्वत्र कितनी लोकप्रिय थी, उसकी जानकारी विभिन्न कालों में जो दर्जनों व्याकरण-ग्रंथ लिखे गये उनकी संख्या देखकर आश्चर्य होता है। उसकी जानकारी हेतु यहां तद्विषयक कुछ प्रमुख ग्रंथों की नामावली प्रस्तुत की जा रही है-

क्र.सं.	व्याकरण-ग्रंथनाम	ग्रंथकार
1.	प्राकृत लक्षण	महर्षि पाणिनी कृत-(अनुपलब्ध) (ई. पू. 6वीं शती के आसपास)।
2.	ऐन्द्र प्राकृत व्याकरण	(इन्द्र-कृत अनुपलब्ध)।
3.	सहपाहुड	(अनुपलब्ध)।
4.	कसायपाहुड में उल्लिखित प्राकृत-व्याकरण ग्रंथ	आचार्य गुणधर (ई.पू. प्रथम शती के लगभग) (लेखक-नाम अज्ञात एवं अनुपलब्ध)।
5.	प्राकृत-लक्षण	चण्ड (तीसरी-चौथी सदी) प्रकाशित।
6.	प्राकृत-प्रकाश	वररुचि (500 ई.) प्रकाशित।

7. प्राकृत-संजीवनी वसन्तराज (इसका उल्लेख मार्कण्डेय कृत प्राकृत सर्वस्व में उपलब्ध है।) (अनुपलब्ध)
8. प्राकृत-कामधेनु लंकेश्वर (अनुपलब्ध)
9. प्राकृत-व्याकरण समन्तभद्र (अनुपलब्ध)
10. प्राकृत-व्याकरण-वृत्ति त्रिविक्रमदेव (1300 ई.) प्रकाशित।
11. प्राकृत-प्रक्रिया-वृत्ति (बुद्धिका) उदयसौभाग्य (अनुपलब्ध)
12. प्राकृत-बोध नरचन्द्र (अनुपलब्ध)
13. प्राकृत-कल्पतरु राम शर्मा तर्कवागीश (17वीं सदी) प्रकाशित।
14. प्राकृत-चन्द्रिका वामनाचार्य (अनुपलब्ध)
15. प्राकृत-मनोरमा भामह (लगभग 7वीं सदी) (इसका उल्लेख महाकवि भामह के प्राकृत-सर्वस्व में उपलब्ध है।) (अनुपलब्ध)
16. प्राकृत-रूपावतार सिंहराज (अनुपलब्ध)
17. प्राकृत-दीपिका चण्डीश्वर शर्मा (अनुपलब्ध)
18. प्राकृत-मंजरी कात्यायन (7वीं सदी ई. के लगभग) (अनुपलब्ध)
19. प्राकृत-सर्वस्व मार्कण्डेय (17वीं सदी) प्रकाशित।
20. प्राकृतानन्द रघुनाथ शर्मा (अनुपलब्ध)
21. सिद्ध-हैम-व्याकरण आचार्य हेमचन्द्र (13वीं सदी) प्रकाशित
22. प्राकृत-प्रदीपिका नरसिंह (अनुपलब्ध)
23. प्राकृत-मणि-दीपिका चिन्नवोम्मभूपाल (अनुपलब्ध)
24. प्राकृत-मणि-दीप अप्पयण्णवन (अनुपलब्ध)
25. षड्भाषा-मंजरी - (अनुपलब्ध)
26. प्राकृत-साहित्य-रत्नाकर - (अनुपलब्ध)
27. षड्भाषा वार्तिक - (अनुपलब्ध)
28. स्वयम्भू-प्राकृत-व्याकरण स्वयम्भू-अपभ्रंश के आद्य महाकवि (आठवीं सदी) (अनुपलब्ध)
29. षड्भाषा-चन्द्रिका लक्ष्मीधर (अनुपलब्ध)
30. षड्भाषा-चन्द्रिका भामकवि (अनुपलब्ध)
31. षड्भाषा-सुवन्तादर्श - (अनुपलब्ध)
32. षड्भाषा-रूपमालिका दुर्गाचार्य (अनुपलब्ध)
33. संक्षिप्तसार-प्राकृतपाद (संस्कृत-व्याकरण के अंतर्गत) क्रमदीश्वर (अनुपलब्ध)

34.	प्राकृत-व्याकरण	शुभचन्द्र (अनुपलब्ध)
35.	प्राकृत-अनुशासन	पुरुषोत्तम (12वीं सदी) (अनुपलब्ध)
36.	प्राकृत-व्याकरण (शाकल्य)	ये तीनों ग्रंथ अनुपलब्ध हैं मार्कण्डेय ने
37.	प्राकृत-व्याकरण (भरत)	इन तीनों के उल्लेख किए हैं।
38.	प्राकृत-व्याकरण (कोहल)	(अनुपलब्ध)
39.	प्राकृत-व्याकरण	हृषिकेश (अनुपलब्ध)
40.	प्राकृत-चन्द्रिका	शेषकृष्ण (अनुपलब्ध)
41.	प्राकृत-मणि-दीप	अप्पय दीक्षित (अनुपलब्ध)
42.	प्राकृत-युक्ति	देवसुन्दर (अनुपलब्ध)
43.	प्राकृत-शब्द रूपावली	प्रतापविजय (अनुपलब्ध)
44.	औदार्य-चिन्तामणि	श्रुतसागर (अनुपलब्ध)
45.	प्राकृत-सूत्र	बाल्मीकि (अनुपलब्ध)

उक्त वैयाकरणों ने प्राकृत-व्याकरण पर लघु-अथवा विस्तृत सूत्र-वृत्ति शैली में ग्रंथों की रचना की तथा उसकी विविध शैलियों में विविध कालों में व्याकरण-गत सिद्धान्तों का सोदाहरण विश्लेषण भी किया है। दुर्भाग्य से प्राकृत-व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान के विशिष्ट अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने पर भी प्राकृत का यह क्षेत्र अभी तक उपेक्षित ही रहा है। अतः अनुपलब्ध ग्रन्थों की खोज तथा उनके वैशिष्ट्य एवं तुलनात्मक अध्ययन किये जाने की महती आवश्यकता है।

इस प्रकार अभी तक देखा कि प्राकृत-भाषा का उद्भव एवं विकास कैसे हुआ? ऋग्वेद-पूर्व की जन-भाषा के परिष्कृत रूप में ऋग्वेद की रचना हुई और उसकी भाषा को छान्दस् की संज्ञा प्रदान की गई। पुनः छन्दस् के परिष्कृत रूप से एक ओर लौकिक संस्कृत का जन्म हुआ, तो दूसरी ओर साहित्यिक प्राकृत का जन्म हुआ। भाषा-शास्त्रियों की दृष्टि से प्राकृत-प्राकृतिक स्वाभाविक जंगल के समान तथा संस्कृत, मनुष्य-प्रयत्न कृत के बंधनों में जकड़ी हुई-कबीर के शब्दों में संस्कृत कूपजल के समान तथा प्राकृत बहते नीर के समान थी। संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही सहोदरा हैं और एक दूसरे की पूरक सहयोगिनी भी। परवर्ती कालों में वे दोनों ही विश्व-व्यापी बनीं। प्रत्यक्षतः और परोक्षतः दोनों ही भाषाओं ने विश्व की भाषाओं को प्रभावित किया। यद्यपि देश-विदेश के प्राच्य-विद्याविदों ने दोनों ही भाषा के साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया, फिर भी प्राकृत-भाषा का विश्व की भाषाओं के साथ जैसा तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये था, वह नहीं हो पाया है। अतः उसका विश्वजनीन रूप निर्धारित करने के लिए तुलनात्मक गम्भीर एवं विस्तृत अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जाना अत्यावश्यक है।

अब यहाँ प्राकृत-साहित्य के बहुआयामी वैभव पर भी सूत्र-शैली में विचार कर लिया जाय। सुविधा की दृष्टि से उसे छः भागों में विभक्त किया जा सकता है-

प्राकृत का धार्मिक-साहित्य

(लगभग 200 से अधिक प्रमुख ग्रन्थ)

(क) छक्खंडागम-सुत्त-साहित्य

शौरसेनी-प्राकृत का आगम-साहित्य। इसका वर्ण्य-विषय छः खण्डों में वर्गीकृत होने से उसका षट्खण्डागम-सूत्र नाम पड़ा। इसके मूलभूत 6177 सूत्रों पर ईसा की प्रथम सदी से छठवीं-सातवीं सदी तक विभिन्न भाषाओं में 5 टीकाएँ लिखी गईं, जिनकी श्लोक संख्या लगभग पौने दो लाख थी किन्तु दुर्भाग्य से वे काल-कवलित हो गईं।

9वीं सदी के प्रारम्भ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने चित्रकूट (चिरौड़, राजस्थान) में एलाचार्य गुरु के पास प्राकृत-भाषा एवं जैन-सिद्धांत का गहन अध्ययन किया और उन्होंने उन्हीं छक्खंडागम-सुत्तों पर धवल, महाधवल एवं कसायपाहुड-सुत्त पर जयधवल इन तीनों की कुल मिलाकर 132000 श्लोक-प्रमाण टीकाएँ लिखी, जिनका प्रकाशन लगभग 12 निष्णात विद्वानों के लगभग 50 वर्षों तक के अथक परिश्रम के बाद सम्पादन-अनुवाद एवं समीक्षा के साथ 39 खण्डों अथवा विस्तृत पृष्ठों वाले लगभग 20,000 पृष्ठों में सम्पन्न हुआ।

युग की मांग को देखते हुए वर्तमान में इनका अंग्रेजी एवं कन्नड़-अनुवाद का कार्य भी प्रगति पर है।

कसायपाहुड-सुत्त (अथवा पेज्जदोसपाहुड-सुत्त)

लेखनोपकरण-सामग्री की दुर्लभता के कारण आचार्य गुणधर ने कण्ठ-परम्परा से मूलभूत 16 सहस्र-पदों का सूत्र-शैली में सारांश 180 मूल गाथा-सूत्रों एवं 53 वृत्ति-सूत्रों में तैयार किया था। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है - गंथोच्छेद भएण पवयण-वच्छल परवसीकय-हियएण एदं पेज्जदोस-पाहुडं सोलस-पद-सहस्स पमाणं होतं असीदिसदमेत गाहाहि उवधारिदं। अर्थात् जिन आचार्य गुणधर का हृदय प्रवचन के वात्सल्य-भाव से भरा हुआ था, उन्होंने ही सोलह सहस्र पद प्रमाण प्रस्तुत पेज्जदोस-पाहुड (कसायपाहुड) के विच्छेद हो जाने के भय से उसे 180 गाथा-सूत्रों द्वारा अवधारित किया है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है इस पर जयधवला नामकी टीका लिखी गई जिसका प्रकाशन 16 खण्डों के लगभग 8000 पृष्ठों में हुआ है।

विद्वानों ने उक्त आचार्यों का काल ईसा पूर्व प्रथम सदी के लगभग निर्धारित किया है।

इनके बाद ई. पू. प्रथम सदी के ही आचार्य कुन्दकुन्द का दर्शन, अध्यात्म, आचार एवं सृष्टि-विद्या संबंधी साहित्य विशेष महत्वपूर्ण है। उन्होंने 84 पाहुड ग्रंथों का प्राकृत-भाषा में प्रणयन किया था, जिनमें से वर्तमान में केवल 16 रचनाएँ ही उपलब्ध हैं। बाकी की रचनाएँ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं। सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से इनका उपलब्ध अष्टपाहुड ग्रंथ विशेष महत्व का माना गया है।

इसी प्रकार आर्यभट-पूर्वकालीन आचार्य जदिवसह (दूसरी-सदी) कृत पुराणेतिहास तथा भूगोल एवं खगोल का आद्य प्राकृत जैन ग्रंथ-तिलोयपण्णत्ती, श्रमणों की आचार-संहिता

तथा अन्य समाज-शास्त्र से संबंधित विविध सिद्धान्तों के विवेचनों से युक्त वट्टकर (दूसरी सदी) कृत मूलाचार, श्रमणाचार वर्णन के साथ ही समकालीन सामाजिक रीति-रिवाजों के संदर्भों के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन तथा Anatomy and Physiology पर वैज्ञानिक विवेचनों से समन्वित, पाणिनलभोजी आचार्य शिवाय (प्रथम सदी ईस्वी) कृत भगवती-आराधना-ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। उसपर विविध कालों में अनेक विस्तृत टीकाएँ भी लिखी गई हैं। साधु-संघ में फैल रहे पाषण्ड की भर्त्सना देखिये कवि ने किस प्रकार की है-

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।

बाहिर करणं किं से काहिदि बर्गाणहुदकरणस्स (गाथा-1374)

अर्थात् जो साधु बाह्याडम्बर तो बहुत धारणा करता है किन्तु अपना अंतरंग शुद्ध नहीं रखता, वह बोड़े की उस लीद के समान है, जो ऊपर से तो सुन्दर सुडौल एवं चमकीली दिखाई देती है किन्तु भीतर से वह अत्यन्त दुर्गन्ध-पूर्ण है। ऐसे साधु का आचार बगुले के समान मिथ्या होता है।

चंचल-मन तथा रसलोलुपी इन्द्रियों का अवरोधन कर सुख, शान्ति एवं स्वस्थ-जीवन व्यतीत करने का मार्गदर्शन करने वाले स्वामि-कार्तिकेय (दूसरी सदी ईस्वी) कृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा। स्वस्थ समाज एवं विश्व के नव-निर्माण हेतु व्यक्तिगत आचरण की शुद्धि को अनिवार्य घोषित करने वाले आचार्य वसुनन्दि (12वीं सदी) कृत वसुनन्दि-श्रावकाचार, जिसमें वर्णित श्रावकव्रतातिचारों की तुलना आधुनिक Indian penal code की समस्त धाराओं से की जा सकती है और जो प्राचीन भूगोल एवं खगोल संबंधी सिद्धान्तों की जानकारी देने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रंथ श्रावकों अर्थात् सद्गृहस्थों की आचार-संचिता का बहुआयामी सुन्दर प्राकृत-ग्रंथ माना गया है।

कर्म-सिद्धान्त का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन के साथ-साथ भूगोल, खगोल एवं गणित का सुन्दर विवेचन करने वाले सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र (दसवीं-सदी) कृत गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि ग्रंथ। प्राच्य भूगोल एवं खगोल का मुनि पद्मनन्दि कृत (11वीं सदी) कृत जंबूद्वीप-पण्णत्ती। सृष्टि-विद्या संबंधी सि. च. नेमिचन्द्राचार्य (दसवीं-सदी) कृत दक्क-संगहो भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति के निर्माता तथा गंग-नरेश राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। इन्होंने ही उक्त विशाल-मूर्ति की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न किया था तथा उक्त चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला में दिगम्बर-जैन-मठ की स्थापना कर उन्हें ही उसका प्रथम पट्टाधीश भी नियुक्त किया था।

उक्त गोम्मटसार-ग्रंथ के वर्ण्य-विषय इतने मार्मिक हैं कि महात्मा गांधी के शतावधानी गुरु रायचन्द्र भाई ने सभी तत्व-जिज्ञासुओं के लिये प्रतिदिन उसके स्वाध्याय की सलाह दी थी। उक्त ग्रंथ का प्रकाशन भी रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला के अन्तर्गत अगास (बम्बई से) किया गया था।

मूल अर्पण-विषय-14 गुणस्थानों के विवेचन के साथ-साथ प्रासंगिक रूप में बाह्याडम्बरों तथा क्रियाकाण्डों और बौद्ध, चार्वाक, कौलिक एवं सांख्य-मतों का निरसन और उत्तर-भारत में द्वादश-वर्षीय भीषण दुष्काल आदि की चर्चा के संदर्भों वाले आचार्य देवसेन (12वीं-13वीं सदी) कृत भावसंग्रह-ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी अजमेर (राजस्थान)-प्रति की 48वीं गाथा में मूर्तिभंजक किसी एक तुर्क राजा का संदर्भ आया है। यथा-

देवे हणिकुण गुणा लब्भहि यदि इत्थ उत्तमा केई।

तं तू तुरुक्कवन्दणीया अवरे पारद्धिया सव्वे॥48॥

अर्थात् यदि मूर्तियों का भंजन करने से किन्हीं उत्तम गुणों की प्राप्ति होती तो मूर्तिभंजक तुर्कों तथा शिकारियों को भी उत्तम गुणों की प्राप्ति हो जाती तथा वे भी वन्दनीय हो जाते किन्तु ऐसा देखा-सुना तो नहीं गया।

प्रतीत होता है कि ग्रंथ के रचना-काल में मुहम्मद गजनी एवं शहाबुद्दीन गौरी की मूर्ति एवं स्थापत्य-भंजन की रोमांचक दर्दभरी घटनाओं की चर्चाएं हो रही होंगी, इसीलिये कवि ने सम्भवतः उनकी स्मृति में उक्त संदर्भ प्रस्तुत किया है।

उक्त आचार्य देवसेन-कृत दर्शनसार-ग्रंथ जैनदर्शन की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही किन्तु उसमें उल्लिखित एक विशेष ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि उसके अनुसार गौतम-बुद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ (ई. पू. 777) के तीर्थकाल में उत्पन्न हुए थे। उक्त ग्रंथ के अनुसार उसी समय की घटना है कि भ. महावीर का समकालीन, सरयू-नदी के किनारे पर बसे पलाशनगर के मुनि पिहितश्रव का शिष्य मुनि बुद्धकीर्ति आगमशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान था। किन्तु वह कठोर दिगम्बर जैन-चर्या का पालन न कर सकने के कारण उनके मार्ग से वह स्थलित हो गया था, जो बाद में मांसाहारी एवं मद्यपायी भी हो गया था तथा रक्ताम्बर-धारी बनकर क्षणिकवाद का प्रचारक बन गया था। यथा-

सिरिपासणाहत्तिथे सरयूतीरे पलासणयरत्थे।

पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्ति मुणी॥

तिमिपूरणासणेहि अहिगय पवज्जाओ परिभट्टो।

रत्तावरं धरित्ता पवट्ठियं तेण एयंते॥ (गाथा-6-7)

(ख) -अर्धमागधी-आगम-साहित्य दर्शन, आचार एवं अध्यात्म का साहित्य तो है ही ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगोल, खगोल, गणित, इतिहास एवं संस्कृति का भी अपूर्व भण्डार है। उसका मूल सम्पादित एवं अनुदित भाग 38 खण्डों में प्रकाशित है। उसपर विविध टीकाएं, भाष्य, निर्युक्तियां आदि भी लिखित एवं प्रकाशित हैं। यदि उसका मूल साहित्य तथा समीक्षा-साहित्य और उसके विविध संस्करणों का एक साथ संग्रह किया जाय तो उससे एक अच्छा वर्गीकृत ग्रन्थालय बन सकता है। उसकी विशालता एवं विविधता देखकर देश-विदेश के विख्यात प्राच्य विद्याविदों ने उसे ज्ञान-विज्ञान विशेषतया नीति एवं धर्म-कथाओं का अपूर्व कोश कहा है। वैशाली के मागधों एवं वैशालियों के संग्रामकालीन रथसुसल-संग्राम एवं महाशिलाकण्टक-संग्राम, वनस्पतियों की जाति-प्रजातियों

का सूक्ष्मातिसूक्ष्म-विवेचन, वैशाली-गणराज्य के करोड़पति श्रीमन्तों की रोचक कथाएं आदि समकालीन राजनीति, अर्थनीति एवं समाजनीतियों की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। इस साहित्य के विविध पक्षों पर पर्याप्त मात्रा में उच्चस्तरीय शोधकार्य भी हो चुके हैं तथा अभी-भी वह क्रम चल रहा है।

प्राकृत-कथा-साहित्य-(लगभग 20 से. मी. अधिक प्रमुख ग्रन्थ)

कथाएं मानव-मनोविनोद तथा पथ-निर्देशिका के रूप में चित्रित की जाती रही हैं। उनका इतिहास भी उतना ही प्राचीन है, जितनी की मानव-सृष्टि।

प्राकृत कथाकारों ने विविध दृष्टिकोणों से उनका लेखन किया है। आचार्य उद्घोतन सूरि (सातवीं सदी) ने कथाओं के निम्न प्रकार पांच भेद किये हैं- (1) सकल-कथा अर्थात् जिस कथा के अन्त में अभीष्ट की प्राप्ति का वर्णन हो। यह कथा विस्तृत होती है। (2) खण्डकथा अर्थात् जिस कथा का मुख्य इतिवृत्त कथा के मध्य या अन्त के समीप में प्रस्तुत किया जाय। यह कथा लघु होती है। (3) उल्लाप-कथा अर्थात् ऐसी साहसिक कथा, जिसमें समुद्र-यात्रा अथवा अन्य साहसिक यात्राओं या साहसी कार्यों की चर्चा रहे। इसमें असम्भव या दुर्घट कार्यों का वर्णन किया जाता है। (4) परिहास-कथा-जिसमें हास्य-व्यंग्य की घटनाओं द्वारा मनोरंजन किया जाय। (5) मिश्र-कथा जिसमें अनेक तत्वों का मिश्रण कर जनमानस का मनोरंजन किया जाय। रोमांटिक धर्मकथाएं तथा प्रबन्धात्मक रचित कथाएं इसी कथा-श्रेणी में आते हैं।

इन सब दृष्टियों से निम्न प्राकृत कथा-साहित्य विशेष महत्वपूर्ण है-

वड्ढकहा	- (गुणाह्वय, प्रथम सदी) अनुपलब्ध
तरंगवड्ढकहा	- (वि. सं. की तीसरी सदी)
वसुदेव-हिण्डी	- (संघदास-धर्मदास गणी, तीसरी चौथी सदी)
समराइच्चकहा	- (हरिभद्र, 8वीं सदी)
धूर्ताख्यान	- (हरिभद्र, 8वीं सदी)
निर्वाण-लीलावती	- (जिनेश्वरसूरि, 11वीं सदी)
कथाकोषप्रकरण	- (जिनेश्वरसूरि 11वीं सदी)
संवेगरंग-शाला	- (जिनचन्द्र, 12वीं सदी)
णाणपंचमी-कहा	- (महेश्वर सूरि, वि. सं. 12वीं सदी)
कहारयणकोस	- (देवभद्रसूरि, वि. सं. 12वीं सदी)
नम्पयासुंदरी-कहा	- (महेन्द्रसूरि, 12वीं सदी)
आख्यानमणिकोश	- (नेमिचन्द्रसूरि, 12वीं सदी)
जिनदत्ताख्यान	- (सुमतिसूरि, 12वीं सदी)
पाइअकहासंगहो	- (अज्ञात, सम्भवतः 13वीं सदी)
कुमारपाल-प्रतिबोध	- (सोमप्रभसूरि, 13वीं सदी)
सिरिसिरिवालकहा	- (रत्नशेखर सूरि, 15वीं सदी)

- रयणसेहरणिककहा - (जिनहर्षसूरि, 15वीं सदी)
 रचना-स्थल-चित्रकूट-चित्तौड़
- महीवालकहा - (वीरदेवगणि, 15वीं सदी)
- आरामसोहाकहा - (संघतिलकगणि, 15वीं सदी) आदि-आदि।

जैसा कि कहा जा चुका है प्राकृत-जैन-कथा-साहित्य केवल धार्मिक साहित्य ही नहीं है अपितु उसमें अर्थकथा, कामकथा आदि से संबंधित रोचक कथाएं भी लिखी गई हैं। जर्मनी के प्राच्यविद्याविद् डॉ. मोरिस विंटरनीज, ओटो स्टेन, डॉ. कालिदास नाग, डॉ. कालीपद मित्रा आदि ने इन कथाओं का अध्ययन कर उनकी प्रशंसा में समीक्षाएं लिखी हैं तथा बतलाया है कि प्राकृत जैन-कथाओं ने अपनी सरसता एवं रोचकता से युगों-युगों से सारे संसार के साहित्य को प्रभावित, प्रेरित एवं उत्साहित किया है। उनके द्वारा उसे ज्ञान-विज्ञान एवं मनोविज्ञान का अपूर्व विश्वकोष माना गया है।

अर्धमागधी प्राकृत के आगम-साहित्य में शीलनिरूपक अनेक प्रासंगिक कथाएं आई हैं और उनके विविध भेद-प्रमेद भी बतलाए गये हैं किन्तु उन्हें यहां स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं। स्वतंत्र कथाग्रंथ भी इतनी प्रचुर मात्रा में हैं कि उन सभी का परिचय दे पाना भी सम्भव नहीं किन्तु पूर्वोक्त में से कुछ प्रमुख उपलब्ध ग्रंथों का परिचय आवश्यक समझकर उसे कुछ आवश्यक टिप्पणियों के साथ यहां प्रस्तुत किया जा रहा है-

पालित्त (पादलिप्तसूरि-हाल-सातवाहन-नरेश के समकालीन तथा उनके राज-दरबारी कवि, प्रथम सदी) कृत तरंगवतीकथा, जिसका मूल भाग अनुलब्ध है किन्तु नेमिचन्द्रगणि कृत उसका संक्षिप्त रूप-तरंगलोला उपलब्ध है, जिसकी 1642 गाथाओं में राजगृही की सुन्दरी कन्या तरंगवती अपने जीवन की व्यथा-कथा और अनुभव औपन्यासिक-शैली में प्रस्तुत करती है। प्राकृत-साहित्य का इसे प्रथम रोचक उपन्यास माना गया है।

वासुदेवहिण्डी को विश्वकथा-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कृति माना गया है। उसमें भ० श्रीकृष्ण के पिता वासुदेव के भारत-भ्रमणों का मार्मिक-शैली में वर्णन किया गया है। प्राच्य भारतीय पर्यटन-विद्या का यह अपूर्वग्रंथ माना गया है। इसके लेखक संघदास-धर्मदासगणि (तीसरी-चौथी सदी) हैं।

आचार्य हरिभद्र (8वीं सदी) कृत पुनर्जन्म-सिद्धान्त का विश्लेषक कथाग्रन्थ समराइच्चकहा महाराष्ट्री-प्राकृत का बड़ा ही रोचक कथा-ग्रंथ है। भाषा-शैली की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का प्राकृत-साहित्य में वही महत्व है, जो संस्कृत-साहित्य में बाणभट्ट कृत कादम्बरी का। अन्तर केवल इतना ही है कि कादम्बरी प्रेमकथा है जबकि समराइच्चकहा एक धर्म-कथा। इसका महानायक है-उज्जैन का राजकुमार समरादित्य। इसके भव-भवान्तरो संबंधी नौ विस्तृत-कथाएं अग्निशर्मा एवं गुणसेन के माध्यम से प्रस्तुत ग्रंथ में चित्रित हैं।

आचार्य हरिभद्र कृत दूसरा कथा ग्रंथ धूर्ताख्यान है, जिसमें पुराणों में वर्णित असम्भव एवं अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पांच धूर्तों की कथाओं के माध्यम से किये गये हैं। व्यंग्योपहास्य की इतनी पुष्ट रचना अन्य किसी भाषा में मिलना दुर्लभ है किन्तु इन पांचों धूर्तों का व्यंग्य-प्रहार ध्वंसात्मक नहीं, रचनात्मक है।

जिनेश्वर सूरि (11वीं सदी) कृत क्रोधादि कथायों तथा हिंसादि पांच पापों के दुष्कलों का वर्णन करने वाला ग्रंथ-निर्वाणलीलावती, जिनेश्वर सूरि (12वीं सदी) कृत कथाकोष-प्रकरण, जिनचन्द्र सूरि (12वीं सदी) कृत संवेग-भावना का कथाओं के माध्यम से निरूपण करने वाला ग्रंथ-संवेगरंग-शाला, महेश्वरसूरि (12वीं सदी) कृत णाणपंचमीकहा, जिसमें प्रसंग-प्राप्त एक कथानक-भविष्यदत्त-सार्धवाह के माध्यम से मध्यकालीन वैदेशिक व्यापार तथा उसकी समुद्री-यात्रा की कठिनाइयों का सुन्दर चित्रण किया गया है, वह विशेष महत्वपूर्ण है। देवभद्र अथवा गुणचन्द्र (12वीं सदी) कृत कहारयणकोस, जिसमें सरस एवं रोचक 50 प्राकृत-कथाएं प्रस्तुत की गई हैं। महेन्द्रसूरि (12वीं सदी) कृत महासती नर्मदा-सुन्दरी के सतीत्व का 1750 गाथाओं में निरूपण करने वाला मार्मिक कथा-ग्रंथ-नम्मयासुंदरी कहा, सोमप्रभ सूरि (13वीं सदी) कृत चारित्रिक-निष्ठा जागृत करने हेतु प्रणीत प्रेरक कथाग्रंथ-कुमारवालपडिवोह (कुमारपाल-प्रतिबोध), जिसमें 58 कथाएं वर्णित हैं, प्राकृत-वाङ्मय का गौरव-ग्रंथ माना गया है।

नेमिचन्द्रसूरि (12वीं सदी) कृत उपदेशप्रद चरित्रप्रधान 146 कथानक वाला ग्रंथ आख्यानमणिकोष, आचार्य सुमतिसूरि (12वीं सदी) कृत जीवन के प्रशस्त एवं अप्रशस्त पक्षों का उद्घाटन कर उसे सरल, सात्विक एवं चरित्रनिष्ठ बनाने की प्रेरणा प्रदान करने वाले जिनदत्त के आख्यान संबंधी जिनदत्ताख्यान नामक कथाग्रंथ, रत्नशेखर-सूरि (15वीं सदी) कृत सिरिसिखिल-कहा, जिसमें चम्पानरेश राजा श्रीपाल का सिद्धचक्रविधान-पूजा के फल-स्वरूप कुष्ठरोग से पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ की रोचक कथा वर्णित है और पूर्ण स्वस्थ होने के बाद वही श्रीपाल समुद्री-मार्ग से विदेश-यात्रा करता है तथा उसमें आने वाली दिल दहला देने वाली उसकी कठिनाइयों का मार्मिक चित्रण किया गया है।

जिनहर्षसूरि (15वीं सदी) कृत तथा चित्रकूट (वर्तमान चित्तौड़, राजस्थान) में प्रणीत प्रेमकथा काव्य-रयणसेहरणिकहा (रत्नशेखरनूपकथा) का कथानक इतिहासकारों के अनुसार महाकवि जायसी कृत पद्मावत के कथानक का पूर्वरूप माना गया है।

वीरदेव-गणि (14वीं-15वीं सदी के आसपास) कृत महीवाल-कहा, जिसमें उज्जयिनी नरेश नरसिंह के राजकुमार महीपाल का कथानक वर्णित है। उसके पिता ने किसी कारण से रुष्ट होकर महीपाल को देश-निकाला दे दिया। अतः वह समुद्री-मार्ग से कटाहद्वीप जा पहुंचता है। कवि ने उसके साथ घटित अनेक घटनाओं का मार्मिक चित्रण इस ग्रन्थ में किया है।

संघतिलकसूरि (15वीं सदी) कृत आरामसोहाकहा (आरामशोभा-कथा) का गद्य-शैली में कथानक बड़ा मनोरम है। इसे प्राकृत-साहित्य का एक लघु उपन्यास माना गया है। इसकी नायिका ब्राह्मण कन्या-विद्युत्प्रभा अपनी सौतेली माता द्वारा बड़ी प्रताड़ित रहती है। एक बार वह अपनी गाएं चराने के लिये जंगल में जाती है। उसी समय एक देव उसकी परीक्षा लेने हेतु भयंकर नाग का रूप धारण कर विद्युत्प्रभा के सम्मुख आकर व्यथित मन से प्राथना करता है कि गारुडिक लोग मुझे पकड़ने आ रहे हैं। वे मुझे पकड़कर ले जावेंगे। अतः हे पुत्री, उनसे मेरी रक्षा करो। मुझे अपनी गोद में छिपा लो। करुणार्द्र

विद्युत्प्रभा ने उस भयभीत नाग को अपनी गोद में छिपा कर सुरक्षित कर लिया। थोड़ी देर में उसकी खोज करते हुए गारुडिक लोग वहाँ आये। उस कन्या से उस नाग के विषय में पूछा, तो उसने उससे अपने को अनजान बताया। उनके चले जाने पर नाग उसकी गोदी से बाहर निकलकर आया और उसने अपना वास्तविक नागदेव स्वरूप धारण कर कहा-हे कन्ये, तुम्हारी करुणाभावना से मैं बहुत प्रभावित हूँ। अतः मुझसे कोई वरदान मांग लो। कन्या ने स्वयं अपने लिये तो कुछ नहीं मांगा किन्तु अपनी गायों के सुख-सन्तोष के लिये उससे वरदान में मांगा कि इसी रेतीले-प्रदेश को सुन्दर-सुन्दर झरनों वाला तथा हरा-भरा प्रदेश बना दो, जिससे हमारी गायों को सुख साधन मिल सके। देव प्रसन्न होकर उस प्रदेश को हरा-भरा सुन्दर प्रदेश बना देता है और कहता है कि यह प्रदेश निरन्तर तुम्हारे साथ-साथ ही चला करेगा तथा जब तुम अपने घर पहुँचोगी तो तुम इसे छाते के समान मोड़कर घर में एक किनारे में रख भी सकोगी। उसी समय उसका नाम भी विद्युत्प्रभा से बदलकर आरामशोभा अर्थात् "वाटिका की शोभा धारण करने वाली" घोषित कर वह वहाँ से विलीन हो जाता है। यह कथानक अभूतपूर्व, अत्यन्त प्रभावक और मन मोहक बन पड़ा है। ऐसा कथानक सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ ही होगा।

इसी प्रकार की अन्य रोचक एवं शिक्षा-प्रद कथाओं में पंडित धणवाल-कहा, पुष्पाचूल-कहा, रोहगुल्ल-कहा, सुभमति-कथा, मल्लवादी-कथा, भद्रबाहु-कथा, सिद्धसेन दिवाकर-कथा, नागदत्त-कथा, मेतार्यमुनि-कथा, संग्रामसूर-कथा, चन्द्रलेखा-कथा, मलयसुन्दरी-कथा आदि-आदि प्राकृत कथाएँ हैं, जिनके कारण प्राकृत कथा-साहित्य समृद्ध एवं ख्याति को प्राप्त हुआ है। यह तो ज्ञात, उपलब्ध एवं प्रकाशित कथा-साहित्य का कथन है, बाकी अभी तक अप्रकाशित और अज्ञात कितना कथा-साहित्य अज्ञात स्थानों में पड़ा हुआ प्रकाशदान हेतु तरस रहा होगा, उसकी व्यथा-कथा शायद आगामी पीढ़ी सुन सके तभी उसका उद्धार सम्भव है।

प्राकृत काव्य-साहित्य- (प्रमुख ग्रन्थ लगभग 67 से भी अधिक)

प्राकृत-काव्यों की प्रचुरता देखकर ऐसा विदित होता है कि जैन एवं जैनेतर-कवियों में उनके लेखन में मानो होड़ ही लगी हो। चाहे पौराणिक रामकथा या महाभारत-कथा हो या अन्य, सभी विषयों को लेकर विभिन्न विधाओं में, विभिन्न कालों में उनका प्रणयन किया गया। कुछ काव्य द्वयर्थक, पंचार्थक अथवा सप्तार्थक भी लिखे गये हैं। जैन कवियों के ये अधिकांश काव्य चरित-नामान्त पाये जाते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है-

शास्त्रीय महाकाव्य- (कुल ग्रन्थ लगभग 12)

सेतुबंध (अपरनाम रावणवहो) महाकाव्य

यह महाराष्ट्री-प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना गया है। इसके 15 आशवासों (सैग्यों) की 1290 गाथाओं में सीता की खोज में राम की वानर-सेना द्वारा श्रीराम के लंका जाने के लये सेतुबंध बनाये जाने का आलंकारिक शैली में वर्णन किया गया है। प्राकृत-साहित्य का निस्सन्देह ही यह गौरव ग्रंथ है। सेतुबंधन-प्रक्रिया में नल एवं नील जैसे

विशेषज्ञों (तत्कालीन इंजिनियर्स) तथा हनुमान के तत्वावधान एवं क्रियाशीलता के कारण अल्पकाल में ही ठोस समुद्री-मार्ग तैयार हो जाता है और राम अपनी वानर-सेना के साथ रावण की लंका में पहुंच जाते हैं।

यह महाकाव्य पांचवीं सदी के लेखक-वाकाटक-वंशी नरेश राजा प्रवरसेन द्वारा लिखित है। इस ग्रंथ के कथानक में रावणवध के बाद राम के विमान से लौटने की चर्चा तो है, लेकिन यह उल्लेख नहीं है कि उस सेतुबंध अर्थात् समुद्री-मार्ग को नष्ट या ध्वस्त कर दिया गया था।

गउडवहो-कव्वं

महाकवि वाक्पतिराज (आठवीं सदी का पूर्वार्द्ध) द्वारा 1209 गाथा प्रमाण इस ग्रंथ में गौड़देशाधिप का कन्नौज के राजा यशोवर्मा द्वारा वध का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत है। इसमें बंगदेश, पंजाब, अयोध्या, पारसीकदेश, कन्नौज, कान्धार और मारवाड़ देश के प्रासंगिक वर्णन बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं।

लीलावडकहा-

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक महाकवि कुतूहल (कोऊहल 10वीं सदी) हैं। कवि ने इस ग्रंथ की भाषा को मरहट्ट देसी-भाषा कहा है। इसमें प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठण) के राजा सातवाहन तथा सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेमकथा वर्णित है। दिव्य-लोक एवं मानव-लोक दोनों के पात्र इसके कथानक में होने के कारण कवि ने इस कथा को दिव्य-मानुषी कहा है।

कुमारवाल चरियं

प्राकृत-व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिये सुप्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र (12वीं सदी) ने कुमारवाल-चरियं अपर-नाम द्वारा श्रय-महाकाव्य का प्रणयन किया। इसके आठ सर्गों में से प्रथम छह सर्गों में चालुक्यवंशी सम्राट कुमारपाल के चरित-वर्णन में प्रयुक्त शब्दावली में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत के नियम एवं उदाहरण वर्णित हैं। शेष अन्तिम दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश-भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रस्तुत काव्य का प्राकृत-साहित्य में वही महत्त्व है, जो संस्कृत में राघव-पाण्डवीय का।

उक्त महाकाव्य में आचार्य हेमचन्द्र ने एक ओर अपने शिष्य गुजरात के चोलुक्यवंशी सम्राट कुमारपाल का महाकाव्य-शैली में कृतित्व एवं व्यक्तित्व का चित्रण किया है साथ ही दूसरी ओर प्राकृत-व्याकरण के नियमों को भी ग्रथित कर अपनी चमत्कारी प्रतिभा का प्रभावक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सिरिचिंध-कव्वं (श्रीचिन्हकाव्यम्)

कृष्ण-लीला वर्णन से संबंधित 12 सर्ग प्रमाण महाराष्ट्री-प्राकृत के इस ग्रंथ के लेखक का नाम है- कवि कृष्ण लीलांशुक (प्रथम आठ सर्गों के लेखक तथा उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्य दुर्गा प्रसाद द्वारा लिखित अन्तिम चार सर्ग) प्रस्तुत ग्रंथ का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें कृष्ण-लीलाओं के साथ-साथ प्राकृत वैयाकरण-वररुचि तथा त्रिविक्रम

के प्राकृत-व्याकरणों की व्याख्या भी उपस्थित की गई है।

इस शैली में प्रस्तुत यह कृति संस्कृत के भट्टिकाव्य और लक्षणादर्श एवं आचार्य हेमचन्द्र द्वारा लिखित प्राकृत के “कुमारवालचरियं” से मिलती-जुलती है।

मालावार निवासी महाकवि श्रीकण्ठ (16वीं सदी) द्वारा लिखित कृष्ण-कथा से संबंधित सोरिचरित तथा केरल देशवासी महाकवि रामपाणिवाद (18वीं सदी) द्वारा लिखित कृष्णचरित संबंधी 280 पद्य प्रमाण-उसाणिरुद्ध एवं 233 पद्य-प्रमाण कंसवहो नाम की रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

अनुपलब्ध काव्य रचनाएँ

आचार्य हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन में सर्वसेन कृत हरिविजय-काव्य, रावणविजय महाकाव्य तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कुवल्याश्वचरित तथा ध्वनि-टीकाकार अभिनव गुप्त ने भट्ट इन्दुराज की एक प्राकृत-कृति के नामोल्लेख कर उनकी बड़ी प्रशंसा की है किन्तु दुर्भाग्य से वे रचनाएं वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

मुक्तक-काव्य- (प्रमुख 16 रचनाएँ)

प्राकृत के मुक्तक-काव्यों में शकसंवत् के प्रवर्तक महाकवि हाल (सातवाहन, प्रथम सदी) का नाम अग्रगण्य है। ये प्रतिष्ठान (पैठण) के राजा थे। प्रशासन एवं लेखनी दोनों में ही इन्हें प्रौढ़ता प्राप्त थी। कहा जाता है कि इन्होंने लोकप्रचलित पूर्वागत अथवा समकालीन एक करोड़ प्राकृत-पद्यों में से 700 सर्वोत्कृष्ट प्राकृत-गाथाओं का संकलन कर अपनी उक्त गाहासत्तसई अर्थात् गाथासप्तशती को तैयार किया था। इसका महत्व इसी से आंका जा सकता है कि ध्वन्यालोक, तल्लोचन, सरस्वती-कण्ठाभरण एवं काव्यप्रकाश जैसे महनीय ग्रंथों में भी उसकी गाथाओं को आदर्श रूप में उद्धृत किया गया है। महाकवि रुद्रट, वाग्भट्ट, विश्वनाथ, गोवर्धनाचार्य, बाणभट्ट एवं राजशेखर जैसे सभी समीक्षकों ने भी उक्त ग्रंथ की प्रशंसा की है। परवर्ती महाकवियों ने तो इसके अनुकरण पर संस्कृत में आर्यासप्तशती तथा हिन्दी में मतिराम-सतसई, बिहारी-सतसई, बृन्द-सतसई की रचनाएं ही कर डालीं।

महाकवि हाल सातवाहन विद्वान कवियों के प्रति अनन्य स्नेहादर का भाव रखते थे। कहा जाता है कि पैशाची-प्राकृत के आद्यकथा-ग्रन्थ-बड्ढकहा के लेखक महाकवि गुणादय तथा कातंत्र-व्याकरण के सुधी विद्वान शर्ववर्मा इनके राज-दरबार की शोभा माने जाते थे।

आचार्य जयवल्लभसूरि (13वीं-14वीं सदी के आसपास) ने पर्वोक्त गाहासत्तसई के अनुकरण पर वज्जालगं नामक ग्रंथ का संकलन किया था। इसमें वज्जा-शैली (अर्थात् समान विषयक गाथाओं का गुच्छक) की 48 वज्जाओं (वृज्याओं) की कुल 794 गाथाएं हैं। संकलनकर्ता ने स्वयं लिखा है कि विविध कवियों के द्वारा विरचित कविताओं में से मैंने मार्मिक गाथाएं चुनकर यहां संग्रहीत की हैं। इसके उद्धरण संस्कृत-कवि रुय्यक, जयरथ, सोमेश्वर, विश्वनाथ, हेमचन्द्र आदि अलंकार-शास्त्रियों की रचनाओं में मिलते हैं। दरिद्रता का वर्णन देखिये कवि ने कितनी मार्मिक शैली में किया है-

दारिद्र्य तुङ्ग णमो जस्स पसाएण एरिसी रिद्धि।

पेच्छामि सयललोए ते मह लोया ण पेच्छंति॥ (गाथा-139)

अर्थात् हे दरिद्रते, तुझे नमस्कार करता हूँ। क्योंकि तेरी कृपा से मुझे ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो गयी है कि जिसके कारण मैं तो सब लोगों को देख लेता हूँ किन्तु मुझे कोई भी नहीं देखता।

इसी प्रकार सज्जनता का चित्रण भी कितना सुन्दर किया है-

दोहिं चिय पज्जतं बहुएहिं वि किं गुणेहि सुयणस्स।

विज्जुप्पुरिओ रोसो मिति पाहाणरेह व्व॥ (गाथा-42)

अर्थात् सज्जन-व्यक्ति के अनेक गुणों से क्या मतलब? क्योंकि उसके तो दो गुण ही पर्याप्त हैं- मेघ की बिजली के समान आया-गया क्रोध तथा पाषाण की रेखा के समान मैत्रीभाव।

भक्तिपरक-मुक्तक-काव्य- (प्रमुख ग्रन्थ 16)

इस विधा में स्तुतियों एवं स्तोत्र-साहित्य परिगणित है। प्राकृत-भाषा में यह साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया, उसमें कुछ प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं-

आचार्य भद्रबाहु (ई. पू. चौथी सदी) कृत उवसग्गहर-स्तोत्र, आचार्य कुन्दकुन्द (ई. पू. प्रथम सदी का अन्तिम दशक) कृत स्तुति-परक भक्ति-रचनाएं, तित्थयर-श्रुति एवं निर्वाणकाण्ड-स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र (दूसरी सदी) कृत अरिहन्त-स्तोत्र योगीन्द्रदेव (छठवीं सदी) कृत निजाष्टकम्।

सि. च. नेमिचन्द्र (दसवीं सदी) कृत गोम्मटेस-श्रुति, आचार्य सोमसुन्दर सूरि (लगभग 10वीं सदी) कृत जिनेन्द्रपंचक स्तोत्र, जो भाषा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। कवि ने ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर जिनेन्द्रों की स्तुतियों में से प्रत्येक की एक साथ संस्कृत, शौरसेनी, मागधी, पेशाची, चूलिका-पेशाची एवं अपभ्रंश इन छः भाषाओं के क्रमशः एक-एक पद्य में स्तुति लिखी है। इस प्रकार इस स्तोत्र में प्रत्येक भाषा के 5-5 पद्य निबद्ध हैं और कुल मिलाकर 30 मुक्तक-पद्यों में उक्त जिनेन्द्रों की स्तुति की गई है। उदाहरणार्थ देखिये कवि शान्तिनाथ की स्तुति में कितनी आलंकारिक छटा बिखेरते हुए अपनी विनम्र भक्ति प्रदर्शित करता है-

कुज्जा कुज्जा वले बुम्मद मदणरिउ मत्त मातंगामी,

सामी चामीकारा भज्जदि रुहरतणु णिब्बुदिं सतिणाधो।

थं दे राजदि जस्सक्कमकमलवहा धम्मलच्छीण वासिं,

झिल्लंतीणं दसण्हंदसपवरसरा कुं कुम्मीसिदव्वा॥

अर्थात् वे शान्तिजिनेन्द्र कामरूपी शत्रु के मद को नष्ट करने वाले हैं, मदनमत्त गजराज के समान गमन करने वाले उनके चरण-कमल की वन्दना राजेन्द्रगण, देवता एवं असुर-गण भी किया करते हैं। वे परमानन्द स्वरूप हैं तथा पापों को दूर करने वाले हैं।

इस प्रकार शोभन कवि (10वीं सदी) कृत ऋषभपंचाशिका, जनवल्लभसूरि (12वीं सदी) कृत लध्वजित-शान्ति-स्तवनम्, मल्लिषेण कृत पद्मावती स्तोत्र अथवा

भैरव-पद्मावती-स्तोत्र, इन्द्रनन्दि कृत चन्द्रप्रभ स्तोत्र, देवेन्द्र सूरि (13वीं सदी) कृत भव-शाश्वत-चैत्य-स्तव एवं धर्मघोष सूरि (14वीं सदी) कृत भव-स्तोत्राणि किसी अज्ञात कविकृत वैराग्य शतक (17वीं सदी), लक्ष्मीलाभ गणि कृत वैराग्यरसायण-प्रकरण एवं मुनि पद्मनन्दि कृत चन्द्रप्रभ-स्तुति आदि भक्ति की गंगा-यमुना प्रवाहित करने वाले माने गये हैं।

प्राकृत का चरित-काव्य-साहित्य- (लगभग 22 प्रमुख ग्रन्थ)

प्राकृत-भाषात्मक चरित-काव्यों की कथावस्तु शालाका तथा शालाकेतर-महापुरुषों के जीवन-तथ्यों से सम्बंधित पाई जाती हैं। प्रारम्भिक चरित-काव्य रामकथा से प्रारम्भ होता है। इसमें आचार्य विमलसूरि (प्रथम सदी के लगभग) कृत पउमचरियं (पद्मचरित अपरनाम राम-चरित) सर्वप्रथम लिखित है।

आचार्य विमलसूरि के सम्मुख सम्भवतः पूर्व में लिखित कोई भी एकबद्ध प्राकृत-भाषात्मक पद्मचरित-काव्य न था। रामकथा संबंधी सूत्र-संकेत मात्र थे। भले ही उनका कुछ विवरणात्मक विस्तार हुआ हो, फिर भी वह पूर्ण विकसित रूप न ले सका होगा अन्यथा विमलसूरि उसे कण्ठ-परम्परा से प्रचलित नामावली-निबद्ध मात्र की संज्ञा न देते, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है-

णामावलिय-णिबद्धं आयरिय परंपरागयं सव्वं।

वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुष्विं समासेण॥ (1/8)

विमलसूरि ने ग्रंथ-रचना में मूल-स्रोत के प्रसंग में यह स्पष्ट रूप से बतलाया है कि -मैंने रामकथा संबंधी जो वृत्तान्त सुना था, वह केवल नामावली-निबद्ध मात्र था, सुसंगठित कथा का रूप उसमें नहीं था। अतः उसी कण्ठ-परम्परा से प्राप्त नामावली के आधार पर मेरे द्वारा इस पउमचरिय अथवा राम-चरित की क्रमबद्ध-कथा का लेखन-कार्य किया जा रहा है। कवि ने अपने इस चरित-काव्य को 7 अधिकारों (सर्गों) में विभक्त किया है यथा- (1) विश्व की स्थिति का वर्णन। (2) राम की वंशोत्पत्ति। (3) युद्ध के लिये लंका के लिये प्रस्थान। (4) राम-रावण-युद्ध। (5) लवणांकुश-उत्पत्ति। (6) राम का परिनिर्वाण एवं (7) पूर्वभवान्तर।

उक्त अधिकार 118 उद्देश्यों (उपाधिकारों) में विभक्त हैं।

उक्त पउमचरिय-ग्रंथ परवर्ती आचार्य-लेखकों के लिये प्रेरणा-स्रोत बन गया। आचार्य रविषेण (आठवीं सदी) तो उससे इतने प्रभावित थे कि कुछ शोधार्थियों के अनुसार उसे उन्होंने अपने पद्मचरित (संस्कृत) के लेखन के लिये न केवल आधार बनाया, अपितु कहीं-कहीं उसका छायानुवाद भी कर लिया। रविषेण के परवर्ती संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, राजस्थानी एवं हिन्दी-भाषा के पद्मचरितों अथवा रामचरितों के लिये उक्त ग्रंथ ही प्रेरणा-स्रोत बना रहा।

महापण्डित राहु सांकृत्यायन की गहन खोजों के अनुसार महाकवि स्वयम्भू (8वीं सदी) कृत अपभ्रंश-पउमचरित का गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस पर पूर्ण प्रभाव है। इस विषय पर उनका एक तुलनात्मक शोधपरक विस्तृत निबन्ध भी प्रकाशित हैं।

प्राकृत के अन्य चरित-काव्यों में गुणपाल (9वीं सदी) कृत जंबूचरियं, शीलाकाचार्य (9वीं सदी) कृत चउप्पन-महापुरिसचरियं (54 महापुरुषों के चरित), धनेश्वर सूरि (11वीं सदी) कृत प्रेमाख्यानक-काव्य सुरसुंदरीचरियं (16 सर्ग अथवा 4001 गाथा-प्रमाण), लक्ष्मणगणि (12वीं सदी) कृत सुपासणाहचरियं (8 सहस्र-गाथा-प्रमाण), अभयदेव-सूरि के शिष्य चन्द्रभ-महत्तर (12वीं सदी) कृत सिरिविजयचंद-केवलिचरियं (1063 गाथा-प्रमाण), आप्रदेवसूरि के शिष्य नेमिचन्द्र सूरि (12वीं सदी) कृत महावीरचरियं (2385 गाथा-प्रमाण), देवेन्द्र सूरि (13वीं सदी) कृत सुदंसणचरियं (4000 पद्य-प्रमाण), अनंतहंस (16वीं सदी) कृत कुम्मापुत्तचरियं (198 पद्य-प्रमाण), सोमप्रभसूरि कृत सुमतिणाहचरियं (9000 गाथा-प्रमाण), वर्धमानसूरि कृत आदिणाहचरियं तथा मणोरमाचरियं, देवेन्द्रसूरि कृत कण्ह-चरियं (कृष्णचरितम्), जिनेश्वरसूरि कृत चंदप्पहचरियं (40 गाथा-प्रमाण) एवं कण्हचरियं (कृष्णचरितं-1163 गाथा प्रमाण), देवचन्द्रसूरि कृत संतिणाहचरियं, शान्तिसूरि (1104 ईस्वी) कृत पुहवीचंदचरियं (पृथिवीचन्द्र-चरितम्), मलधारी हेमचन्द्र कृत जेमिणाहचरियं, श्रीचन्द्र (1135 ईस्वी) कृत मुणिसुव्वयसामिचरियं, श्रीचंदसूरि (1154 ई.) कृत सणकुमारचरियं, मुनिभद्र (1353 ई.) कृत संतिणाहचरियं, नेमिचन्द्र सूरि (12वीं सदी) कृत रयणचूडरायचरियं एवं गुणचन्द्र (12वीं सदी) कृत महावीरचरियं, आदि-आदि।

इन चरित-काव्यों के माध्यम से प्राकृत-कवियों ने न केवल प्राच्य भारतीय विद्या को समृद्ध किया अपितु उनके माध्यम से मानव के व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण, स्वस्थ-समाज एवं राष्ट्र-निर्माण के लिए मार्ग-निर्देशन के साथ-साथ समकालीन संस्कृति को भी प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है।

प्राकृत चम्पू-काव्य

गद्य-पद्य मिश्रित विधा वाला काव्य चम्पू-काव्य कहलाता है। इस दृष्टि से प्राकृत-साहित्य में इस कोटि के काव्य प्रायः नहीं के बराबर ही लिखे गये। यद्यपि पूर्व में जिन चरित-काव्यों के नामोल्लेख किये गये हैं, उनमें से कुछेक में गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है किन्तु वे चम्पू की इस काव्य-विधा में परिगणित नहीं किये जा सकते क्योंकि गद्य-पद्य के मिश्रणमात्र से ही कोई काव्य चम्पू-काव्य नहीं बन जाता। उसकी शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार तो जिस काव्य में वस्तु और दृश्यों का रूप-चित्रण गद्य में किया गया हो और उसकी पुष्टि के निमित्त भावों या विभावादि का पद्य में निरूपण हो, वस्तुतः उसे चम्पू-काव्य कहा गया है। कथावस्तु का गुम्फन भी महाकाव्यों एवं चरित या पुराण-काव्यों की अपेक्षा भिन्न शैली में किया जाता है तथा गद्य और पद्य दोनों का ऐसा अविनाभावी संबंध रहता है कि उनमें से किसी भी एक अंश को निकाल देने से कथा-प्रवाह अवरुद्ध दिखाई देने लगता है। प्राकृत में यद्यपि पूर्वोक्त महावीरचरियं, समराइच्चकहा, जंबूचरियं, रयणचूडरायचरियं में भी गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है किन्तु उनकी गणना इस कोटि में नहीं की जा सकती।

प्राकृत-साहित्य में कुवलयमाला-कहा एक मात्र ऐसा ग्रंथ है, जिसे चम्पू-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि उसमें (1) दृश्यों एवं वस्तुओं के चित्रण में प्रायः गद्य का प्रयोग किया गया है, (2) विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों का चित्रण प्रायः पद्यों में किया गया है और (3) गद्य एवं पद्य कथानक के सुश्लिष्ट अवयव हैं। दोनों में से किसी एकाध अंश के निकाल देने पर भी कथा-प्रवाह अवरुद्ध होने लगता है (दे. प्रा. भा. और सा.-शास्त्री पृ. 360)

प्राकृत-साहित्य में चम्पू काव्य-विधा का एकमात्र उपलब्ध उक्त ग्रंथ-कुवलयमालाकहा का प्रणयन हरिभद्रसूरि के शिष्य दक्षिण्य-चिन्ह विरुद्धारी उद्द्योतन-सूरि ने राजस्थान के जाबालिपुर (वर्तमान जालोर) में वीरभद्रसूरि द्वारा बनवाए हुए ऋषभदेव के चैत्यालय में बैठकर शक संवत् 700 (में से एक दिन कम) में किया था। यथा-जाबालिउरे अट्ठावयं एगदिणेणूणेहिं रइया अवरणहवेलाए। (कुवलय. पृ. 282 अनु. 430)

उक्त ग्रंथ के कथानक के अनुसार मध्यदेश स्थित विनीता के राजा दृढ़वर्मा एवं उसकी पट्टरानी प्रियंगुश्यामा निःसन्तान थे। उनका मंत्री सुषेण था। वह रानी को एक अज्ञात कुलोत्पन्न पंचवर्षीय बालक भेंट स्वरूप प्रस्तुत करता है। उसके चातुर्य एवं सौन्दर्य को देखकर वह उसी के सदृश अपने लिये पुत्र-प्राप्ति की कामना करती है। भगवती देवी की उपासना के फलस्वरूप उसकी कोख से भी एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न होता है जिसका नाम वह कुवलयचन्द्र रख देती है।

ज्ञान-विज्ञान का प्रशिक्षण लेने के बाद कुवलयचन्द्र को अनेक संघर्षों से जूझना पड़ता है किन्तु वह उनसे हार नहीं मानता। किसी कारणवश वह दक्षिण देश की विजयानगरी में पहुँचता है। वहाँ की राजकुमारी की प्रतिज्ञा थी कि जो कोई भी उसकी समस्या की पूर्ति करेगा, उसी के साथ वह विवाह करेगी। उस राजकुमारी का नाम था कुवलयमाला। कुवलयचन्द्र उसकी समस्या की पूर्ति कर देता है और दोनों का विवाह हो जाता है।

प्रस्तुत 13000 गाथा-प्रमाण चम्पूकाव्य में भक्ति, धर्मसमन्वित-कथाएं, काव्यतत्व और दर्शन संबंधी तत्वों का समन्वय होने से कथानक बड़ा ही रोचक बन पड़ा है। इनके अतिरिक्त भी इसमें उपलब्ध समकालीन चित्रकला एवं मूर्तिशिल्प, वास्तु एवं स्थापत्य-विद्या, संगीत-विद्या, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक जीवन, भारतीय वेशभूषा, वस्त्र-प्रकार, अलंकार-प्रसाधन, राजनैतिक परिस्थितियों एवं अर्थोपार्जन के विविध प्रकारी वाणिज्य एवं उद्योग-धंधे, समुद्री-यात्राओं, धातुवाद एवं स्वर्णसिद्धि, 18 देशों-प्रान्तों की समकालीन भाषाओं के नमूने तथा उनके प्रयोग करने वालों की पहिचान एवं स्वभाव आदि के संकेत भी इसमें उपलब्ध हैं। मारवाड़ के व्यापारियों की चर्चा करते हुए कवि ने बतलाया है कि मारुक-लोग बाँके, शिथिल, जड़बुद्धिवाले, अधिक भोजन करने वाले तथा कठोर और मोटे अंगवाले थे। वे अम्पां-अम्पां (अपना-अपना) तुम्पां-तुम्पां (तुम-तुम) जैसे शब्दों का उच्चारण करते रहते थे-

बंके जड़े या जड़ड़े बहु-भोइ कठिण-पीण-धुणगे।

“अम्पा-तुम्पा” भणि रे अह पेच्छइ मारए तनो॥153/3

उक्त प्रचुर सामग्री की प्रस्तुति के कारण डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रो. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, मुनि जिनविजयजी प्रभृति विद्वानों ने उसे ज्ञान-विज्ञान का अमूल्य विश्वकोष की संज्ञा प्रदान की है।

सदृक-साहित्य

प्राच्य भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञ महामनीषी प्रो. डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने ‘सदृक’ शब्द की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हुए लिखा है- “सदृक शब्द सम्भवतः द्राविड-भाषा का शब्द है। उसके ‘क’ प्रत्यय को हटा देने से उसमें केवल दो शब्द रह जाते हैं।- स और अदृ अथवा आदृ। सम्भवतः पूर्व में यह किसी लुप्त विशेषण का विशेष्य था। द्राविड-शब्द में अदृ अथवा आदृ का अर्थ नृत्य या अभिनय होता है, जो मूल धातु अड्ड या आडु से बना है। जिसका अर्थ नाचना अथवा हाव-भाव दिखलाना होता है। अतः यदि मूल-अर्थ नाचना होगा, तब लुप्त शब्द रूपक होगा। अतएव नृत्य-युक्त नाटकीय प्रदर्शन को सदृक कहा जायेगा। सदृक में नृत्य का बाहुल्य रहता है। शारदातनय ने भी नृत्यभेदात्मक रूपक को सदृक कहा है”।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सदृक वह उपरूपक है, जिसमें प्रवेशक एवं विष्कम्भक नहीं होते। उसमें अंक का नाम जवनिका होता है और उनकी संख्या-4 होती है। उसमें अद्भुत-रस का प्राचुर्य होता है और आदि से लेकर अन्त तक प्राकृत-भाषा में ही उसकी रचना की जाती है, जैसा कि महाकवि राजशेखर (10वीं सदी) ने अपनी कर्पूरमंजरी-सदृक की प्रस्तावना में कहा है-

सो सदृओ त्ति भण्णइ दूरं जो णाडिआइ अणुहरइ।

किं उण एत्थ पवेसअ-विक्कंभाई ण केवलं होंति॥ (1/6)

तात्पर्य यह कि नाटिका में जहाँ प्रवेशक एवं विष्कम्भक होते हैं, सदृक में उनका अभाव होता है। नाटिका में जहाँ अंक का प्रयोग होता है, वहीं सदृक में जवनिका का प्रयोग किया जाता है। नाटिका में जहाँ संस्कृत एवं प्राकृत दोनों के प्रयोग रहते हैं, वहीं सदृक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक केवल प्राकृत का ही प्रयोग रहता है।

इनके अतिरिक्त भी सदृक की कथावस्तु कल्पित रहती है। नायक राजा होता है, जिसपर पटरानी का पूर्ण शासन रहता है। नायक अन्य प्रेमिका से प्रेम करता है, जबकि पटरानी उसमें बाधक बनती है किन्तु अन्त में परिस्थिति ऐसी बन जाती है कि पटरानी

1. किसी अंक के समाप्त होने के बाद अन्य अंक के प्रारम्भ में प्रवेशांक या विष्कम्भक नामकी भूमिका होती है, जिसमें सामाजिकों के सम्मुख उन घटनाओं का वर्णन किया जाता है, जो उनके सामने रंगमंच पर घटित न होकर नेपथ्य में घटित हुई हैं। यह इसलिये कि वे अगली घटनाओं को अच्छी तरह समझने के योग्य हो सकें।

की सहमति से नायक प्रेमिका के साथ विवाह भी कर लेता है। उसमें खुलकर शृंगार-रस का प्राधान्य रहता है।

प्राकृत-जगत् में अभी तक 5 सट्टक उपलब्ध हो सके हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

1. कप्पूरमंजरी (कपूर्मंजरी), जिसमें उसके लेखक यायावर-वंशीय महाकवि राजशेखर (10वीं सदी) ने राजा चण्डपाल तथा कुन्तल राजकुमारी कपूर्मंजरी की प्रणय-कथा का चित्रण किया है। उक्त कथानक यद्यपि लघु है और चरित्र-चित्रण भी विशेष नहीं है, फिर भी वह सरस, रोचक एवं मनोरंजक है। उसमें सट्टक के समस्त लक्षण उपलब्ध होते हैं।
2. चंद्रलेहा (चन्द्रलेखा) सट्टक, जिसमें उसके पारशववंशी (अर्थात् मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण पिता एवं शूद्रा स्त्री से उत्पन्न) महाकवि रुद्रवास (सन् 1660 ई. के लगभग) ने मानवेद एवं चन्द्रलेखा की प्रणयकथा एवं विवाह का वर्णन किया है। उसमें सट्टक के समस्त लक्षण उपलब्ध होते हैं।
3. आणंदसुंदरी (आनन्दसुन्दरी) सट्टक, जिसमें उसके लेखक सर्वभाषाकवि तथा महाराष्ट्र-चूड़ामणि-विरुद-धारी महाकवि घनश्याम (18वीं सदी) ने राजा शिखण्डचन्द्र एवं अंगराज की कन्या आनन्दसुन्दरी की प्रणय-कथा एवं विवाह का वर्णन किया है।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास के अनुसार महाकवि घनश्याम ने विविध विषयक 64 ग्रंथ संस्कृत-भाषा में, 20 ग्रंथ प्राकृत-भाषा में तथा 25 रचनाएं देश्य-भाषा में लिखी थीं। आणंदसुन्दरी के अतिरिक्त घनश्याम ने अन्य सट्टक-वैकुण्ठचरित एवं एक अन्य रचना भी लिखी थी किन्तु वे दोनों अनुपलब्ध हैं। (दे. प्रा. सा. इति.-शास्त्री पृ. 423)

4. रंभामंजरी - जिसमें उसके लेखक महाकवि नयचन्द्र (14वीं सदी पूर्वार्द्ध) ने वाराणसी के राजा जैत्रचन्द्र और लाटनरेश देवराज की पौत्री रंभामंजरी के प्रेम-व्यापार का वर्णन कर उनके परस्पर में विवाह करने की चर्चा की है।

प्रस्तुत रचना में सट्टक के सभी लक्षण नहीं मिलते क्योंकि उसमें संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रयोग मिलते हैं। इसमें तीन जवनिकाएं ही उपलब्ध हैं। प्रतीत होता है कि इसकी चौथी जवनिका नष्ट हो चुकी है। फिर भी, वर्णन-सौन्दर्य एवं काव्य-कला की दृष्टि से यह रचना उत्तम श्रेणी की है।

5. सिंगारमंजरी (शृंगारमंजरी) सट्टक, जिसके लेखक अल्मोड़ा (हिमाचल) निवासी कवि विश्वेश्वर (18वीं सदी का पूर्वार्द्ध) ने राजा राजशेखर एवं अवन्तिराज जटाकेतु की पुत्री शृंगारमंजरी के साथ प्रणय-व्यापार तथा विवाह का वर्णन सरस-शैली में किया है।

साहित्य-दर्पण के एक संदर्भ के अनुसार प्राकृत-सर्वस्व के लेखक सुप्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण मार्कण्डेय (17वीं सदी) ने भी विलासवती नाम का कोई सट्टक लिखा था किन्तु वर्तमान में वह अनुपलब्ध है।

शिलालेखीय साहित्य

अभिलेखों का अध्ययन करना कोई साधारण बात नहीं क्योंकि उनके अध्ययन के लिये प्राकृत-संस्कृत एवं कन्नड़ भाषाओं, स्थानीय बोलियों, स्थानीय सामाजिक परिवेश, समकालीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का ज्ञान, प्रयुक्त लिपियों का ज्ञान एवं

अभिलेखों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलियों का ज्ञान होना अनिवार्य है।

प्राकृत-अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों, स्वर्ण, रजत एवं ताम्र-पत्रों, पेटिका-मुखों एवं मूर्ति-लेखों आदि पर उपलब्ध हुए हैं। उनकी संख्या तो शताधिक सम्भावित है किन्तु देश-विदेश के प्राच्य विद्याविदों के पिछले लगभग दो सौ वर्षों के अथक प्रयत्नों से अभी तक छोटे-बड़े सभी मिलाकर लगभग 66 महत्वपूर्ण प्राकृत अभिलेख प्रकाश में आ पाए हैं, जो अखण्ड-भारत के विलोचिस्तान से लेकर भारत के कोने-कोने से प्राप्त हुए हैं।

उनकी भाषा समकालीन प्राकृत है। अखण्ड भारत के विलोचिस्तान एवं उत्तरी पंजाब में जो लेख मिले हैं, उनकी भाषा पैशाची-प्राकृत है तथा लिपि खरोष्ठी है।

इसी प्रकार पश्चिम-भारत एवं मध्य भारत के अभिलेखों की भाषा शौरसेनी-प्राकृत, पूर्वी-भारत के अभिलेखों की भाषा मागधी-प्राकृत, दक्षिण भारतीय अभिलेखों की भाषा मिश्रित महाराष्ट्री एवं मध्यकालीन कन्नड़ हैं। वैसे यह नियम कोई पाषाण-रेखा के समान नहीं है। क्योंकि उसकी प्रचुर-शब्दावली के अनुसार ही उक्त नियम कहा जा सकता है।

प्राकृत-अभिलेख भारत के प्राचीनतम अभिलेख माने गये हैं, जिनका काल ईसा पूर्व पांचवीं सदी से लेकर ईस्वी सन् की पांचवीं सदी के आसपास तक माना जा सकता है। प्राकृत-अभिलेख भले ही सम्भवतः पांचवीं सदी के बाद के न मिलते हों, किन्तु संस्कृत के अभिलेखों के साथ-साथ ब्राह्मी-लिपि अगले लगभग 4-5 सौ वर्षों तक प्रयुक्त होती रही और देवपालकालीन सियदोनी (ललितपुर, यू. पी.) में उपलब्ध वि. सं. 1024 का विस्तृत संस्कृत-शिलालेख नागरी-लिपि का सम्भवतः प्रथम अभिलेख है।

जहां तक लिपि-प्रयोग का प्रश्न है, सीमान्तवर्ती पैशाची प्राकृत वाले अभिलेख खरोष्ठी-लिपि में ही मिले हैं, जबकि उत्तर-भारतीय प्रदेशों में ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग किया गया है। यद्यपि पुराविदों ने इसमें भी विभेद किया है- जैसे उत्तर भारतीय ब्राह्मी-लिपि, दक्षिण भारतीय ब्राह्मी-लिपि, मध्य एवं पूर्व-भारतीय ब्राह्मी-लिपि आदि-आदि। उनके अन्तर का वैशिष्ट्य तो पुरालिपिवेत्ता ही बतला सकते हैं किन्तु हमारे अनुभव से उनमें वैसा ही अन्तर होगा, जैसा कि देवनागरी और मराठी, गुजराती, देवनागरी और बंगला, उड़िया या अन्य दक्षिण भारतीय लिपियों में पाया जाता है।

यह विशेषतया ध्यातव्य है कि पैशाची-प्राकृत एवं खरोष्ठी-लिपि वाले प्रदेशों में उत्तरी-प्राकृत तथा उत्तर-लिपि वाले तथा उत्तरी-प्राकृतों तथा लिपि-वाले प्रदेशों में पैशाची-प्राकृत एवं खरोष्ठी-लिपि वाले अभिलेख नहीं मिलते।

प्राकृत-अभिलेख केवल जैन-परम्परा से ही संबंधित नहीं हैं, बल्कि उसमें बौद्ध एवं वैदिक-परम्परा से संबंधित सामग्री भी उपलब्ध होती है। वस्तुतः ये अभिलेख किसी सम्प्रदाय-विशेष के नहीं, बल्कि समग्र भारतीय संस्कृति एवं इतिहास की अमूल्य प्रामाणिक धरोहर हैं और उनकी सुरक्षा एवं आदर करना और उनमें समाहित भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं लोकजीवन के आदर्शों की खोज करना भी सभी का समान कर्तव्य है।

प्राकृत-भाषा निबद्ध ब्राह्मी-लिपि में लिखित कलिंगाधिपति सम्राट खारवेल के 17 पंक्तिवाले अभिलेख के अध्ययन में पुराविदों को लगभग दो सौ वर्ष लग गये, फिर

भी उसमें कुछ न कुछ त्रुटियाँ रह ही गईं। उसमें प्रयुक्त चोयट्टि पलवभार, कल्पद्रुम-विधान, किमिच्छिक-दान निषदि, वाचना जैसे पारिभाषिक शब्दों के अर्थ लम्बे समय तक भ्रमात्मक ही होते रहे किन्तु जैन-परम्परा की इस शब्दावली के जानकारों ने जब उनका विशेष अध्ययन कर उनका विश्लेषण किया, तब कहीं उनका अर्थ स्पष्ट हो सका। अन्य शिलालेखों के अध्ययनों में भी लगभग यही स्थिति रही।

जैसा कि कहा जा चुका है, पिछले लगभग दो सौ वर्षों के देश-विदेश के जिज्ञासु प्राच्य-विदों के अथक परिश्रम से अभी तक लगभग 66 प्राकृत भाषात्मक अभिलेख मिले हैं, जिनकी मैं अन्यत्र चर्चा कर चुका हूँ। अतः स्थानाभाव एवं समयाभाव के कारण मैं यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा न कर उनके केवल नामोल्लेख मात्र ही कर रहा हूँ-

1. बडली अभिलेख, जो अजमेर के पास बडली (या बर्ली) नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है, जो भ. महावीर के परिनिर्वाण के 84 वर्ष बाद (अर्थात् ई. पू. 443 में) टंकित किया गया था तथा जो पं. गौ. हि. ओझा तथा डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार भारत का प्राचीनतम अभिलेख माना गया है।
2. प्रियदर्शी सम्राट अशोक के अभिलेख कुल-संख्या 39, जो ई. पू. 272 से 232 के मध्य टंकित कराये गये थे।
3. कलिंगाधिपति जैन सम्राट खारवेल का हाथीगुंफा-लिखालेख (ई. पू. द्वितीय सदी) तथा
4. ई. पू. दूसरी सदी से लेकर ईस्वी की चौथी सदी तक के 25 अभिलेख।

उक्त सभी प्राकृत-शिलालेख भारत के प्रमुख स्थलों पर ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपियों में उपलब्ध हुए हैं तथा भारतीय इतिहास के निर्माण में उनका बड़ा भारी योगदान रहा है।

प्राकृत का धर्म-निरपेक्ष (Secular) साहित्य

धर्म-निरपेक्ष साहित्य वह है, जो बिना किसी पंथ, सम्प्रदाय, जाति, धर्म या प्रान्त आदि के भेद-भाव के, सभी को समान रूप से अपना-अपना विकास कर पाने के बौद्धिक या वैचारिक साधन प्राप्त करा सके। इस दृष्टि से भी प्राकृत-साहित्य का भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने में कम योगदान नहीं रहा। उसके जैनाचार्यों ने प्राकृत-भाषा में दर्शन अध्यात्म, आचार, धर्म, ध्यान-योग एवं आत्म-संबोधन आदि विषयों पर तो प्रचुर-मात्रा में लिखा ही, व्याकरण, छन्द, अलंकार, रस, काव्य-शास्त्र तथा द्रव्य-व्यवस्था जैसे धर्म-निरपेक्ष साहित्य का लेखन कर युग की मांगों को पूर्ण करने के यथाशक्य प्रयत्न भी किये और समग्र मानव-जाति के विकास के ज्ञान-संबर्धन में रचनात्मक योगदान किए हैं।

यही क्यों? मानव-शरीर-विज्ञान (Anatomy and Physiology)-(दे. तंदुलवेयालिस एवं भगवती-आराधना), रोग-निदान एवं औषधि-विज्ञान (Medical Sciences, -दे. अर्धमागधी के 5वें, 6वें एवं 7वें उपांग तथा भगवती-आराधना)

रत्न-परीक्षा, द्रव्य-परीक्षा एवं वास्तु-विद्या (Testing of Precious stones, Test of Coins and Science of Architecture -दे. करनाल, (हरियाणा) निवासी तथा दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के समकालीन पं. ठक्कुर फेरु (वि. सं. 1372) कृत

वास्तु-सार, धातु एवं द्रव्य-परीक्षा नामक ग्रंथ)

ज्योतिष, गणित, भूगोल एवं खगोल (Astronomy, Astrology, Methamatics, Geography and Cosmology etc.)- दे. अर्धमागधी के उपांग सं. 5वें, 6वें एवं 7वें तथा तिलोयपण्णती, तिलोयसार, जयपाहुड, संगहणी, लोयसार, आयज्ञानतिलक, इसिभासियं एवं ज्योतिषसार आदि)

निमित्तशास्त्र (Science of Prognostication), रमल अथवा पासक-विद्या (Science of pretelling events by casting dice) शकुनशास्त्र (Science of Omens) धातुविद्यापरीक्षा (Lesting of Alchemy) अश्वशास्त्र (Deep Knowledge of various kinds of Horses) हस्तिपरीक्षा (art of training of elephants) मृगपक्षिशस्त्र (Knowledge of birds and Animals) गंधर्ववेद (Science of Music) धनुर्वेद (Archery) वृक्षायुर्वेद (Art of Planting or cultivating trees) अंगविद्या (Science of Divination - दे. अंग-विद्या एवं करलक्खण) बीजरोपण-नक्षत्र (Selecting a proper constellation for planting seeds written in Kannada Language) जोणि-पाहुड (आचार्य धरसेन कृत जो कि दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी के लिये मान्य है एवं मुनि भोजसागर कृत पाशिक-विद्या 18वीं सदी) आदि-आदि।

कोष-ग्रंथ (Dictionaries)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने देशीनाममाला (रयणावली) नामक कोष-ग्रंथ में अपने पूर्ववर्ती कोष-ग्रंथकारों के नामोल्लेख करते हुए कहा है कि इन्होंने शब्द कोष-ग्रंथों की रचनाएं की हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- (1) धनपाल, (2) देवराज, (3) द्रोण, (4) अभिमान-चिन्ह, (5) पादलिप्ताचार्य एवं, (6) शीलांक। आचार्य हेमचन्द्र के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि वे सभी अर्थात् पूर्ववर्ती अर्थात् 13वीं सदी के पूर्ववर्ती कोषकार थे। उनमें से महाकवि धनपाल कृत पाइयलच्छीमाला नामक ग्रंथ तो उपलब्ध एवं प्रकाशित है किन्तु अन्य शब्दकोषग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं।

उक्त उपलब्ध शब्द-कोषों में से कुछ शब्दों का यदि अध्ययन करें तो उनमें विस्मयकारी लौकिक सांस्कृतिक सामग्री उपलब्ध होती है। ध्यातव्य है कि यह शब्दावली 13वीं सदी के पूर्व की है, जो अत्यन्त मनोरंजक है।

उदाहरणार्थ कुछ रोचक एवं सूचक सांस्कृतिक एवं भाषा-शास्त्री तथा आदिकालीन हिन्दी सम्बंधी शब्दावली यहां प्रस्तुत की जा रही है-

हिन्दी भाषा के उद्भव के मूल स्रोत

हिन्दी के उद्भव के विषय में विभिन्न विद्वानों में कुछ मतभेद रहे हैं। महापण्डित राहुल-सांकृत्यायन ने महाकवि स्वयंभू के पउमचरित (आठवीं सदी) में हिन्दी के मूल बीज खोजते हुए उससे गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को प्रभावित बताया है। वह क्रम आगे भी चलता रहा किन्तु आचार्य हेमचन्द्र (13वीं सदी) के देसीनाममाला (रयणावली) में हिन्दी के शब्द-रूपों को तो स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ निम्न शब्दावली दृष्टव्य है-

अम्मा-माता (1/5)	
उकखलो - (1/8)	= राजस्थानी, ब्रज, बुन्देली हिन्दी तथा भोजपुरी में ओखली, उखली, उखरी।
चुल्ली - (1/88)	= चूल्हा-चूलो (राजा., बुन्देली, ब्रज, हिन्दी, भोजपुरी आदि में)।
उत्थल्ला-पत्थल्ला - (1/22)	= उथल-पुथल
उल्लुट (1/179)	= उलटा,
उडिदो (1/96)	= उडिस- (भोज, बंगला, मैथिली, खटमल)
उव्वाओ (1/102)	= ऊबना, उबकाई
ओड्डणं- (1/155)	= ओढ़नी,
कट्टारी (2/4)	= कटार, कटारी (छुरी)
कोइला (2/44)	= कोयला,
खड्डा (2/66)	= खड्ड, गड्डा,
खडकी-(2/71)	= खिड़की, खिस्की,
खल्ल (2/66)	= खाल, चमड़ी,
चाउला-(3/8)	= चाँवल,
छड्लो (3/24)	= छैला, (बन-ठन कर रहने वाला शौकीन युवक)
छिणात्ती (3/27)	= छिनार, बाजारु औरत
जोणविया (3/50)	= राजस्थानी-जोणर, जोणरो, ब्रज-जुणरी, भोज. जनरी, बुन्देली, जुँवार।
झमाल- (3/53)	= झमेला
झुट्ट (3/58)	= झूठा
टिप्पी (4/3)	= टिपकी,
ढंकणी (4/14)	= ढँकना, ढँकनी
तगं- (5/1)	= तागा, डोरा,
मम्मी (6/112)	= मामी
सोहणी (8/17)	= शोधनी, झाड़ू
चिच्चो (3/9)	= चिपटी, चिपटी (नाक)
अंगुट्टी (1/6)	= अंगूठी
मनोरंजन के साधन	
खेल-क्रीड़ा-सूचक-शब्द	
अवेट्टी (1/7)	= अपनी मुट्ठी में कुछ कंकर अथवा छोटे सिक्के लेकर अपने सखा-सखियों से पूछना

- आलुंकी (1/153) = कि मेरी मुट्ठी ऊनी है या पूरी और प्रश्नोत्तरों के माध्यम से जय-पराजय का निर्णय करना।
= आंखें बन्दकर छिवा-छिबौअल या लुका-छिपी का खेल खेलना।
- गंदीणी (2/83) = आंखों एवं मन को अत्यन्त मनोरंजक लगने वाला विचारोत्तेजक उत्साहवर्धक खेल, जिसे देखते-देखते मन नहीं थकता।
- आमलकी-क्रीडा = वर्तमान में उसे अंडा-डावली-खेल कहा जाता है। इसमें वृक्षारोहण-क्रिया करने की प्रतियोगिता से जय-पराजय का निर्णय किया जाता है। अर्धमागधी आगम-साहित्य के अनुसार भ. महावीर के बचपन का यह खेल लोकप्रिय था। वे स्वयं अपने सखाओं के साथ यह खेल खेला करते थे।
- टैंटा- (4/3) = द्यूत-कूड़ा का स्थल
- आफरो- (1/63) = जुए का खेल
- डॉभिओ- (4/8) = जुआ के खिलाड़ी
- केश-विन्यास-एवं सामग्री खब्बरी (6/90) = समयभाव के कारण जल्दीबाजी में केशों को जैसे-तैसे बांध लेना।
- दुमंतओ (5/47) = रूखे-सूखे केशों को साधारण ढंग से लपेट लेना।
- फुंटा (9/84) = बिना तैल लगाए ही केशों का झोंटा बांध लेना।
- ओअग्गिअं (1/172) = केशों का सामान्य जूड़ा बांधना।
- कुंभी (2/34) = व्यवस्थित एवं सुन्दर ढंग से सजाया केश-विन्यास।
- अणराहो (1/24) = सिर को धूलादि से बचाने के लिये उसे रंगीन कपड़े से बांधना या साड़ी का पल्ला सिर पर रखना।
- णीरंगी (5/31) = केशों में किसी लसदार पदार्थ को लगाकर केशों को स्थिर बनाए रखना।
- वण्णयं (7/37) = चन्दन का चूर्ण।
- वहू-चुण्ण (7/31) = सुगन्धित द्रव्यों को मिलाकर बनाये गये चूर्ण से केशों को साफ करना।

आभूषण

उल्लरयं (1/90)	= कौडियों तथा सीपियों के बने हुए आभूषण।
चडुलातिलयं (3/8)	= बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्ण का हार।
अञ्जोल्लिया (1/33)	= मुक्ताफलों से जटित गले का हार।
उआली (1/90)	= स्वर्णनिर्मित कर्णाभूषण।

सिंहभंडक-सिंह-मुखाकृतिवाला गले का ऐसा आभूषण, जिसमें सिंह के मुख में से मोतियों के झुगे लटकते रहते थे, (रयणावली-गाथा-147-59)- इसी प्रकार मकराकृति, वृषभाकृति, गजाकृति, चक्रवाकमिथुनाकृति वाले गले के आभूषण भी अत्यंत लोकप्रिय थे। एतद्विषयक वह गाथा निम्न प्रकार है-

तिरीडं मडडो चव तह सीहस्स-भंडकं।

अलकस्स पदिकखेवो अहवा मत्थककंटकं।। (रयणावली-147)

णिडालभासक	- माथे की टिकुली या तिलक
मुहफलक	- मुंह को सजाने वाला आभूषण,
कर्णलोढक	- कर्णफूल या कान की लौंग।
वलय	- चूड़ियां
कंकण	- कंकण
हस्तकलापक	- हाथों में रंग-विरंगी चूड़ियों के समूह
णदिविद्धणक	- मांगलिक आभूषण, मंगल-सूत्र-
अपलोकणिका	- गवाक्षाकृति, जालाकृति का रत्न-जटित स्वर्णाभूषण, जो मुंह पर धारण किया जाता था।
सीसोपक	- स्वर्ण एवं चन्द्रकान्त मणि द्वारा निर्मित शिरोभूषण (राजस्थानी-टिकुली)

इसी प्रकार अन्य कर्णाभूषणों में तालपत्र, आबद्धक, कुण्डल, जणक, ओकासक (टॉप्स), कण्णपुरक (साधारण व्यक्ति इसे धारण करते थे), सुवण्णसुतक- (स्वर्णजंजीर), तिपिसाचक (तीन यक्षों की आकृतिवाला गले का हार), मणिसोमणक (विमानाकृति का मणि-हार, सौभाग्यवती नारियों के लिये), अट्ठमंगलक- ग्रहनिवारक अष्टमंगलाकृति (बाणभट्ट की भाषा में अष्ट-मंगलक-माला) वाला हार, पेचुका (हंसुली), कट्ठेवट्टक (कटुला), ओराणो (धनिया-फल के आकार वाला स्वर्णहार), णितरंणी (लहरियादार-माला), कंटकमाला (नुकीले दानों वाला हार), पिप्पल-मालिका (मटरमाला, मुक्तावली) इसी प्रकार अन्य आभूषणों में कांची, रशना, मेखला, जंबूका, कटिका एवं संपडिका। पैरों के आभूषणों में णेउर (नूपुर), परिहरेक (पैरों के कड़े) खिंखिणिका-घुंघरु/पादमुद्रिका (चिछिया), आदि। भुजाओं के आभूषणों में अंगद, तुडिय, टड्डे, हाथों में हस्तकटक, अंगुलियों में अंगुलेयक मुद्देयक (अंगूठी)। आदि-आदि

वस्त्र-प्रकार

ओड्ढणं (1/155)- उत्तरीय, (राजस्थानी-ओढ़नी) ब्रज, अवधी एवं बुन्देली में फरिया

घाघरं-जघनस्थ वस्त्रं-(2/107)- राजस्थानी, ब्रज एवं बुन्देली में घाघरा
 अवअच्छं-अधोवस्त्र (1/25)- अंडरवियर, जाँघिया, पेटिकोट
पादत्राण-(जूता)

अद्धजंघा-पादत्राण (1/33)- एक प्रकार का आधी जंघा तक पहिना जाने वाला जूता।
 उक्त सांस्कृतिक सामग्री को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि फैशन के क्षेत्र में हमारा वर्तमान ही बहुत आगे नहीं है, प्राचीन काल में भी एक से एक बढ़कर सुन्दर-सुन्दर साजसज्जा एवं प्रसाधनों की विविध सामग्रियां प्रयोग में थीं। अन्तर यही है कि वर्तमान प्रसाधनों की सामग्री उतनी स्वास्थ्यकर नहीं, जितनी कि प्राचीनकालीन सामग्रियां। क्योंकि उनके निर्माण के आधार आयुर्वेदिक-पद्धति तथा शुद्ध जड़ी-बूटियां थीं और आज की प्रसाधन सामग्रियां कृत्रिम रासायनिक पदार्थों के मिश्रण से तैयार की जाती हैं।

प्राकृत-व्याकरण-ग्रंथ

प्राकृत व्याकरण संबंधी मूल ग्रंथ अभी तक जो उपलब्ध हैं, वे संस्कृत में लिखे हुए मिलते हैं, प्राकृत में नहीं। यही एक आश्चर्य का विषय है। क्योंकि प्राकृत-साहित्य की रचनाएं जब ईस्वी सन् के कुछ समय-पूर्व से ही लेकर परवर्ती कालों में विस्तृत रूप में लिखी जाती रहीं और उसके शब्द-रूप, पद-रूप, वाक्य-गठन आदि के गठन व्याकरण-सम्मत हैं, तब उसे देखकर यही लगता है कि पालि-भाषा के “कच्चायन-व्याकरण” के समान ही प्राकृत-भाषा में लिखित कोई प्राकृत-व्याकरण भी अवश्य रहा होगा क्योंकि आचारंग (द्वि. 4/1 सूत्र 366), ठाणांग (अष्टम) अणुओगदार-सुत्तं, कसायपाहुड, छक्खंडागम आदि में उसके संकेत भी मिलते हैं। इससे लगता है कि प्राकृत-भाषा के विविध नियमों का निर्देशक कोई एक या एकाधिक प्राकृत-भाषात्मक व्याकरण-ग्रंथ अवश्य लिखा गया या लिखे गये होंगे, किन्तु दुर्भाग्य से वे आज उपलब्ध नहीं हैं। विशेष के लिये देखिये इसी निबन्ध की पृ. सं. 9-10।

वर्तमान में संस्कृत-भाषा में लिखे गये प्राकृत-व्याकरण के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे निम्न प्रकार हैं-

1. वैयाकरण चंड (दूसरी-तीसरी सदी के आसपास) द्वारा लिखित प्राकृत-लक्षण, एक लघु-रचना, जिसका वर्ण्य-विषय चार पादों में विभक्त और कुल 99 सूत्रों में वर्णित है। ध्यातव्य है कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन जर्मन विद्वान रोडोल्फ हार्नले ने किया तथा सन् 1880 ई. में विवलिओधिका-इंडिका में प्रकाशित कराया गया था। नेपाली हस्तलिपि की एक प्रति मास्को (रूस) में सुरक्षित है।
2. वररुचि (महाकवि कालिदास के समकालीन तथा सम्राट विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक रत्न के रूप में प्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण) कृत प्राकृत-प्रकाश, इसका वर्ण्य-विषय बारह परिच्छेदों के कुल 509 सूत्रों में वर्णित है। इस ग्रंथ की महत्ता एवं लोकप्रियता इसी से सिद्ध है कि युग की मांग को देखते हुए उसपर महाकवि भामह ने मनोरमा-टीका, महाकवि कात्यायन ने प्राकृत-मंजरी-टीका, महाकवि

वसन्तराज ने प्राकृत-संजीवनी-टीका तथा महाकवि सदानन्द ने सुबोधिनी जैसी महत्वपूर्ण टीकाएं लिखीं हैं।

3. आचार्य हेमचन्द्र (13वीं सदी) कृत सिद्धहेमशब्दानुशासन, जिसे सर्वाधिक व्यवस्थित एवं लोकोपयोगी माना गया है। इसका वर्ण्य-विषय चार पादों के कुल 1119 सूत्रों में वर्णित है।

उक्त ग्रंथ में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, चूलिका-पैशाची एवं अपभ्रंश-भाषाओं की विशेष प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है। अपभ्रंश-व्याकरण के नियमों की 119 सूत्रों में चर्चा करते हुए लेखक द्वारा पूर्ववर्ती अपभ्रंश-कवियों के अपभ्रंश-दोहों को उद्धृत किया गया है। उनसे लेखक ने अपभ्रंश-नियमों को तो स्पष्ट किया ही, साथ ही उन उद्धृत दोहों को नष्ट होने से भी सुरक्षित कर साहित्य-सुरक्षा का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

4. इसके बाद त्रिविक्रमदेव कृत "प्राकृत-शब्दानुशासन" (3 अध्यायों में 1036 सूत्र-प्रमाण), श्रुतसागर कृत औदार्य-चिन्तामणि एवं शुभचन्द्र कृत शब्द-चिन्तामणि, लक्ष्मीधर कृत "षड्भाषा-चन्द्रिका" (जो उक्त त्रिविक्रम-व्याकरण की वृत्ति के गूढार्थ को समझने के लिये आवश्यक ग्रंथ माना गया है), सिंहराज (15वीं सदी) कृत "प्राकृत-रूपान्तर", अप्पय-दीक्षित (16वीं सदी) कृत प्राकृत-मणिदीप, मार्कण्डेय (15वीं सदी) कृत प्राकृत-सर्वस्व (वर्ण्य-विषय कुल 20 पादों में लिखित), रघुनाथ कवि (18वीं सदी) कृत शेषकृष्ण कृत प्राकृत-चन्द्रिका नामक व्याकरण-ग्रंथों ने प्राच्य भारतीय-विद्या को समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

प्राकृत-छन्द शास्त्र-साहित्य

मानव को मानव के प्रति, किंवा, प्राणि-जगत् को संवेदनशील बनाने का प्रमुख साधन संगीतात्मक-छन्द है। जिस प्रकार किसी भवन के निर्माण के पहले उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई आदि का मानचित्र तैयार किया जाता है और उसके अनुरूप निर्माण सामग्री तैयार कर ली जाती है, उसी प्रकार आशा-आकांक्षाओं, अनुराग-विराग, प्राकृतिक-सौन्दर्य, काल्पनिक उड़ानों के संतुलन एवं भावनाओं की प्रेषणीयता एवं व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक पीढ़ी से आगामी पीढ़ी और एक युग से दूसरे युग तक बनाने के लिये छन्द-पद्धति का आश्रय आवश्यक होता है। मात्रा, वर्ण और यति-नियोजन भावों को स्पन्दित करते हैं। लय द्वारा भावों के आरोह-अवरोह निर्धारित किये जाते हैं। छन्दोबद्ध-पद्यों में भावों के अतिरेक को बांध कर संक्षेप में भी अधिक कथन की सामर्थ्य होती है। तथा संगीतात्मक होने से उसे तत्काल कण्ठस्थ कर लेने में भी कठिनाई नहीं होती। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय का प्रारम्भ पद्यमय मिलता है।

अतः छन्द-शास्त्र संबंधी साहित्य के निर्माण के क्षेत्र में भी प्राकृत-कवियों का योगदान पर्याप्त महत्वपूर्ण रहा है। इस दृष्टि से विरहांक कवि (छठवीं-सदी) कृत वृत्त-जाति-समुच्चय अतिमहत्वपूर्ण-ग्रंथ है, जिसका वर्ण्य-विषय छः नियमों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में प्राकृत के छन्द-प्रकार बतलाए गये हैं। तीसरे

अध्याय में 52 प्रकार के द्विपदी-छंदों, चौथे अध्याय में 26 प्रकार के गाथा-छन्दों, पांचवें अध्याय में 50 प्रकार के संस्कृत के वार्णिक-छंदों तथा छठवें अध्याय में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, लघुक्रिया, संख्या और अध्वान नामक छः प्रकार के प्रत्ययों के लक्षण बतलाए गये हैं। प्रस्तुत ग्रंथ की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें आभीरी-भाषा का अड्डिला, मारवाडी-भाषा का ढोसा, मागधों का मागधिका तथा अपभ्रंश के रड्डा छंदों की चर्चा की गई है।

इसी प्रकार एक अज्ञात नामा कवि (13वीं सदी) कृत छः उद्देश्य (अध्याय)-प्रमाण कवि-दर्पण एवं महाकवि नन्दितादय (दसवीं-सदी के लगभग) कृत 92 गाथा-प्रमाण-गाहालक्खण नामक ग्रंथ महत्वपूर्ण माने गये हैं।

प्राकृत-पैंगल (14वीं सदी) एक संग्रह ग्रंथ है। किन्तु उसके संकलन-कर्ता का नाम अज्ञात है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्राचीन हिन्दी के आद्यकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। इसमें मेवाड़ के पराक्रमी राजपूत राजा वीर हम्मीर के पराक्रमों का सुन्दर चित्रण मिलता है। चूँकि इसमें कर्पूरमंजरी सट्टक (राजशेखर कृत) के पद्य भी उद्धृत मिलते हैं, अतः उक्त ग्रंथ का काल दसवीं सदी के बाद का माना जा सकता है। इसका वर्ण्य-विषय दो परिच्छेदों में विभक्त है, प्रथम में मात्रिक-छंदों का तथा द्वितीय में वर्णवृत्तों का सोदाहरण निरूपण किया गया है।

निमित्त, ज्योतिष, मुहूर्त-शोधन तथा अंग-विद्या संबंधी प्राकृत-साहित्य

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, प्राकृत-साहित्य में निमित्त, ज्योतिष, अंग-विद्या, ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव तथा ग्रह-नक्षत्रों की परस्पर में दूरी बतलाने वाला साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आचार्य धरसेन (ई. पू. प्रथम सदी के आसपास) कृत निमित्त-विद्या संबंधी-जोणी-पाहुड- (वर्तमान में अनुपलब्ध), आचार्य हरिभद्र (आठवीं सदी) कृत 133 गाथा प्रमाण लग्नशुद्धि, जिनप्रभसूरि (14वीं सदी) कृत वड्डमाण-विज्जाकम्प, आचार्य दुर्गदेव (11वीं सदी) कृत 144 गाथा प्रमाण दिनशुद्धि, अंग-प्रत्यंगों की संरचना देखकर फलादेश बतलाने वाले ग्रंथ-अंग-विज्जा एवं करलक्खण, अज्ञात-कर्तृक 238 गाथा-प्रमाण ज्योतिषसार, अकाल, दुष्काल तथा समृद्ध सुकाल का वर्णन करने वाला 30 गाथा प्रमाण ज्योतिष ग्रंथ-लोकविजय-यंत्र, अर्धमागधी-उपांगों के सूरियपण्णती, चंदपण्णती एवं जंबूदीवपण्णती में वर्णित नक्षत्र-विद्या तथा गणितीय सिद्धान्तों की दृष्टि से तिलोयपण्णती, संग्रहणी, त्रिलोकसार, लोयसार आदि ग्रंथ विशेष महत्वपूर्ण हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में भी प्राकृत-कवियों के महत्वपूर्ण योगदान रहे हैं। उसके जैनाचार्यों के पुद्गल संबंधी सिद्धान्त (Atomic Theory), भौतिक-शास्त्र के देश-विदेश के वैज्ञानिकगण पर्याप्त तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उसके वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाल रहे हैं। इसी प्रकार प्राकृताचार्यों द्वारा वर्णित जीव-द्रव्य (Soul Substance), धर्म-द्रव्य (Medium of Motion), अधर्म-द्रव्य (Medium of Rest), आकाश-द्रव्य- (Space substance) आदि पर भी आधुनिक विज्ञान के संदर्भों में तुलनात्मक अध्ययन किया जा रहा है।

रत्न-पाषाण, धातुत्पत्ति, द्रव्यादि-परीक्षा, भूमि-परीक्षा संबंधी प्राकृत साहित्य

बहुमूल्य पाषाण एवं धातुद्रव्य आदि के परीक्षण की दृष्टि से पं. ठक्कुर फेरु (14वीं सदी) का प्रमुख स्थान है, जिन्होंने 132 गाथा-प्रमाण रत्नपरीक्षा नामक अपनी रचना में रत्नों का उत्पत्ति-स्थल, उसकी जाति और उसके महत्व आदि की चर्चा की है। उन्होंने अपनी द्रव्य-परीक्षा नाम की 149 गाथा-प्रमाण रचना में समकालीन प्रचलित राजकीय मुद्राओं की निर्माण-विधि, उनके नाम एवं मूल्य की चर्चा की है। इसी प्रकार अपनी 57 गाथा-प्रमाण धातुत्पत्ति नामक रचना में उन्होंने तांबा, पीतल, रांगा, सीसा, कांसा, पारा, हिंगुलक, सिंदुर, कर्पूर, चन्दन की उत्पत्ति-विधि का निरूपण किया है।

इनकी एक अन्य रचना वास्तुसार भी है, जिसमें उन्होंने भवन-निर्माण हेतु भूमि-परीक्षण, भूमि-लक्षण आदि का सुन्दर विवेचन किया है। इस ग्रंथ का जयपुर के पं. भगवानदास जी ने सम्पादन एवं गुजराती अनुवाद कर उसे सन् 1948 में प्रकाशित कराया था।

गणित-विद्या

ज्योतिष-विद्या के समान ही प्राकृत के आचार्यों ने गणितीय-सिद्धान्तों का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन कर गणित-जगत् को आश्चर्यचकित किया है। इस विधा पर इतना अधिक साहित्य लिखा गया कि जैन-परम्परा के वर्गीकृत साहित्य में उसे गणि-विज्जा अर्थात् गणित-विद्या के नाम से ही अभिहित कर दिया गया। उसकी पारिभाषिक शब्दावली भी मौलिक एवं नवीन है। उदाहरणार्थ- संख्यात, असंख्यात और अनन्त, असंख्यात के भी परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, संख्यातासंख्यात तथा इनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। इसी प्रकार अनन्त, उसके भी विविध भेद-प्रभेद, धारा, संख्या एवं उनके भी अनेकविध भेद-प्रभेदों के वर्णन किये गये हैं। काल की परिभाषा, उसके भेद-प्रभेद तथा खगोल से उनके संबंध आदि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। चूंकि यह करणानुयोग का विषय है, अतः तद्विषयक प्राकृत-ग्रंथ-गणि-विज्जा, तिलोयपण्णत्ती, तिलोयसार, गोम्मटसार, लोयसार, आदि ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण माने गये हैं।

सि. चं. नेमिचन्द्राचार्य (10वीं सदी) कृत तिलोयसार में देखिये गणना, संख्या एवं कृति की परिभाषा किस प्रकार प्रस्तुत की गई है-

एगादीया गणणा बीयादीया हवति संखेज्जा।

तीयादीणं णियमा कदि त्ति सण्णा मुणेदव्वा॥ (गाथा-16)

अर्थात् एकादिक को गणना, दो आदिक को संख्या एवं तीन आदिक को कृति कहा जाता है। एक एवं दो में कृतित्व नहीं होता क्योंकि जिस संख्या के वर्ग में से वर्गमूल को घटाने पर जो शेष बचे, उसका वर्ग करने पर उस संख्या से अधिक जिस राशि की उपलब्धि हो, वही कृति कहलाती है। यह कृतिधर्म तीन आदि की संख्या में ही पाया जाता है।

एक के संख्यात्व का निषेध किया गया है क्योंकि एक की गिनती गणना संख्या में नहीं होती क्योंकि एक घट को देखकर "यहां घट है" इसकी प्रतीति तो होती है, किन्तु उसकी संख्या के विषय में ज्ञान नहीं होता।

तात्पर्य यह कि तीनों लोकों के खगोल, भूगोल, गणित एवं काल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचना का उक्त तिलोयसार ग्रंथ आधुनिक वैज्ञानिक संदर्भों में भी अपना विशेष महत्व रखता है।

संस्कृत-नाटकों में प्राकृत

नाटक मानव के यथार्थ जीवन से सीधा संबंध रखता है। अतः प्राकृत-बोलियों ने संस्कृत-नाटकों को यथार्थ जीवन की ओर मोड़ने की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण कार्य किया है। क्योंकि संस्कृत-नाटक के संविधान के अनुसार संस्कृत, जहाँ कथानायक राजा, मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण जैसे उच्चवर्गीय सामन्त एवं समृद्ध-वर्गों की भाषा है और वे गद्य-पद्य के माध्यम से परस्पर में उसी में वार्तालाप करते हैं, जबकि महिलाएँ, निम्नवर्गीय, बच्चे, अशिक्षित या अर्धशिक्षित, सेवक एवं वृद्धजन प्राकृतों का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः संस्कृत-नाटकों में प्राकृतों का प्रयोग कर तथा उसका (प्राकृतों का) प्रयोग करने वाले पात्रों का संयोजन कर जहाँ संस्कृत-नाटककारों ने सामाजिक समरसता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, वहीं यह भी सिद्ध कर दिया कि संस्कृत एवं प्राकृत सहोदर बहिर्ने हैं। वे एक-दूसरे के विकास में सहभागी हैं न कि विरोधी तथा उनका परस्पर में अविनाभावी संबंध है।

महाकवि शूद्रक कृत मृच्छकटिक नाटक इस दृष्टि से उत्तम कोटि का नाटक माना गया है क्योंकि इसमें उच्चवर्गीय एवं निम्नवर्गीय सभी श्रेणियों के पात्रों को सम्मिलित किया गया है। उसमें लगभग 11 प्रकार की प्राकृतों को बोलते पात्र हैं। उसमें द्यूत-क्रीड़ा, स्तेय-कर्म, संधमारी, आदि को समकालीन कला के रूप में चित्रित किया गया है। इसके दर्जनों संस्करणों में से एक प्रो. राइडर (Ryder) द्वारा सम्पादित संस्करण सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

भवभूति (7वीं सदी) ने अपने नाटक में शौरसेनी-प्राकृत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग कर उसे गरिमापूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। महाकवि राजशेखर ने तो संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर अपनी कर्पूरमंजरी में आद्योपान्त प्राकृत का ही प्रयोग किया है। उसकी यह घोषणा बड़ी विचारोत्तेजक बन पड़ी है-

परुसो सक्कय-बंधो पाउद-बंधो वि होई सुउमारो।

पुरिसमहिलारणं जेतिअमिहंतरं तेतिअमिमाणं॥ (कप्पूर)

अर्थात् संस्कृत-भाषा कर्कश एवं प्राकृत-भाषा सुकुमार होती है। पुरुष और महिला में जितना अन्तर होता है, उतना ही अन्तर संस्कृत एवं प्राकृत में होता है।

एतद्विषयक महाकवि हाल-सातवाहन (प्रथम सदी), वाक्पतिराज (आठवीं सदी) एवं जयबल्लभसूरि (13वीं-14वीं सदी) की उक्तियां पहले ही बतलाई जा चुकी हैं।

तात्पर्य यह कि संस्कृत-नाटकों में प्राकृतों के प्रयोग कर उनके एक पक्षीय-रूप अर्थात् केवल उच्चवर्गों के प्रतिनिधित्व करने वाले रूप तक सीमित न कर उन्हें परिवर्तित कर उनमें प्राकृत-भाषी इतर-वर्गों को भी सम्मिलित कर उन्होंने सामाजिक समरसता का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो सर्वथा सराहनीय है।

इस प्रकार लोक-भाषा-प्राकृत ने प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के बहुमुखी विकास में रचनात्मक योगदान कर उसे समृद्ध किया है। समाज के उपेक्षित, दलित, पीड़ित एवं पिछड़े वर्गों में उनकी सुषुप्त-शक्तियों को जागृत कर उन्हें पूर्ण विकसित होने के सुअवसर प्रदान किये हैं। लोकभाषा की शक्ति को प्रदर्शित करने, प्रकृति में अन्तर्निहित वैज्ञानिक शक्तियों को उद्घाटित करने, इतिहास को निर्मित करने एवं नैतिक संदेशों को राजमहलों से लेकर झुग्गी-झोपड़ों तक भेजने में उसके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा-अपभ्रंश की माता तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं की दादी के रूप में प्रसिद्ध उक्त प्राकृत-भाषा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना हम सभी का परम कर्तव्य है। प्राकृत में सम्बोधन-सूचक “हलो-हलो” शब्द ने मानों काल की सीमा को पाटकर अपना विश्वव्यापी रूप धारण कर टेलिफोन के माध्यम से राजमहलों से झोपड़ों तथा अमीर-गरीब को “हला-हला”, “हलो-हलो” कहना सिखलाकर वह अपनी व्यथा-कथा कह रहा है कि अभी तक उसका जो साहित्य प्रकाशित हो सका है, वह तो ठीक है ही, फिर भी, उसके अनेक पक्ष अभी भी उपेक्षित पड़े हुए हैं, अतः प्राच्य-भारतीय विद्या को समृद्ध बनाने की दृष्टि से उनके काल-कवलित होने के पूर्व उनका भी उद्धार और प्रकाशन होना अनिवार्य है।

प्राकृत एवं पालि भाषा का सम्बन्ध

डॉ. विजयकुमार जैन*

पालि एवं प्राकृत दोनों जनभाषायें थीं। आज हमें जो साहित्य प्राप्त हो रहा है वह 'विशिष्ट' है। प्राकृत भाषा में सभी भाषाएं विलीन हो जाती हैं तथा इसी प्राकृत भाषा से सभी भाषाएं निकलती हैं, जिस प्रकार समस्त जल समुद्रमें विलीन हो जाता है और समुद्र से ही निकलता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक भाषा भी 'प्राकृत' ही है। वर्तमान में प्राप्त पालि एवं प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत से अधिक नजदीक हैं। यह अलग बात है कि पालि एवं प्राकृत के जो व्याकरण बने वे संस्कृत व्याकरण से उपकृत हैं।

आज प्राकृत के विभिन्न रूप मिलते हैं। पालि को पहले 'मागधी' कहा जाता था। जबकि मागधी प्राकृत भाषा की एक भाषा है। भगवान बुद्ध ने सकायनिरुत्तिया=अपनी-अपनी भाषा में उपदेश देने को कहा था। भिक्षुओं द्वारा बुद्ध वचनों को 'छान्दस्' में कर लेने पर 'दुक्कट' (दुष्कृत) का दोष भी बतलाया था। बुद्धवचनों का संकलन जिसे हम त्रिपिटक के रूप में जानते हैं तथा उसका उपकारी साहित्य पहले मागधी नाम से जाना जाता था। बौद्ध परम्परा में इसे मूलभाषा कहा है 'सा मागधी मूलभाषा नराययादि कप्पिका'। 'मोगल्लान' व्याकरण में भी 'मागधी' ही कहा गया है।

सिद्धमिद्धः गुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं।

सधम्मसंघं भासिस्सं मागधं सहलक्खणं॥ -मंगलाचरण

कच्चायन व्याकरण में भी इसे मागधी कहा गया है-

सा मागधी मूलभासा ... सम्बुद्ध चापि भासरे।

बुद्ध वचनों के संग्रह की अपनी ऐतिहासिक परम्परा है। जिसे भाणक परम्परा के रूप में बुद्ध के समय ही इसका प्रचलन हो गया था।

बुद्ध वचनों को पहले नौ अंगों में बांटा गया- सुत, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवृत्तक, जातक, अद्भुतधर्म और वेद्दल्ल।

प्रथम संगीति में प्रथम बार विनय एवं धर्म का संगायन बुद्ध के परिनिर्वाण के तुरन्त बाद किया गया। द्वितीय संगीति परिनिर्वाण के 100 वर्ष बाद हुई, जिसमें संघ भेद हो गया। एक परम्परा थेरवादी तथा दूसरी महासाधिक कहलायी। थेरवादी परम्परा का साहित्य पालि में तथा महासाधिक परम्परा का साहित्य संस्कृत में प्राप्त होता है जिसे 'बौद्ध

* रीडर, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), गोमती नगर, लखनऊ - 226010.

मिश्र संस्कृत' कहा जाता है। वस्तुतः यह 'मिश्र संस्कृत' भी प्राकृत के समीप है।

बुद्ध वचनों का 'पालि' नामकरण भी बाद में हुआ। अट्ठकथाओं में यह नाम प्राप्त होता है। अट्ठकथाकार 'पालि' शब्द का प्रयोग पहले बुद्ध वचनों के लिए करते हैं-

इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायं पन'

नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं।'

प्राकृत में मागधी (पालि) की गणना की जाती है। भरतमुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है। उनमें मागधी, आवन्ति, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दक्षिणात्या।

भाषा तत्व की दृष्टि से पालि और प्राकृत में अनेक समानताएँ हैं।

- ऋ, लृ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृत में नहीं पाया जाता। (बाद में पालि की एक परम्परा में ऐ और औ का समावेश हो गया है।)

- ऋ ध्वनि अ, इ, उ स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है।

- विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही नहीं मिलता।

- श, ष की जगह स हो जाता है (मागधी प्राकृत को छोड़कर)

मूर्द्धन्य ध्वनि 'ल' पालि और प्राकृत में पाई जाती है।

प्राकृत तत्व जो पालि में अनियमित पाए जाते हैं-

- शब्द के अन्तः स्थित अधोष स्पर्श की जगह य् या व् का आगमन।

- शब्द के अन्तः स्थित महाप्राण की जगह ह् हो जाना।

- शब्द के अतः स्थित अधोष स्पर्शों का घोष हो जाना।

- महाप्राणत्व (ह कार) का आकस्मिक आगमन या लोप।

- आकस्मिक वर्ण व्यत्यय।

भरतसिंह उपाध्याय का मत है कि पालि में इसका सूत्रपात है प्राकृत में पूर्ण विकास।

पालि भाषा को पहले मागधी कहा जाता था। क्योंकि भगवान बुद्ध के विचरण का प्रमुख केन्द्र मगध था। लेकिन 'मागधी' प्राकृत एवं मागधी=पालि को एक नहीं माना जाता।

आज जो मागधी प्राकृत प्राप्त होती है उसे पालि के आचार्य बाद की प्राकृत मानते हैं अर्थात् प्राकृत व्याकरणों, अभिलेखों और नाटक ग्रन्थों की मागधि का विकास।

मागधी भाषा की तीन प्रधान विशेषताएँ हैं-

- र और स् का क्रमशः ल् और श् में परिवर्तन।

- पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप एकारान्त होना।

जबकि पालि में र रहता है ल में परिवर्तन अनियमित है।

- जैसे तरुण का तरुण भी है और तलुण भी।

- अशोक के पश्चिम लेखों में राजा, पुरा, आरभित्व जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु

पूर्व के लेखों में क्रमशः लाजा, पुलुवं आलभितु रूप हो जाते हैं।

स का श में परिवर्तन तो पालि में बिल्कुल नहीं होता।

लूडर्स ने प्राचीन अर्द्धमागधी को पालि का आधार माना है। इनका मत है कि मौलिक रूप में पालि त्रिपिटक प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा में था बाद में उसका अनुवाद पालि में हुआ जो पश्चिमी बोली पर आश्रित थी। इनका मानना है कि त्रिपिटक में जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते हैं वे अर्द्धमागधी के अवशिष्ट अंश हैं।

फ्रेन्च विद्वान सिल्वालेवी ने प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि पालि त्रिपिटक मौलिक बुद्ध वचन न होकर किसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनुवादित रूप है जिसमें ध्वनि परिवर्तन पाली भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था। पाली के एककोदी एवं संघादिसेस जैसे शब्दों के उनसे संस्कृत प्रतिरूप 'एकोटि' संघातिसेस जैसे शब्दों के साथ तुलना की है जिसमें शब्द के मध्य स्थित संस्कृत अघोष (क् च् त् प् आदि) स्पर्शों के स्थान पर घोष (ग् ज् द् ब् आदि) स्पर्श होने का नियम था। लेवी ने पालि त्रिपिटक और अशोक के शिलालेखों में इस तरह की खोज की है जैसे-

भाबू अभिलेख में 'राहुलोवाद' की जगह 'लाघुलोवाद' है।

अधिकृत्य की जगह 'अधि गिच्य' है।

'क' के स्थान पर 'ग' पालि में अल्प ही होता था।

'अधिगिच्य' में 'च्य' भी पालि की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है।

लेवी ने पालि को ऐसी भाषा से प्रभावित माना है जिसमें अघोष स्पर्शों (क् त् प्) को घोष स्पर्शों (ग् द् ब्) में परिवर्तन हो जाता है। जैसे-

माकन्दिक	-	मागन्दिय
कयंगल	-	कजंगल
अचिरवती	-	अजिरवती
पाराचिक	-	पाराजिक
ऋषिवदन	-	इसिपतन

लेवी का तो कहना था कि पालि त्रिपिटक अपने मौलिक स्वरूप में ऐसी भाषा थी जिसमें शब्द के मध्य स्थित अघोष स्पर्शों के घोष स्पर्शों में परिवर्तित होने का नियम था।

गायगर ने लेवी के इस मत को प्रमाणित इसलिए नहीं माना है कि उक्त के विपरीत अर्थात् संस्कृत घोष का पालि में अघोष होता है।

अगरु	-	अकलु
परिघ	-	पलिघ
कुसीद	-	कुसीत
मृदंग	-	मुतिंग
शावक	-	चापक
प्रावरण	-	पापुरण

- आचार्य बुद्धघोष ने 'सहाय निरुत्तिया' पद से 'मागधी' का अर्थ लिया है। 'एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको बोहारो'
- पाली को मागधी न मानने से उसका तात्पर्य था कि पालि अशोक के

अभिलेखों की भाषा नहीं है। - डॉ. ई. जे. थामस (पृ. 28)

अर्द्धमागधी एवं पालि- समानताएं

- संस्कृत 'अस' और 'अर' के स्थान में 'ए' हो जाता है।
- पालि में पुरे (पुरः), सुवे (श्वः), भिक्खवे (भिक्षवः)
- पुरिसकारे (पुरुषकारः), दुक्खे (दुःखं)
- संस्कृत तद् के स्थान पर 'से' हो जाना- जैसे- सेव्यथा (तद्यथा)
- यद् के स्थान पर 'ये' हो जाना
- र् का ल् (कहीं-कहीं)
- स्वरों और अनुनासिक स्वरों में 'एव'-येव अर्द्धमागधी में पालि में भी

कहीं-कहीं।

- वर्ण परिवर्तन

संस्कृत-साक्षं	सक्ख (पालि)	सक्खं (अर्द्धमागधी)
त्सरु	थरु	थरु
वेणु	वेलु	वेलु
लांगल	नंगल	नंगल

लूडर्स इन विशेषताओं के आधार पर अर्द्धमागधी को पालि का आधार मानते हैं।

शौरसेनी प्राकृत एवं पालि

शौरसेनी प्राकृत जो व्रजमंडल या मध्यमण्डल की भाषा थी, पालि के नजदीक है। उत्तरकालीन पालि में विशेष सादृश्य है। जो विद्वान पालि का आधार पूर्वी बोली नहीं मानते वे पश्चिम बोली को पालि का आधार मानते हैं। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी मानते हैं कि पालि के ध्वनि समूह और रूपविधान की सर्वाधिक समानताएं शौरसेनी के साथ हैं। शौरसेनी में प्रथमा एकवचन का रूप ओकारान्त, पालि में भी है जैसे बुद्धो, नरो आदि।

शकार एवं पकार के स्थान पर सकार जैसे पुरिसो, सह

- मध्य में अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन जैसे माकन्दिक-मागन्दिय, आदि।

- पूर्वकालिक अव्यय में शौरसेनी में दूण प्रत्यय लगता है यथा, पठिदूण।

पालि में कातून, निक्खमित्तून आदि तूण प्रत्यय हैं। (पैशाची में भी यह सम्मूनता है)

इसी तरह पेक्ख, गम्मिस्सति, सक्कति रूपों में समानता है।

पैशाची प्राकृत एवं पालि

- घोष स्पर्शों (ग् द् ब्) के स्थान पर अघोष स्पर्श (क् त् प्)

- शब्द के मध्य में व्यंजन का सुरक्षित रहना- जैसे भारिय, सिलान कसट शब्दों

में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण।

- ज्ञ, ण्य, न्य, ज्ञ् में परिवर्तन होना।
- य् का ज् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना।
- अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओ हो जाना।
- धातु रूपों में समानताएं।
- र का परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना।

न्य की जगह ञ्-

राज्ञा से रञ्जा,

पुण्य से पुञ्ज्

अन्य से अञ्ज-पालि, मागधी और पैशाची में पाए जाते हैं।

- तून प्रत्यय

य का ज में परिवर्तन न होकर 'ज' बना रहना।

डॉ. नलिनाक्ष दत्त ने पालि के पैशाची आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

-(अर्ली हिस्ट्री ऑफ स्प्रेड ऑफ बुद्धिज्म एण्ड द बुद्धिस्ट स्कूल, लन्दन, 1925

पृ.-256)

भरतसिंह उपाध्याय मानते हैं कि उक्त मत एकांगी है क्योंकि इन प्राकृतों का विकास पालि के बाद हुआ। भले ही पालि मिश्रित साहित्यिक भाषा है, जिसमें अनेक बोलियों के सम्मिश्रण के चिन्ह मिलते हैं।

बौद्ध मिश्र संस्कृत एवं प्राकृत

बौद्ध मिश्र संस्कृत भाषा संस्कृत के प्रभाव को कायम रखकर प्राकृत भाषाओं के मिश्रण से बनी है। कुछ लोग इसे गाथा संस्कृत कहते हैं जो संस्कृत एवं पालि की मध्यवर्ती होने के कारण इन दोनों के लक्षणों से आक्रान्त है। वस्तुतः बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन मात्र एडर्सन ने किया है। भारतीय विद्वानों ने इसकी भाषा पर तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है। बौद्ध मिश्र संस्कृत में प्राकृत भाषा का प्रभाव सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। पिशेल का कहना है कि बौद्ध मिश्र संस्कृत ग्रन्थों की भाषा में अनेक शब्द संस्कृत के हैं अनेक प्राकृत के, प्राकृत के शब्दों में संस्कृत की विभक्ति लगाई गई है।

उपसंहार

प्राकृतों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में पिशेल का कहना है कि प्राकृत की उत्पत्ति वैदिक अथवा लौकिक संस्कृत से नहीं, किन्तु वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति जिस प्रथम स्तर की प्रादेशिक प्राकृत भाषा से पूर्व में कही गई है उसी से हुई है। यही बात पालि के सन्दर्भ में कही जा सकती है।

- पालि, प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं का सौभाग्य यह रहा है कि एक-एक

सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थों के कारण इन्हें धार्मिक संरक्षण प्राप्त हुआ वहीं यह दुर्भाग्य भी कहा जाएगा कि धार्मिक छाप लग जाने से इनको जो सम्मान एवं व्यापक स्वीकृति मिलनी चाहिए थी नहीं मिली। आज आवश्यक है कि यदि हम भारत के प्राचीन गौरव को जानना चाहते हैं तो इनके साहित्य को सुरक्षित रखें।

संदर्भ ग्रन्थ विवरण

1. पालि मोगगल्लान व्याकरण।
2. कच्चायन व्याकरण।
3. "बौद्ध मिश्र संस्कृतस्य वैशिष्ट्यम्" लेख-अत दीपो भव, डॉ. विजय कुमार जैन।
4. "पालि एवं प्राकृत एक तुलनात्मक अध्ययन", डॉ. विजय कुमार जैन का लेख, प्राकृत विद्या वर्ष 11, अंक-3, अक्टूबर-दिसम्बर, 1999.
5. पिशेल का प्राकृत व्याकरण, पाइअ सह महण्णवो की भूमिका।
6. पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
7. लोकायतं कृतर्कं च प्राकृतं म्लेच्छभाषितम्।
न श्रोतव्यं द्विजेनैतदधो नयति तद् द्विजम्॥ गरुडपुराण, पूर्वखण्ड-78.
8. चुल्लवग्गपालि।

कुवलयमाला कहा

स्व. रमा कान्त जैन*

प्राचीन भारतीय कथा साहित्य का एक अनमोल उपहार है 'कुवलयमाला कहा'। इसकी रचना आचार्य वीरभद्र के शिष्य उद्योतनसूरि ने जावालिपुर (सोनगिरि की तलहटी में बसा और भिल्लमाल से 33 कि. मी. की दूरी पर स्थित वर्तमान जालौर) के ऋषभ जिनालय में शक संवत् 700 पूरा होने से एक दिन पूर्व चैत्र कृष्ण/14 तदनुसार 21 मार्च, 779 ई. को पूर्ण की थी। उस समय वहाँ गुर्जर-प्रतिहार राजा वत्सराज रणहस्तिन् राज्य करता था। यह कथा-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में गद्य-पद्यमय चम्पू शैली में निबद्ध है। प्राकृत भाषा के तत्समय प्रचलित विविध रूपों के साथ पात्रों की सामाजिक एवं व्यक्तिगत योग्यता के अनुरूप कथनोपकथन में संस्कृत, अपभ्रंश, पैशाची और देशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग इस कृति में हुआ है।

धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों पर केन्द्रित यह कथाकृति प्रधानतया धर्मकथा है। कथाकार ने प्रस्तुत कथा को 'संकीर्णकथा' या 'मिश्रकथा' नाम दिया है। 283 अधिकारों में अनुस्यूत जन्म-जन्मान्तर की कथा की नायिका कुवलयमाला है और नायक है कुवलयचन्द्र। अन्य प्रमुख पात्रों के रूप में संसार-भ्रमण के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह को रूपांकित कर चंडसोम, मानभट, मायादित्य, लोभदेव और मोहदत्त की कथा कही गई है।

एक धार्मिक सन्त होते हुए भी उद्योतनसूरि की विविध विषयक विद्वत्ता अगाध थी। उन्हें विभिन्न दर्शनों का ज्ञान था और लौकिक कलाओं के वह मर्मज्ञ थे। उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'कुवलयमाला कहा' उनकी साहित्य सृजन प्रतिभा की द्योतक है। साहित्य मर्मज्ञों ने इसे बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के समतुल्य माना है।

सन् 1916 ई. में इस कथाकृति का रत्नप्रभसूरि द्वारा किया गया संस्कृत रूपान्तर प्रकाशित हुआ था। सन् 1959 ई. में भारतीय विद्या भवन, मुम्बई, से डॉ. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर यह प्रकाशित हुआ। सन् 1965 ई. में इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ। सन् 1975 ई. में डॉ. प्रेम सुमन जैन ने 'कुवलयमाला कहा का सांस्कृतिक अध्ययन' में इस कथाग्रन्थ में समाहित सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों की मनोरंजक झांकियों का विशद विवेचन किया था। 7वीं-8वीं शती ई. में भारत के सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए यह कथा-ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी है।

* ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-226004.

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में प्राकृत-प्रयोग की पृष्ठभूमि

प्रो. (डॉ.) प्रमोद कुमार सिंह*

भरत मुनि के भाषा-वैविध्य और तद्गत नाटकीय उपयोग से अवगत थे। उन्होंने अपने समय के नाट्य-साहित्य को ध्यान में रखकर ही पात्रगत संवादों के लिए संस्कृत और प्राकृत के माध्यमों को निर्दिष्ट किया था। यह अनुमान-मात्र नहीं है। सामान्यतः लक्ष्य-ग्रन्थों के बिना लक्षणों का निर्धारण नहीं होता है। यह और बात है कि भरतकालीन नाट्यकृतियाँ आज अनुपलब्ध हैं।

'नाट्यशास्त्र'¹² में भाषिक प्रयोगों की दृष्टि से पात्रों को सूचीबद्ध किया गया है। भरत ने कहीं संस्कृत तो कहीं प्राकृत के संवादों को विहित बतलाया है। उन्होंने धीरोदत्त एवम् धीरप्रशान्त नायकों, रानियों, गणिकाओं और श्रोत्रिय ब्राह्मणों के कथनों को संस्कृत में तथा श्रमणों, तपस्वियों, भिक्षुओं, चक्रधरों, भागवतों, उन्मत्तों, बच्चों, नीचग्रहग्रस्त लोगों, स्त्रियों, नीचवर्णजात व्यक्तियों, हिजड़ों आदि के वक्तव्यों को प्राकृत में उपनिबद्ध किए जाने की व्यवस्था दी है। उनके अनुसार नाट्य-साहित्य में नायिकाएँ एवं उनकी वयस्याएँ शौरसेनी, विदूषक प्राच्या अर्थात् पूर्वी शौरसेनी, धूर्त अवन्तिजा या उज्जयिनी की शौरसेनी, चेट एवं श्रेष्ठी अर्द्धमागधी, रनिवासों के निवासी, सुरंगों के खनक, सेंध लगानेवाले चोर, अश्वपालक एवं विपत्ति में पड़े नायक मागधी; सैनिक, नगर-रक्षक, द्यूतकार आदि दाक्षिणात्या तथा उत्तरवासी और खस वाहलोक की बोली के प्रयोक्ता होंगे।

भरत ने पात्र-भेद से मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, दाक्षिणात्या और वाहलीका के अतिरिक्त चाण्डाली, शकारी, आभीरी या शाबरी एवं द्राविड़ी के संवादों का भी उल्लेख किया है। वे पुलकसों या डोमों को चाण्डाली; कोयले से जुड़े लोगों, व्याधों, बड़ईयों एवं तंत्र-मंत्रजीवियों को शकारी; पशुपालकों को आभीरी और वनचरों को द्राविड़ी के प्रयोक्ताओं के रूप में चिह्नित करते हैं।

संस्कृत-नाटकों में उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त पैशाची और ढक्की के समावेश की भी चर्चा मिलती है। 'दशरूपक' में पैशाची प्राकृत के नाटकीय विनियोग का उल्लेख हुआ है और 'मृच्छकटिकम्' ढक्की संज्ञक विशिष्ट प्राकृत के प्रयोग का साक्षात् करता है।

संस्कृत-नाट्यशास्त्र के पर्यालोचन से ऊपरी तौर पर यह तथ्य उजागर होता है कि उच्चवर्गीय पात्रों के कथोपकथन संस्कृतबद्ध और निम्नवर्गीय एवं स्त्री पात्रों के संवाद

* पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार।

प्राकृतबद्ध होते थे। संभवतः संस्कृत-ज्ञान के अभाव के कारण स्त्रियाँ प्राकृत बोलने के लिए बाध्य जान पड़ती हैं। इसकी पूरी संभावना है कि शिक्षाहीनता उन्हें निचली श्रेणी में ले आई थी। शुद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में उनके संस्कृत-उच्चारण को हास्यास्पद ज्ञापित किया गया है। वहाँ 'सू-सू' की ध्वनि का निस्सरण करनेवाली नाथी गाय से संस्कृतभाषिणी स्त्रियाँ उपमित हुई हैं। यों तो ये संदर्भ वर्गभेद एवं लिंगभेद से सम्बन्ध असमानता के द्योतक जान पड़ते हैं, किन्तु स्मरणीय है कि संस्कृत-नाट्यालोचन में उत्तमवर्गीय जनों के भाषिक 'व्यक्तिक्रम' को भी स्वीकार किया गया है। वहाँ तपस्वियों, राजपुत्रों और आपत्तिग्रस्त राजाओं-जैसे उच्चवर्गीय लोगों को प्राकृतभाषी दर्शित किया गया है तथा प्रसङ्गात् संस्कृतभाषिणी अग्रमहिषियों, मंत्रियों की पुत्रियों एवं वेश्याओं की चर्चा की गई है¹⁰।

मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, दाक्षिणात्या, वाहलीका, चाण्डाली, शाबरी, शकारी, आभीरी, द्राविडी आदि की नाट्यशास्त्रगत चर्चा¹¹ से संस्कृत-नाटकों में अनेक रूपात्मक प्राकृत की विद्यमानता ही नहीं, तत्कालीन जीवन की वास्तविकता का भी परिज्ञान होता है। भरत का उक्त भाषिक विधान पात्रों के सामाजिक, भौगोलिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर अवलम्बित है। इसे उच्चता की ग्रन्थि और ब्राह्मणवादी मानसिकता का प्रतिफलन नहीं कहा जा सकता है। यहाँ वस्तुतः शास्त्रकार की देशकालगत पृष्ठभूमि-विषयक अभिज्ञता व्यंजित हुई है।

प्राकृत का प्रकृत या नैसर्गिक जीवन से सम्बन्ध माना गया है। यह मानव-प्रकृति की स्वाभाविकता को मूर्त करती है। इसे कभी-कभी संस्कृत की पहले की भाषा के रूप में भी स्वीकार किया जाता है¹²। रूद्रट के 'काव्यालङ्कार'¹³ के टीकाकार नमि साधु की दृष्टि में यह वस्तुतः लोक-भाषा है। इसे व्याकरण के सम्बन्धों से रहित, बच्चों एवं स्त्रियों के लिए बोधगम्य और सब भाषाओं की नींव कहने का यही मर्म है¹⁴।

उपर्युक्त तथ्य को देखते हुए संस्कृत-नाट्य-साहित्य एवं प्राकृत की ग्राह्यता सार्थक और सांकेतिक जान पड़ती है। वहाँ यह पात्रानुकूल प्राकृतिक भाषा की लक्ष्यपूर्ति की द्योतिका की भाँति प्रतिभाषित होती है। निश्चय ही श्रेण्य नाटकों में इसकी उपस्थिति नागर जीवन की कृत्रिमता में सहजता की प्रतिष्ठा करती है। राजकीय रङ्गमंच-द्वारा प्राकृत की यह स्वीकृति सुनियोजित है। यह शास्त्र के साथ लोक की सहभागिता को भली-भाँति उदाहृत करती है। भास, कालिदास, शुद्रक, हर्ष, विशाखदत्त, भट्टनारायण, सोमदेव आदि की नाट्य-कृतियों में निहित प्राकृत-अंशों की इसी दृष्टिकोण से परख करने की आवश्यकता है¹⁵। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उक्त भाषिक प्रयोग प्राकृत के नाट्य-साहित्य के पृष्ठाधार का भी साक्षात्कार कराते हैं।

संदर्भ

1. डॉ. ए. बी. कीथ, 'संस्कृत-नाटक', भाषान्तरकार : डॉ. उदयभानु सिंह, मोलीलाल बनारसीदास, दिल्ली-पटना-वाराणसी, प्रथम रूपान्तर, सन् 1965 ई.

2. भरत, 'नाट्यशास्त्र', 17/31/43.
3. उपरिवत्, 17/31/43; 17/50/2.
4. उपरिवत्, 17/53/6.
5. धनंजय, 'दशकरूपक', 2/65.
6. "द्यूतकार सभ्रिक माथुर की उक्तियों में पृथ्वीधर ने ढक्की मानी है। ढक्की का नाम भरत में कहीं नहीं मिलता है।" - डॉ. भोलाशङ्कर व्यास, 'संस्कृत-कवि-दर्शन', पृ. 303, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, संवत् 2012 वि.
7. (क) "पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम्।" - दशकरूपक, 2/64.
(ख) "स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च।" - उपरिवत्, 2/65.
8. "इत्थिया दाव सक्कअं पढन्ती दिण्णणवणस्सा वि अ गिट्ठी अहिअं संसुआअदि" - शूद्रक, 'मृच्छकटिकम्', 3, श्लोक 3 के पश्चात्।
9. "कार्यनश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः।" - 'दशकरूपक', 2/66.
10. (क) भरत, 'नाट्यशास्त्र', 17/31/43 और 17/50/2.
(ख) "पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम्।
लिंगिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित्॥" - धनंजय, 'दशकरूपक', 2/64.
11. 'नाट्यशास्त्र', 17/50/2 और 17/53/6.
12. (क) "सदा इस संस्कृत नहीं को देखते देखते हम असंस्कृत या अस्वाभाविक प्राकृत नदियों को भूल गए। ... हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति ...।" - चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, 'पुरानी हिन्दी', पृ. 1, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, संवत् 2005 वि.
(ख) "... मागधी वाले कहते हैं कि मागधी ही मूलभाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे।" - उपरिवत्, पृ. 3.
(ग) "कुछ विद्वानों ने प्राकृतों को ही प्रधानता दी है और 'प्रकृति' को प्राकृत का आधार माना है या 'प्राक् कृत' पूर्व में हुई वह प्राकृत है, इस प्रकार की व्याख्या की है।"
- डॉ. राम सिंह तोमर, 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', पृ. 1-2, हिन्दी-परिषद्-प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, सन् 1963 ई.
13. रुद्रद, 'काव्यालङ्कार', 2/12.
14. "सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। ... प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते।"
- नमिसाधु, 'काव्यालङ्कार', 2/12 की टीका।
15. भास के 'दरिद्रचारुदत्तम्' का शकार मागधी बोलता है और 'अविमारक' का विदूषक शौरसेनी का प्रयोग करता है। कालिदास ने गद्य में शौरसेनी और पद्य में मागधी का व्यवहार किया है। उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के मछुए मागधी में संभाषण करते हैं। शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में शौरसेनी, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की की उपस्थिति है। हर्ष के 'नागानन्द' में मागधी मिलती है और भवभूति ने शौरसेनी का प्रयोग किया है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षसम्' का चन्दनदास शौरसेनी बोलता है और भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' में भी शौरसेनी प्रयुक्त हुई है। सोमदेव के 'ललितविग्रहराज' में महाराष्ट्र, शौरसेनी और मागधी के संवाद मिलते हैं।

Jaina Theory of Production of Sound and Evolution of Language

Dr. R.P. Poddar*

Jaina scriptures often adopt the question-answer method for the exposition of a subject. They treat 'language' in the same way. Questions are put by Gautama gaṇadhara to the Tīrthaṅkara Mahāvīra who answers them. The questions are-

- i) Bhāṣā ṇaṃ bhante! kimādīyā,
Where lies the beginning of the language?
- ii) Kiṃ pavahā,
From where is it produced?
- iii) Kiṃ saṅṭhiyā,
What is it shaped like?
- iv) Kiṃ pajjavasiyā,
Where does it come to an end?

The answers are-

- i) Bhāṣā ṇaṃ jīvādīyā,
Language begins with the jīva, the principle of life.
- ii) sarīrappabhavā,
It is produced from the body.
- iii) vajjasanṭhiyā,

It is shaped like *vajra*-narrow in the middle and spreading out towards the ends; in Jaina metaphysics the cosmos is supposed to be of this shape, roughly like that of a man standing akimbo with the legs wide apart.

* Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune -4.

iv) *logantapajjavasiyā*,

It ends at the extremities of the cosmos (because motion is limited to the cosmos).

Jīva, though the ultimate source of language or speech, can produce it in conjunction with a physical body. The *jīvas* are embodied in a physical frame because of their respective *Karmans* of which there are eight types [*jñāna-darśanā-varaṇa-vedanīya-mohanīyāyūṣka-nām-gotrāntarāyāḥ* TS. 8.5] and (according to TS) ninety-seven [5+9+2+28+4+42+2+5] sub-types. The *Karman* which determines the body of a *jīva* is called *nāma-Karman*. It has forty-two sub-types.

The sub-type

- (i) *gati* determines whether the *jīva* in question will be born as (a) *sura* (god), (b) *nara* (human), (c) *nāraka* (infernal being) or (d) *tiryāṅca* (non-human beings living on earth, in water and in air);
- (ii) *jāti* determines species;
- (iii) *śarīra* determines the shape and size of the body;
- (iv) *varṇa, gandh, rasa, phāsa, ātapa, uddyota* etc. determine colour, smell, taste, touch, heat and lustre etc. of the body;
- (v) *svara-nāmakarma* determines voice whether agreeable or disagreeable; etc.

Of the earthly *jīvas*, there are six categories (*ṣaḍ-jīva-nikāya*) these may be divided as mobile (*trasa*) and immobile (*sthāvara*). The latter consists of (1) the earth-bodied beings, (2) water-bodied beings, (3) fire-bodied beings, (4) wind-bodied beings, and (5) plant-bodied beings.

All these are one-sensed beings, having only the sense of touch. The sixth category is that of the mobile beings. These may be (i) two-sensed, having the sense of taste in addition, as the earth-worm; (ii) three-sensed, having the sense of smell in addition, like the ants; (iv) four-sensed, having sight in addition, like the black bee; and (v) five-sensed, having the sense of hearing in addition, like birds, animals and humans.

The immobile beings cannot have the faculty of producing

sound. But all the mobile beings from two-sensed onwards can have this faculty. There are ten vitalities, *bala*, manifest marks of life. These are-

(i) sense of touch, (ii) body, (iii) respiration, (iv) life-span. (v) sense of taste, (vi) faculty of speech, (vii) sense of smell, (viii) (i) sense of sight, (iv) (i) sense of hearing and (x) rationality. One-sensed beings have the first to the fourth vitalities. Two-sensed have the fifth and the sixth in addition. The three-sensed beings have the seventh in addition. The four-sensed have the eighth and the five-sensed non-rationals have the ninth in addition. Only the five-sensed rational beings, i.e. those having a discriminative mind, have all the ten vitalities.

In the Jaina scriptures sound (*śabda / nāda*) has been conceived as *puḍgala* (non-sentient matter and also energy). It is produced by the vibration of material particles. Since the immobile beings cannot vibrate the material particles of their bodies, they are without the faculty of producing sound. The mobile ones can do that. Therefore they can have this faculty.

In physical observation worms etc. (two-sensed) and ants etc. (three-sensed) do not seem to be producing any sound. But on minute observation it has been found that insects produce sound by friction and the ants and the like produce sound by vibrating their proboscis. The snakes produce hissing sound by short, quick breath, the crickets by vibrating the membrane and the black bee by vibrating their wings. Fishes produce sound by vibrating the inner muscles of their body. Animals and birds produce vocal sound. All these sounds are inarticulate. For the production of articulate sound a discriminative mind has to come into play to conceptualize the percepts and express the concepts in language. In the worldly existence, this is possible for humans only.

There may be exceptions in this regard. But these may be covered under the provision of *pariyāpti* (completion). There are six components of completion. viz.-

1. *āhāra*-intake of body-making material particles;
2. *śarīra*-body;
3. *indriya*-senses touch, taste, smell, sight and hearing;
4. *śvāsocchvāsa*-breathing.
5. *bhāṣā*-production of sound for self-expression; and,
6. *manas*-mind.

Standard in respect of the one-sensed beings is the first to the fourth *paryāptis*, sense being limited to touch only. In case of two-sensed beings, it is the first to the fifth, senses being limited to touch and taste only. Three-four-and five-sensed beings develop additional senses of smell, sight and hearing respectively. The sixth component of completion-mind, capability of rational thinking remain the privilege of the humans only. A *jīva* may be deficient (*aparyāpta*) in respect of one or more components of completion. So the possibility of mute two-sensed etc. cannot be ruled out.

Next, we come to the question of transmission of language or speech. The scriptures say that as soon as the language is emitted, it assumes a *Vajra*-shape, i.e. the shape of the cosmos, at the extremities of which it terminates because motion is not possible in the trans-cosmic space. Language as sound is a sort of mechanical energy which is transmitted by compression waves at different speeds in different media like air, water and metal etc., much less than the speed of light (roughly three lakh kilometers per sec). So language or speech consisting of sound, instantly touching the extremities of the cosmos, is an impossibility. Since language or speech is said to have its origin in *jīva*, it is supposed to be accompanied with spiritual energy which can traverse and pervade the cosmos instantly. This supposition might be somewhat like that of the *nāda-brahma*, sound as the supreme spirit. Essentially language is the expression of the self. It manifests primarily as spiritual vibration which can be instantly transmitted from one *jīva* to another, before it is uttered in very-very inefficient conventional sound. It is by means of this transmission that the *Tīrthaṅkara*'s teachings are immediately conveyed not only to the

humans but also to the birds and the animals.

From the spiritual level language or speech comes down to the physical level. It is here that its objects are perceived and conceptualized in terms of language and uttered. The spiritual and the different physical stages are comparable with the *parā*, *paśyantī madhymā* and *vaikharī* stages of speech (*vāñī*). At the spiritual stage it may be called *parā* while perceiving the object to be expressed it may be called *paśyantī*, while transforming the object into speech-sounds, when it is not quite physical, it may be called *madhymā*; at the utterance stage it is *vaikharī*. Perception and conceptualization, in other words 'meaning' and the expression, cannot be independent of each other. Their separation is like that of the *śabda* and its *sphoṭa ā-g-a-m--a* as a cluster of five sound-units is a '*śabda*'. When it conveys the meaning coming near or traditional learning according to the requirement of the context, it realizes its purpose and this realization is the '*sphoṭa*'.

Several other questions are raised about the types of language and their moral value, about the validity of word-meaning relationship etc. But the one question which is pertinent to our topic is - '*katihī vā samaehi bhāṣati bhāṣam?*' How many *samayas* the *jīva* takes in utterance of language? [The '*samaya*' is the smallest unit of time which cannot be further divided]. There answer is the *jīva* can utter language in two *samayas* (instants). There cannot be utterance without conception. So the *jīva* will take one smallest unit of time in conceiving and another in delivering. If the process is to continue, in the second instant there will be fresh conception and delivery of the preconceived matter both and so on till at the end there is delivery and no conception. In a continuous process the delivery continues without break. But the speaker may conceive the matter for linguistic expression and deliver it at another time at will with a gap of two to innumerable *samayas* this process of conceiving and delivering is called *grahṇa-nissaraṇa*. In the process of *grahṇa* the entire self of the person-his mind and the senses are in action. In *nissaraṇa*, however, the vocal organ, and

of course the mind, are in action - *giṇhai ya kāieṇam, nisarai taha vāieṇa jogeṇam*.

This apparently two phased action of *grahaṇa* and *nissaraṇa*, is actually three phased. The initial phase is the identification of the matter to be expressed in language (*bhāṣādravya*). It is to be followed by its conversion into language (*bhāṣātvena pariṇamana*). This is the inner linguistic expression of the matter which is of necessity, interwoven with the process of identification of the matter to be expressed in language. It is a link between *grahaṇa* and *nissaraṇa*, the final utterance.

Any object of knowledge may become a matter for linguistic expression (*bhāṣādravya*) provided that (i) it is existant (*sthita*) before the senses and mind of the speaker; (ii) it is in full contact with the speaker (*jīva*), in other words the speaker (*jīva*) is preoccupied with it, and (iii) the speaker is competent to express it in language. Speaker's competence is tested at the listeners end. Five types of delivery have been identified in the scriptures, viz. (i) piece by piece, i.e. specifying and elucidating all the details (*khaṇḍābheda*); (ii) layer after layer, i.e. generic not specific (*prataraḥbheda*); (iii) pounded. i.e. mixed up and confused (*cūrṇikābheda*); (iv) marginal or superficial (*anutāṭikā*); (v) scattered, i.e. incoherent (*utkarikābheda*).

The Jaina scriptures do not envisage a time when humans were without language. As the world in their view is a continuous process without any beginning or end, so is the language. There are ups and downs, but the continuation is unbroken. Nevertheless, language is seen to be gradually rising from the inarticulate to the articulate, according to, the increasing number of sense perceptions, viz. two, three, four and five. Even the animals and birds of the last category can develop acquaintance with articulate language on being trained for the purpose. Even among the humans infant's language is inarticulate which gradually becomes articulate under the impact of the incumbent language.

आचार्यश्री सुनीलसागरजी का प्राकृत काव्य साहित्य

डॉ. महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज'*

मध्यप्रदेश के सागर जिलान्तर्गत तिगोड़ा (हीरापुर) नामक ग्राम में 7 अक्टूबर 1977 को जन्में, 20 अप्रैल 1997 को मुनि दीक्षा प्राप्त और 25 जनवरी 2007 को आचार्य पद से विभूषित आचार्यश्री सुनीलसागर जी महाराज द्वारा अल्पकाल में 26 ग्रन्थों / पुस्तकों का सृजन / व्याख्या की गई है। उनमें 6 कृतियाँ प्राकृत में हैं। इन 6 में भी 4 कृतियाँ काव्यात्मक हैं, वे हैं-

1. णीदी संगहो, 2003
2. थुदीसंगहो, 2006
3. अज्झप्पसारो, 2007
4. भावणासारो, 2007
5. भावालोयणा-भत्तिसंगहो, 2009

णीदी संगहो

णीदी संगहो, में धम्म-णीदी गाथा 60 और लोग-णीदी गाथा 101 हैं। तथा अंत में कुछ स्तुतियाँ संगृहीत हैं। इसमें धर्म और नीति से संबंधित पद्य हैं। लेखक ने स्वयं लिखा है कि इसमें सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य की कई नीतियाँ तो केवल रूपान्तरित हैं, कई जैनाचार्यों के वाक्यांश भी इसमें लिये गये हैं। किन्तु यह सभी समाज द्वारा समादरणीय व ग्राह्य होने के कारण इसे एस.डी. जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर ने अपने यहाँ पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया है।

धर्मनीति की प्रसिद्ध सूक्ति 'यतो धर्मस्ततो जयः' इस पद्य में समाहित है-
रावणो खयराहीसो, रामो य भूमिगोयरो।

विज्जिदो सो वि रामेण, जदो धम्मो तदो जओ॥ - णीदी, धर्मनीति-42।

अर्थात् रावण विद्याधर राजाओं का स्वामी था और राम भूमिगोचरी थे। फिर भी वह राम के द्वारा जीत लिया गया। क्योंकि जहाँ धर्म होता है वहीं जय होती है।

लोकनीति के पद्य में आलंकारिक गुंफन दृष्टव्य है-

दाणं दया दमिक्खणं, दंसणं देवपूयणं।

दकारा जस्स विज्जंते, गच्छंते ते ण दुग्गादिं॥ - णीदी, लोकनीति-14।

* 22/2, रामगंज, जिन्सी, इन्दौर - 452 006.

अर्थात् दान, दया, इच्छा दमन, दर्शन (देवदर्शन), देवपूजा ये दकार जिसके पास रहते हैं वे दुर्गति को नहीं जाते हैं।

थुदीसंगहो

थुदीसंगहो में उसहजिण त्थुदी, सतिणाह-त्थुदी आदि 17 स्तुतियाँ हैं, गोम्मटेश अष्टक व वर्द्धमान अष्टक दो अष्टक हैं, एक मंगल पंचक, पंच णमोवकारो, रत्तिभोयण-चाग-पसंसा, मज्झभावणा इस तरह 23 लघुरचनाओं का गुच्छ है।

जैन श्रमण परंपरा में स्तुति का सातिशय महत्व है, क्योंकि इसके माध्यम से स्तुति करने वाला स्वयं स्तुत्य बन जाता है। यहाँ स्तुतियों की प्राचीन परंपरा है, जिसे आगे बढ़ाते हुए परमपूज्य मुनिश्री सुनीलसागर जी महाराज ने अपनी काव्य-प्रतिभा का विशिष्टता पूर्वक प्रभाव छोड़ते हुए शौरसेनी प्राकृत के विभिन्न सरस छन्दों में विभिन्न स्तुतियों की रचना की है।

यद्यपि प्रसिद्ध गोम्मटेश थुदी-‘विसट्ट कंदोट्ट दलाणुयारं’ की कोई सानी नहीं है; किन्तु मालिनी छंद में गोम्मटेश अष्टक भी अनुपम है। इसका प्रथम पद्य इस तरह है-

उसहजिण-सुपुत्तं सुणंदाणेत्त रम्मं,
णिव-भरह कणिट्ठं अदि-उत्तुंग देहं।
पउदणपुर-धीसं साहिमाणी गिरिव्वं,
भुवण-मउडरूवं गोम्मटेशं णमामि॥ - थुदी संगहो, गो. थु. 11

अर्थात् ऋषभदेव के सुपुत्र, माता सुनंदा की आँखों के रम्य, नृपश्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती के छोटे भाई, अति-उत्तुंग देहधारी, पोदनपुर के स्वामी, पर्वत के समान स्वाभिमानी तथा तीन लोक के मुकुट स्वरूप गोम्मटेश्वर बाहुबली जिनेन्द्र को मैं नमन करता हूँ।

इसी तरह ‘वड्ढमाण थुदी’ भी सुन्दर उपजाति छंद में निबद्ध है।

‘रत्ति-भोयण-चाग-पसंसा’ और जन-जन के हृदय में स्थित पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार ‘युगवीर’ द्वारा रचित मेरी भावना का ‘मज्झ-भावणा’ नाम से प्राकृत भाषा के गाथा छंद में रूपान्तरण किया है, जो मेरी भावना की भाँति ही जन-जन का कल्याण करने में समर्थ है।

त्रिभाषा कवि मुनिश्री चूँकि स्वयं शास्त्री व स्नातक हैं, इसलिए उनका साहित्य की विभिन्न धाराओं, विधाओं, व्याकरण और भाषाओं पर अच्छा अधिकार है। प्रस्तुत कृति ‘थुदी संगहो’ में उन्होंने छंदशास्त्र और वैयाकरणिक सिद्धांतों का ख्याल रखते हुए भी अलंकारों, नवरसों और साहित्य की विभिन्न शक्तियों का समावेश किया है। इसमें विभिन्न छंदों का प्रयोग हुआ है। यथा- उपजाति, इंद्रवजा, उपेन्द्रवजा, वंशस्थ, बसंततिलका, शिखरणी, गाहा, गाही, उग्गाहा, मालिनी और अनुष्टुप के विविध रूप। प्राकृतों में मूलतः शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया गया है।

शौरसेनी के महाकवि आचार्य कुंदकुंददेव, अपभ्रंश के जोइंदु, पुष्पदंत आदि की दृष्टांत शैली विविध दृष्टान्तों के साथ विविध रूपों में आकर्षक ढंग से एकदम नई वेशभूषा

में अवतरित हुई है। 'शुदी संगहो' के कुछ छंद भक्तामर, महावीराष्टक, कल्याण मंदिर तथा कुछ प्राचीन गाथाओं-श्लोकों का बरक्स ही स्मरण कराकर कृति की प्रामाणिकता के प्रहरी बनकर हृदय को आह्लादित कर देते हैं।

अज्झप्पसारो

अज्झप्पसारो, सन् 2007 में सृजन की समष्टि को प्राप्त हुआ। इसमें 100 प्राकृत पद्य हैं। नामानुकूल विषय है किन्तु अध्यात्म को बहुत ही सरल ढंग से इसमें प्रस्तुत किया गया है, जिससे अध्यात्म जैसा विषय भी सर्वगम्य हो गया है। यह कृति अनूठी सृजनधर्मिता की द्योतक है।

साहित्यकार की अभिव्यक्ति में काव्य और शास्त्र ये दोनों दृष्टियाँ समाहित होती हैं। शास्त्र में श्रेय रहता है और काव्य में अनुभूतियों का प्रयत्न रहता है। 'अज्झप्पसारो' ग्रन्थ में समयसार जैसी अनुभूतियों का समाकलन किया गया है।

निज आत्मा ही परमात्मा है-

णिय अप्पा परमप्पा, अप्पा अप्पम्मि अत्थि संपुण्णं।

तो किं गच्छदि बहिरे, अप्पा अप्पम्मि सव्वदा झेयो॥

- अज्झप्पसारो ॥27॥

अर्थात् निज आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा अपने आप में संपूर्ण है, तो फिर तुम बाहर क्यों जाते हो, आत्मा में आत्मा का हमेशा ध्यान करो।

यह कुंदकुंद की साहित्य शृंखला में सम्मिलित करने जैसा ग्रंथ बन पड़ा है। आचार्यश्री के इस प्राकृत काव्य में रस है, अलंकार है, अनुभूति है और आत्मानुभव की तीव्र प्रेरणा है।

भावणासारो

भावना की परिभाषा करते हुए पंचास्तिकाय ग्रंथ की तात्पर्य वृत्ति टीका में लिखा है- 'ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चित्तं भावना' अर्थात् जाने हुए अर्थ का बार-बार चिंतन करना भावना है। मूलाचार में तप भावना, श्रुत-भावना, सत्व-भावना, घृति-भावना, संतोष-भावना, बारह भावना आदि को सदा भाने का परामर्श दिया गया है, साथ ही क्लेशकारिणी कांदर्पी, सांभोही, आसुरी आदि दुर्भावनाओं से बचने के लिए कहा गया है।

व्यक्ति की भावना-शुद्धि हेतु आचार्य कुंदकुंद ने 'बारसाणुवेक्खा' आचार्य कुमारस्वामी ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा', आचार्य शुभचंद्र ने 'ज्ञानार्णव' तथा मुनि नागसेन ने 'तत्त्वानुशासन' जैसे स्वतंत्र ग्रंथ लिखे। इनके अलावा और भी कई ग्रंथ इस दिशा में मार्ग दर्शन हेतु उपलब्ध हैं।

भावनाप्रधान ग्रंथों की शृंखला में आचार्यश्री सुनीलसागर जी ने 'भावण-सारो' नामक ग्रंथ की रचना की है। चारों अनुयोगों के गहन अध्ययन आचार्यश्री एक युग-विचारक संत होते हुए भी सिद्धांत-ग्रंथों पर गहरी पकड़ रखते हैं।

'भावनासार' में उन्होंने अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओं का संक्षिप्त किन्तु

सारगर्भित विवेचन किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के मंगलाचरण में सिद्धों की वंदना के साथ ही ग्रंथ-रचना करने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् एक सुंदर अनुष्टुप अवतरित हुआ है-

जेण भावेण जं रूवं, झाणी झायदि तच्चदो।

तेणेव तम्मयं जादि, सोवाहि फलिहो जहा॥

अर्थात् जिन भावों से ध्याता जिस रूप को तत्त्वतः ध्याता है, वह उसी में तन्मय हो जाता है, जैसे कि स्फटिक मणि। वह जिस रंग के संसर्ग में आती है वैसी ही दिखने लग जाती है।

इसके बाद तो एक के बाद एक सुंदर-सुंदर गाथा-सूत्र अवतरित हुए हैं। आचार्यश्री ने अलंकारों का भी खूब प्रयोग किया है। दृष्टान्त-अलंकार तो पग-पग पर देखने को मिलता है। स्फटिक प्रयोग आनंददायक बन पड़ा है।

आलंकारिक गुंफन दर्शन इसमें वरवश हो जाते हैं। निजात्मा की श्रेष्ठता में-
सरीरेण वरं इंदी, इदिएहिं वरं मणं।

मणसा य वरं बोही, बोहिणा णिय अप्पणो॥ - भावणासारो-44।

अर्थात् शरीर से इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बोधि श्रेष्ठ है और बोधि से जिन आत्मा श्रेष्ठ है।

नवरसों में से आचार्यवर ने मूलतः शांत का प्रयोग किया है; किन्तु आवश्यकतानुसार अनायास ही वीर, रौद्र, बीभत्स, करुण, भय और शृंगार रस का भी सुंदर प्रयोग हुआ। कृति में साहित्य की अभिधा, व्यंजना और लक्षणा शक्तियों के दर्शन भी होते हैं। आचार्यवर ने कृति के 72 में से 71 छंदों में अनुष्टुप-छंद का प्रयोग किया है, अंतिम गाथा (आर्या) छंद में है।
भावालोचना-भक्तिसंग्रहो 2009

भावालोचना पद्य 25 । प्राचीन शौरसेनी भाषा में लिखी गई भावों की आलोचना है। इसमें अपने दोषों की निंदा-गर्हा करते हुए साधक ने सामायिक व निर्ममत्व की प्रार्थना की है। सामायिक का साधारण अर्थ है आत्म-मिलन। यह जीवात्मा बाहरी पदार्थों में विमोहित होकर स्वयं को भूल गया है। सामायिक से स्व-स्मृति होती है। स्व-स्मृति से स्वकृत दोषों-पापों का बोध होता है और फिर पश्चाताप। पश्चाताप अर्थात् स्वनिंदा, गर्हा/आलोचना। इस आलोचना/पश्चाताप से प्रायश्चित्त जन्मता है। प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि, आत्मशुद्धि से साम्य और साम्य से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

आचार्य अमितगति के 'द्वात्रिंशतिका (सामायिकपाठ)' की शैली में लिखी गई यह कृति निश्चित ही भव्यजीवों के भावों को भास्वत करने में सहयोगी होगी।

आचार्यश्री ने इन प्राकृत काव्यों के अतिरिक्त आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित सर्वप्राचीन संस्कृत कृति तत्त्वार्थसूत्र की सन्मतिप्रबोधिनी टीका के साथ सभी 357 सूत्रों का प्राकृत रूपान्तरण किया है। जिससे इसका प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक भाषा में भी पाठ किया जा सके। इसे बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर ने अपने पाठयक्रम में सम्मिलित किया है।

प्राकृतबोध

प्राचीन साहित्य, दर्शन और इतिहास को समझने के लिए विभिन्न प्राकृतों का बोध आवश्यक है। प्राकृत में प्रवेशकर्त्ताओं को लक्ष्य कर प्राकृत व्याकरण की 'प्राकृत-बोध' नामक पुस्तिका का सृजन किया है। इसमें 18 प्रकरण दिये गये हैं-

1. वर्णविचार- स्वर व व्यंजन
2. स्वर परिवर्तन-ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण
3. सरल व्यंजन परिवर्तन
4. कठिन व्यंजन परिवर्तन, व्यंजन आगम, स्वर आगम, वर्ण विपर्यय
5. संधि प्रकरण-स्वरसंधि, ह्रस्व-दीर्घ संधि, प्रकृतिभाव, व्यंजन-संधि
6. कारक प्रकरण-विभक्तियाँ एवं शब्द रूप
7. क्रिया प्रकरण-धातुरूप-वर्तमान, भूतकाल, भविष्यकाल और विधि रूप
8. कृदन्त प्रकरण-सामान्य प्रत्यय, भावार्थक प्रत्यय
9. तद्धित प्रकरण-सामान्य प्रत्यय, भावार्थक प्रत्यय
10. समास प्रकरण- समासों के विविध प्राकृत प्रयोग
11. अव्यय प्रकरण- भावसूचक कतिपय अव्यय
12. लिंग-विचार- स्त्री प्रत्यय के प्रयोग
13. विशेषण-विचार-भेद सहित विश्लेषण
14. पर्यायवाची शब्द- चालीस प्राकृत शब्दों के पर्यायवाची रूप
15. विविध प्राकृतों की विशेषताएँ, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, मागधी, पालि
16. वाक्य रचना- प्राकृत में वाक्य प्रयोग
17. गद्य भाग- प्राकृत में लघु निबंध
18. पद्य भाग- उपयोगी प्राकृत स्तुतियाँ

परिशिष्ट- संज्ञा एवं क्रिया शब्द

सं.सं.वि.वि. चाराणसी प्राकृत एवं जैनागम विभाग के अध्ययन बोर्ड ने भी इसकी प्रतियाँ पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने हेतु विचारार्थ मंगाई हैं।

इस तरह अल्पवय में आचार्यश्री की साहित्य सृजन की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि और साहित्य जगत को अनुपम देन है।

प्राकृत साहित्य में वर्णित वास्तुविज्ञान

डॉ. जयकुमार उपाध्ये*

वर्द्धमान महावीर के प्रथम गणधर द्वारा रचित 'प्रतिक्रमणसूत्र' में पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का उल्लेख किया गया है, जिनके नाम हैं- (1) पुढविकाइया जीवा, (2) आउकाइया जीवा, (3) तेउकाइया जीवा, (4) वाउकाइया जीवा और (5) वाणप्फदिकाइया जीवा, संखेज्जा असंखेज्जाय हैं। पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वास्तु एवं वनस्पति इन पांचों को केवल जीव के रूप में न स्वीकार करते हुए एकेन्द्रिय स्थावर जीव का आयु, श्वासोच्छ्वास शरीर तथा स्पर्शन इन्द्रिय होने का सिद्धांत 2500 वर्ष सिद्ध किया है। इन स्थावर जीवों को संख्यात एवं असंख्यात कहा गया है। और यह सर्वविदित है कि भवन निर्माण विधि में उपरि निर्दिष्ट पांच तत्वों का प्रयोग अनिवार्य है क्योंकि इनके प्रयोग के बिना भवन निर्माण असम्भव है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्राकृत दशभक्ति' में ईर्यापथ प्रतिक्रमण में चार मुख्य दिशा और उपदिशाओं का सुन्दर विवेचन किया है। 'चउदिसु विदिसासु'।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ये चार मुख्य दिशाएँ हैं और आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य एवं ईशान ये चार उपदिशाएँ हैं। इन सभी में एक-एक मौलिक तत्व उपस्थित हैं जो प्राणी मात्र के जीवन यापन में अत्यंत सहकारी हैं, जिनका प्रयोग वैधानिक दृष्टि से होना ही चाहिए, क्योंकि दिशाविहीन प्रदेश, तत्व विकृत वास्तु चारों पुरुषार्थों की साधना में बाधा डालते हैं। जैसे-पृथ्वी विकार, सलिल प्रकोप, अग्निदाह, चौर प्रयोग, विद्युत्पातादि वायु उपद्रव, वनस्पतिजन्य विकृत विषय प्रयोग द्वारा जीव अपने साधना मार्ग को प्रशस्त नहीं कर सकता। अतः सुसंस्कृत सभ्यतापूर्ण एवं धर्ममय जीवन को पाने के लिए वास्तु एक आवश्यक अंग माना गया है।

आचार्य वीरसेन ने "षट्खण्डागम" ग्रन्थ की धवला टीका में वास्तुविद्या सम्बंधी उद्धरण देते हुए स्पष्ट कहा है कि "वास्तु विज्जं भूमि-संबंधमण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि"

भारतीय प्राच्य विद्या के ऐसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें प्राचीन कलाओं का विस्तृत वर्णन है।- "वसुदेवहिण्डी" नामक कथा ग्रन्थ संघदासगणि द्वारा रचित एक प्रसिद्ध प्राकृत कृति है। प्राकृत कथा साहित्य की मूलधारा आगमिक कथाओं से उद्भूत हुई है।

* व्याख्याता, प्राकृतभाषा विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने उचित ही लिखा है कि “आगम साहित्य प्राकृत कथा साहित्य की गंगोत्री है।”

उक्त ग्रंथ में वास्तुशास्त्र का विस्तृत वर्णन है, जिसका वैज्ञानिक परिचय देते हुए विशेषज्ञों ने स्थापत्यशास्त्र, शिल्पशास्त्र और चित्रशास्त्र की दृष्टि से उसके मुख्य: तीन भेद बताए हैं: भवन निर्माण, प्रतिमा-निर्माण तथा चित्रकर्म विधान ये तीन वास्तु शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इस प्रकार वास्तुशास्त्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह शास्त्र शिल्पशास्त्र का भी प्रतिनिधि है। इसलिए वस्त्रों और अलंकारों की निर्माण कला भी वास्तु शास्त्र में ही अन्तर्भूत है।

संघदासगणि की वास्तु कल्पना को यदि उनके द्वारा चित्रित वस्त्रों और अलंकारों की कल-रमणीयता को विविध कल्पना से जोड़कर देखा जाय तो उनकी कला भूयिष्ठ कलाकृति ‘वसुदेव हिण्डी’ वास्तुशास्त्र का उत्तम निदर्शन सिद्ध होती है। इस कला के द्वारा प्रकृति निर्मित जड़ पदार्थों में भी विभिन्न मनोहारी भावों की उत्पत्ति होती है। जिससे देश का मूर्तिमान इतिहास प्रकट होता है तथा वहाँ के निवासियों के गुणधर्म, स्वभाव, आचार-विचार और व्यवहारों की वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक जानकारी मिलती है।

आदिकाल से मौखिक परम्परा से सुरक्षित यह कला कालक्रम से वेदसूत्रग्रन्थों, स्मृतियों और पुराणों में समाविष्ट हो गयी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत में जो विश्वकर्मा का उल्लेख हुआ है वे तत्कालीन स्थापत्य शास्त्र के पूर्णज्ञाता सूत्रधार के रूप में मान्य हैं। वास स्थान को ‘वास्तु’ कहते हैं, जिनमें प्राणी निवास करते हैं। वास्तु शब्द की उत्पत्ति में कहा गया है “वसन्ति प्राणिनो यत्र सः वास्तु” निवासार्थक वस् धातु के साथ तुण् प्रत्यय के योग से वास्तु शब्द निष्पन्न हुआ है। इस वास्तु का आधार घर या भवन अवश्य है, परन्तु भवन निर्माण के अतिरिक्त यह कुछ और भी है। एक वास्तुशास्त्री ने वास्तुकला की ललित कला से तुलना करते हुए बड़ा सटीक ही कहा है, “कविता केवल पद्य रचना ही नहीं है अपितु वह उसके अतिरिक्त कुछ और भी है।” मधुर स्वर में गाए जाने पर वह और भी अधिक प्रभावशाली हो जाती है। उसके साथ जब उपयुक्त संगीत और सारे वातावरण से भी उसे अवगत करा देती है। ठीक इसी प्रकार वास्तु कल्पना दार्शनिक गतिविधियों, काव्यमय अभिव्यक्तियों और सम्मिलित लयात्मक, संगीतात्मक एवं वर्णात्मक अर्थों से परिपूर्ण होती है। ऐसी उत्कृष्ट वास्तु कृति मानव के अन्तर्मानस की छूती हुई सभी प्रकार से उसकी प्रशंसा का कारण बनती है फिर वह विश्वव्यापी ख्याति अर्जित करती है, साथ ही वह भावी पीढ़ियों की प्रेरिका भी होती है।

कौटिल्य के युग में वास्तु-विज्ञान चरम शिखर पर था। उन्होंने अपने अर्थ शास्त्र 21वें अध्याय में कुशल वास्तु-वैज्ञानिकों का सादर उल्लेख किया है। साथ ही साथ वास्तु सिद्धि के समस्त उपकरणों की विशद् चर्चा भी की है। ग्राम समुदायों और नगरों की रचना, विशेषतः दुर्ग-निर्माण की रूपरेखाओं का स्पष्ट अंकन इस ग्रंथ में हुआ है। कौटिल्य ने वास्तु परिमाण की प्राचीन मान्यता में विकास करके यह नियम बनाया था कि गृह निर्माण

के लिए भूमि अंशों का विभाजन एवं वितरण निर्माताओं की वृत्ति के अनुरूप होना चाहिए। संयोग से आधुनिक काल के वास्तु का निर्माण परम्पराधृत न होकर निर्माताओं की रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही हो रहा है।

वास्तु साहित्य में वास्तु के समीप पेड़ लगाने का भी विधान प्राप्त होता है। उसके समीप कण्टकमय वृक्ष लगाने से शत्रुभय, क्षीरीवृक्ष से अर्थनाश और फलीवृक्ष से प्रजाक्षय होता है। इन सब की लकड़ियों का उपयोग भी गृह निर्माण में नहीं करना चाहिए। यदि इन वृक्षों को लगाकर भी उनको काटने की इच्छा न हो तो उनके दोष परिहार के लिए उन वृक्षों के निकट पुन्नाग, अशोक, अरिष्ट, बकुल, पनस, शमी और शालवृक्ष लगा देना चाहिए।

वास्तु-मण्डल में कौन-सी वस्तु किस दिशा में रहना चाहिए इसका भी निर्देश प्राचीन वास्तुकारों ने किया है। वास्तु के सम्मुख देवालय, पूर्व में प्रवेश-निर्गम और यज्ञमण्डप, अग्निकोण में पाकशाला, दक्षिण की ओर अतिथिशाला, नैऋत्य में शास्त्रागार, कुश काष्ठादि संग्रह, पश्चिम में वातायन युक्त जनागार, वायुकोण में गोशाला, (कुबेर) उत्तर दिशा में भण्डारगृह और ईशान कोण में गन्धपुष्पालय होना चाहिए।

जैन मान्यता के अनुसार वास्तु कला करणानुयोग का विषय है। यतिवृषभाचार्य रचित 'तिलोपपण्णत्ती' के नौ अधिकारों में वर्णित नौ लोकों - सामान्य लोक, नरक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, तिर्यग्-लोक, ज्योतिर्लोक-देव-लोक और सिद्ध-लोक का वर्णन मिलता है। तृतीय अधिकार की गाथा 22 से 62 तक असुर कुमार आदि देवों के भवनों, वेदिकाओं, कूटों, जिन-मन्दिरों एवं प्रासादों का वर्णन उपलब्ध है। भवन की वास्तु संरचना में बताया गया है कि प्रत्येक भवन को चारों दिशाओं में चार वेदियाँ होती हैं, जिनके बाह्य भाग में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम वृक्षों के उपवन रहते हैं। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष स्थित होते हैं, जिनकी चारों दिशाओं में तोरण, आठ महामंगल द्रव्य और मानस्तम्भ सहित जिन प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं। वेदियों के मध्य में वेत्रासन के आकार वाले महाकूट होते हैं और प्रत्येक कूट में चार-चार गोपुर होते हैं। इन कोटों के बीच की वीथियों में एक-एक मानस्तम्भ, नौ-नौ स्पृत वन, ध्वजाएँ और चैत्य स्थित होते हैं।

जिनालयों के चारों ओर के उपवनों में तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएँ होती हैं। उनके शिखराग्रों के ऊपर फहराने वाली ध्वजाएँ दो प्रकार की होती हैं - 'महाध्वजा' और 'क्षुद्रध्वजा'। महाध्वजाओं में सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस एवं चक्र के चिन्ह अंकित होते हैं। जिनालयों में वन्दना, अभिषेक, नृत्य, संगीत और आलोक इनके लिए अलग-अलग मण्डप होते हैं, क्रीड़ागृह, स्वास्थ्यशाला, पट्टशालाएँ, चित्रशाला भी निर्मित रहती हैं। जिन मन्दिर में जिनेन्द्र की मूर्तियों के अतिरिक्त श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा यक्षों की मूर्तियाँ एवं अष्टमंगल द्रव्य-झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यंजन और सुप्रतिष्ठ भी स्थापित होते हैं।

जिन प्रतिमाओं के आसपास नागों और यक्षों के युगल अपने हाथों में चमर लिए हुए स्थित रहते हैं। असुरों के भवन सात, आठ, नौ आदि भूमियों से युक्त होते हैं, जिनमें

जन्म, अभिषेक, परिचर्या और मंत्रणा के लिए अलग-अलग शालाएं होती हैं। उनमें सामान्यगृह, दर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, नादगृह, लतागृह आदि होते हैं तथा तोरण, प्राकार, पुष्करिणी, वापी और कूप, मत्तवारण और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओं एवं नाना प्रकार की पुत्तलियों से सुसज्जित होते हैं।

इस प्रकार यतिवृषभाचार्य ने वास्तु के आदर्श प्रस्तुत किए हैं। प्राकृत साहित्य में वर्णित वास्तु विन्यास के आधार-आदर्श के रूप में 'तिल्लोयपण्णत्ती' की उपयोगिता संदिग्ध नहीं है। यह महत्वपूर्ण कृति भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल की अवधि चतुर्थपंचम शती में लिखी गई है, बहुत सम्भव है कि 'संघदासगणी' ने भी अपने वास्तुवर्णन के प्रसंगों में 'तिल्लोयपण्णत्ति' का प्रभाव ग्रहण किया हो?

वास्तु-सिद्धांत के अनुसार गृह की दीवारों पर चित्रकारी करते समय गिद्धपक्षी, काक, कबूतर, बन्दर और संग्राम सम्बन्धी चित्र नहीं बनाने चाहिए, क्योंकि ये अशुभ फलप्रद होते हैं।

इसी प्रकार राजभवन को छोड़कर भवन शोभा हेतु हाथी, सिंह आदि जंगल में रहने वाले पशुओं एवं पक्षियों की मूर्तियाँ गृहस्थों को अपने घरों अथवा दरवाजों पर नहीं बनवानी चाहिए। क्योंकि ये सभी बहुत अशुभ फल देने वाली होती हैं।

नाट्यशाला

राजप्रश्नीयसूत्र के वर्णन के अनुसार नाट्यशाला (प्रेक्षागृहमण्डप) अनेक स्तम्भों के ऊपर बनाई जाती है, जो वेदी, तोरण और शालभञ्जिकाओं (पुत्तलिकाओं) से शोभित रहती थी। इसमें एक से एक सुन्दर वैडूर्यरत्न जड़े हुए थे और पूर्वोक्त ईहामृग, वृषभ आदि के चित्र निर्मित किये जाते थे। यहां पर सुवर्ण और रत्नमय अनेक स्तूप तथा रंग बिरंगी घंटियों और पताकाओं से उनके शिखर शोभायमान थे। विद्याधर-युगल भी बने रहते थे जो यंत्र की सहायता से चलते फिरते रहते थे। मण्डप को लीपपोत कर साफ-सुथरा बनाया जाता था।

प्रेक्षमंडल - इसके मध्य में एक नाट्यगृह (पेक्खाडगिह) रहता था, जो मणिपीठिका से अलंकृत रहता था। मणिपीठिका के ऊपर मणियों से जटित एक सुन्दर सिंहासन बनाया गया था जो चक्र चक्कल सिंहपाद, पादशीर्षक, गात्र और सन्धियों से सुशोभित था। यहां के सुन्दर-सुन्दर सोपान; उत्तरण, णिम्मद्ध प्रतिष्ठान; मूलप्रदेश, स्तम्भ, फल, सूची, सन्धि अवलम्बन और अवलम्बनवाहू से सुशोभित थे।

शयनागार - प्राचीन प्राकृत साहित्य के अनुसार राजा श्रेणिक की रानी धारिणी का शयनगृह, वरगृह तथा बाह्यद्वार के चौकठे, छक्कट्ठग से अलंकृत थे और उसके पालिश किए हुए खम्भों पर सुन्दर पुत्तलिकाएं, शालभञ्जिकाएं, स्तूपिकाएं, सर्वोच्च शिखर, विडंक, बिटंक कपोतपाली, कबूतरों के रहने की छतरी, गवाक्ष (जाल) अर्धचन्द्र के आकार वाले सोपान, खूंटी, (गिज्जूह), झरोखे (कणयालि) और अट्टालिका (चेदसालिया) निर्मित थी।

प्रासाद-निर्माण

प्राचीन जैन वास्तुशास्त्र के अनुसार धनी लोगों के लिए ऊँचे-ऊँचे प्रासाद (अवसंतक) बनाए जाते थे। जैन ग्रंथों में सात तल वाले प्रासादों का उल्लेख किया गया है। प्रासादों के शिखर गगन-तल को स्पर्श करते थे, अपनी प्रभा से वे हंसते हुए से जान पड़ते थे तथा मणि, कनक और रत्नों से निर्मित होने के कारण वे बड़े चित्र-विचित्र प्रतीत होते थे। उनके ऊपर वायु के झंकारों से पताकाएं फहरा रही थी तथा छत्र और अतिछत्र से वे अत्यन्त शोभायमान जान पड़ते थे। प्रासादों के स्कन्ध, स्तम्भ, मंच, माल और तल हर्म्यतल के भी उल्लेख किये गये हैं। राजगृह अपने पत्थर और ईंटों (काणिट्टगा) भवनों के लिए विख्यात था। भरत चक्रवर्ती का प्रासाद अपने आदर्श गृह सीसमहल के लिए प्रसिद्ध था। वर्धक रत्न बढई के द्वारा एक यंत्रमय कबूतर बनाकर तैयार किया था। कलिंगराज के अनुरोध पर उसने सात तल्ले के एक सुन्दर भवन का भी निर्माण किया था। मकान बनाने के लिए ईंट (ईट्टिका), मिट्टी (पुढवी), शर्करा, (सक्करा), बालू (बालुआ) और पत्थर (उपल) आदि की आवश्यकता पड़ती थी। पक्के मकानों में चूना पोतने (सुधाकम्मंत) का रिवाज था। पत्थरों के घर (संलोवट्टवाण) भी बनाए जाते थे।

द्रोपदी के स्वयंवर के लिए बनाया हुआ मण्डप सैकड़ों खम्भों पर अवस्थित था और अनेक पुत्तलिकाओं से वह रमणीय जान पड़ता था। राजा-महाराजाओं के मज्जणघर-स्नानगृह का फर्श मणि, मुक्ता और रत्नों से जड़ित रहता था।

प्राचीन युग में चतुश्शाल भवन बनाने की परिपाटी थी। संघदास गणि ने चतुश्शाल भवन का वर्णन किया है। यथा-

“अनन्या कयाइ पियजणसहिओ अहिंमतरिल्ले चाउसाले”

चर मकात्तों के वर्ग या चारों ओर भवनों से घिरे हुए चतुष्कोण वास्तु को चतुश्शाल कहा जाता था। संघदासगणि ने सर्वतोभद्र प्रासाद का उल्लेख किया है। जिस वास्तु के चारों ओर द्वार होते हैं वह सर्वतोभद्र कहलाता है। सचमुच सर्वतोभद्र प्रासाद प्राचीन वास्तु विद्या के शैल्पिक चमत्कार की ओर संकेत करता है। ईसा-पूर्व प्रथम शती में प्राचीन देवज्ञ-वास्तुकारों में से एक सुप्रसिद्ध वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में सर्वतोभद्र प्रासाद की निर्माण विधि दी है। इसके अतिरिक्त जिस वास्तु का पश्चिम द्वार नहीं होता और चारों ओर चबूतरे प्रदक्षिण भाव से बने रहते हैं उसे नन्दयावत्थे कहा गया है।

महाकवि राजशेखर दसवीं सदी कृत ‘कपूरमज्जरी की द्वितीय जवनिका में राजा विचक्षण के संवाद वाक्यों द्वारा नायिका के शारीरिक-अलंकार का जो विशेष वर्णन प्राप्त होता है वह भी वस्तुतः शिल्पशास्त्रीय विवेचन है।

‘मुद्राराक्षस’ नाटक के प्रथम अंक में चाणक्य के भवन, राजभवनद्वार, कनकतोरण, सुगांगप्रासाद, कुसुमपुर के चाणक्यभवन वर्णन आदि प्रसंगों में भी वास्तुशास्त्रीय कतिपय बिन्दुओं के संकेत प्राप्त होते हैं।

पंचमरत्न शिल्पमृति नामक ग्रंथ में कहा गया है कि भवन-द्वार के मध्य में यदि

कोई वृक्ष स्थित हो, विशेषकर नीम का वृक्ष हो, तो वह ग्रह-स्वामी असुरों को प्रिय होगा। अतः ऐसा भवन छोड़ देना चाहिए।

मृच्छकटिकम्-प्रकरण के चतुर्थ अंक में कवि शूद्रक ने वसन्तसेना के आठ प्रकोष्ठ वाले भवन का विदूषक के द्वारा वर्णन कराते हुए समकालीन वास्तुविज्ञान या वास्तुशास्त्र के लक्षण का संकेत किया है।

उसके अनुसार मनमोहक गेहद्वार, प्रथम प्रकोष्ठ में शंखादि मंगल ध्वनि घंटिकाओं से वेष्टित खिड़कियाँ, सुवर्ण अलंकारों से मंडित सोपान पवित्र निर्मित थी, जहाँ द्वारपाल उपस्थित थे।

द्वितीय प्रकोष्ठ में पशुधन का निवास-नियोजन किया गया है जिसमें गजशाला, अश्वशाला तथा गोशाला वृषभ, महिष, मेष, बन्दर के निर्माण का संकेत किया गया है।

तृतीय प्रकोष्ठ में शृंगाररस प्रकाशक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की साधन सामग्रियों का विश्लेषण है, जिसमें पाशक पीठ जुआ खेलने की चौकी आसन तथा चित्रफलक का वर्णन है।

चतुर्थ प्रकोष्ठ में संगीत-सभा का नियोजन किया जाता है, जहाँ मृदंग, काँस्यमञ्जीरा, बाँसुरी, वीणा आदि वाद्ययंत्रों के प्रयोग द्वारा नृत्य-नाट्य के अभिनय की शिक्षा दी जाती थी।

पंचम प्रकोष्ठ में महानस का विश्लेषण है और वहाँ सुस्वाद्य एवं सुगन्ध युक्त विविध व्यंजनों का वर्णन किया गया है।

षष्ठ प्रकोष्ठ में भवन सज्जा एवं अलंकार निर्माण में रत्नों के प्रयोग का विवेचन किया गया है। कस्तूरी घर्षण, चन्दन मिश्रण एवं गन्ध संयोजन ताम्बूल प्रदान एवं पान गोष्ठी का वर्णन भी उस प्रकार के प्रकोष्ठ में किया गया है।

सप्तम प्रकोष्ठ में शुक-सारिका, कपोत-कोकिला, मयूर, राजहंस एवं सारस पक्षियों का निर्देश है। कई पक्षी पिंजड़ों में भी मौजूद रहते थे। और-

अष्टम प्रकोष्ठ में पारिवारिक सदस्यों का विश्लेषण किया गया है।

आठ आय के नाम

वास्तुशास्त्र के मर्मज्ञ पं. ठक्कुर फेरू के अनुसार ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज और ध्वांक्ष ये आठ आय हैं। यथा-

धय धूम सीह साण विस खर गय धंख अदठ आय इमे।

पूव्वइ धयाइ ठिई फलं च नामाणुसारेण।।

अर्थात् पूर्वादि दिशाओं में सुष्ट-क्रम अर्थात् पूर्व में ध्वज, अग्निकोण में धूम, दक्षिण में सिंह इत्यादि क्रम से यदि रखे जावें तो वे उनके नाम के सदृश फलदायक सिद्ध होते हैं। अर्थात् विषम आय-ध्वज, सिंह, वृक्ष और गज ये श्रेष्ठ माने गये हैं और सम-आय धूम, श्वान, खर और ध्वांक्ष ये अशुभ माने गये हैं।

ठक्कुर फेरू के अनुसार किस-किस ठिकाने पर कौन-कौन सा होना चाहिए -

विष्णु धयाउ दिज्जा खित्ते सीहाउ वइसि वसहाओ।
सुद्धे अ कुंजराओ धंखाउ मुणीण नायव्वे।।

अर्थात् ब्राह्मण के घर में ध्वज आय, क्षत्रिय के घर में सिंह-आय, वैश्य के घर में वृषभ-आय, शूद्र के घर में गज आय और मुनि संन्यासी के आश्रम में ध्वंक्ष आय होना चाहिए।

तमिलनाडु के निर्मित मन्दिर

तमिलनाडु में प्रस्तर-निर्मित जैन मन्दिरों का क्रम पल्लव शैली के मन्दिरों से प्रारम्भ होता है। उदाहरणार्थ, कांचीपुरम् के उपनगर तिरुप्परुत्तिक्कुरणम् अथवा जिन-कांची के जैन मन्दिर समूह में से एक चन्द्रप्रभ-मन्दिर है, जो आज भी जैनधर्म का लोकप्रिय केन्द्र है। विशाल प्राकार के भीतर चार बड़े मन्दिरों तथा तीन लघु मन्दिरों में यह मन्दिर नितान्त उत्तरवर्ती संरचना है। यह तीन तल का चौकोर विमान-मन्दिर है, जिसके सामने मुख-मण्डप है। तीनों तलों में सबसे नीचे का तल ठोस है जो मध्य तल के लिए चौकी का काम देता है, जिस पर मुख्य मन्दिर है। यह तत्कालीन जैन मन्दिरों का प्रचलित रूप है। इस मन्दिर की भूमि स्थानीय भूरे रंग के बलुए पत्थर की बनी है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि पल्लव नरेश राजसिंह द्वारा निर्मित अन्य मन्दिर हैं। राजसिंह की राजधानी कांची में अधिष्ठान की गोठों के लिए ग्रेनाइट पत्थर को उपयोग में लाया गया है। राजसिंह तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा निर्मित मन्दिरों का यह एक विशेष लक्षण है।

मन्दिर की बाहरी भित्ति पर व्यालाधारित स्तम्भों का अंकन है और उनके मध्य उधले देवकोष्ठ उत्कीर्णित हैं। देवकोष्ठों के ऊपर मकर-तोरण बने हुए हैं। सभी देवकोष्ठ रिक्त हैं। प्रथम तल पर हार, कानों पर चौकोर कर्णकूट और उनके बीच में आयताकार भद्रशालाएं निर्मित हैं।

मध्य तल नीचे की अपेक्षा कम चौकोर है और उसके चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। इसकी बाहरी भित्ति पर बलुए पत्थर के भित्ति स्तम्भ हैं। भित्तियाँ ईंटों की हैं और उन्हें बलुए पत्थर के भित्ति स्तम्भों से जोड़ा गया है। शीर्षभाग में लघु देवकोष्ठ पङ्क्तिवद्ध अंकित हैं। इन लघु देवकोष्ठों की प्रमुख विशेषता, उनके अग्रभाग में अंकित तीर्थकरों और अन्य देवताओं की प्रतिमाएं हैं। लघु देवकोष्ठों के द्वार के पीछे तीसरे-तल की उठान कम है, जिसमें चतुर्भुज सपाट भित्ति-स्तम्भ हैं और चबूतरे पर चार उकड़ू बैठे हुए सिंह हैं। इस तल के ऊपर चौकोर ग्रीवा है, जिसके ऊपर चौकोर शिखर और उसके रूपी स्तूप हैं। शिखर के चारों ओर तीर्थकर-मूर्तियाँ हैं।

मध्य तल का गर्भगृह चन्द्रप्रभ को समर्पित है। इस गर्भगृह में प्रवेश नीचे के ठोस तल में बनाई गई दो सीढ़ियों के द्वारा किया जाता है। समग्र दृष्टि से यह मन्दिर आठवीं शताब्दी का निर्मित है। इस गर्भगृह में प्रवेश नीचे के ठोस तल में बनाई दो सीढ़ियों के द्वारा किया जाता है। समग्र दृष्टि से यह मन्दिर आठवीं शताब्दी का निर्मित माना जा सकता है, यद्यपि इसका ऊपरी भाग विजयनगर-शासनकाल में ईंटों द्वारा पुनर्निर्मित किया गया प्रतीत होता है।

उपसंहार

दक्षिण कर भोजन करे, डावे पीवे नीर।

डावे करवट सोवना, रहे निरोग सरीर॥

सन्त कबीर ने अपने इस दोहे में नीरोग शरीर पाने के लिए वास्तुशास्त्र के तीन सूत्र दिए हैं- सीधे हाथ से भोजन करे, बायें हाथ से पानी पीवे, भोजन के पश्चात् वामकुक्षी शयन करे, जिससे शरीर रोगरहित होता है।

मनुष्य का उत्थान या पतन उसके शुभ या अशुभ कर्म के अधीन है। दुर्व्यसनों का त्याग कर, धर्म पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए गृहस्थ को अपना घर वास्तु विज्ञान के आधार पर बनाना चाहिए, जिसके कारण जीवन में शान्ति, परिवार में सन्तुष्टि, समाज में यश और विपुल समृद्धि प्राप्त हो सके।

नीतिकारों ने “गृहिणीमेव गृह उच्यते” इस सूक्ति के आधार पर सद्गृहिणी गृहस्थ का सच्चा जीवन साथी है। सुशील दम्पति का जीवन सार्थक तब होगा जब उन्हें सुयोग्य सन्तान की प्राप्ति होगी। दीर्घायु प्राप्त माता-पिता, पति-पत्नी और सन्तान, वाहन, जमीन, सेवकों का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए वास्तु नियमानुसार गुहा, निषिधिका, मठ, धर्मशालाओं का प्रयोग में लाना अनिवार्य है। वास्तु के लक्षणों से निर्मित भवन धर्म, काम और मोक्ष को सुलभ करता है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. प्रतिक्रमण सूत्र - गौतम गणधर।
2. प्राकृत दशभक्ति - आचार्य कुन्दकुन्द देव।
3. षट्खण्डागम धवला पुस्तक-1, - आचार्य धरसेन।
4. वसुदेव हिण्डी-भारतीय जीवन और संस्कृति की वृहत् कथा -1, डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव।
5. हिन्दी विश्वकोष, खण्ड-10, काशी नागरी प्रचारणी।
6. उत्तराध्ययन टीका।
7. कर्पूरमंजरी - राजशेखर।
8. तिलोयपण्णत्ति - यतिवृषभ।
9. राजप्रश्नीयसूत्र।
10. मृच्छकटिकम् - महाकवि शूद्रक।

ज्ञाताधर्म कथा में वर्णित बौद्धिक दृष्टि

डॉ. एच. सी. जैन*

आगमों के आध्यात्मिक चिंतन में ज्ञान-विज्ञान की प्रचुरता है। उनमें धर्म, दर्शन, चारित्र एवं संस्कृति के व्यापक पक्ष भी हैं। इन्हीं आगमों में विविध प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण है। संस्कृति के अध्येता इनके मूल में प्रवेश इसकी गहराई से अनेक तथ्य प्रतिपादित करते हैं उनपर विश्लेषण करके मानवीय मूल्यों की भी स्थापना करते हैं। आगम सूत्र, अर्थ और दोनों के समन्वय का प्रतिरूप है। जिनमें आप्त प्रतिपादित वचनों का रहस्य भी निहित है। उसमें इतना प्रवेश करते हैं उतना ही रहस्यपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। आज इन आगमों का विधिवत् अनुसंधानात्मक विवेचन भी हो रहा है। धर्म गुरुओं, संतों और विशेष मनीषी विद्वानों द्वारा उनके समस्त तथ्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

अंग आगम साहित्य के ग्यारह ही अंग ग्रन्थ सर्वज्ञ के अर्थ से उनके शिष्यों द्वारा सूत्रबद्ध किया गया है। उन आगमों में बुद्धितत्व के अनेक पक्ष विद्यमान हैं। इसका मूल कारण यही है कि सर्वप्रथम इन्हें अर्थरूप में निरूपित किया गया। गणधरों ने सूत्रबद्ध किया और बौद्धिक दृष्टि के ज्ञानियों ने विशिष्ट प्रतिभा से उनमें ज्ञान पुष्पों को पल्लवित किया। "अर्हन्त भासियन्त"।

आचारांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि अंग ग्रन्थों एवं अनेक उपांग ग्रन्थों में बौद्धिक दृष्टि को प्रतिपादित किया गया है। अनुयोग द्वार, विशेषावश्यक भाष्य आदि में बौद्धिक दृष्टि के बुद्धितत्व पर कथन किया गया। विज्ञान रूपी वृक्ष पुष्पित एवं पल्लवित होकर जो सूत्र, पद और वाक्य को व्यवस्थित रूप में कहे गये हैं। अनेक बौद्धिक दृष्टियों से युक्त हैं। वे पूर्णरूप से उदबुद्ध सूत्र हैं^१। विशिष्ट धर्म आख्यात हैं^२। श्रुतकल्प हैं^३। कल्पसूत्र में कल्प बौद्धिक दृष्टि का वाचक है^४। विनयपिटक में बौद्धिक तत्व नाम दिया गया है^५। सुत्तनिपात में बुद्ध के बौद्धिक तत्व को महत्व देकर कहा गया कि जो कुछ ज्ञात है वे बौद्धि हैं^६।

ज्ञाताधर्म की बौद्धिक दृष्टि - णायाधम्म, णाहधम्म आदि नाम से प्रसिद्ध आगम ज्ञातुपुत्र महावीर के अर्थ का बौद्धिक ज्ञात प्रधान सूत्र ग्रन्थ है^७। इस आगम में बौद्धिक दृष्टि से ही प्रत्येक कथा को उदात्त बनाया गया। इसके प्रथम अध्ययन में 72 बौद्धिक दृष्टियाँ हैं जिन्हें कला कहा गया है^८।

* सह-आचार्य, जैनोंलॉजी एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

रामायण, महाभारत, वेद, उपनिषद एवं बौद्ध परम्परा के सूत्र ग्रन्थों में बौद्धिक दृष्टियों को सर्वोपरि माना गया। पुरुषों की 72 कलाएँ एवं नारियों की 64 कलाएँ शिक्षा पद्धति का सर्वांगीण विकास माना गया। ज्ञाताधर्म कथा में बौद्धिक दृष्टि से मेघ कुमार के बृद्धितत्व का विस्तार किया गया¹⁰। मेघ कुमार दीक्षा की ओर अग्रसर होता है तब उसके माता-पिता निम्न बौद्धिक दृष्टियाँ रखते हैं¹¹:-

आवश्यक दृष्टि :- सामान्य प्रतिपादित करने वाली वाणी।

प्रज्ञापना दृष्टि :- विशेष रूप से प्रतिपादित करने वाली वाणी।

संज्ञापना दृष्टि :- सम्बोधन करने वाली वाणी।

विज्ञापना दृष्टि :- अनुनय-विनय करने वाली वाणी।

मेघ कुमार के सामने उक्त सांसारिक बौद्धिक दृष्टियाँ थीं परन्तु वह वैराग्यपूर्ण बौद्धिक दृष्टि वाला था। इसलिए वह अपने माता-पिता के सामने निम्न दृष्टि रखता है। **चरणसत्तरि दृष्टि**¹²:- कषाय निग्रह सम्बन्धी दृष्टि जिसमें चारित्र की प्रमुखता होती है। पाँच महाव्रत, दशधर्म, वैयावृत्ति, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियाँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना एवं 12 तप को महत्व दिया गया।

करणसत्तरि दृष्टि¹³:- आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या आदि की विशुद्धि, समिति पालना, अनुप्रेक्षा, प्रतिमा, इन्द्रिय निग्रह, प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ एवं 4 प्रकार की अवग्रह बौद्धिक दृष्टियाँ सामने रखता है।

मेघ कुमार की यह बौद्धिक निर्ग्रन्थ दृष्टि थी। क्योंकि वह स्वयं संसार से विरक्त होकर इस तरह अध्यवसाय करके आत्मकल्याण करता है। उसकी समाधि दृष्टि में भी बौद्धिक व पराक्रम, श्रद्धा, धृति, संवेग आदि के कारण हैं।

संघाह अध्ययन में मनोरथ तत्व की प्रमुखता है जिसमें निग्रह सम्बन्धी बौद्धिक दृष्टि का विशेष स्वरूप देखा जाता है। इसमें धर्म के 2 स्वरूप विद्यमान हैं एक संविभाग एवं एक रक्षा का जो बिना किसी प्रयोजन के नहीं होता¹⁴।

अंडक में बौद्धिक दृष्टि:- तमेव सच्चं णीसंकजं जिणोहिं वेइय¹⁵। इस अध्ययन की यही दृष्टि जिसमें सुदृढ़ श्रद्धा एवं लक्ष्य की प्राप्ति को विशेष महत्व दिया गया। अश्रद्धा और श्रद्धा का परिणाम अंडक के उदाहरण द्वारा प्रतिपादित किया। बुद्धि की मलिनता में एक मयूरी के अंडे को उत्पत्ति शक्ति से हीन किया¹⁶। वही बौद्धिक गुणों से पूर्ण जिनदत्त के पुत्र ने उसका परिपूर्ण रक्षण किया। उसकी उत्पत्ति होने पर उसे अनेक कलाओं में प्रवीण किया¹⁷। बौद्धिक गुणों की विशेषता जहाँ रहती है वहाँ किसी प्रकार का भी अभाव नहीं होता।

कूर्म अध्ययन में बौद्धिक दृष्टि:- आत्मसाधक व्यक्ति के लिए जो बौद्धिक दृष्टि दी गई है वह निश्चित ही अत्यन्त ही सार्थक है। कूर्म अथवा कछुआ एक ऐसा प्राणी है, जो सभी तरह से सुरक्षित रहता है। उसका उपरिभाग अत्यन्त कठोर होता है जिसे किसी तरह से छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता। यह दृष्टि सामान्य है परन्तु जब इस पर विचार करते हैं तो इसमें लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही दृष्टियों का ज्ञान होता है। संसार में रहने

वाला विषय-वासनाओं से आसक्त जन्म और मृत्यु के चक्कर में ही फँसा रहता है। परन्तु आस्था और श्रद्धा में युक्त दृढ़ विश्वासी परमार्थ की ओर अग्रसर होता है। कछुए जैसा जलचर जीव के उद्धारण में दो दृष्टियाँ हैं जो साधु-साध्वियों, श्रावक और श्राविकाओं को इन्द्रिय विषय से विरक्त होने के कारणों की ओर संकेत करता है। अनन्त संसार इन्द्रिय विषय से बनते हैं और इन्द्रिय गोपन से अनन्त संसार के परिभ्रमण से मुक्ति मिलती है। कूर्म और पापी शृंगाल पापी होते हैं और कूर्म इन्द्रिय विषय को गोपन करने वाले होते हैं। जो इन्द्रिय विषय भोगों से विरक्त होता है वह अर्चनीय, वन्दनीय, नमस्कारणीय, पूजनीय, संस्कारणीय एवं सम्माननीय होता है यही कल्याण का सूचक है, मंगल प्रदाता है, देव स्वरूप का कारण है और चैत्य का विशुद्ध साधक है¹⁹।

शैलक अध्ययन की बौद्ध दृष्टि:- शैलक अध्ययन में थावचा पुत्र धर्म चेतना एवं दृढ़निश्चय की बौद्धिक दृष्टि के कारण दीक्षित हो गया। इसी दृढ़निश्चय धर्म चेतना के कारण जिन धर्म को स्वीकार किया²⁰। राजा शैलक भी धर्म चेतना के कारण पाँच अणुव्रतों, सात शिक्षाव्रतों को धारण कर पाँच सौ मंत्रियों के साथ श्रमणोपासक बन गया तथा सुदर्शन भी थावच्या पुत्र के उपदेश एवं धर्म चेतना की बौद्ध दृष्टि के कारण प्रति बोधित होकर दीक्षित हो गया²¹। जिसमें कहा है कि हे सुदर्शन हमारे धर्म के अनुसार भी प्राणातिपात के विरमण से यावत् मिथ्यादर्शन शल्य के विरमण से शुद्धि होती है जैसे रूधिर लिप्त वस्त्र की यावत् शुद्ध जल से धोये जाने पर शुद्धि होती है। इस प्रकार धर्म चेतना, दृढ़निश्चय आदि बौद्धिक दृष्टि से प्रत्येक पक्ष अपना कल्याण करता है।

तुम्बक अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- जीवों, गुरुत्व एवं लघुत्व की बौद्धिक दृष्टि को समझकर ही जीव अपना कल्याण कर सकता है जिसको तुम्बे के उदाहरण द्वारा पुष्ट किया है। आठ कर्म प्रकृतियाँ रूपी मिट्टी के लेप से तुम्बा भारी होकर जलाशय के पेंदे में चला जाता है अर्थात् जीव की अधोगति होती है। जब कर्म प्रकृतियों का गलन होता है तो पुनः जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर अर्थात् लघुत्व को प्राप्त कर लेता है। इस बौद्धिक दृष्टि को समझकर जीव अपना कल्याण कर सकता है²²।

रोहिणी अध्ययन में बौद्धिक दृष्टि:- रोहिणी अध्ययन में संयुक्त परिवार प्रथा में बुद्धि चातुर्य एवं बौद्ध दृष्टि से धन्य सार्थवाह ने पंच महाव्रतों के रक्षा स्वरूप रोहिणी की सुझ-बुझ एवं उसका सम्मान धर्म जागरण एवं सक्रियता को बढ़ावा देना है। इसमें धन्य सार्थवाह की दूरदृष्टि है। इसी दूरदृष्टि की बौद्धिकता से परिवार में धर्म (पंच महाव्रतों) की रक्षा का संदेश देकर संयुक्त परिवार को टूटने से बचाता है²³।

मल्लि अध्ययन की बौद्ध दृष्टि:- मल्लि अध्ययन में कर्म परिणिपति, छल, कपट एवं मूर्च्छा की बौद्धिक दृष्टि है। जिसमें अज्ञान है, मोह है, साथ-साथ धार्मिक क्रियाओं के वायदे में छल-कपट आने के कारण मल्लि कन्या के रूप में जन्म लेना पड़ता है। राजकुमारी की सौन्दर्य एवं आसक्ति जन्म भाव को पूर्वजन्म का वृत्तान्त, प्रतिमा में अशुचि पदार्थों की सड़न के आधार पर अपनी सुझ-बुझ से मुक्त हो जाती है²⁴। इस प्रकार पउम चरियं, पउमचरियं में लक्ष्मण की मृत्यु उसके शव को छः माह तक लेकर दर-दर भटकना

राम का मोह है। देवताओं द्वारा पत्थर की शिला पर क्यारी लगाना, उसे सिंचना आदि क्रियाओं की बौद्धिक दृष्टि से मोह को शिथिल किया जाता है। यही घटना कुवलयमाल की सुन्दरी कथा में भी मिलती है। इस प्रकार इन सारे प्रसंगों में बौद्धिक दृष्टि है जिसमें पूर्व कर्मों की परिणिति है, मोह के दुष्परिणाम है इनको बड़े सुझ-बुझ से समाधान किया गया है।

माकन्दि अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन में विषय वासना का अज्ञान एवं जिनपालित की दृढ़ इच्छाशक्ति की बौद्धिक दृष्टि है जिन रक्षित वासना के आवेश में अपने मार्ग से भटक जाता है परिणामस्वरूप रत्नदेवी नष्ट कर देती है। जबकि विषय वासना को नियंत्रण कर किसी से घबराता नहीं उसको शैलक अपनी पीठ पर बैठाकर संसार समुद्र को पार करा देता है। अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है। अर्थात् विषय वासना का अज्ञान एवं जिनपालित का संयम एवं दृढ़ इच्छाशक्ति की बौद्धिक दृष्टि उसे पार पहुँचाती है। अर्थात् अपने उद्देश्य में जिन पालित स्थूल हो जाता है²⁵।

चन्द्र अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन में चन्द्रमा के समान समता एवं गुणों-अवगुणों की बौद्धिक दृष्टि से ही जीवों के गुण और हास या उत्थान-पतन होता है। यदि सदगुणों की निरन्तर वृद्धि के पूर्व ही नष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार समता एवं गुण-अवगुण की बौद्धिक दृष्टि से ही जीवों की वृद्धि एवं हास संभव है²⁶।

दावद्रव अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि सहनशीलता है। जैसे समुद्र के किनारे दावद्रव वृक्ष हवा के झोकों को सहन कर लेता है तो वह सुरक्षित रहता है यदि वह सहन नहीं कर पाता तो नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार साधु भी श्रावकों आदि कठोर वचनों को सहन कर लेता है तो मोक्ष मार्ग तक पहुँच जाता है²⁷। अतः साधु साधक को सभी दुर्वचन क्षमा भाव से सहन कर लेना चाहिए।

उदकज्ञात अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि यह ज्ञानी पुरुष अपनी सम्यक् दृष्टि एवं तात्त्विक ज्ञान से ही अवलोकन करता है। उस दृष्टि से ही वह राग-द्वेष आदि को दूर कर सकता है, मिथ्या दृष्टि से नहीं यही इस अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि है। इसमें सुबुद्धि सम्यक् दृष्टि व्यक्ति जबकि राजा मिथ्या दृष्टि है। अतः राजा के द्वारा भोजन की बार-बार प्रशंसा करने पर भी हाँ नहीं करता है। क्योंकि राजा सत्य पर श्रद्धा नहीं कर राजा असत्य को सत्य समझकर भ्रम में पड़ रहा है। तब वह सुबुद्धि जलशोधन की बौद्धिक दृष्टि से राजा को परिखा के गन्दे पानी को मृदु बनाकर प्रभावित करता है। इस प्रकार राजा को चातुर्याम धर्म का उपदेश देकर राजा को श्रमणोपासक बना देता है। सम्यक् दृष्टि जीव के बारे में कहा है कि सम्यक् दृष्टि आत्मा भोजन, पान, परिधान आदि साधनभूत पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता होता है। उसमें राग-द्वेष की न्यूनता होती है। अतएव समभावी होता है। किसी वस्तु के उपभोग से न तो व्यक्ति विस्मित होता है न पीड़ा, दुःख-द्वेष का अनुभव करता है। वह यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने स्वभाव में स्थिर रहता है। यही सम्यक् दृष्टि जीव की व्यवहारिक कसौटी है²⁸। राजा को सुबुद्धि ने अपनी बौद्धिक दृष्टि से ही सत् तत्व का ज्ञाता कहते हुए कहा कि जगत्

की प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है या द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, विनाश और श्रौव्यमय है। भगवान ने अपने शिष्यों को यही मूल (सत्) तत्त्व सिखाया और यही बौद्धिक दृष्टि है²⁹।

दुर्दर ज्ञात अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन में व्याधि निदान एवं सद्गुरु के समागम से आत्मिक गुणों की वृद्धि होती है एवं आसक्ति अधःपतन का कारण है। आसक्तिजन्य दुष्परिणाम के कारण नन्दमणिकार सेठ के शरीर में सोलह रोग उत्पन्न हो गये अर्थात् सारे रोग एक साथ उत्पन्न हो गये³⁰। आर्तध्यान के वशीभूत हाकर मृत्यु के समय में काल करके उसी नंदा पुष्करिणी में एक मेढक के रूप उत्पन्न हुआ। आसक्ति राग, मोह, आत्मा के अधःपतन का एक कारण यही इस दुर्दर ज्ञात की बौद्धिक दृष्टि है। अगर वह पुष्करिणी में इतना आसक्तिजन्य भाव नहीं रखता तो उसकी दुर्गति नहीं होती। पुष्करिणी में जाति स्मरण ज्ञान से ज्ञात हुआ कि मैं नन्दमणिकार सेठ था। भगवान महावीर के सामने 12 व्रत ग्रहण किये थे किन्तु साधुओं के दर्शन एवं सत्गुरु की संगति के अभाव के कारण मैं मिथ्या दृष्टि होकर पुष्करिणी का निर्माण कर मेरी दुर्गति हुई। अगर मैं अपने व्रतों से भ्रष्ट नहीं होता तो मेरी आज यह दुर्दशा नहीं होती यही सद्गुरु का उपदेश की बौद्धिक दृष्टि उसका कल्याण करती है³¹।

तैतलि पुत्र अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- प्रस्तुत अध्ययन सत्समागम सत्मित्र से सद्गुणों का विकास संभव है। प्रारम्भ में तो कनकरथ राजा सत्तालोलुपता क्रूरता ने सारे बच्चों को विकलांग कर देता था ताकि वह राज्यासित बना रहे। इस अध्ययन में यह क्रूरता बौद्धिक दृष्टि है। अत्यधिक मान-सम्मान प्राप्त करना घातक है जब तक इससे मुक्त नहीं हो कल्याण संभव नहीं है। इसलिए देव ने उसे अपमानित बताकर तैतलिपुत्र को प्रतिबोधित किया³²। जब तक उसपर मान-सम्मान का आवरण चढ़ा रहा तब तक कुछ नहीं कर सका। मान-सम्मान आत्मकल्याण में बाधक है। अतः मान-सम्मान क्रूरता इसकी बौद्धिक दृष्टि है।

नन्दीफल की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन में इन्द्रिय विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से दूर रहना ही बौद्धिक दृष्टि है। इसी विषय रूपी विष बौद्धिक दृष्टि को समझने-समझाने नन्दीफल का उदाहरण दिया गया जिसमें सार्थवाह ने घोषणा करवायी कि आगे एक भयंकर अटवी है। जिसमें नन्दीफल नामक विष वृक्ष है। वह दिखने सुन्दर, मनोहर, अत्यन्त मधुर है किन्तु इसके सेवन पाते ही नष्ट हो पायेगा तथा जो इससे दूर रहेगा। वह इस अटवीकर पार कर जायेगा। इसमें कुछ व्यक्तियों इस फल का भक्षण किया और नष्ट हो गये और कुछ इससे दूर रहे। उन्होंने इस संसार सागर को पार पा लिया। इस प्रकार हे आयुष्मान! श्रमणों हमारा निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी पंचेन्द्रिय काम भोगों में आसक्त नहीं होता वह इसी भव में बहुत से श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं का पूजनीय होता है और परलोक में भी दुःख नहीं पाता है। संसाररूपी भयंकर अटवी को पार कर सिद्धि प्राप्त करता है। इसके विपरीत प्रव्रजित होकर पाँचों इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहता है वह संसार सागर में भ्रमण करता रहता है। अतः विषय रूपी विष की बौद्धिक दृष्टि है जो इसको समझेगा तभी सिद्धि प्राप्त कर सकता है³³।

द्रोपदी अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन में प्रथम बौद्धिक दृष्टि संरक्षण एवं जीव संरक्षण का भाव या अहिंसा की बौद्धिक दृष्टि है। द्वितीय बौद्धिक दृष्टि भावात्मक है जैसी आपकी भावना या विचार होंगे वैसी ही कर्म परिणति होगी। जैसे द्रोपदी अपने पूर्वभव में सुकुमारिका पाँच पुरुषों के साथ वेश्या का विलास या रतिक्रीड़ा देखती है उसे बड़ा सुखाभाष होता है तथा संकल्प करती है कि मेरी तपस्या का कोई फल हो तो मैं भी ऐसा ही सुख प्राप्त करूँ। द्रोपदी के रूप में पाँ पति के साथ दिखाई देती है। यही भावना या भावात्मक बौद्धिक दृष्टि है। तृतीय बौद्धिक दृष्टि यह है कि द्रोपदी अपनी रक्षा छः महीने की मोहलत मांगकर अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा कर स्वर्ग प्राप्त करती है। छः महीने की मोहलत मांगकर शीलव्रत धर्म की रक्षा करने के दृष्टान्त अन्य कई कथा ग्रन्थों में भी मिलते हैं। जीवरक्षा एवं अहिंसा की बौद्ध दृष्टि में कड़वे तुम्बे की शाक को जमीन पर नहीं डाल कर स्वयं खाकर अपना प्राणान्त कर लेते हैं ताकि अनेक चिंटियों का घात न हो सके³⁴ तथा नागश्री पाप कर्मों के दुष्परिणाम भी भयंकर होते हैं। मत्स्य आदि योनियों में भटकना पड़ता है। भावात्मक या विचार के अनुसार ही कर्म परिणति में द्रोपदी का पूर्व भव टीका हुआ है। इसमें सुकुमारिका ने देवदेत गणिका पाँच गोष्ठिका पुरुषों के साथ उच्च कोटि के मनुष्य सम्बन्धी काम भोग भोगते देखा। देखकर उसे इस प्रकार संकल्प उत्पन्न हुआ। अहार यह स्त्री पूर्व में आचरण किये गये इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य का कुछ भी कल्याणकारी फल विशेष हो तो मैं भी आगामी भव में इसी प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगती हुई विचरूँ। उसके इस प्रकार के निदान ने द्रोपदी के भवरूप में जन्म लेना पड़ा।

आकीर्ण अध्ययन की बौद्ध दृष्टि:- यहाँ पर आकीर्ण का अर्थ उत्तमजाति का आश्रव है। इस अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि इन्द्रिय विषयों से दूर रहना है जो इनसे विमुख रहता है वह वीतराग भाव के कारण सांसारिक यातनाओं से बच जाते हैं तथा जो इसमें लुलोभित रहते हैं जन्म या मरण आदि देवनाओं को सहन करते हुए संसार सागर में भटकते रहते हैं क्योंकि इन्द्रिय विषयों की आसक्ति एवं चंचलता पराधीनता का कारण है तथा संयम अनन्त आत्मिक आनन्द को उपलब्ध करवाता है। अश्वों के उदाहरण में यह बौद्धिक दृष्टि है कि हमारा जो साधु, साध्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में आसक्त नहीं होता वह अश्व की तरह ही। वह इस लोक में बहुत से साधु-साध्वियों, श्रावकों और श्राविकाओं का पूजनीय होता है और चातुर्गतिक संसार कान्तर को पार कर जाता है³⁶। इसके विपरीत हमारे निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी दीक्षित होकर प्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस में गृद्ध होता है, मुक्त होता है, आसक्त होता है वह इसी लोक में बहुत श्रमणों, श्रमणियों, श्रावक-श्राविकाओं की अवहेलना का पात्र होता है तथा चातुर्गतिक संसार अटवी में पुनः भ्रमण करता है³⁷। जैसे कि गति अश्वों की हुई।

सुंसुमा अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- प्रस्तुत अध्ययन में चिलात के निरंकुश एवं स्वच्छन्दी बताया गया है जिसके कारण ही वह व्यसनी हो जाता है। परिणामस्वरूप चोरी, डकैती आदि का कार्य करना एवं सुंसुमा पर प्रीति की भावना से उसे मृत्यु के मुँह में

घकेलना है। इसकी प्रथम बौद्धिक दृष्टि निरंकुश एवं स्वच्छन्द भावना के दुष्परिणाम को समझना है तथा द्वितीय बौद्ध दृष्टि निरासक्तभाव से खान-पान है। इसी कारण सार्थवाह के पुत्रों ने सुंसुमा का रुधिर पान करने पर भी वे अपने मुक्ति के लक्ष्य पर पहुँच सके। साधक के मन में भी आहार के प्रति अणुमात्र भी आसक्ति नहीं रहनी चाहिए। वे जम्बू जैसे उस धन्य सार्थवाह ने वर्ण, रूप, बल और विषय के लिए सुंसुमा दारिका के रुधिर और मांस आहार नहीं किया था केवल राजगृह नगर को पाने के लिए ही आहार किया था।

इसी प्रकार हे आयुष्मान् श्रमणों हमारा जो साधु या साध्वी वमन, पित्त, शुक्र, शोणित को मारने वाले यावत् अवश्य ही त्यागने योग्य इस औदारिक शरीर के वर्ण के लिए, बल के लिए अथवा विषय के लिए आहार नहीं करते हैं। केवल सिद्ध गति को प्राप्त करने के लिए आहार करते हैं, वे इसी भव में बहुत श्रमणों, बहुत श्रमणियों, बहुत श्रावकों और बहुत श्राविकाओं के अर्चनीय होते हैं एवं संसार कान्तार को पार करते हैं^{३४}। इस प्रकार अनासक्ति की बौद्धिक दृष्टि संसार सागर को पार करा सकती है। इस बात को समझाया गया है।

पुण्डरीक अध्ययन की बौद्धिक दृष्टि:- इस अध्ययन में इन्द्रिय विषय लोलुपता एवं आसक्तिजन्य भाव की बौद्धिक दृष्टि है, जो इनके दुष्परिणाम को समझ लेता है वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है जैसा कि पुण्डरीक ने इसे समझाया और कण्डरीक दीक्षित होने के बाद भी पुनः इन्द्रिय विषयों में लोलुप होकर भोग भोगने लगा और मरकर नरकलोक में गया और पुण्डरीक मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ जैसा कि अध्याय में वर्णित है:- पुण्डरीक राजा ध्राय माता की बात सुनकर संभ्रान्त हो उठा। उठकर अन्तःपुर के परिवार के साथ अशोकवाटिका में गया। जाकर कण्डरीक को तीन बार इस प्रकार कहा - देवानुप्रिय! तुम धन्य हो कि यावत् दीक्षित हो। मैं अधन्य हूँ कि यावत् दीक्षित होने के लिए समर्थ नहीं होता। अतएव देवानुप्रिय तुम धन्य हो तुमने मानवीय जन्म और जीवन का सुन्दर फल पाया है। फिर भी कण्डरीक चुप रहा। दूसरी बार और तीसरी बार कहने पर भी मौन रहा। तब पुण्डरीक राजा ने कण्डरीक से पूछा-भगवान क्या भोगों से प्रयोजन है? अर्थात् क्या भोग भोगने की इच्छा है? तब पुण्डरीक ने कहा हाँ प्रयोजन है। उनका राज्याभिषेक किया गया और स्वयं पुण्डरीक महातपस्वी हो गया। इसी इन्द्रिय विषय की लोलुपा की बौद्धिक दृष्टि को नहीं समझने के कारण उग्र कष्ट भोगते हुए पुण्डरीक नरक गामी हुआ और पुण्डरीक को समझा और अपना आत्मकल्याण किया।

इस प्रकार ज्ञाताधर्म के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकला कि सम्पूर्ण अध्ययन में अनासक्त भावना, अहिंसा, सद्गुरु का समागम, सम्यक् दृष्टि, सत्तत्त्व, मान-सम्मान की आसक्ति, क्रूरता, सत्तालोलुपता, संयम आदि बौद्धिक दृष्टियों को समझते हुए अपना कल्याण कर सकता है जिनको दुष्टान्तों के माध्यम से समझाया है तथा जो प्राणी इन बौद्धिक दृष्टियों को समझा आत्म कल्याण किया। जिसने नहीं समझा उसकी दुर्गति हुई।

इस प्रकार ज्ञाताधर्म के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकला कि सम्पूर्ण अध्ययन में, अनासक्त भावना, अहिंसा, सद्गुरु का समागम, सम्यक् दृष्टि, सत्तत्त्व, मान-सम्मान की आसक्ति, क्रूरता, सत्तालाललुपता, संयम आदि बौद्धिक दृष्टियों को समझते हुए अपना कल्याण कर सकता है जिनको दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया है तथा जो प्राणी इन बौद्धिक दृष्टियों को अपने समझकर उसका आचरण किया उसकी दुर्गति हुई।

सन्दर्भ

1. आचार्य कुन्दकुन्द कृत सूत्र पाहुडः।
2. अनुयोग द्वार, पृ. 179.
3. समवायांग सूत्र, 341.
4. औपपातिक पृ. 117-118.
5. कल्पसूत्र पृ. 110.
6. विनयपिटक पृ. 242.
7. सुत्तनिपात, पृ. 108.
8. तत्त्वार्थभाषय 1/20.
9. ज्ञाताधर्म, पृ. 48 (प्रकाशक आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।
10. वही, पृ. 50-52.
11. वही, पृ. 62.
12. ओघनिर्युक्ति गाथा-2.
13. ज्ञाताधर्म, पृ. 74.
14. वही, पृ. 131-132.
15. वही, पृ. 133.
16. वही, पृ. 142.
17. वही, पृ. 143-144.
18. वही, पृ. 150-153.
19. वही, पृ. 152-153.
20. वही, पृ. 161.
21. वही, पृ. 172.
22. वही, पृ. 192-193.
23. वही, पृ. 207.
24. णाय कुमार चरिडः।
(अ) पउम चरियं सन्धि 27, भाग-5.
(ब) कुवलयमाला कहा, सुन्दरीकथा, पृ. 225.
25. ज्ञाताधर्म कथा, माकन्दी नामक नवां अध्ययन।
26. ज्ञाताधर्म कथा, 10वां अध्ययन, पृ. 312.
27. वही, पृ. 316.
28. वही, पृ. 324.
29. वही, पृ. 329.

30. सासे काले जारे दाहे, कुच्छिसूते मगंदरे।
अरिया अजीरएं दिदिठ-मुद्धसूते अगारए
अच्छिवेयणा कन्नवेयणा कंढू दउदरे कोडे। वही, पृ. 347.
31. वही, पृ. 351.
32. वही, पृ. 370-378.
33. वही, पृ. 387-388.
34. वही, पृ. 347.
35. वही, पृ. 318.
36. वही, पृ. 419.
37. वही, पृ. 483.
38. वही, पृ. 509.

आधुनिक युग में भगवान महावीर के जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता

दुलीचंद जैन*

आज हम इस बात पर विचार करेंगे कि तीर्थंकर महावीर ने आज से ढाई हजार वर्षों पूर्व जिन जीवन मूल्यों का प्रतिपादन किया था उनकी आधुनिक युग में क्या उपादेयता है, क्या प्रासंगिकता है।

आधुनिक युग विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है। विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने इतनी तीव्र प्रगति की है कि सारा विश्व एक परिवार बन गया है। शिक्षा की तकनीक का भी अभूतपूर्व विकास हुआ है। इंटरनेट ने शिक्षा के क्षेत्र में चमत्कार पैदा कर दिया है। आज सामान्य व्यक्ति को भी सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने की जो सुविधाएं प्राप्त हैं वे प्राचीन काल में सम्पन्न वर्ग को भी उपलब्ध नहीं थीं। लेकिन इसके विपरीत दूसरी ओर हम देखते हैं कि सारा विश्व हिंसा, द्वेष, तनाव और आतंकवाद से ग्रस्त है। मनुष्य की स्वार्थपरता बढ़ गई है। परिवारों के पारस्परिक सम्बंधों में असहिष्णुता और कटुता बढ़ गई है। पर्यावरण का भयंकर विनाश हुआ है। प्रकृति के संसाधनों की तीव्र क्षति हो रही है। संक्षेप में मनुष्य के मस्तिष्क का विकास हुआ है पर हृदय का क्षेत्र पीछे छूट गया है। महाकवि दिनकर ने ठीक ही कहा था-

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान।

चेतता अब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान।।

अब हम शिक्षा के बारे में विचार करेंगे। शिक्षा दो प्रकार की होती है- पहली भौतिक शिक्षा जिसके द्वारा हम विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Science and Technology) भी इसके अंतर्गत आती है। इसके द्वारा हम हमारे भौतिक जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं। इसकी भी हमारे जीवन में बहुत उपयोगिता है। लेकिन हमारे देश के आचार्यों ने कहा कि केवल भौतिक शिक्षा मात्र पर्याप्त नहीं है। हमें इसके साथ आध्यात्मिक शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिये। यह शिक्षा जीवन से आध्यात्मिक मूल्यों अर्थात् अनुशासन, विनम्रता, परोपकार, परदुःखकातरता, करुणा, सहृदयता आदि का विकास करती है। इसके बिना मनुष्य का जीवन अपूर्ण है। यह आध्यात्मिक शिक्षा हमारे जीवन में ज्ञान का विकास करती है। भगवान् महावीर ने ज्ञान की

* अध्यक्ष, करुणा अन्तर्राष्ट्रीय, 70, शम्भुदास स्ट्रीट, चेन्नई - 600001.

बड़ी सुंदर परिभाषा दी। उन्होंने कहा-

“जेण तच्चं विबुद्धेज्ज, जेण चित्तं णिरुद्धदि।

जेण अत्ता विसुद्धेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।”

अर्थात् ज्ञान के अंतर्गत तीन बातें आती हैं- 1. जिससे तत्व का बोध होता है, 2. चित्त का निरोध होता है तथा 3. आत्मा विशुद्ध होती है, उसी को जिनशासन में ज्ञान कहा गया।

महावीर ने कर्मकाण्डों, अंधविश्वासों एवं धर्म में घुसपैठ कर बैठी हिंसक प्रवृत्तियों के विरुद्ध सशक्त आवाज बुलंद की। आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है कि महावीर पहले धर्माचार्य थे जिन्होंने समाज की रूढ़ियों का भंजन कर नारियों को आदर और सम्मान का स्थान दिया। उनके धर्मसंघ में 36000 विदुषी प्रतिभासम्पन्न साध्वियाँ थीं।

तीर्थंकर महावीर ने मुख्य रूप से तीन बातों का संदेश दिया- अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत। इन तीनों की आज के युग में बहुत बड़ी आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया। उन्होंने कहा- “किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये” यही ज्ञानियों के ज्ञान का सार है। अहिंसा, समता, समस्त जीवों के प्रति आत्मवत् भाव- यही शाश्वत धर्म है। ‘मिति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ’ के द्वारा उन्होंने संसार के सभी प्राणियों से मित्रता की बात कही।

अहिंसा के दो पक्ष हैं- सकारात्मक और नकारात्मक। हिंसा नहीं करना यह नकारात्मक पक्ष है। पर आचार्य अमितगति ने ‘सामायिक पाठ’ में अहिंसा का सकारात्मक पक्ष प्रस्तुत किया है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

इसके अन्तर्गत चार जीवन-मूल्य आते हैं- 1) सभी जीवों के प्रति मैत्री, 2) गुणज्ञों के प्रति आदर, 3) दुःखी एवं पीड़ित व्यक्तियों के प्रति करुणा और 4) अपने से विपरीत भाव रखने वालों के प्रति माध्यस्थ या तटस्थता का भाव

भगवान ने कहा- प्रत्येक प्राणी में चैतन्य का अंश है, जिसे आत्मा कहते हैं। उसकी रक्षा होनी चाहिये। जैन धर्म को छोड़कर किसी भी धर्म ने जीने के अधिकार (Right to life) को मान्यता नहीं दी। महात्मा गांधी ने श्रीमद् राजचन्द्र से अहिंसा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया तथा इसका राष्ट्रीय स्तर पर असहयोग के रूप में व्यवहार किया तथा स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी। उनका एक प्रसिद्ध भजन है-

“वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।

पर दुःखे उपकार करे तोए मन अभिमान न आणे रे।।”

दूसरे की पीड़ा को समझना और उसका दुःख दूर करना यही अहिंसा की मूल भावना है।

अहिंसा के साथ ही भगवान ने अपरिग्रह का संदेश दिया। भगवान ने कहा- ‘इच्छा हु आगाससमा अणोतिया’ अर्थात् इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। जैसे ईंधन से

आग तृप्त नहीं होती, हजारों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता, वैसे ही मानव की आकांक्षाएं कभी भी तृप्त नहीं होती। असीमित परिग्रह एवं अनियंत्रित तृष्णाएं विषमता को पैदा करती हैं। अतः भगवान ने इच्छा परिमाण व्रत का विधान बताया। उन्होंने कहा कि हमें सर्जन के साथ विसर्जन का भाव समझना चाहिये। आज संसार में उपभोक्तावाद बढ़ रहा है। समृद्ध देशों में संसार की केवल 25 प्रतिशत आबादी रहती है, लेकिन उन्होंने पूरे संसार की सम्पत्ति का 80 प्रतिशत भाग हथिया लिया है। एक ओर विकसित देशों द्वारा अणु और परमाणु बमों तथा विनाशकारी हथियारों के निर्माण पर 80000 करोड़ डॉलर से अधिक प्रतिवर्ष खर्च हो रहे हैं, वहीं संसार के अविकसित देशों में करोड़ों व्यक्तियों को पीने का पानी दूभर है, प्राथमिक शाला के लिए पाठशालाएं नहीं हैं, स्वास्थ्य के लिए अस्पताल एवं डॉक्टर उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए हमें 21वीं शताब्दी में अपरिग्रह को एक सामाजिक उत्तरदायित्व एवं चुनौती के रूप में देखना होगा।

अनेकांत दृष्टि जैन दर्शन की मानवता को अनूठी देन है। यह मनुष्य को एक तरफा या एकांगी होने से बचाती है। यह वैचारिक धरातल पर समन्वय भावना को सशक्त करती है। भगवान महावीर ने अपने युग में 363 मत-मतान्तरों के बीच बढ़ती विषमता को सहिष्णुता एवं समन्वयवाद द्वारा हल किया। उन्होंने दूसरों के मत की निंदा एवं भर्त्सना नहीं की। उनकी मान्यता थी कि विचारों का आदान-प्रदान करो। प्रत्येक विचारधारा में सत्य का एक अंश है और मात्र अपनी, स्वयं की मान्यता ही एक मात्र सत्य नहीं है। विभिन्न मतों का आदर करते हुए उन्होंने विषमता, जातिवाद एवं ईश्वरवाद के विरुद्ध अहिंसक क्रांति का आह्वान किया। अनेकांत के माध्यम से उन्होंने प्रेम, मैत्री, समता, कारुण्य और समन्वय का संदेश दिया।

अब हम भगवान महावीर के उपदेशों की प्रासंगिकता पर विचार करेंगे। आज विश्व में संयुक्त राष्ट्र संघ शान्ति स्थापित करने का कार्य कर रहा है। इसके घोषणा पत्र में लिखा है कि जिस प्रकार युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के मन में होता है, उसी प्रकार शान्ति की संरक्षा का कार्य भी मनुष्य के मन को प्रशिक्षित करके ही किया जा सकता है। इसी संस्था का एक अंग है- यूनेस्को (United Nations Educational, Social and Cultural Organisation) जो शिक्षा, समाज और संस्कृति के विकास का कार्य करती है। इस संस्था द्वारा विश्व में सर्वाधिक शान्ति का प्रचार करने वाले व्यक्ति को नोबल शान्ति पुरस्कार दिया जाता है। सन् 1901 से प्रारम्भ हुए इस पुरस्कार द्वारा अब तक 108 सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को पुरस्कृत किया जा चुका है। हाल ही के वर्षों में जिन महत्वपूर्ण व्यक्तियों को सम्मानित किया गया उनमें मार्टिन लूथर किंग, हेनरी किसिंगर, मिखाइल गोरबाचेव, नेलसन मंडेला, यास्सर अराफलत, कोफी अन्नान, जिमि कार्टर, मदर टेरेसा एवं निर्मला देशपांडे का नाम सम्मिलित है। यूनेस्को ने सन् 2002 में विश्व शान्ति सम्मेलन का आयोजन किया तथा नोबल शान्ति पुरस्कार प्राप्त व्यक्तियों से पूछा कि विश्व में शान्ति और अहिंसा की स्थापना के लिए आपके क्या सुझाव हैं। उन व्यक्तियों ने कहा कि शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थियों के जीवन में बाल्यकाल से कुछ मूल्यों

का प्रचार किया जाय। उन्होंने जिन मूल्यों के प्रचार की बात की, वे हैं-

1. सभी जीवों के प्रति सम्मान (Reverence for all forms of life)
2. सही प्रकार की शिक्षा (Right type of education)
3. परस्पर सहयोग द्वारा अहिंसा को व्यवहार में लाना।
4. लड़ाई-झगड़ों का शान्तिपूर्ण तरीकों से हल।
5. सभी राष्ट्रों में स्वतंत्रता, न्याय एवं लोकतंत्र की भावना का प्रचार।
6. राष्ट्रों के बीच जाति, वर्ण, रंग आदि का भेदभाव समाप्त करना एवं
7. मानवीय जीवन मूल्यों का प्रचार।

उपरोक्त सभी सुझाव भगवान महावीर के उपदेशों से साम्य रखते हैं तथा उनका पालन करने से विश्व में शान्ति, पारस्परिक प्रेम, सौहार्द तथा सद्भाव स्थापित हो सकता है।

अब मैं आपको एक प्रत्यक्ष उदाहरण जो श्रीमती मेनका गांधी के जीवन में घटित हुआ सुनाना चाहता हूँ। वे पीपल फॉर एनिमल्स संस्था चलाती हैं तथा उन्होंने पशु-क्रूरता के विरुद्ध अभियान चलाया है। उन्होंने बताया कि एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था ने उनको अमेरिका आने का निमंत्रण दिया। वे मुम्बई से विमान में बैठी। थोड़ी देर में विमान परिचारिका ने उनको पूछा- “मैं भोजन ला रही हूँ। आप खाने में क्या पसंद करेंगी? शाकाहार या मांसाहार?” उन्होंने कहा- “मैं तो अण्डा खाना भी पसंद नहीं करती। मुझे तो शुद्ध शाकाहारी भोजन चाहिये।” परिचारिका ने पूछा- “क्या आप जैन हैं?” उन्होंने कहा कि मैं जैन तो नहीं हूँ पर जैन धर्म के नियम और सिद्धांत मुझे अच्छे लगते हैं, मैं उनका पालन करने का प्रयास करती हूँ। और फिर वे सोचने लगीं, कितना महान् है यह जैन धर्म। एक या दो दिन के त्याग से यह पहचान नहीं मिलती, ऐसी पहचान तो सदियों में मिलती है।

इसके आगे भी एक और घटना घटित हुई। वे अमेरिका पहुंची और उन्होंने एक सम्मेलन में भाग लिया। दोपहर को वे रेस्टोरेण्ट में भोजन कर रही थी। उसी समय एक नवयुवक भी उनकी टेबल पर भोजन करने आया। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। बातचीत से पता चला वह हरियाणा से आया है तथा जैन है। होटल के वेटर ने उस युवक से पूछा- “आप भोजन में क्या लेना पसंद करेंगे, शाकाहार या मांसाहार?” जैन युवक ने कहा - ‘मांसाहार’। मेनका जी चौंक उठीं। उन्होंने पूछा - “आप जैन धर्मावलम्बी हैं, फिर मांसाहार कैसे?” युवक ने कहा- “मैंने अमेरिका से इंजिनियरिंग की। घर पर तो मांसाहार का प्रश्न ही नहीं है। यहां होस्टल में कभी-कभी लेने की आदत पड़ गई।” मेनकाजी ने उसे समझाया और कहा- “यह जो जैन धर्म की महानता बनी हुई है उसे बनाए रखो, उसे विकृत मत करो।” उनकी बात सुनकर उस युवक ने प्रतिज्ञा की कि मैं कभी भी मांसाहार नहीं करूंगा। यदि मुझे कोई उपदेश देता तो भी मैं नहीं छोड़ पाता, पर अब मैं समझ गया, अतः जीवनपर्यंत मांसाहार नहीं करूंगा।

शाकाहार का प्रचार करने के लिए चेन्नई में सन् 1995 में अंतर्राष्ट्रीय शाकाहार

संगठन (International Vegetarian Union) का एक सम्मेलन हुआ। उसमें चेन्नई के श्री सुरेन्द्र भाई मेहता अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष थे। वहाँ पर 200 अध्यापक / अध्यापिकाएँ भी आई थीं। हमने उनसे पूछा कि हमें शाकाहार के प्रचार के लिए क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि आपको विद्यार्थियों में वैज्ञानिक ढंग से प्रचार करना होगा। बाद में उनसे परामर्श करके हम लोगों ने एक योजना बनाई जिसे करुणा क्लब कहते हैं तथा एक संस्था करुणा अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना की। इसमें हम अध्यापक एवं विद्यार्थी प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करते हैं तथा निरंतर कार्यशालाएँ, सेमिनार एवं प्रतिवर्ष राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करते हैं। हमें अनुभव हुआ कि जीवदया एवं शाकाहार के प्रचार का यह एक प्रभावक कार्यक्रम है तथा बाल्यावस्था में, जब विद्यार्थियों का मस्तिष्क अपरिपक्व रहता है, उनको संस्कारित करना सरल होता है। हम करुणा की कहानियाँ, नाटक आदि पर विद्यार्थियों को निःशुल्क साहित्य वितरित करते हैं। इन तरह वर्षों में देश के 1500 विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में करुणा क्लबें स्थापित हो गई हैं जो जीवदया, अहिंसा, करुणा, पर्यावरण रक्षा, पशु क्रूरता निवारण एवं शाकाहार का प्रभावक कार्यक्रम कर रही हैं। ये क्लबें व्यवहारिक कार्यक्रमों एवं गतिविधियों के द्वारा विद्यार्थियों के हृदय को परिवर्तित कर रही हैं। आज 1 लाख से अधिक विद्यार्थी और अध्यापक शाकाहारी बन चुके हैं। हमने विद्यार्थियों से चमड़े के जूतों का उपयोग नहीं करने की अपील की। 95 विद्यालयों के 1 लाख से अधिक विद्यार्थियों ने चमड़े के जूते पहनना बंद कर दिया है।

आज सबसे अधिक विद्यार्थियों को संस्कारित करने की आवश्यकता है। हमें उन्हें वैज्ञानिक ढंग से जैन धर्म का तत्त्वज्ञान समझाना होगा। दिवाकर प्रकाशन, आगरा ने जैन धर्म की कहानियों की 200 पुस्तकें हिन्दी एवं अंग्रेजी में प्रकाशित की है। उन्होंने पच्चीस बोल पर एवं जैन तत्त्वज्ञान पर अंग्रेजी एवं हिन्दी में चित्रात्मक सुंदर पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनके द्वारा जैन धर्म को रोचकता से समझाया जा सकता है। इसी प्रकार पोस्टर, चार्ट, प्रश्नोत्तर एवं सी. डी. द्वारा भी प्रचार किया जाना चाहिए। आपको यह जानकर हर्ष होगा कि चेन्नई के मद्रास विश्वविद्यालय में जैन धर्म की उच्चस्तरीय पढ़ाई के लिए पिछले बीस वर्षों पूर्व जैन विद्या विभाग (Department of Jainology) स्थापित किया गया था जहाँ एम. ए., एम. फिल. एवं पी-एच. डी. की उच्चस्तरीय कक्षाएँ ली जाती हैं तथा शोध-कार्य भी होता है। इसी विभाग द्वारा समाज में प्राकृत भाषा की पढ़ाई भी होती है जिसमें पच्चास महिलाएँ प्रतिमास भाग लेती हैं।

डॉ. रामजीसिंह, जो जैन विद्या के तत्त्वज्ञ हैं, का कथन है कि जैन धर्म में 200 से अधिक सुंदर कथाएँ हैं जिन्हें टी. वी. एवं सिनेमा में प्रदर्शित किया जा सकता है तथा उसका रामायण एवं महाभारत की तरह प्रचार किया जा सकता है। आज जैन विद्या पर शोध का मात्र एक विश्वविद्यालय लाडनू में है। इस तरह के कई विश्वविद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता है।

आज जैन समाज की सामूहिक आवाज (Collective Voice) नहीं है। कभी हमारे समाज के संसद में 50 प्रतिनिधि थे, अब मात्र तीन हैं। हमारा संगठन कमजोर हो

गया है तथा हम सम्प्रदायों में बंट गए हैं। भारत में एक करोड़ से अधिक जैन हैं पर सरकारी आंकड़ों के अनुसार हम मात्र 42 लाख हैं। अतः हमें एक सूत्र में गुम्फित होने की आवश्यकता है।

आज युग का तकाजा है कि हम नई पीढ़ी को एवं राजनीतिज्ञों को जैन धर्म के सार्वभौमिक सिद्धांतों से परिचित कराएं। वैश्वीकरण के इस युग में टी. वी. और इंटरनेट द्वारा जो पाश्चात्य प्रभाव नई पीढ़ी पर पड़ रहा है, उनकी विकृतियों को दूर कर जैन संस्कारों की स्थापना करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। भगवान महावीर ने उपदेशों द्वारा मानव को मैत्रीपूर्ण, नैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का जो मार्ग बताया था उसे प्रचारित करने की आवश्यकता है। उसका पालन करने से व्यक्तिगत जीवन का विकास तथा समाज एवं विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है।

जैनधर्म सम्मत अहिंसा का प्रशिक्षण

प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'*

‘अहिंसा परमोधर्मः’ अहिंसा को परम धर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी बहु प्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परम धर्म है, पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? साधारण भाषा में अहिंसा शब्द का अर्थ होता है- हिंसा न करना, किन्तु जब भी हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है, तो हमारा ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना या उनकी रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है; किन्तु यह एकांगी दृष्टिकोण है।

‘अपनी भी हिंसा होती है’- (पुरुषार्थ सि., पद्य-42), इस ओर बहुत कम लोगों को ध्यान जाता है। जिनका ध्यान जाता भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ केवल विष-भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते हैं। उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। अन्तरंग में राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना भी हिंसा है, यह बहुत कम लोग जानते हैं।

प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने अन्तरंग पक्ष को लक्ष्य में रखते हुए ‘पुरुषार्थसिद्धयुपाय’ ग्रन्थ में हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषा दी है:-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्ति-हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ 44 ॥

आत्मा में राग-द्वेष-मोहादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और इन भावों का आत्मा में उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है। यही जैनागम का सार है।

प्रश्न है क्या अहिंसा का प्रशिक्षण सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर ‘सत्यता के प्रमाणीकरण प्रयोग’ से सम्भव है। प्रत्येक सिद्धान्त तभी मान्य होता है जब वह प्रयोगों में खरा उतरे। धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है और जीवन है धर्म की प्रयोगशाला। तीर्थंकर भगवान महावीर ने धर्म की परिभाषा रटी नहीं थी। उसका सही रूप समझकर, अनुभव कर प्रयोग किया था।

शाश्वत सुख अर्थात् मुक्ति के जिस मार्ग पर वे स्वयं चले वही उन्होंने सारे जगत

* डायरेक्टर, संस्कृत, प्राकृत और जैन अनुसन्धान केन्द्र, 28, सरस्वती नगर, दमोह (म.प्र.) - 470 661.

को भी बताया; मात्र वाणी से नहीं, जीवन से। उनके अनुसार सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय-स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप तथा अहिंसात्मक जीवन शैली है। इस अहिंसा का प्रशिक्षण सम्भव है।

अहिंसा-प्रशिक्षण का स्वरूप: प्रशिक्षण के आधार:

अहिंसा-प्रशिक्षण का आधार है- हिंसा के बीजों को प्रसुप्त बनाकर अहिंसा के बीजों को अंकुरित करना। इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रक्रिया के दो चरण हैं:-

1. सैद्धान्तिक बोध,
2. प्रायोगिक अभ्यास।

अहिंसा के सैद्धान्तिक बोध के अन्तर्गत हिंसा के कारण, परिणाम एवं अहिंसा के सम्बर्द्धन के उपाय का प्रशिक्षण समाविष्ट है। जिससे व्यक्ति की अवधारणाओं में परिष्कार का अवसर मिले और उसके साथ-साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण भी चले।

हिंसा की जड़: (हिंसा के मूल कारण):

हिंसा के कारण बाहर परिवेश में भी हैं और अन्दर हमारी वृत्तियों में भी। कुछ कारण व्यक्ति में हैं, और कुछ समाज में हैं। हिंसा का मूल कारण, उपादान व्यक्ति में है। उसको उद्दीप्त करने वाले निमित्त कारण परिवेश में, समाज में हैं।

हिंसा भड़काने वाले मूल कारण:

आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कारण हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। विषमता, बेरोजगारी, शोषण, दरिद्रता, अतिभाव, विलासिता आदि ऐसे आर्थिक कारण हैं, निमित्त हैं, जिनसे व्यक्ति में निहित उपादान को उत्तेजना मिलती है। जो हिंसा भड़काने में निमित्त बनते हैं।

हिंसा को भड़काने में सामाजिक विकृतियाँ, वर्णभेद, अस्पृश्यता, विषम परिस्थितियाँ, कुरूपियाँ, दासता आदि का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है।

राजनीति में सैद्धान्तिक आतंकवाद तथा व्यावसायिक आतंकवाद हिंसा की आग में घी डालने का काम करते हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता भी हिंसा भड़काती है। ये बाह्य कारण व्यक्ति के आन्तरिक कारणों को जगाते हैं। व्यक्ति के भीतर हिंसा के अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य हैं- व्यक्ति की वृत्तियाँ। निषेधात्मक भाव, क्रूरता, भय, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि वृत्तियाँ हिंसा को जन्म देती हैं।

व्यक्ति में हिंसा का दूसरा कारण है- अपने मत का दुराग्रह एवं स्वयं को ही सही समझने की दृष्टि। अपने से भिन्न मत वाले को गलत समझने का दृष्टिकोण अन्ततः हिंसा को प्रोत्साहित करता है, हिंसा को पोषण देता है।

व्यक्ति की जीवन शैली का भी हिंसा से बहुत गहरा सम्बन्ध है। सुविधावादी, असंयमित, भोगप्रधान जीवन शैली हिंसा को उत्तेजित करती है।

हिंसा निवारण के उपाय:

हिंसा और अहिंसा दोनों के बीज मनुष्य के भीतर हैं। ऐसी स्थिति में वातावरण पर ध्यान देना बहुत जरूरी है; क्योंकि वही सबसे पहले हमारे सामने आता है। भगवान

महावीर ने कहा- निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अन्तर्जगत्, दोनों को तोड़कर अलग-अलग करके मत देखो। कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते हैं। परिस्थिति नहीं बदलेगी तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर जो अध्यात्मवादी लोग हैं, उनका मत है- अन्तर्जगत् में सुधार नहीं होगा, उपादान नहीं बदलेगा तो समस्या का समाधान नहीं होगा। ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। निमित्त और उपादान दोनों जुड़े हुए हैं। उपादान शक्तिशाली और निमित्त प्रतिकूल है तो उपादान कुछ नहीं कर पाएगा। जो घटित होता है इन दोनों (निमित्त उपादान के) के योग से होता है। समग्र परिवर्तन के लिए दोनों पर ध्यान देना अपेक्षित है।

अहिंसा-प्रशिक्षण के आयाम:

जहाँ कुछ विद्वान मानस-परिवर्तन, संरचनात्मक परिवर्तन, व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकल रूप में रेखांकित करते हैं, वहीं कुछ महापुरुषों की अवधारणा एक समेकित प्रारूप के प्रस्तुतीकरण पर बल देती है। उनके द्वारा विकसित अहिंसा प्रशिक्षण की चतुरायामी (Four Steps) अवधारणा मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुँचती है पर दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इन चार आयामों में-

- (1) हृदय परिवर्तन,
- (2) दृष्टिकोण परिवर्तन,
- (3) जीवन शैली परिवर्तन एवं तदनु रूप,
- (4) संरचनात्मक परिवर्तन (व्यवस्था परिवर्तन)- सम्मिलित हैं।

1. हृदय परिवर्तन- अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है- हृदय परिवर्तन। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है भाव-परिवर्तन। भावों का उद्गम स्थल है- मस्तिष्क का एक भाग, लिम्बिक संस्थान। अतः इसे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण कहा गया है। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है- निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों का उद्दीपन हमारे शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण भी होता है। अतः हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है- शारीरिक स्वास्थ्य में मिताहार का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों (संवेगों) के परिवर्तन के लिए निम्ननिर्दिष्ट सिद्धान्त-सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है:-

	हिंसा के हेतु	परिणाम
1.	लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
2.	भय	शस्त्र निर्माण और शस्त्र प्रयोग
3.	वैर-विरोध	प्रतिरोध की मनोवृत्ति
4.	क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन
5.	अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छुआछूत
6.	क्रूरता	शोषण, हत्या
7.	असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगडा

ये संवेग (निषेधात्मक भाव) व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय-परिवर्तन का

तात्पर्य है संवेगों का परिष्कार करना, इनके स्थान पर नए संस्कार-बीजों का वपन करना।
सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र:

1. लोभ का अनुदय : शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण।
2. भय का अनुदय : अभय का प्रशिक्षण (आत्मौपम्य भाव का प्रशिक्षण) शस्त्र निर्माण और शस्त्र व्यवसाय न करने की संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण।
3. वैर-विरोध का अनुदय : मैत्री का प्रशिक्षण। प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण।
4. क्रोध का अनुदय : क्षमा का प्रशिक्षण।
5. अहंकार का अनुदय : विनम्रता का प्रशिक्षण, अहिंसक प्रतिरोध एवं अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण।
6. क्रूरता का अनुदय : करुणा का प्रशिक्षण।
7. असहिष्णुता का अनुदय : साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रशिक्षण, भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण।

शरीर क्रिया मनोविज्ञान के अनुसार आचार और व्यवहार हमारे भावों (संवेगों) द्वारा नियमित होते हैं। हमारे भावों का नियमन रसायनों द्वारा होता है। ये रसायन अन्तःस्रावी ग्रन्थि-तंत्र द्वारा स्रावित होते हैं। उनका संचालन लिम्बिक-संस्थान (भाव-संस्थान) द्वारा होता है। ध्यान एवं अनुप्रेक्षा के प्रयोगों द्वारा इन रसायनों को प्रभावित कर संतुलित किया जा सकता है। इससे भावधारा, आचरण और व्यवहार में परिवर्तन घटित होता है।

अहिंसा के विकास के लिए निम्न निर्दिष्ट अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास आवश्यक है-
प्रायोगिक प्रशिक्षण के अभ्यास सूत्र:

1. लोभ का अनुदय : अनासक्ति की अनुप्रेक्षा।
2. भय का अनुदय : अभय की अनुप्रेक्षा।
3. वैर-विरोध का अनुदय : मैत्री की अनुप्रेक्षा।
4. क्रोध का अनुदय : शान्ति की अनुप्रेक्षा।
5. अहंकार का अनुदय : मृदुता की अनुप्रेक्षा।
6. क्रूरता का अनुदय : करुणा की अनुप्रेक्षा।
7. असहिष्णुता का अनुदय : सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

भावात्मक परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग-ये दोनों अचेतन या अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों और अर्जित आदतों का क्षय हो जाता है। नये संस्कारों और नयी

आदतों के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है। ये प्रयोग संकल्प-शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-निरीक्षण की क्षमता को बढ़ाते हैं।

स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण:

हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र-स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण। शारीरिक स्वास्थ्य और अहिंसा में भी आन्तरिक सम्बन्ध है। शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में हिंसा का भाव उपजता है। अतः यह अहिंसा के प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण अंग है।

प्रायोगिक प्रशिक्षण:

प्रायोगिक प्रशिक्षण के अन्तर्गत योगासन और प्राणायाम का अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण अंग है।

2. दृष्टिकोण परिवर्तन: अहिंसा प्रशिक्षण का द्वितीय आयाम है- दृष्टिकोण परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह हिंसा के मुख्य कारणों में हैं। जबकि सापेक्ष चिन्तन सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका में एक महत्वपूर्ण तत्व है। सापेक्ष चिन्तन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है। यह नहीं हो सकता कि समाज के बीस प्रतिशत व्यक्ति अतिभाव में जीएं और अस्सी प्रतिशत व्यक्ति भूखे मरते रहें। मानवीय सम्बन्धों में जो कटुता दिखाई दे रही है उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। संकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर सम्बन्धों को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, वृत्ति, विचार और शरीर के साथ सम्बन्ध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के प्रति आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत, शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण सम्बन्ध है तो हिंसा अवश्यभावी है।

जैन दर्शन के महान् सिद्धान्त-

अनेकान्तवाद के प्रयोग से लाभ: अनेकान्त का प्रशिक्षण मिथ्याधारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास अपेक्षित है। सर्वांगीण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है:

	सिद्धान्त	प्रयोग
1.	सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
2.	सह-अस्तित्व	सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
3.	स्वतंत्रता	स्वतंत्रता की अनुप्रेक्षा
4.	सापेक्षता	सापेक्ष की अनुप्रेक्षा
5.	समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा

3. जीवन शैली परिवर्तन: अहिंसा प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है- जीवन शैली का परिवर्तन। जीवन शैली परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण सूत्र है- सुविधावादी जीवन शैली में

परिवर्तन। हम प्रदूषण से चिन्तित हैं, त्रस्त हैं। सुविधावादी जीवन शैली प्रदूषण पैदा कर रही है। उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जा रहा है। समाज सुविधा छोड़ नहीं सकता किन्तु वह असीम न हो- यह विवेक आवश्यक है। यदि सुविधाओं का विस्तार निरंतर जारी रहे, आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन चलता रहे तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पल्लवन मिला है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, जीवन शैली में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, तबतक अहिंसा का सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। जीवन शैली परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्वावलम्बन और व्यसन-मुक्त जीवन का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। निम्नलिखित प्रायोगिक अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण में समाविष्ट है-

1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा
2. सत्य-अचौर्य की अनुप्रेक्षा
3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा
4. इच्छा-परिमाण/अपरिग्रह की अनुप्रेक्षा
5. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा
6. व्यसन मुक्ति के प्रयोग

4. व्यवस्था परिवर्तन: अहिंसा प्रशिक्षण का चतुर्थ आयाम है- व्यवस्था परिवर्तन। व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण के साथ-साथ व्यवस्थागत परिवर्तन भी आवश्यक है। व्यवस्थाओं के मुख्य तीन पहलू हैं- (1) आर्थिक व्यवस्था, (2) सामाजिक व्यवस्था तथा (3) राजनैतिक व्यवस्था।

1. आर्थिक व्यवस्था: अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है, अतः अर्थशास्त्र एवं आर्थिक व्यवस्था को पूर्णतः अहिंसक नहीं बनाया जा सकता; परन्तु इससे अपराध, क्रूरता, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है।

विकास की मात्र भौतिक अवधारणा का विकल्प, अहिंसक व्यवस्था से ही सम्भव है। अहिंसक व्यवस्था में- साधन-शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन तथा विलासिता की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक की व्यवस्था का ईमानदारी के साथ व्यक्ति तथा सरकार दोनों को पालन करना होगा। इसके साथ-साथ अहिंसक तकनीक की खोज, अहिंसक तरीकों से कलह शमन सहकार का अर्थशास्त्र तथा स्वदेशी को आवश्यक स्थान देना होगा।

2. सामाजिक व्यवस्था: अहिंसक आर्थिक व्यवस्था के अन्दर ही अहिंसक समाज-व्यवस्था का स्वरूप छिपा होता है। जिस समाज में आर्थिक शोषण होता है वह समाज अहिंसक नहीं है। अहिंसक समाज का आधार अशोषण के लिए श्रम तथा स्वावलम्बन की चेतना और व्यवस्था का विकास, व्यवसाय में प्रामाणिकता तथा क्रूरता का वर्जन अनिवार्य है।

समाज में अनेक प्रकार की हिंसा होती है। अहिंसक समाज में कुछ विशेष प्रकार की हिंसा का सर्वथा वर्जन हो। उदाहरणार्थ-आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, भ्रूण हत्या, जातीय-घृणा, छुआछूत आदि का व्यवस्थागत निषेध हो। ऐसे कृत्यों को महिमा मंडित करने वाले पत्र व मीडिया पर भी निर्यंत्रण हो। साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मादक वस्तुओं का सेवन तथा प्रत्यक्ष हिंसा को जन्म देने वाली रूढ़ियों और कुरीतियों का वर्जन

भी आवश्यक है। नई समाज व्यवस्था के अन्तर्गत वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति का भी विकास करना चाहिए।

3. राजनैतिक व्यवस्था: अहिंसक राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या हो? स्वच्छ राजनीति वह है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध मात्र यान्त्रिक नहीं होता, व्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता आत्मानुशासित होती है। ऐसी स्वतंत्रता व्यक्तिगत विशेषताओं का संरक्षण है जो राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक शर्त है।

अहिंसक राजनीति की दूसरी विशेषता है, व्यक्ति निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करना। केवल हिंसा की रोकथाम करना और विधि-व्यवस्था कायम रखना राजनीति का काम नहीं है। जीवन्त राजनीति का लक्ष्य है- व्यक्ति का हित और मानव कल्याण। विकेंद्रित राजनैतिक व्यवस्था हो ताकि दलगत राजनीति को अवसर न मिले। वर्तमान राजनीति में राजनीतिज्ञों के प्रशिक्षण के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। परिणामस्वरूप गुणवत्ता के स्थान पर सिर्फ संख्या इसका आधार रह गयी है। व्यवस्था परिवर्तन के लिए संगठनात्मक प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जिसमें अनुसन्धान, योजना, कार्य के लिए तैयार होना, प्रचार, कार्य का प्रारम्भ, नेतृत्व आदि संगठन के विभिन्न पहलुओं के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है।

उपसंहार:

वस्तुतः जैन धर्म और अहिंसा एक तत्व के पर्याय जैसे ही हैं। 'मिच्छी मे सव्वभूऐसु, वेरं भञ्जं ण केण वि' जैसे उदात्त सिद्धान्त की फलश्रुति दया, करुणा, प्रेम, सह अस्तित्व एवं सम्बेदनशीलता जैसे सर्वोत्कृष्टता के सम्पादक/सम्पोषक तत्व इसी की छाया में पालथी मारे बैठे हैं। जैन धर्म की अहिंसा की सांस्कृतिक विरासत ने क्रूर हिंसा, स्वार्थी हिंसा के प्रति बड़े जतन से, बड़े त्याग व पुरुषार्थ से गम्भीरतापूर्वक तार्किकी टंकारी आवाज उठायी और सरेआम, खुले मैदान में हो रही इन हिंसाओं के सिलसिले को तोड़ने के लिए जबर्दस्त क्रान्ति की तथा इस क्रान्ति को कामयाबी भी हासिल हुई थी। जैन धर्म की इस सांस्कृतिक विरासत ने यह अवबोध कराया कि-

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं।।
जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं।।
जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं।।

-- समणसुत्तं, 148, 150-151

इस सांस्कृतिक विरासत ने प्राणिमात्र को एक ऐसा सात्त्विक आकाश प्रदान किया जहाँ वे सकून से श्वास ले सकें, अपनी स्वतंत्रता, अपनी अस्मिता पहचान सकें। जहाँ प्रत्येक जीवात्मा अपनी मानसिकता को मानवता के मानदण्ड पर माप सके। ऐसे

सैद्धान्तिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक मानदण्ड के उत्कर्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निदर्शन-
रागादीणमणुष्पाओ, अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए।

तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिहिदुत्ता।। - समणसुत्तं, 153.

(श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है- राग आदि की अनुत्पत्ति 'अहिंसा' है और उनकी उत्पत्ति 'हिंसा' है।) इस गाथा में हुआ है।

किन्तु दुर्भाग्य से ऐसे ऐश्वर्यवन्त सिद्धान्त कालचक्र के तीखे पद तले पददलित होने लगे हैं। दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि- हमने स्वयं उन्हें काल चक्र के सामने पटक दिया है और बेचारा काल चक्र उन्हें रोंदने को मजबूर है। जो कुछ भी हुआ हो, गलती हमारी है। अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण में हम बौने पड़ गये हैं। जिस अहिंसक व्यक्तित्व की बहुत बड़ी आवश्यकता आज सम्पूर्ण संसार अनुभव कर रहा है वहीं हम अपने कदम आगे बढ़ाने के बजाय पीछे लौटा रहे हैं। और हम इतने पीछे पहुँच गये हैं कि वही बीभत्स वक्त हमारे समक्ष पुनः आ खड़ा है जिससे महावीर ने हमें उबारा था।

भौतिक/वैज्ञानिकी तकनीकी संसाधनों में तरक्की से नयी किस्मों की हिंसाएँ भड़क उठी हैं। नित्य प्रति कितना लहू बह रहा है कत्लखानों में? कितनी मांगों का सिन्दूर, कितनी माताओं की गोदें उजड़ रही हैं सम्पूर्ण विश्व में फैले अर्थवाद और आतंकवाद से? कितने अजान-बेजुबान मारे-काटे-झोंके जा रहे हैं चापलूस राजनीति के हथकण्डों से? कोई गणित है? कोई हिसाब है? कितनी हजार चिताएँ रोज जल-बुझ रही हैं, उन्हीं के धुएँ से धरती और आकाश मानो ढक गया है।

अतः समय रहते सावधान होने की आवश्यकता है। इस आग को अहिंसा के शीतल जल से बुझाना होगा। पौराणिक किम्बदन्ती है कि- 'शंकर प्रलय करते हैं' पर आज का अणु बम महाशंकर बनकर नृत्य करने को तैयार है, कुछ नाच तो दिखा भी चुका है। भयंकर अस्त्रों का निर्माण, स्टार द्वार की कल्पना सुरक्षा मुंह बाए ताक रही है। नक्षत्रीय-नाभिकीय युद्ध छिड़ने को व्याकुल है। ऐसे नाजुक दौर में जैन धर्म की सांस्कृतिक विरासत-अहिंसा का महत्व और भी बढ़ जाता है। लड़-झगड़कर, हिंसा के बल पर चाहे जो कुछ मिल जाय परन्तु सुख-शान्ति सकून से भरा आंगन एवं जीवात्मा का प्राणभूत तत्व धर्म कहीं-कभी भी नहीं मिल सकता। जीवन में अहिंसा को जीवित रखने के लिए कुछ रचनात्मक सोच और चर्चाओं का आदान-प्रदान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। यह कार्य कर सकती है मन की शक्ति और हृदय की निर्मलता। ये बहुमूल्य वृत्तियाँ असम्भव को भी सम्भव बनाने का प्रचण्ड पौरुष अपने में अन्तर्गर्भित किये हैं।

जैन धर्म के उत्तुंग सांस्कृतिक मन्दिर के भव्य प्रांगण की दिव्य प्ररोचना है- अहिंसा। इसी 'अहिंसा का जैन धर्म सम्मत प्रशिक्षण' एटम जैसे दुर्दान्त दानव के अहंकार के मद में एँठे और बारूद के ढेर पर बैठे विश्व को परित्राण देने में पूर्णतः समर्थ है।

विश्व-शांति और अनेकांतवाद

डॉ. शेखरचन्द्र जैन*

आज हम जब विश्वशांति और अनेकांतवाद की चर्चा कर रहे हैं इस संदर्भ में हम इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहेंगे- सर्वप्रथम हम अनेकांतवाद की व्याख्या और उसकी उपयोगिता पर विचार करेंगे। तत्पश्चात् यह सिद्धान्त विश्वशांति में कितना उपयोगी या महत्वपूर्ण हो सकता है इसकी चर्चा करेंगे।

अनेकांतवाद जैनदर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्धान्त है। यह जैन दर्शन की रीढ़ है यों कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसे आचार्यों ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि सिद्धान्त में जो अनेकांतवाद है उसे प्रस्तुत करने की कला स्याद्वाद है। हम यों भी कह सकते हैं कि अनेकांत और स्याद्वाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। हम इसी परिप्रेक्ष्य में इस सिद्धान्त की दर्शन के संदर्भ में और फिर इसके व्यवहारिक पक्ष पर विचार करेंगे।

आचार्यों ने इसके अनेक लक्षण प्रस्तुत किये हैं। धवला में कहा गया है कि “अनेक धर्मों या स्वादों के एक रसात्मक मिश्रण से जो जात्यंतरपना या स्वाद उत्पन्न होता है वही अनेकांत शब्द का वाच्य है।” इसी प्रकार यह भी उल्लेख प्राप्त हुआ है कि एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है एवं जो अनंतधर्मा है वही अनेकांत है। अनेक लोगों ने इस अनेकांतवाद में जो स्यात् शब्द प्रयुक्त हुआ है उसके कारण उसे संशय कहकर उसका विरोध भी किया है। लेकिन एक बात सर्वथा सत्य है कि जबतक किसी वस्तु के पूर्ण सत्य के ज्ञान हेतु इस अनेकांत का प्रयोग नहीं किया जायेगा तबतक उसके पूर्ण सत्य को नहीं जाना जा सकेगा। स्वयंभू स्तोत्र में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि “वास्तव में यह वस्तु तत्त्व का भेद-अभेद ज्ञान का विषय है और अनेक तथा एकरूप है। भेदज्ञान से अनेक और अभेदज्ञान से एक है। ऐसा भेदाभेद ग्राह्यज्ञान ही सत्य है। जो एक को ही सत्य मानकर दूसरे को नहीं मानते हैं वे मिथ्यात्व होते हैं। क्योंकि दोनों धर्मों में से एक का अभाव मानने पर दूसरे का अभाव हो जाता है, और दोनों का अभाव हो जाने पर वह निःस्वभाव हो जाता है।” इसे यों समझाया गया है- यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्त को प्राप्त नहीं हो सकती, और जो सर्वथा असत् है उसका जन्म नहीं होता। जो सत् है उसका नाश नहीं होता। हमें

* प्रधान सम्पादक, तीर्थकर वाणी, अहमदाबाद।

वस्तु का विवक्षा के अनुसार ही निर्णय लेना चाहिए। सत्य तो यह है कि सभी न्यायायिक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनेकांत का स्वीकार तो करते ही हैं। इसके प्रयोजन को प्रस्तुत करते हुए समयसार की मूल टीका में कहा गया है कि “अनेकांत के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस विश्व में सर्वभावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी, द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भाव में अध्यासिक है। किसी भी वस्तु में विरोधी भाव होते हुए भी उनमें एकता हो सकती है।” धवलदा में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धा वाला जीव सम्यक् मिथ्यादृष्टि है ऐसा मानते हैं, और ऐसा मानने में विरोध भी नहीं आता। क्योंकि आत्मा अनेक धर्मात्मक है। इसलिए उसमें अनेक धर्मों का सहानवस्था लक्षण विरोध असिद्ध है। आचार्यों ने बहुत स्पष्ट कहा है कि जब हम किसी पदार्थ में अनेक धर्मों की छवि निहारना चाहते हैं तब उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों की अपेक्षाओं से ही उसका निर्णय करना चाहिए।

हमने ऊपर यह सैद्धान्तिक चर्चा सिर्फ इसलिए की है कि हम इसके माध्यम से पहले आत्मा के लक्षण को भी जाने, पदार्थ के गुणधर्म को भी पहिचाने और उसके अंतिम सत्य को प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त करें। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि यह अनेकांतवाद जैन दर्शन की रीढ़ है और इसका सर्वाधिक प्रसार या उपयोग भगवान महावीर ने किया। भगवान महावीर उस युग में जन्में जब भारतवर्ष में 363 मत प्रचलित थे, और सभी अपनी-अपनी ढफली में अपना-अपना राग आलाप रहे थे। सब अपने ही सत्य को अंतिम सत्य मानकर परस्पर वैमनस्य में उलझे थे, और यह एकांतवादिता सभी संघर्षों की भेदभावों की जननी होने से भगवान महावीर ने यह अनेकांत की नई दृष्टि लोगों तक पहुंचायी। उन्होंने यह कहा कि हमें किसी भी वस्तु को मात्र एक ही दृष्टि से नहीं देखना चाहिए क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुणधर्म विद्यमान होते हैं। अतः अपेक्षा की दृष्टि से ही हमें उसका मूल्यांकन करना चाहिए। अपने सत्य के साथ दूसरों के सत्य को भी समझना होगा। इससे परस्पर विचारों का आदान-प्रदान हो सकेगा। एक-दूसरे को समझकर सौहार्दता बढ़ा सकेंगे, और यही परस्पर प्रेम का कार्य होगा। इसी अनेकांत के सिद्धांत को उन्होंने बड़ी ही शालीनता से प्रस्तुत किया, और वही स्याद्वाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अब हम थोड़ी सी चर्चा स्याद्वाद के विषय में भी करना चाहेंगे जो हमें अपने लक्ष्य तक ले जा सकेगी।

एक ओर जहाँ अनेकान्त मन के द्वन्द्वों का परिमार्जन करता है वहीं वचन की स्पष्टता, निर्द्वन्द्वता इस स्याद्वाद पूर्ण भाषा से प्रकट होती है। इससे पूर्व विषय पर गहराई से विचार करें— पहले इस स्याद्वाद के शाब्दिक एवं निहितभाव के अर्थ को समझ लें। “स्याद्वाद” “स्यात्” एवं “वाद” दो पदों का संयोजन है। जैन आगम में “स्यात्” का अर्थ “कथञ्चित्” अर्थात् एक निश्चित अपेक्षा माना है और “वाद” कथा का द्योतक है। इस तरह यों कहा जा सकता है कि एक निश्चित अपेक्षा से किया गया कथन ही स्याद्वाद

है। थोड़ा सा और गहरे उतरें तो निश्चित अपेक्षा में एक निश्चित दृष्टिकोण या निश्चित विचारों का बोध निहित है; जो यह संकेत देता है कि वस्तु के जिस अंश के बारे में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा रहा है वह उस अंश का पूर्ण कथन है। पर साथ ही यह भी दिशा निर्देश होता है कि कथित अंश के उपरान्त अन्य शेष अंश में अन्य गुण भी हैं। युगपुरुष हेमचन्द्राचार्य ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' ग्रंथ में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "स्यात्" अर्थात् "अमुक अपेक्षा से", या अमुक दृष्टिकोण। स्यात् यहाँ अव्यय है जो अनेकान्त सूचक है। अर्थात् अनेकांत रूप से कथन शैली ही स्याद्वाद का अर्थ है। इसका दूसरा नाम अनेकांत है। 'अनेक' एवं 'अन्त' शब्द का युग्म है। यहाँ अंत का अर्थ धर्म, दृष्टि, दिशा अपेक्षा किया जायेगा। सरल शब्दों में कहें तो यह कहा जा सकता है कि वस्तु के हम जिस गुण की चर्चा प्रमुख रूप से कर रहे हैं उसमें अन्य गुण या स्वभाव भी विद्यमान हैं ही। इससे यह प्रतिफलित या सिद्ध होता है कि वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् गुण विद्यमान हैं एवं अंश में सभी धर्म या स्वभाव पूर्ण हैं यह कथन असंभव है और ऐसा कथन अपूर्ण होगा। वस्तु एक ही निश्चित स्वभावी या निश्चित गुण धर्म स्वभावी है यह कथन ही एकांत दृष्टि युक्त है जो अन्य गुणों की उपस्थिति का अस्वीकार या तिरस्कार है, जो संघर्षों का जनक है। इसी वैचारिक या मानसिक संघर्ष को टालने के लिये वस्तु के अनेक स्वरूपी रूप को स्वीकार करते हुए उसे वाणी की शुद्धता भी जैनदर्शन ने प्रदान की।

जैनदर्शन के इस 'स्यात्' में मात्र स्यात् नहीं अपितु "स्यादस्ति" का प्रयोग किया है। देखिए स्यात् के साथ संलग्न अस्ति एक स्वीकृति है। अर्थात् अपेक्षित है। सर्व प्रथम "अस्ति" यानि हकारात्मक या विधेयात्मक दृष्टि को ही स्वीकार किया है। किसी वस्तु में निहित तथ्य या लक्षण का "नास्ति" या मात्र स्यात् "शायद" की अनिश्चितता में प्रयुक्त नहीं किया। इससे इतना तो तय हो ही जाता है कि कथित तथ्य के "अस्ति" बोध का स्वीकार है। इस अस्ति में स्वीकृत वस्तु के स्वभाव या गुणधर्म का स्वीकार करते हुए भी हम यह नहीं कहते कि "यह ही है"। हम कहते हैं यह भी है अर्थात् अन्य गुण या धर्म भी हैं। तात्पर्य कि हम जिसका कथन कर रहे हैं उसके उपरांत के गुणों का हम निषेध नहीं कर रहे। अपने विचारों की स्थापना जैसा कि हम वस्तु के स्वरूप को वर्तमान में निहार रहे हैं- करते हुए उसके प्रति अन्य दृष्टिकोणों का निषेध नहीं करते। परिणाम स्वरूप अपने कथन के साथ अन्य कथन में विरोधी नहीं बनते और वैचारिक संघर्ष नहीं करते। वाणी में कटुता नहीं लाते और वैचारिक आक्रमण से बचते हुए सूक्ष्म हिंसा से भी बच जाते हैं। इस प्रकार यह "स्यात्" वस्तु के कथित धर्मों के साथ अन्य स्थित धर्मों का रक्षक बन जाता है। जिस समय जिस वस्तु को जिस परिस्थिति और संदर्भ में देखते हैं उस समय तथाकथित गुण मुख्य बन जाते हैं पर अन्य गुण नष्ट नहीं हो जाते। यदि अन्य व्यक्ति अन्य गुणों की अपेक्षा वस्तु का कथन करे तो उसे असत्यभाषी कैसे कहा जा सकेगा? उदाहरणार्थ एक व्यक्ति पत्नी की अपेक्षा से पति है, उसी समय वह मां की अपेक्षा से पुत्र भी है। यहाँ व्यक्ति को परखने का दृष्टिकोण है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु, विचार आदि

को समझना चाहिये। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि “स्याद्वाद” सोचने की चिंतन की विशाल भूमिका प्रदान करता है। हम जिस समय जो सोचते हैं वह उतने में पूर्ण निश्चय है- संशय नहीं। सच तो यह है कि वस्तु या विचार गत “यही है”, या “इसके अलावा कोई सत्य नहीं” जैसे एकांगी भाव ही संघर्ष, मतभेद एवं संकीर्णता को जन्म देते हैं। व्यक्ति को अनुदार बनाते हैं जो अपनी ही बात मनवाने को हिंसात्मक तक हो जाता है। आज के संघर्षों की जड़ इन्हीं एकांगी विचारों का परिणाम है। विद्वानों ने इस “अस्ति” के माध्यम से परीक्षण कर विविध दृष्टियों से सत्य को समझने का प्रयास किया। एकाधिकार वाद का दूषण इसी से मिटाना संभव है। “स्यात्” शब्द एक ऐसी अंजनशलाका है जो दृष्टि को विकृत नहीं होने देती, वह उसे निर्मल और पूर्ण दर्शा बनाती है।”

यह जैनधर्म की विशालता ही है कि उसने परस्पर विरोधी मालूम होने वाले धर्मों को भी सामंजस्य से देखा और परखा। इसीलिए उसे वास्तव में बहुत्ववादी कहा गया है। वह प्रत्येक वस्तु या विचार पर सहानुभूति से विचार कर निरर्थक भ्रम जालों को तोड़ता है और विचारों को तो शुद्ध करता ही है, वाणी को भी शुद्ध बनाता है। डॉ. महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य ने ठीक ही लिखा है- “जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्त में माध्यस्थ भाव, वीतरागता और निष्पक्षता का उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणी में निर्दोषता आने का पूरा-पूरा अवसर देता है।”

भगवान महावीर का समय वह समय था जब उपनिषदवादी विश्व सत् है या असत्, उभय या अनुभय की अनिश्चितता में थे..... जब महात्मा बुद्ध विचार वैविध्य से बचने या टालने के लिये या तो मौन थे या शिष्यों को मौन रहने का उपदेश दे रहे थे- उस समय इन विविध मान्यताओं को विरासत में लेकर महावीर के पंथ में दीक्षित होने वालों को जिज्ञासा की पूर्ण तृप्ति आवश्यक थी अन्यथा वैचारिक संघर्ष भविष्य के लिये बड़ा अनिष्टकारी हो जाता। अतः महावीर ने वीतरागता और अहिंसा के उपदेश से बाह्य व्यवहार शुद्धि के साथ चित्त के अहंकार और हिंसा को बढ़ाने वाले सूक्ष्म मतभेदों को भी निर्मूल किया। उन्होंने वस्तु के उत्पाद, व्यय और द्रौव्य परिणामी स्वरूप को समझाया और द्रव्य एवं पर्याय की दृष्टि से उसकी नित्यता एवं अनित्यता को स्पष्ट किया। सचमुच इस सापेक्ष दृष्टि ने शिष्यों को निर्द्वन्द्व बनाया। कथन के साथ या उससे भी विशेष वस्तु के परीक्षण पर जोर दिया। अग्नि गरम या ठंडी इस चर्चा को मतभेद का विषय बनाने से क्या यह अच्छा नहीं कि उसको छूकर सही दशा को परखा जाये।

‘स्याद्वाद’ यह स्पष्ट करता है कि भाई! किसी वस्तु का एक ही बार एक ही दृष्टि से पूरा परिचय दे देना असंभव है। यह स्यात् विद्यमान गुण-धर्मों के साथ अविद्यमान गुणों या अविशिक्षित गुणों के अस्तित्व का भी द्योतन कराता है। इसीलिए विद्वानों ने इस स्यात् को एक सजगता का प्रतीक भी माना है। “स्याद्वाद” अनेक विकल्पों को दूर करता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने ठीक ही कहा- “करोड़ ज्ञानियों का एक ही विकल्प होता है जबकि एक अज्ञानी के करोड़ विकल्प होते हैं।”

जो भी लोग एकांतवादी होते हैं वे वस्तु के धर्म वैविध्य को समझे बिना ही

अपना विरोध करते हैं। सूक्ष्मता से देखा जाये तो वस्तु विरोधी स्वभावी नहीं है, अपितु विरोध हमारी दृष्टि या समझ का है। इसी ना समझी की औषधि यह “स्यात्” है। हिन्दू धर्म में जहाँ पर वस्तु ईश्वर निर्मित मान ली, वहीं एकांगी विचार पनपे। इसी संदर्भ में जाति-पाँति के भेद बढ़े। इतना ही नहीं, ईश्वर को अवतारी मानने के कारण उसके सभी कृत्य लीला बन गये। वेद ईश्वर कथित माने गये और उन्हें ही आस्तिकता का मानदंड मानकर, उन्हें न माननेवाले लोग या विचारधारा को नास्तिक कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया, जिसका शिकार जैन व बौद्धधर्म बने। जाति-पाँति का वैमनस्य, ईश्वर के प्रति मान्यताओं का विषय ज्वर इसी से पनपा।

जैनधर्म या सिद्धान्त ने वस्तु को उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य मानते समय स्थान, काल, द्रव्य, भाव के साथ परिणामी माना है। एक ही वस्तु द्रव्य के परिप्रेक्ष्य में स्थिर है तो पर्याय के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तनशील भी है। जैसे सोना द्रव्य है- स्थिर या अविनाशी है ... पर अलग-अलग गहनों में परिवर्तन उसका विनाश भी है। कुछ लोग यह शंका उठाते हैं कि एक ही साथ एक ही वस्तु स्थाई भी है और अस्थाई भी है यह कैसे संभव है? पर वे भूल जाते हैं कि इस कथन में द्वन्द्व या शंका नहीं है पर उसका परीक्षण द्रव्य एवं पर्याय के संदर्भ में होने से वह अमिट भी है और उसमें परिवर्तनशीलता या वैविध्य भी देखते हैं। उसके मूल में वही गुण वैविध्य है- या पर्याय परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। सच कहें तो संसार की परिवर्तनशीलता इसी गुण के कारण है। इसीलिए जैन दर्शन के अनुसार संसार का कभी पूर्ण नाश नहीं होता। उसमें निरंतर क्षय और निर्माण की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। हाँ दृश्य परिवर्तन होते रहते हैं। जैन दर्शन में इस स्याद्वाद की मदद से हम वस्तु के अनन्त धर्म एवं अर्थ को पकड़ सकने में सफल बनते हैं।

जैनाचार्यों ने इस स्याद्वाद को श्रुतज्ञान का सकलदेश रूप माना है। जिसे ‘प्रमाण’ कहा है। जो वस्तु के अखंड स्वरूप को ग्रहण करता है। आचार्य अकलंकदेव ने सरलता से स्पष्ट किया है कि जहाँ “अस्ति” शब्द के द्वारा सारी वस्तु समग्र भाव से पकड़ ली जाय वह सकलादेश है। सकलादेश में समग्र धर्म अर्थात् पूरा धर्मो एकभाव से गृहीत होता है। इसी प्रकार आ. सिद्धसेनगणी, अभयदेवसूरी आदि ने “सत्, असत् और अवक्तव्य” इन तीनों भंगों को सकलादेशी माना है। जबकि उपा. यशोविजय जी ने सातों भंगों को सकलादेशी एवं विकलादेशी (एक धर्म का मुख्य रूप से कथन करने की पद्धति) माना है।

इस ‘स्याद्वाद’ को लेकर अनेक धर्मावलम्बी विद्वानों ने विविध रूप से मूल्यांकन किया है जो अनेक प्रकार से विवादास्पद या स्याद्वाद को पूर्ण रूप से आत्मसात् न करने के कारण या एकांगी दृष्टि के कारण दोष युक्त ही रहा। अरे! ये आलोचक या मतप्रवर्तक महावीर की उस दृष्टि को नहीं समझ सके जिसमें वस्तु को अधिक से अधिक कथनों से जानने समझने का विधान है। जो सप्तभंगी के सिद्धांत से प्रसिद्ध हुई। वस्तु को गुणात्मक, ऋणात्मक या उभय रूपों से देखने का प्रतिपादन ही इस तथ्य का द्योतक है कि मात्र एक ही कथन या दृष्टि से वस्तु के अनन्त धर्मों का कथन असंभव है और उसके प्रति पूर्ण न्याय के लिए

ये सात कथन- प्रकार पूर्ण परीक्षण में सहायक होंगे। महापंडित राहुल जी ने इस स्याद्वाद की उत्पत्ति संजयवेलट्टिपुत्त के चार अंगों वाले अनेकान्तवाद से मानते हुए उसे ही सात अंगों में परिवर्तित माना है। पर राहुलजी ने संजय के नितान्त अनिश्चयवाद के साथ कैसे स्याद्वाद को जोड़ा यह विचित्र लगता है! डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य ने इन विविध मीमांसकों के मतों के साथ स्याद्वाद के विषय में स्पष्टता की है।

मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि जहाँ भगवान बुद्ध ने शंका निवारण के स्थान पर मौन धारण किया या शिष्यों से यह कहकर- 'इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्या के लिए उपयोगी नहीं, न वह निर्वेद, निरोध शांति परमज्ञान या निर्वाण के लिए आवश्यक है।' - उन्हें मौन कर दिया, वहीं महावीर ने जिज्ञासुओं को मौन रहने का आदेश नहीं दिया, अपितु उनकी जिज्ञासा को संतुष्ट किया। संजय की भांति अनिश्चितता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस संतुष्टि का आधार था सप्तभंगी एवं स्याद्वाद पद्धति। डॉ. सम्पूर्णानंद ने इसे सप्तभंगी न्याय या स्याद्वाद की बाल की खाल निकालने वाली पद्धति कहा। पर वे भूल गये कि वाद-विवादों, संशय एवं अनिश्चितता के युग में यह परम आवश्यक पद्धति थी। डॉ. जैन ने सही लिखा- 'जैन दर्शन ने दर्शन शब्द की काल्पनिक भूमि से उठकर वस्तु सीमा पर खड़े होकर जगत में वस्तु स्थिति के आधार से संवाद, समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञान की अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद भाषा दी, जिनकी उपासना से विश्व अपने वास्तविक स्वरूप को समझ, निरर्थक वादविवाद से बचकर संवादी बन सकता है।' श्री शंकराचार्य जी ने एक ही पदार्थ में "अस्ति एवं नास्ति" परस्पर विरोधी धर्म का होना असंभव मानकर इस स्याद्वाद कथन को असंगत कथन कहा है। श्री शंकराचार्य जी चूँकि एक ही पदार्थ में शीत-उष्ण होने की बात का उदाहरण देकर कुछ तर्कों द्वारा सिद्धांत को असंगत कहते हैं पर वे भूल गये कि अपेक्षा भेद से एक ही पदार्थ में अनेक विरोधी धर्म हो सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति बड़े की अपेक्षा कनिष्ठ है तो छोटे की अपेक्षा ज्येष्ठ भी है। अरे! एक ही नरसिंह स्वरूप पर एवं सिंहशरीर के भाग की अपेक्षा क्या सत्य नहीं है। तात्पर्य कि हमें सापेक्ष दृष्टि से देखना होगा। हाँ यदि एक ही दृष्टि से "अस्ति/नास्ति" कथन हो तो अवश्य दोष होगा। जैसे एक व्यक्ति को पति और पुत्र एक ही स्त्री के संबंध में कहा जाये तो भारी विडंबना होगी ही। स्वर्ग-नरक की दृष्टि से नास्ति होने पर क्या स्वर्ग मिट गया? शंकराचार्य जी ने अपेक्षा भेद से इस सिद्धांत को समझा होता तो शायद वे स्पष्ट हो सकते थे। श्री प्रो. बलदेव उपाध्याय भी यद्यपि स्यात् का शब्दार्थ "शायद" नहीं करते पर 'संभवतः' शब्द को मानकर वे श्री शंकराचार्य जी का समर्थन करते हैं। श्री शंकराचार्य जी की मान्यता को विद्वान भी रुचिगत मानते जा रहे हैं जो लोग "स्याद्वाद" में "स्यात्" का अर्थ "संभवतः" मानते हैं वे भी अर्धसत्य तक ही अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं। स्याद्वाद तो वस्तु के निश्चित गुण कथन स्पष्टता का द्योतक है अतः उसमें संशय या संभावना दोनों की कल्पना ही अव्यवहारिक है।

वर्तमान युग के विद्वान चिंतक डॉ. राधाकृष्णन ने स्याद्वाद को अर्धसत्य तक पहुंचाने वाला ज्ञान माना है। इससे पूर्ण सत्य नहीं जाना जा सकता। उनके अनुसार स्याद्वाद

अर्धसत्य तक पहुँचा देता है। इस अर्धसत्य मान्यता का खंडन करते हुए भी महेन्द्र कुमार जी ने सच ही लिखा है कि “राधाकृष्णन इसके हृदय तक नहीं पहुँचे, न ही उन्होंने जैन दर्शन के उस सत्य को परखा जो वेदांत की तरह चेतन और अचेतन काल्पनिक अभेद की दिमागी दौड़ में शामिल नहीं हुआ। साथ ही जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्त धर्मात्मक है, तब उस वास्तविक नतीजे पर पहुँचने को अर्धसत्य कैसे कह करते हैं?” डॉ. देवराज जी ने भी “पूर्व और पश्चिमी दर्शन” में स्यात् का अनुवाद ‘कदापि’ किया जो ठीक नहीं। क्योंकि कदाचित् तो संशय ही उद्भव करेगा।

अरे! प्रमाणवार्तिक में आचार्य धर्मकीर्ति तो जैसे रोष में प्रलाप ही कर बैठे और बलिहारी तो यह है कि सभी तत्त्वों को उभयरूप मानने के संदर्भ में वे दही और ऊँटों को एक मानकर दही की जगह ऊँट खाने की बात कर बैठते हैं। अब इसे तर्क कहा जाये या विकृति या कुतर्क! उन्हें यही भेद मालूम नहीं कि द्रव्य की अतीत और अनागत पर्यायें जुदी हैं। व्यवहार तो वर्तमान पर्याय के अनुसार चलता है।

प्रज्ञाकर गुप्त जैसे चिंतक तो वस्तु के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य को ही सत्य नहीं मानते। वे क्या यह स्वीकार करते हैं कि मिट्टी घट बनकर मिट्टी के मूल स्वरूप में है? क्या पर्याय नहीं बदली? क्या एक क्षण के व्यय हुए बिना नया क्षण आयेगा? क्षण सन्तति निरन्तर चालू रहती है। काश वे समझ सकते कि- ‘वर्तमान क्षण में अतीत के संस्कार और भविष्य की योग्यता का होना ही ध्रौव्यत्व की व्याख्या है।’ इसी प्रकार तत्कालीन अनेक बौद्धचार्यों एवं हिन्दू धर्म के चिंतकों ने ‘स्यात्’ को पूर्ण रूप से न समझने के कारण या एकांतवादी दृष्टि से इसमें शंका कदाचित्, अर्धसत्य जैसे विधानों से अपना रोष या विरोध प्रकट किया। श्री श्रीकंठ जैसों ने स्याद्वाद में अपेक्षा रूपी व्यवस्था को गुड़ चटाकर मूर्ख बनाने वाली बात ही कह दी। श्री रामानुजाचार्य या बल्लभाचार्य इसे विरोधाभासी दूषण दृश्य उपस्थित करने वाला दर्शन ही मानते रहे। चूँकि ये सब वेदों के एकांतवाद से प्रभावित हैं अतः ऐसी विचार वैविध्य की भाषा दर्शन को मानना संभव भी कैसे होता?

इन सभी विचार धाराओं पर विचार प्रकट करते हुए डॉ. महेन्द्र जी ने कितना सचोटे तर्क प्रस्तुत किया है। “व्यतिकर परस्पर विषय गमन से होता है यानी जिस तरह वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है तो उसका पर्याय की दृष्टि से भी नित्य मान लेना या पर्याय की दृष्टि से अनित्य है तो द्रव्य की दृष्टि से भी अनित्य मानना। परन्तु जब अपेक्षाएँ निश्चित हैं, धर्मों में भेद हैं, तब इस प्रकार के परस्पर विषयगमन का प्रश्न ही नहीं है। धर्मों की दृष्टि से तो संकर और व्यतिकर दूषण नहीं, भूषण ही है। भगवान महावीर ने उपेय तत्व के साथ उपाय तत्व का भी सांगोपांग वर्णन करके सारे संशय दूर किये।

शु. जिनेन्द्र वर्णी जी ने जैनेन्द्र सिद्धांत कोश में कितना स्पष्ट अर्थ किया है ‘मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता को अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, उनका विषेध न होने पाये, इस प्रयोजन से अनेकांतवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कर्थाचित् शब्द का प्रयोग करता है।

चूँकि उनके स्थानों पर ब्रह्मवादियों या एकांत दार्शनिकों के कथनों में ही स्याद्वाद की परोक्ष स्वीकृति, स्याद्वाद की महत्ता की स्वीकृति छोटक है। उपा. यशोविजय जी ने कुमारिल भट्ट एवं पातंजलि के ही ऐसे उदाहरण अपने ग्रन्थ अध्यात्मोपनिषद् में उद्धरित कर स्याद्वाद की प्रतिष्ठा को प्रस्थापित किया है। होते रहें उनका निषेध न होने पावे इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक बाह्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है।

इस विवेचन या चर्चा-चिंतन के पश्चात् इतना स्पष्ट हो ही गया कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मो है। उसकी परख विविध दृष्टिकोण से हो जाये तो उसका सही मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ पर्यायानुसार परिवर्तनशील है पर द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्थिर भी है। स्याद्वाद का व्यवहारिक स्वरूप व्यक्तियों के बीच प्रेम, मैत्री और समभाव को पनपाता है। चित्त को रोग-द्वेष मुक्त करके स्वस्थ बनाता है। “ग्रंथी” से बचाता है। विश्व अशांति दूर करने का इससे सरल उपाय क्या होगा कि हम अपनी बात मनवाने के साथ दूसरों की बात भी माने।

वर्तमान युग के महान वैज्ञानिक आईन्स्टाईन के सापेक्षवाद में दृष्टि वैविध्य से वस्तु परीक्षण में स्याद्वाद दर्शन ही तो प्रस्थापित हुआ है।

परस्पर द्वेष का कारण दृष्टि भेद हैं इसे प्रेम में परिवर्तित किया जा सकता है। दृष्टि को समझने की स्याद्वादमयी विशालता-सरलता एवं तरलता से है।

हमने अनेकांत और स्याद्वाद की विषय चर्चा की और बीच-बीच में हम यह भी प्रस्तुत करते रहे कि संसार में प्रेम, मैत्री के भाव इसी से जागृत हो सकते हैं।

जब हम विश्वशांति की बात करते हैं तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक युग में अशांति के कारण के मूल में मनुष्य की एकांतवादिता या उसकी स्वार्थभावना ही केन्द्र में रही है। यह सत्य है कि आज विश्व में जो अशांति है उसके मूल में वैचारिक एकांतवाद ही प्रमुख है। पूरा विश्व जैसा कि दो प्रकार की विचारधाराओं में बंट चुका था, एक मूढवादी विचारधारा और दूसरी साम्यवादी विचारधारा। इस विश्व में जो वर्षों से युद्ध या शीतयुद्ध चलते रहे उसका कारण था कि “मेरी ही विचारधारा सही है।” यह भाव इसके मूल में था। विश्व के ये राजनीतिज्ञ एक दूसरे के विचारों को समझना ही नहीं चाहते थे। इसके पीछे सत्ता का मद और मूल में देखा जाय तो अति परिग्रह की एषणार्थ ही मुख्य थीं। इस युग की विचित्रता तो यह रही कि किसी की जमीन हड़पने से अधिक अपने विचारों से उसे दबाना या आक्रमण करना प्रमुख भाव रहा, और कहीं धार्मिक उन्माद भी इस एकांत के पोषण में महत्वपूर्ण रहा। यदि हम दोनों विश्वयुद्धों पर नजर करें तो ये ही एकांतवादिता उसके मूल में कारणरूप रही। यहूदियों को मार डालना हिटलर का उद्देश्य रहा। तो साम्यवादियों को कुचल देना अमेरिका का उद्देश्य रहा, तो विश्व को डूगन के हवाले ही कर लेने की भावना रखना साम्यवादियों का उद्देश्य रहा, और इन्हीं एकांतवादियों ने पूरे विश्व को बंदी बनाया और उसका विनाश भी किया। वर्तमान काल में भी जो धरती पर प्रत्येक क्षेत्र में युद्ध हो रहे हैं उसकी तह में जाकर के देखा जाय तो सर्वाधिक रूप

से धार्मिक उन्माद कार्यरत है, और शक्तिशाली के धर्म को नहीं मानने पर वह कमजोरों का विनाश कर रहा है। अरब-इजराईल युद्ध इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारत और पाकिस्तान के बीच इसी धिक्कार की भावना ने कार्य किया है। आज विश्व जाने अनजाने में भी इस्लामिक देशों और नोनइस्लामिक देशों में विभाजित हो गया है। आज की इन समस्याओं में आदमी पिस रहा है।

हमलोग विश्वशांति की बात करते हैं, और इसी के लिए हमने 'यूनो' जैसी संस्थाओं का गठन भी किया है। लेकिन देखा जाये तो हम उसमें आंशिक सफल ही हुए हैं। जबतक हम मनुष्य को केन्द्र में रखकर इन संकुचित भावनाओं से ऊपर नहीं उठेंगे तब तक हम विश्वशांति की बातें करना फालतू मानते हैं। आज की एक और समस्या धार्मिक उन्माद और एकांतवादिता है तो दूसरी ओर मानव समाज का अधिकांश भाग भूख-गरीबी से त्रस्त है। जिनके पास धन है वे भूखों की ओर उपेक्षा के भाव से देख रहे हैं। अनेकांतवाद यही सूचित करता है कि हम अपनी अमीरी के साथ दूसरों की गरीबी की पीड़ा को भी समझें, और यह समतामूलक दृष्टिकोण अनेकांतवाद की ही एक उपधारा है। भ. महावीर ने जब परस्पर प्रेम की बात कही तो मात्र वैचारिक एकता की बात नहीं थी, समाज में एक समरसता पैदा हो यह भावना भी उनकी मुख्य थी।

विश्वशांति में यह अनेकांतवाद ही मुख्य भूमिका अदा कर सकता है। इसे संतों ने तो समझा ही था लेकिन वर्तमान युग में महात्मा गांधी जी ने इसे समझा और पचाया। उन्होंने अंग्रेज जैसी महासत्ता के समक्ष अपना अहिंसक युद्ध छेड़ा, और यह अनेकांत की ही सफलता थी कि गांधी जी ने पाप से घृणा की पापी से नहीं। उन्हें अंग्रेजों द्वारा भारत को गुलाम बनाकर शोषण करने के प्रति रोष था, अंग्रेजों के प्रति नहीं। यही कारण है कि उन्होंने इस विचार वैविध्य के विस्तरण से उन लोगों के मन को भी बदलने में महद् अंश से सफलता प्राप्त की। महात्मा गांधी ने यों कहे कि भ. महावीर के पश्चात् प्रेक्टीकल रूप में अहिंसा और स्याद्वाद को मूर्तरूप प्रदान किया। उनसे प्रेरित होकर विश्व विभूतियों में अब्राहिम लिंकन, किंगमार्टन ल्यूथर, नेल्सन मंडेला और आज अनेक देशों के लोग इस तथ्य को मानने लगे हैं कि भ. महावीर या आईन्स्टाईन के सापेक्षवाद या महात्मा गांधी के परस्पर मैत्री के सिद्धान्त से ही विश्व शांति संभव हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने विचारों के साथ दूसरों के विचारों को भी समझें।

मैंने ऊपर 'यूनो' का जिक्र किया। आज ऐसी अनेक विश्वस्तर की संस्थायें हैं जहाँ परस्पर विरोधी विचारों के लोग भी एक साथ बैठकर एक मंच से अपनी बातों को प्रस्तुत करते हैं। अनेक तर्क और वितर्कों के पश्चात् वे अपने विचारों में परिवर्तन और परिवर्धन करते हैं। मैं यह समझता हूँ कि भले ही आज एक ओर परस्पर मार-काट का माहौल बना हुआ है, त्रासवाद के कारण आतंक छाया हुआ है लेकिन इन घने निराशा के बादलों के बीच भी आशा की यह किरण आस्था प्रदान करती है कि परस्पर विरोधी लोग कम से कम एकमंच पर बैठकर विचार विनिमय तो करते हैं। यह अनेकांतवाद की ही विजय है, और हमने यह भी देखा है कि अनेक समस्याओं का निदान इसी के कारण हुआ

है। जब हम दो विरोधी देशों के बीच मंत्रणाओं की बात सोचते हैं तब उसके केन्द्र में देखा जाय तो यह अनेकांत ही प्रमुख रहता है। क्योंकि परस्पर विरोधी जब बैठते हैं तो अपने-अपने हठाग्रहों को छोड़ने की मंशा बना लेते हैं। यही मंशा बनाना अनेकांतवाद का स्वीकार है और इसके प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में हम देखते हैं कि दो जर्मनी एक हो गये। कोरिया एक होने का प्रयत्न कर रहा है। यह पुनः एकता की जन्मी हुई भावना वैचारिक विद्वेश और एकांतवाद को तिलांजली देना है। आजका विश्व संपर्क साधनों के कारण बहुत छोटा हो गया है। इलेक्ट्रॉनिक्स मीडिया के कारण हम अति निकट हो गये हैं। एक देश की छोटी-सी घटना भी एक क्षण में पूरे विश्व में फैलती है, और लोगों को विचार करने पर या सोचने को मजबूर करती है। मैं यह समझता हूँ कि एक-दूसरे के प्रति यह भावना ही हमें परस्पर प्रीति या सहकार के साथ जीने की कला सिखाती है।

अनेकांतवाद तो कहता ही है कि 'मैं' की सोच को बदलकर 'हम' की सोच को विकसित करें। 'हूँ' ही के स्थान पर 'हो भी सकता है' के चिंतन का विकास करें। जिस दिन मनुष्य-मनुष्य के हृदय को समझने लगेगा, परस्पर की भावनाओं को समझने लगेगा तब उसमें से अहम् का दूषण दूर होगा। अपने सच के साथ दूसरों के सच को समझने की क्षमता बढ़ेगी, और तभी हम विश्वशांति की ओर सही अर्थों में आगे बढ़ सकेंगे, और तभी हम जैनदर्शन के 'परस्पोपग्रहो जीवानाम्' के व्यक्तिगत सिद्धांत को वैश्विक सिद्धांत के रूप में विकसित कर सकेंगे।

आओ हम परस्पर वैयक्तिक संकुचितताओं को छोड़कर मानव मात्र और प्राणिमात्र के कल्याण की बात सोचें और ऐसे विश्व के निर्माण की ओर अग्रसर हों जहाँ परस्पर प्रीति हो, सन्मान हो, सहयोग हो, जहाँ बारूद और बम की जगह भजन और गीतों की गूँज हो।

An Introduction to Jain Philosophy

Dr. Vijaya Kumar*

Introduction

Indian culture consists of two main trends : Brāhmaṇic and Śrāmaṇic. The Vedic tradition represents Brāhmaṇic culture and Jainism and Buddhism represent Śrāmaṇic culture. The Brāhmaṇic schools accept the authority of the Vedas and Vedic literature. The Jainas and Buddhists have their own canons and canonical literature and they accept their authority, but Jainism is older than Buddhism. Jainism is more prominent than others in the world. According to traditional point of view this religion is without beginning. We can understand this from the term Jina. The name 'Jina' is applied to one who has conquered Rāga (desire) and Dveṣa (hatred). The word 'Jina' is derived from 'Rāgadvesadina Satun Jayatiti Jina'. One who has conquered the internal enemies rāga and dveṣa i.e. one who has rooted out desire and hatred is called a Jina. So, that religion which has been propagated or spread by him is known as the Jaina religion. Because of this reason, his followers are known as Jainas.

Mahavira was the twenty fourth and last Tirthankara of the Jain religion of this era. In the sacred books of the Jainas the time cycle has been divided into two categories: the ascending spiral and the descending spiral, during each of which 24 Tirthankras appear in India and preach religion. It is the descending time-spiral that is running its course now, and 24 Tirthankras have already appeared, of whom Rṣabhadeva is the first and Mahavira

* Lecturer, Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Kauandi, Varanasi-221005.

the last. All the Tīrthankaras, except Pārśvanātha and Mahavira are described as superhuman. As it is believed their birth places, families, symbols, birth all happened millions years ago, they have had their heights in thousands of cubits, lives extending over thousands of years. They all (except Vāsupūjya, Neminātha and Mahāvira) died on the Pārśvanātha Hill, popularly called Parsnath Hill in Bihar. Modern scholars are of the view that all of them except Pārśvanātha and Mahāvira are mythical.

The religion preached by the Tīrthankaras is known as the religion of the Śrāmaṇas or of the Nirgranthas, currently called Jainism. Jainism is purely a religion concerning the soul. For the spiritual development of beings having different kinds of nature, different steps are shown in this system. In this article there is not enough space even to describe their names. Therefore important things are described briefly and in easy language.

Mahavir was born as a prince of Kundagrama, a suburb of Vaishali in Bihar, India. He was born on the thirteenth day of rising moon of Chaitra month, 599 B.C. His Parents name was king Siddhartha and queen Tṛśālā. Siddhārtha was the king of Kshatriyakunḍ. According to Svetambar's literature he had two children other than Mahavira-Nandivardhan, the eldest son and Sudarshna, a younger daughter. On the other hand we find no mention of them in the Digambar's Literature. Siddhartha belonged to the Kashyapa family Line (gotra) and his wife Tṛśālā Devi a member of the Vaśiṣṭha gotra. Siddhartha was resolute, brave and an expert swordsman, but also a great worshipper of non-violence and truth. Accomplished both in virtue and deeds of arms, Siddhartha firmly believed in the world of Lord Pārśvanātha. Lord Pārśvanātha was the twenty third Tīrthankara of Jain Religion.

Mahavira was known by three names- 1. Vardhamana, 2. Mahavira and 3. Śrāmaṇa. His parents fixed his name as Vardhamana or 'Prosperous One', because with his birth the wealth, fame and merit of family increased. The gods gave him the name of Mahavira for his fortitude and hardihood in patiently bearing all sorts of

privation and hardship, for his strictly adhering to the rules of penance, and no less for his indifference to pleasure and pain. He was called Śramaṇa by the people; as he remained constantly engaged in austerities with spontaneous happiness.

Being son of a king, he had many worldly pleasures, comforts, and services at his command. But at the age of thirty, when his parents died, with the permission of his elders he left his family and royal household, gave up his worldly possessions, and became a monk in search of a solution to eliminate pain, sorrow, and sufferings. After observing fast for two days and having put on one garment, he left for a park known as Jñātrkhaṇḍa in a palanquin named Chandraprabhā. He descended from the palanquin under an Aśoka tree, took off his ornaments, plucked out his hair in five handfuls and entered the state of houselessness. For a year and a month since he renounced the world, Mahavira did not leave off his robe. Thereafter he gave up his robe and became unclothed.

He spent the next twelve years of presence and meditation he attained omniscience at the age of forty-two, and thereafter for thirty years to preach his religion in Northern India. During this period, his spiritual powers fully developed and at the end he realized perfect perception, knowledge, power, and bliss.

In the thirteenth year of his yogic life, in course of wandering on the outskirts of the village called Jambhia, situated on the bank of the river R̥jubālukā, near the temple of a Yakṣa named Vaijāvṛtta, in the fields of a man named Samaga (Śyāmaka), on the tenth day of the bright fortnight of the month of Vaiśākha, in the fourth prahar (part) of the day, under the auspices of the star Utrāfālguni, at the foot of a śāla tree, and in the stage of a two days fast and deep meditation Mahavira attained the Kevalajñāna or the perfect enlightenment. After he realized this knowledge, he wandered on, knowing and seeing all the actual tendencies and attitudes of minds, speeches and bodies of all creatures in all the worlds. The trumpets of the gods sounded in the heavens. Then the Śramaṇa Lord Mahavira became Arhat, Jina, Kevali, all knowing and all

seeing. He knew and saw the grades mutations of all the worlds including those of the gods, men, and titan's etc¹.

The life of Lord Mahavira is full of revolution, Mahavira himself was an embodiment of revolution. He led the people from darkness to light and taught them the art of living. He not only radically changed the social life of those days but also the mental pattern of life of the people and that is still influencing the people today. He endeavors and succeeded in completely changing the society by the over-all progress of an individual. There is no doubt Mahavira was a great teacher, but it is a misfortunate that we have got no direct information regarding his gospel. All our information is secondary and comes from the Ācāryas. The Ācāryas says that whatever they say is the word of Sarvagya, but how can we convince others of this truth in the absence of any direct proof? The Jaina Literature, as given by our Ācāryas, is likely to make them hesitate from taking it for granted that they say the word of Sarvagya. Mahavira teachings are embedded in canonical texts Aṅgas, and they are interpreted by series of commentaries known as Niryukti, Cūrṇis, Bhāṣya and Tīkās. Individual topics are discussed in manuals and further illustrated by extensive narrative literatures. The Aṅgas come in the course of time to be known and acknowledge as the only authoritative sacred books of Jainism. They were expressly referred in the Sūtrakṛtāṅga as the 'Canon of the Jainas', which has been taught, produced and declared by the 'Śramaṇas, the Nirgranthas'. The Digambras, however, refuse to recognize the authenticity of the Aṅgas. The Aṅgas are the main set of text upon which we should rely in giving an account and estimate of Mahavira teachings.

Mahavira messages are mainly based on the concept of self-realization for ultimate attainment of Mokṣa. Mokṣa, the ultimate objective of his teaching is how one can attain total freedom from the cycle of birth, life, pain, misery, and death, and achieve the permanent blissful state of one's self. This is also known as liberation, nirvāṇa, absolute freedom. Mokṣa is a real state of sukha or bliss.

But question arise that if Nirvāṇa or Mokṣa is real state of sukha or bliss, the opinion that 'Pleasant things are produced from pleasant things' introduces 'Mokṣa is a pleasant thing achieved through a comfortable life. But another pleasant thing' is opposed and proved to be futile. The Sukha or infinite bliss was the goal of Mahavira's religious life, which was not to be measured by the finite happiness of mortals. So the main aphorism of Mahavira's teachings was: The Infinite bliss is not fortunate among men as the reigning monarchs, it is reachable only through dukkha or pain of foregoing and forsaking all finite happiness. True Happiness must be free from every possibility of pain even in the future. This can only be found in Mokṣa and hence its importance. The way to the Mokṣa is the main object of every Jaina work.

Tṛratna

First sūtra of Tattvārthasūtra a famous work of Umāsvāti has introduced the path of liberation in these word 'Samyagdarśana-jñānacāritrāṇi mokṣamārgah'². This is trio spiritual jewels. The three jewels are right faith, right knowledge and right conduct. Right faith (samyak darśana), right knowledge (samyak jñāna), and right conduct (samyak cāritra) together is the real path to attain the liberation from karmic matter of one's self. These trios do not represent three different paths, but are the three facets of the same path. Of the three, Right faith (samyaka darśana) is the most important. In its absence, no knowledge, however much, wide and varied, or objectively correct can be called Right Knowledge, and no conduct, however, noble and moral, can be described as Right Conduct. The Uttarādhyāyānasūtra³ envisages without right faith, there is no right knowledge; without right knowledge, there is no virtuous conduct; without virtue, there is not deliverance; and without deliverance, there is no perfection.

Right Faith

Right Faith (Samyagdarśana) is considered to be the prime cause of mokṣa in as much as it paves the way to right knowledge and right conduct. Right faith removes all doubt and skepticism

from one's mind and helps to establish or reestablish faith. It is no ordinary or blind faith that inspires action by opening a new view of life and the possibility of its perfection.

Right Knowledge

Right Knowledge consists of the knowledge about substance, attributes and modes. Right Knowledge as spiritual knowledge enables the individuals to appreciate the nature of the soul in its proper perspective, and this enables him to adopt necessary practical steps leading to mokṣa.

Right Conduct

Proper, correct, appropriate and truly natural conduct of the soul, which is conducive to its salvation, is known as Right Conduct. The Jaina say that there may be Right Knowledge and Right Faith, if these are not accompanied by Right Conduct all are worthless.

Five great Vows : Aṇuvrata and Mahāvratā

There are two kinds of vows-small and great. The vows of a lay-votary (householder) are called small, because he is unable to desist from violence etc. completely and the vows of an ascetic (homeless) are called great, in as much as the desist from all sins completely. The lay-votary vows are partial, whereas those of the ascetic are complete. The five Aṇuvratas and five Mahāvratas are related to Ahimsa (non-violence), Satya (truth), Asteya (non-stealing), Brahmacharya (continence or sense control) and Aparigraha (non-possession). Since these are observed partially by a lay-votary, they are called aṇuvratas in his case. An ascetic observes them completely, and therefore, in his case they are known as mahāvratas. These are to be practiced in their most rigorous form without indulging in relaxation in any way. A Śramaṇa observes these five great vows most appropriately. These vows are strictly to be observed by the monks, i.e. in speech, in mind and in deed and this until their death. In other words I may say these five great vows are carried on through three means (Triyoga) and in three ways (trikaraṇa i.e. in speech, mind and action), but the five small vows are carried

on through three sense organs- in mind, body and speech in two ways, viz. by doing it himself or by getting it done through others. The aṇuvratas are technically known as: sthūla-prāṇātipātavīramāṇa, sthūla-mṛṣāvāda-vīramāṇa, sthūla-adattādāna-vīramāṇa, svadāra-santoṣa and icchā-parimāṇa. These vows (aṇuvratas and mahāvratas) are dependent on the distinction between sthūla (subtle) and sūkṣma (gross). These five principles are:

1. Ahimsa : Non-Killing and Non-Violence,
2. Satya : Truth-Abstain from telling lie.
3. Asteya : Non-Stealing.
4. Brahmacharya : Celibacy
5. Aparigraha : Non-Attachment and Non-Possession.

Ahimsa (non-violence)

The Jain conception of Ahimsa is quite different from what is commonly understood by non-violence. Ahimsa is the fundamental principle of Jainism forming the cornerstone of its ethics and doctrine. Ahimsa means 'non-violence', 'non-injury' or absence of desire to harm any life form. Ahimsa does not merely indicate absence of physical violence, but also indicates absence of desire to indulge in any sort of violence. It means not to injure any life, whether small or big, but to give protection to all jivas. Ahimsā implies not only killing, but also torturing or forcing a living creature to act against his will. To desist from such acts is ahimsa. In the words of Umasvati, himsa is injury of violence caused to the living organism and actuated by passions like pride, prejudice, attachment and hatred. This makes it clear that the physical act is not separated from the mental attitude, and the two are equally important. Co-ordination between mind and body is thus necessary for the practice of Ahimsa. This should be accompanied by proper and measured speech. Therefore, the principle of non-violence implies purity of thought, word and deed. A Jain ascetic is expected to uphold the vow of Ahimsa to the highest standard, even at the cost of his own life. Monks not only observe this form of Ahimsa themselves, but also do not advise anybody to do such acts which cause death

or injury to any living organism nor approve such acts, if others do it.

Satya (non-lie)

The second great vow is non-lie is complete abstention from all kinds of lies by all the ways, as described above. In case a truth uttered causes pain or death to a living being, speaker should remain silent. Little talk is the best way to practice this vow and the situation is inconvenient to leave the place. A man who talks much inevitably indulge in falsehood.

Asteya (non-stealing)

Stealing is abandoned for ever. A Jaina Sadhu does not use even a very small thing without obtaining the permission of its owners. The vow of non-stealing restricts the use of things to what one has so that he does not even pick up a fruit fallen under a tree unless bestowed on him by the master of tree.

Brahmacarya (maithunviramaṇa)

Brahmacarya means abstaining from immoral conduct or non-sex. Monks are required to observe this vow strictly and completely. From the time the Jaina Sadhu takes up Dīkṣā till the end of his life he practices the vow of Brahmacarya. He does not touch women. If by accident he happens to touch even the garment of a woman he has to do prāyaścitta (expiation). They themselves do not enjoy sexual pleasure, nor ask another to do the same nor approve of it. If they had any experience of sexual pleasure in their past domestic life, they will not now think of it and observe this vow strictly.

Aparigraha (non-possession)

The fifth and last great vow is aparigraha. Monks are required not to have attachment to any thing viz. wealth, property, grains or house, whatever it may be. They do not use any carriage, horse, cycle, motor car, plane or other vehicles. From country to country and place to place they go on foot only. They do not use umbrella, sandals, boots etc. They do not prepare their food themselves. In the same way as a bee collects honey from different flowers, the Sadhu goes to separate houses for collecting food.

The Nine (or Seven) Tattvas

The main system of Jainism came to be represented as navatattva or doctrine of nine terms⁴. In Jaina metaphysics the terms sat, sattva, tattva, tattvartha, artha, padartha and dravya have been used in various contexts as equivalent terms. However, these terms have their variations of uses. Acarya Umaswati in his *Tattvārthsūtra* has used the word tattvarth, sat and dravya in similar way, in the context reference to substance. According to Dr. M.L. Mehta- "In the Jaina canons we do not find the word 'sat' as the criterion of reality or substance. Only the word 'dravya' has been used there. As it is mentioned in the *Anuyogadvarasutra* that the universal criterion of reality is 'dravya' (substance) and the particular characteristics of reality are the Jiva dravya and the Ajiva dravya, i.e. the conscious substance and the non-conscious substance. Umaswati developed this canonical conception of 'dravya' (substance) into 'sat' (existence) and made no distinction between 'sat' and 'dravya.' His language was philosophical rather than canonical. Although he mentioned 'sat' as the criterion of reality, yet, he did not define 'sat' in the same manner as it was defined by the other philosophical system"⁵. *

There are three fundamental approaches to the numbers of tattvas:

1. From the point of view of the cosmic order, it can be said that universe consists of two fundamental principles-Jiva (living substance) and ajiva (non-living substance).
2. From the point of view with the elements of the spiritual considerations, we can say that there are seven tattvas. These are jiva (soul), ajiva (Non-living substance), āśrava (influx of karma), bandha (nondage of karma), samvara (arrest of the influx of karma), nirjarā (exhaustion of karma) and mokṣa (liberation).
3. From the point of view of ethical and religious elements we have nine principles which include the seven principles mentioned above and two more are added i.e. pāpa and puṇya.

The Digambaras as well as some Svetambaras take the number of tattvas to be seven, for they do not regard puṇya and pāpa as separate tattvas but include puṇya among the samvara and pāpa among the āśrava. The *Uttarādhyayānasūtra*⁶, *Sthānāngasutra*⁷, *Samvayangasutra*⁸, *Saddarsanasamucaya*⁹, and *Pancastikaya*¹⁰ have mentioned nine principles. Acarya Nemicanda has stated in *Dravyasamgraha* that there are two-fold distinctions in the Tattvas-jiva and ajiva¹¹. Acarya Umasvati has included, in the *Tattvarthsutra*¹², the principles of puṇya and pāpa in the principle of āśrava or bandha and mentioned the seven distinctions of the tattvas. But in reality the principles of jiva and ajiva comprehend the whole world. The other five principles simply explain how the soul is defined by coming into contact with karma, and ways and means of becoming free from it. We too shall regard the tattvas as seven in number.

1 Jiva (Soul)

Jiva has been characterized as 'Upyogo Lakṣaṇm.' It means Upyoga is the characteristic of Jiva. Upyoga denotes the power of knowing. The power of knowing may be seen in consciousness. Where there is no consciousness there can be found no power of knowing. Therefore Jiva may be known as possessor of consciousness (cetanā). Upyoga consists of knowledge (Jñāna) and faith (Darśana). But every jiva whether it is small undeveloped insect or developed human being, possesses four infinities (Ananta Catuṣṭaya):

- i. Infinite Faith (Ananta Darśana)
- ii. Infinite Knowledge (Ananta Jñāna)
- iii. Infinite Bliss (Ananta Ānanda)
- iv. Infinite Power (Ananta Vīrya)

There are two types of Upyoga - Jñānopyoga and Darśnopyoga. The Jñānopyoga is determinate (Savikalpa) while Darśnopyoga is indeterminate (Nirvikalpa)

Jñānopyoga

There are two types of Jñānopyoga-a. Svabhāvajñāna- The knowledge which is related to soul and which needs no help from any sense or mind, known as Svabhāvajñāna. It is also named as

Kevaljñāna, which is a complete knowledge or omniscience. So the Kevali is addressed as omniscient. b. Vibhāvajñāna – The knowledge which is incomplete and which needs help from different senses, mind and soul also is known Vibhāvajñāna. The Vibhāvajñāna is divided into two classes – Samyak-Jñāna (Right Knowledge) and Mithyā Jñāna (False Knowledge)

Samyak-Jñāna has four types-

1. Matijñāna- The knowledge which based on senses and mind is known as Matijñāna, such as sight, touch, taste, smell, sight sound etc.
2. Srutajñāna- The knowledge which is attained by going through scripture and hearing the teachings of saints, seers and great scholars.
3. Avadhijñāna- It has limitation of time, though it is achieved through soul.

Ajiva

Ajiva is not only non-jiva but is also anti-jiva, which means that is not only the absence of the qualities of jiva which characterizes ajiva, but ajiva is also antagonistic to jiva by nature. As we have seen Jaina philosophy starts with a perfect division of the universe into living and non-living substance, jiva and ajiva. The ajiva, i.e. non-living or non-soul substance are of five kinds, namely, (i) Pudgala i.e. matter, (ii) dharma i.e. medium of motion, (iii) Adharma, i.e. medium of rest, (iv) ākasa, i.e. space and (v) kāla, i.e. time.

These six substance (jiva and five kinds of ajiva) are called dravyas, i.e. elementary substance in Jaina philosophy. A dravya has got three characteristics as follows: (i) dravya has the quality of existence, (ii). dravya has the quality of permanence through origination and destruction and (iii). dravya is the substratum of attributes and modes.

Pudgala (matter)

Atom (parmāṇu) or combination of atoms is called pudgala. 'Pudagal', in the Jaina philosophy, is the technical term used for matter. Etimologically it means that which is capable to integrate

and disintegrate itself. It is also named as 'Rupi, because it is touched, tasted smelt and seen. It is the combination of innumerable parts. The smallest part of a 'Pudgala' which further cannot be divided is called as 'anu' or atom. An atom occupies simply one Pradeśa, but not vice-versa. A paradeśa may have one atom or more than one. The atom cannot be perceived by our sense organs, they too have the qualities of form, taste, smell, touch and sound.

Dharma (Medium of Motion)

Dharma is a principle of motion. If this principle of motion never existed it would not have been possible for a jiva or pudgala to move. Generally the word 'Dharma' is used for 'duty' or 'morality' but here it has been used in some technical sense. Umasvati defines it as a permanent, eternal and fixed substance. 'Dharma' consists of numberless (asnkhya) 'Pradeśas' and is without consciousness. It is immaterial. It supports souls and the matter while they make any movement from one place to another. Though it helps all souls and matter to move, it cannot make them move. It is only the helper of Jiva, as water is the helper of fish.

Adharma (Medium of Rest)

'Adharma' is also technical world, like 'Dharma.' It is used generally for that which is unreligious or unrighteous, but in Jaina literature it is used technically for the medium of rest. It helps a moving jiva or pudgala to stop, if it desires to stop. Adharma is also non-corporeal, devoid of all sense qualities and pervades the whole loka.

Ākāśa (Space)

Akasa gives room for jiva and pudgala to exist. It is that one in which all jivas, pudgalas, dharma, adharma and kala are accommodated. It is eternal and pervasive. It is formless and imperceptible. According to Jainsim, Akasa is divided into two divisions Lokākāśa and Alokākāśa. The Lokākāśa is the same universe in which we are living. But beyond this universe or Lokākāśa, there is another division of Ākāśa which is named as Alokākāśa in which there is no substance like that of the Lokākāśa.

Kāla (Time)

That which is cause or circumstance of the modification of the soul and other dravyas is kala that is time. It is immaterial and it has the peculiar attribute of helping the modification of other substances. As Umasvati defines, Kala or times is essential condition of duration, motion, change, newness and oldness. Kala consists of innumerable minute particles which are indivisible. Many Jaina scholars has made distinction between kala and samaya. Technically kala is named as 'Parmarthika Kala, while 'Samaya' is known as 'Vyavharika Kala.' Parmarthika Kala is one. It has neither beginning nor end. It has eternal and formless. The Vyavharika Kala or empirical time is limited and conventionally it is divided into years, month, weeks etc.

Āśrava

The causes which lead the influx of good and evil karma for the soul are called āśrava. Just as the mouths of channels, drains etc. which are instrumental for the flow of water into a tank may be regarded as its āśravas, so also those factors by means of which karma enters into the jiva viz. yoga or the activities of the body, mind and speech are called āśrava, inflow. In short, āśrava may be described as attraction in they jiva towards sense objects. Mithyatva (ignorance), avirati (lack of self-restraint), kaṣāya (passions like anger, conceit, deceit and lust), pramāda (unmindfulness) and yoga (activities of mind, body and speech) are the five causes for the influx of good and evil karma and hence they known as āśrava.

Bandha

Bandha is the attachment of karma pudgala to the soul. When the karmic matter enters the soul, both get imperceptibly mixed with each other. This combination of the jiva with pudgala is bandh or bondage and the cause of this bondage are the kasayas. The cause of bandha or bondage are five, viz. (i) mithya-darśana, i.e. wrong belief or faith or wrong perception, (ii) avirati, i.e. vowlessness or non-renunciation, (iii) pramāda, i.e. carelessness, (iv) kaṣāya, i.e. passions, and (v) yoga, i.e. vibrations in the soul through mind, speech and boyd.

Samvara

Samvara is the principle of self-control by which the influx of sins is checked or stopped. The category of samvara comprehends the whole sphere of right conduct. It can be accomplished by constant practice of restraining the mind, body and speech, by religious meditation, conquering of desire, forgiveness, tenderness, purity, truth, austerity, renunciation, un-attachment, chastity, abstention from evil action and avarice etc.

Nirjarā

Partial wearing off of karma-bondage is called nirjarā viz. nirjarā consists in the wearing out of the accumulated effects of karma on the soul by the practice of austerities, and Mokṣa, which logically follows from nirjarā, signifies the final deliverance of the soul from the bondage of Karma. Just as when a tank is to be made waterless, the inflow of water into the tank is first to be stopped and then the water already accumulated in the tank is to be removed by strenuous effort, so also in removing the pudgala bondage of the soul, the accretion of further karma is to be prevented by samvara and then the karman already previously accumulated is to be worn off by nirjarā.

Mokṣa

Mokṣa is the liberation of the soul after complete exhaustion or elimination of all karmas. Mokṣa is the essential point in the teaching of Mahavira which is generally understood as emancipation. It really means the attainment of the highest state of sanctification by the avoidance of pain and miseries of worldly life. This state of the soul is the liberated or perfected state and this is nirvāṇa. Perfect belief, perfect knowledge and perfect conduct-these three constitute the road to mokṣa. The liberated soul does not expand to the extent of the universe, as there is no cause for it. The expansion or contraction of the soul is determined by the physique-making karma. Since there is no physique-making karma in the state of emancipation, there is neither expansion nor contraction in the case of the soul in liberation. All liberated soul is essentially equal.

Anekāntavāda-Syādvāda-Nayavāda

Jaina philosophy is based on the nature of reality which is considered through non-absolutism, i.e. Anekāntavāda. The entire super-structure of the Jaina Metaphysics is standing on the edifice of Anekāntavāda on whatever matter Jaina dharma reflected upon it has done so from the point of view of Anekāntavāda only. Basically Anekāntavāda is the heart of Jaina Metaphysics and Nayavāda and Syādvāda are its main arteries. Or, to use a happier metaphor, the bird of Anekāntavāda flies its two wings of nayavāda and Syādvāda. The term 'Anekānta' indicates the ontological nature of reality, according to which every object possesses infinite aspects. When we speak of a particular aspect, we have to use the word 'syāt', i.e., from a particular point of view or as related to this aspect, this object is such and not otherwise. As for instance, when we speak of the aspect of existence of a pot, we choose the 'existence' aspect of that pot which possesses many other aspects as well. We make a statement about the aspect of existence, i.e. in relation to the aspect of existence, the pot exists. It means to view the things from only one angle is incomplete and un-authentic evaluation, on the other hand, the way of evaluation of things from different angle and revelation of their qualities is complete and authentic one. This style of evaluation is 'Comparativism' (Apekṣāvāda) is pluralism. Pluralism stands for understanding and evaluating the things from the different angles. Suppose a man is standing in the market. A boy comes there and he addressed him as a father. From the other direction and old man reaches the spot and says to him O child. From the third direction comes a middle aged man and talks to him in a brother way. But the same time from the fourth direction comes a student and he recognizes the man as a teacher. The purpose of this example is to explain that the same man is being addressed and recognized by different labels. All the four fight on this point that the man under reference is only father, son, brother and teacher. Now Anekāntavāda says here, a man possesses many aspects like those of father, son, brother

and teacher etc. In relation to his son, he is father. Thus, he is a father as related to his son, i.e. relatively he is a father. In this way he has numerous designations. One man has so many qualities, but for different persons in situation. According to Jainism every object of experience is complex, and it can be viewed neither analytically part by part, nor wholly in an integral vision. The first is covered in the doctrine of nayas, the second in that of Syādvāda¹³.

The Anekāntavāda gets expressed through a language which is called the language of 'Syādvāda'. 'Anekānta' is thus an attitude and 'Syādvāda' its manifestation through a specific style of word-utterance. The theory of 'Syādvāda' is also called 'Anekāntavāda', because the relativity of judgment is nothing but a relative judgment about an object that possesses infinite aspects of qualities. In other words the relative judgment is not possible unless the object for which that judgment stands is Anekāntavāda. Hence the judgment that stands for an object possessing many characteristics is also known as Anekāntavāda.

According to Jaina literature, to understand any truth or reality, there can be two different forms. One is to know it fully well and the second to know it up to certain extent. These are known as Pramāṇa and Naya. Nayas are divided into two types viz., dravyārthika and paryāyārthika. Dravyārthika naya is of three types, viz., Naigama naya, Samgraha naya, Vyavhāra naya, Paryāyārthika naya, is of four types, viz., rjusutra naya, Subda naya, Samabhirūdhā naya and Evambhūta naya. On the same lines, in spiritual discussions, the things could be described both from a practical point of view and from a realistic point of view. Thus when things are described from the practical point of view, it is termed the Vyavhāra-naya; and when things are described from the pure of realistic point of view, it is termed the Niścaya naya.

Naigam naya (universal-particular or teleological point of view) which described things without distinguishing between their general and special properties.

Samgraha naya (the class point of view) which deals exclusively with the general qualities of things.

Vyavhāra naya (the standpoint of the particular) takes into consideration a general object possessing specific properties. (*Nayakarika*, 8) It does not deal with generally in the sense as the samgraha naya deals with it.

Rjusutra naya (the standpoint of the momentariness) studies things as they exist in the present, and without regard to their past and future aspects.

Sabda naya (the standpoint of synonymous) pays exclusive attention to number, gender, tense etc. of the word employed.

Samabhirūdhā naya (the etymological standpoint) is the standpoint of an etymologist who distinguishes between synonymous words on etymological ground.

Evambhūta naya (the such-like standpoint) literally such like, hence the point of view which describes things by word expressing their special functions. e.g. to call a man a devotee because of his being engaged in devotion.

Acārya Akalamka defines the naya as *Nayjnatrabhiprayh* i.e. naya is a particular approach of the knower, a synthesis of these different points of view is a practical necessity; therein every point of view must be able to retain its relative importance and this is fulfilled by the doctrine of Syādvāda.

Syādvāda is a true doctrine whereas Ekāntavāda is a false one. To speak of a thing only from one stand point will not help us to know the full truth, because it has to be studied from other standpoint also. Syādvāda defined as the doctrine that helps us to study a thing from many standpoints and know its nature. It helps us to understand the complete nature of a thing. It will be mere illusion to speak of a thing as such, from studying only one quality or aspect of a thing. Because at one and the same time there are many characteristics found in one and the same thing. We are able know the real truth about a thing only with the help of Syādvāda.

There are, according to this doctrine (Syādvāda), seven-fold

of metaphysical propositions, and all contains the word 'syat' e.g. syad asti sarvam, syad nasti sarvam. Syat means 'may be', and is explained by kathamcit, which in this connection may be translated 'somehow.' The word syat here qualifies the word asti, and indicates the indefiniteness of being. For example, we say, a jar is somehow, i.e. it exist, if we mean thereby that it exists as a jar; but it does not somehow, if we mean thereby that it exists as a cloth or the like.

From the point of view of grammatical presentation of the propositions, there are three forms of predications- the affirmative, the negative and the one which gives expression to the idea of indescribability. Of these, the first kind affirms and the second denies the existence of a quality, property or thing, but the third declares an object to be indescribable. A thing is describable when both existence and non-existence are to be attributed to it at one and the same time. These three forms of judgment give rise to seven possible modes of predication¹⁴ which are as follows:

1. Syāt-asti- From a particular point of view 'it is.' A pot exists as a pot.
2. Syāt-nāsti- From a different point of view 'it is not.' From the point of its nature, other than its own and its expression of other forms like place, time and the material out of which it is made, the pot is not a pot.
3. Syāt-asti-nāsti- From a still different approach to problem 'it is and not.' From the point of view of the four-fold scheme of expression of self-nature (svacatuṣṭaya-dravya, kṣetra, kāla and bhāva), the pot exist as pot and from the point of view of the expression of the other nature (paracatuṣṭaya) the pot does not exist as pot.
4. Syāt-avaktavyam- From a point of view, 'it is inexpressible.' This fold refers to the impossibility of simultaneous affirmations and negations of the characteristics of the pot.
5. Syāt-asti-avaktavyam- From another point of view, 'it is and is inexpressible.' This fold affirms the existence of the pot as

a pot, but expresses the inability to express the full nature the pot.

6. Syāt-nāsti-avaktavyam- From another point of view, 'it is not and is inexpressible.' This predication is a composite predication of negation and inexpressible.
7. Syāt-asti-nāsti-avaktavyam- From a different point of view 'it is, it is not and is inexpressible.' This predication is a composite predication of affirmation, negation and inexpressibility. .

The seven-fold system of predication is called the Saptbhāgi, and stands in the same relation to philosophy as grammar does to speech. The Jainas hold that every aspect of an object can be viewed from seven-stand points, every one of which is true but the whole truth about that aspect lies in the combination of all these seven views. This seven-fold declaration of judgment in regard to everything a peculiar and unique method of Jaina dialectic.

According to Vasunandi there is no contradiction involved and no violation of the Law of Non-contradiction in applying opposite predicates to the same thing, because they are applied to its different aspects according to matter, state, space and time¹⁵.

The Theory of Karma

The doctrine of karma is the most important doctrine in Indian thought. Karma is the basic pre-supposition of Indian thought. According to this doctrine, time, temperament, nature, etc. are all ineffective. Everywhere karma (deeds act) reign supreme. Two children are born to a mother, one them is wise, while the other one is an idiot. One is beautiful and attractive; the other has very ugly appearance. One is king and another is a poor man, one is happy when another is miserable, one is sickly person while another is without any sickness. All these wonderful appearances are due to what? After seeing all these things we have to understand that a powerful force named karma is working behind them. All the human beings differ from each other to a great extent, and this differentiation is justifiable on logical grounds. Karma can elevate a poor man to the highest status of king in the society and vice-

versa. It is karma that puts the soul in a suitable body, it tends to move its limbs and act.

The Jainas have considered karma as material in nature. The particles of matter which enter the soul and get intermingled with it are called Karma in the Jaina terminology. The karmic particles affecting the soul are called karma-vargaṇās. The particles of matter which are responsible for constituting the body are called 'nokarma-vargaṇās.' Jiva attracts the karma-vargaṇā by the activity which is three fold, i.e. bodily, speech and mind. The karmic encrustation with the jiva is due to these activities and the activities are in turn specified by the karmic encrustations. In this way the karmic particles of encrustations and the yoga of the jiva are mutually interactive. Karma and the tendency to activity are intimately related with each other with the mutually casual relation¹⁶, in the state of bondage, jiva and karma are more intimate than milk and water. But the liberation of jiva (soul) from matter is possible by certain means. The soul must stop the influx of new karmas and eliminate the acquired ones. Through this two-fold method, it can attain the ultimate goal, i.e., emancipation.

Type of Karma

There are eight types of karma has distinguished in Jaina Philosophy. These are:

- i. Jñānāvaranīya karma which obstructs the knowledge of soul.
- ii. Darśnāvaranīya karma which obstructs right faith.
- iii. Vedanīya karma which cause sensations or feelings of pain and pleasure.
- iv. Mohanīya karma which cause infatuation and affects right belief and right conduct.
- v. Nāma karma which determines the personality of the being, viz., his body, structure etc.
- vi. Gotra karma which determines the gotra, family or descent etc.
- vii. Āyu karma which determines the duration of life.

viii. Antarāya karma which obstructs charity, prosperity, pleasures and the prowess of the soul.

Out of these eight karmas divided into two fold-ghāti and aghāti. Ghāti karmas are those which an encased soul can terminate while still in body, but aghāti karmas terminate only when the soul is permanently separated from the body. Four ghāti karmas are jñānāvaraniya, darśnāvaraniya, mohaniya and antrāya and four aghāti karmas are vedaniya, āyu, nāma and gotra.

Karma and Rebirth

Rebirth is very closely associated with the karma and jiva. The karma of the past life is responsible for the present life¹⁷. Karma of the present life will be responsible for the future life. According to *Dasavaikalikasutra* krodha (anger), māna (ego), māyā (deceit) and lobha (greed) are the root cause of the cycle of births¹⁸. The Jainas are accepted four states of existence: the human, the lower animal, the heavenly beings and the infernal world. The karmas that it has accumulated determine its existence and status in the next life. Tattvārthabhāṣya consists when the karmas are removed the soul reaches perfection and liberated. One the karmas are removed and the soul reaches perfection, fresh karma would not enter into the soul, just as the fried seeds do not sprout.

Reference

1. *Kalpasutra*, 121.
2. *Tattvarthasutra*, 1/2, Vivecaka- Pt. Sukhlal Sanghvi, Pub.- P.V. Research Institute, I.T.I. Road, Varanasi-221005.
3. *Uttaradhyayanasutra*, Editor- Sadhvi Chandna, 28/30, Pub.- Virayatan, Rajgriha, Bihar.
4. *Uttaradhyayanasutra*, Editor- Sadhvi Chandna, 28/14, Pub.- Virayatan, Rajgriha, Bihar.
5. Mehta, Mohanlal, *Jaina Philosophy*, PP. 60-61, Pub.- P.V. Research Institute, Hindu University, Varanasi-221005.
6. Jivajiva va bandha ya punnam pavasavo taha. Samvaro nijjara mokkho santeya tahiyanava. *Uttaradhyayansutra*, 28/ 14.
7. Nava sabhava payattha pannata tanjaha jiva ajiva punana pavo asavo samvaro nijjara bandho mokkho. *Sthanangasutra*, 9, Abhayadevasuri Tika, P. 422.

8. Jivajivasrav Aandhasa Samvaranirjarapunyamoksasyannavapdarthan. *Samavayangasutra*, Abhayadevasuri Tika, P. 110.
9. Jivajivao tatha punyam papamasravasamvarao. Bandhao vi nirjaramoksao navatattvani tanmate. *Saddarsanasamuccaya*, 47.
10. Jivajiva bhava punna pavam ca asavam tesim. samvaranijjarabandho mokho ya havanti te attha. *Pancastikaya*, 108.
11. Jivamjivam davvam jinavaravasahena jena nidittham. devindavindavandam vande tam sav vada sirasa. *Dravyasamgraha*, 100000.
12. Jivajivasravabandhasamvaranirjaramoksastattvam. *Tattvarthsutra*, 1/4.
13. *Nyayavtara*, Siddhasena Divakara, karika, 30.
14. *Bhagavatisutra*, 9/5.
15. *Vasunandi*, 47.
16. Shastri, Devendra Muni, *A Source Book in Jaina Philosophy*, PP. 429-430, Pub.- Sri Tarak Guru Jain Granthalaya, Sastri circle, Udaipur (Rajasthan).
17. *Bhagavatisutra*, 2/5.
18. *Dasavaikalikasutra*, 8/39.

जैन दर्शन में मन-एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. नेमिचन्द्र जैन*

संसार में रहने वाला प्राणी शरीर और आत्मा सहित होता है। प्राणी उसे कहते हैं, जिसके प्राण होते हैं। जैन दर्शन में आचार्यों ने मूलतः चार प्राण माने हैं परन्तु भेद करने पर दश प्राण माने गये। यथा-

तिक्काले चदुपाणा इन्द्रियबलमाउआणपाणो य।

व्यवहारो सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स।। - द्रव्यसंग्रह, गा. 3

मूलतः इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं जिसके ये प्राण होते हैं उसे व्यवहार नय से प्राणी या जीव कहते हैं। निश्चय नय से जिसमें चेतना होती है वह जीव है। इन्द्रियां पाँच, मनबल, वचनबल, काय (शरीर) बल, आयु और श्वासोच्छ्वास कुल दस प्राण माने गये हैं। जिनके इनमें से कोई भी प्राण एवं आत्मा होती है तो उसे जीवित प्राणी कहा जाता है। प्राण का संबंध शरीर से होता है अतः वे सब जड़ तत्व के अन्तर्गत आते हैं। चेतना सहित प्राण धारण करने वाले को प्राणी कहा जाता है और जीवित माना जाता है। जिनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं कार्य होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है:-

पञ्चोन्द्रियाणि-सूत्र 15/अ.2, स्पर्शनरसन-घ्राण-चक्षुश्रोत्राणि, सूत्र 19/अ.2

जैन दर्शन में संसारी जीव दो प्रकार के माने गये हैं त्रस एवं स्थावर-संसारिणस्त्रसस्थावराः त.सू.अ.2, सू.12। स्थावर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई अवस्था विशेष को स्थावर कहते हैं ऐसे जीव पाँच प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति काय इन सबके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है और प्राण चार होते हैं जैसे स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

त्रस नाम कर्म के उदय से दो इन्द्रिय से पाँच इन्द्रियतक के जीव त्रस हैं-
द्विन्द्रियादयस्त्रसाः - त.सू.अ.2-14

दो इन्द्रिय जीव के 6 प्राण होते हैं- स्पर्शन, रसना, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। जैसे-लट्ट, शंख, जोंक, केंचुआ आदि। तीन इन्द्रिय जीव के 7 प्राण होते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, जैसे - चींटी, चीटा आदि। चार इन्द्रिय जीव के आठ प्राण होते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कायबल,

* सेवानिवृत्त प्राचार्य, गुरुकुल रोड, खुरई।

वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास, जैसे - मक्खी, मच्छर, भौरा आदि। पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं, एक मन सहित जैसे-गाय, भैंस, मनुष्य, पक्षी आदि। दूसरे मन रहित - मन रहित कोई तोता और सांप। मन रहित जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, कायबल, वचनबल, आयु, स्वासोच्छ्वास नौ प्राण होते हैं। मनसहित जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, कायबल, वचनबल, मनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास दस प्राण होते हैं। सभी प्रकार के जीवों में चेतना अर्थात् आत्मा एक अतिरिक्त प्राण के रूप में होता ही है। दस प्राण सहित को संज्ञी कहते हैं। संज्ञिनः समनस्काः - त.स., अ.2, सू. 24.

हित-अहित की परीक्षा तथा गुण-दोष का विचार और स्मरणादि करने को संज्ञा कहते हैं। हिताहित में प्रवृत्ति मन की सहायता से ही होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मन का अति महत्व है। मन और इन्द्रियों के कारण होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान माना गया है। -तदिन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तिम् - त.सू., अ.1, सू. 14.

इस सूत्र में मन को अनिन्द्रिय कहा गया है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में अनिन्द्रिय को ईषदिन्द्रियमिन्द्रिमिति कहा है।

इस प्रकार जैन दर्शन में मनबल, अनिन्द्रिय, ईषदिन्द्रिय, समनस्क, नोइन्द्रिय आदि शब्दों का प्रयोग कर मन के महत्व को स्वीकार किया गया है। आत्मकल्याण करने के लिए मन का होना अति आवश्यक है।

अब अन्य भारतीय दर्शनों में मन की स्थिति पर तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

वैदिक साहित्य में मन

वैदिक साहित्य में वर्णित प्रसंगों में मन को स्वीकार तो किया गया है पर इन्द्रिय के रूप में नहीं। जैसे-

अथर्ववेद-काण्ड 21 में पाते हैं कि 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणः संश्लिष्टानि' अर्थात् ये पांच इन्द्रियां मन के साथ छः होकर ब्रह्मा के द्वारा हृदय में उड़ेली गयी हैं। यहाँ पर मात्र पांच ही इन्द्रियों के होने का उल्लेख है। जब मन का इनसे योग होता है तब ये छः हो जाती हैं।

बाद के दार्शनिकों ने मन को इन्द्रिय में प्रतिष्ठापित करने में निम्नानुसार तर्क प्रस्तुत किये हैं कि 'मन के साथ छः होने का अर्थ मन का इन्द्रिय होना ही है। मीमांसा दर्शन में वेदों के अनुवाद में सविस्तार आख्यान मिलता है जिसमें सापेक्ष कथन वर्णित है कि हम वेदों में "यजमान पंचमा इडा भक्षयन्ति" अर्थात् पाँचों यज्ञ भाव सहित इडा (बुद्धि) का भक्षण करती हैं। यहां चार-चार प्रकार के ऋत्विक् पुजारी हैं और पाँचवां यजमान है। अतः यह कभी नहीं कहा जा सकता कि "यजमान के साथ मिलकर पाँच" में यजमान भी एक (ऋत्विक्) वेद कराने वाला है। यजमान हमेशा पुजारी से भिन्न हैं। कल्पना की किसी भी सीमा में वह पुजारियों की कोटि में समाविष्ट नहीं किया जा सकता है।

इसी में एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है "वेदानध्यापयामास महाभारत-पंचमान्" अर्थात् उसने महाभारत के साथ मिलाकर पाँच वेद सिखलाये। यह ज्ञात है कि महाभारत

वेद नहीं है अतः “महाभारत को साथ मिलाकर पांच” कथन मात्र से महाभारत को कभी वेद नहीं कहा जा सकता है। अतः उपर्युक्त तर्क के द्वारा “मन के साथ पांच इन्द्रियां छः हुई, से मन को कभी इन्द्रिय नहीं समझना चाहिये”।

धर्मराजध्वरिन्द्र लिखित वेदान्त परिभाषा में लिखा है, “न तावदन्तः करणमिन्द्रियमित्यत्र मनमस्ति” कोई प्रमाण नहीं है कि मन (अन्तःकरण) इन्द्रिय है। आगे लेखक लिखता है “मनः षष्ठानिन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति” (गीता 15/7) का उद्धरण देकर लिखता है मन के साथ छह होने में कोई विरोध नहीं होता, मन को इन्द्रिय के अंग के रूप में नहीं समझा जाय।

कथा उपनिषद् में आती है कि “इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थः अर्थेभ्यश्च परं मनः” कर्म इन्द्रियों के अंगों के परे है। ऐसा लगता है कि वेदान्त परिभाषा के कर्ता ने अन्तःकरण को मन मानकर दूसरे रूप में मन को इन्द्रिय के रूप में मान लिया है। जबकि पांच इन्द्रियों को बहिरिन्द्रिय तथा मन को आभ्यन्तर इन्द्रिय कहा गया है।

वेद में पाते हैं “एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” अर्थात् ईश्वर से प्राण, मन और सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार वेदों में सर्वत्र मन के सभी इन्द्रियों से भिन्न होने के उल्लेख मिलते हैं।

वेदान्त-सूत्र और मन

शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र में लिखा है, “दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः आत्मशब्देनात्रान्तःकरणं परिगृह्यते” अर्थात् पुरुष में दश इन्द्रियां और एक आत्मा जिसे अन्तःकरण कहते हैं इस तरह ग्यारह प्राण हैं। इस प्रकार मन को इन्द्रियों से भिन्न ही किया है। वे आगे कहते हैं कि स्मृतियों में मन को इन्द्रिय ही माना है। “स्मृतीत्वेकादशेन्द्रियाणीति मनसोऽपीन्द्रियत्वम् श्रोत्रादिवत् संगृहयते।” इस प्रकार पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ प्राचीन मुनियों में मानी हैं।

गीता और मन

गीता में मन को इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि बासवः।।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मिचेतना। अ. 10-22

इस प्रकार इन्द्रियों में मन की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है।

इन्द्रियाणि स्वकीयानि वशे येन कृतानि वैः।

जितं लोकत्रयं तेन किञ्चित् तस्य न दुर्लभम्।

इसमें भी इन्द्रियों के साथ मन को भी वश में करने के संकेत स्पष्ट हैं।

सांख्यसूत्र और मन

सांख्यसूत्र में हम पाते हैं “उभयात्मकं मनः” 2-26 अर्थात् मन दोनों प्रकार का होता है। ज्ञानेन्द्रिय रूप और कर्मेन्द्रिय रूप। सांख्यकारिका में यही विचार दृष्टिगोचर होता है।

उभयात्मकमत्रमनः संकल्पकऽनिन्द्रियश्च साधर्भ्यात्।

गुणपरिमाणमविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदतः। का-27

सांख्यदर्शन मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय मानता है। ग्यारह इन्द्रियों में मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूप है, क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनों की मन के आधार ही से अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति होती है। मन का लक्षण संकल्प-विकल्प करना है। विशेषण-विशेष्य भाव का विवेचन मन ही करता है इसलिये संकल्प रूप विशेष धर्म से मन भी एक उभयात्मक इन्द्रिय है।

गौतम दर्शन में मन

गौतम ने अपने न्याय में इन्द्रियों की गिनती करते हुए पांच इन्द्रियों - स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रवण पर ही विचार किया है शेष को छोड़ दिया है। हिन्दु न्याय दर्शन में मन को इन्द्रिय माना गया है, पर पांच इन्द्रियों से भिन्न बताया गया है क्योंकि पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने निश्चित कर्म में स्थिर हैं। आंख का काम देखना है, पर वह घ्राण का सूंघने का काम नहीं कर सकती है। पर मन अपनी सभी अवस्थाओं और गुणों में प्रत्येक कर्म में अपने को लगा सकता है। वात्स्यायन न्याय सूत्र 1.1.8 के अपने भाष्य में इसको इस तरह उद्धृत करते हैं -

भौतिकानिन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रिय भाव इति। मनस्तु अभौतिकं सर्व विषयञ्च नास्य स्वगुणस्थेन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति। मनश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति तन्त्रान्तर समाचाराच्चैत प्रत्येतव्यमिति।

उद्योतकर भी अपने न्यायवार्तिक में इसी विचार का प्रतिपादन करते हैं।

मनः सर्वविषयं स्मृतिसंयोगाधारत्वात् आत्मवत्।

सुखग्राहक-संयोगाधिकरणत्वात् समस्तेन्द्रियाधिष्ठातृत्वात्।

जैन दर्शन में मन

अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन में भी इन्द्रियां पांच मानी गईं जिनके सम्बन्ध में आलेख के प्रारम्भ में ही चर्चा की जा चुकी है। आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र ग्रन्थ में पञ्चेन्द्रियाणि, द्विविधानि, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्धयुपयोगौ भावेन्द्रियम्। अ. 2 सूत्र 15, 16, 17, 18 में स्पष्ट किया है कि इन्द्रियां पांच होती हैं और द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की हैं परन्तु मन को इन्द्रियों में सम्मिलित नहीं किया है। परन्तु "श्रुतमनिन्द्रियस्य" त.सू. 2-21 कहकर अनिन्द्रिय अर्थात् मन का कार्य स्पष्ट किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रमाण मीमांसा में लिखा है - स्पर्श-रसगन्ध- रूपशब्दग्रहण-लक्षणानि स्पर्शनरस घ्राण चक्षुः श्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभाव भेदानि।

यहाँ पर मन को न इन्द्रिय कहा है न अनिन्द्रिय बल्कि 'सर्वार्थग्रहणं मनः' (प्रमाण मीमांसा 1.1.25) मन सभी इन्द्रियों के अर्थ ग्रहण का काम करता है।

इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि मन का अन्तर्भाव इन्द्रिय में हो गया। जैसा इन्द्रियों को द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय दो रूपों में विभक्त किया गया है। वैसे ही मन के भी भेद किये गये हैं यथा-

द्रव्यमन और भावमन। मनोद्विविधा द्रव्यमनोभावमनश्चेति (स.सि.अ. 2/11/170/3)

पुद्गलविपाकि कर्मोदियापेक्षं द्रव्यमनः (स.सि.अ.-2/11/170/3)

द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः (स.सि.-5/3/269/4)

अर्थात् द्रव्यमन पुद्गल विपाकी नाम कर्म के उदय से होता है। रूपादियुक्त होने से द्रव्यमन पुद्गल की पर्याय है जो हृदय स्थान में आठ पांखुड़ी के कमल के आकार वाला है तथा आंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न हुआ है अतः द्रव्यमन कहते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म तथा इन्द्रियागोचर है। (बृहद्. द्रव्यसंग्रह 12/30/3) **भावमन**

वीर्यान्तराय नोइन्द्रियावरण-क्षयोपशमापेक्षया आत्मनोविशुद्धिर्भाव मनः। अर्थात् वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। (जै. सि. कोष, भाग 3, पृ. 381) दोनों मन कथंचित् मूर्त व पुद्गल हैं। इस प्रकार पूज्यपाद स्वामी ने और अकलंकदेव ने मन पर विशेषः विचार किया है। अकलंकदेव ने सूत्र 1-14 पर अपने तत्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है।

“अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत्” इस भाष्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं- मनोऽन्तःकरणमनिन्द्रियमित्युच्यते। कथं इन्द्रिय प्रतिषेधेन मन उच्यते। यथाऽनुदरा कन्या इति।

मन को अन्तःकरण या अनिन्द्रिय कहा जाता है इसका अर्थ यह नहीं है कि मन इन्द्रिय नहीं है। हम लोग गर्भधारण करने की क्षमता विहीन कन्या को कहते हैं कि “यह बिना पेट की औरत है” इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके पेट नाम की चीज नहीं है बल्कि वह गर्भधारण करने से असमर्थ है। इसी प्रकार मन को अनिन्द्रिय कहने का मतलब यह नहीं है कि वह इन्द्रिय नहीं है। मन यद्यपि इन्द्रियों की सहायता से सारे कार्य करता है। पर उसमें किसी विशेष कर्म सम्पन्न करने की प्रवृत्ति नहीं है। चक्षु आदि इन्द्रियों की तरह मन और अन्य इन्द्रियों की विभिन्नता इस रूप में निरूपित की जाती है। चक्षु आदि इन्द्रियों की अवस्था कर्मों के सम्पर्क में आकर प्रभाव ग्रहण करती है लेकिन मन वस्तुओं के निकट सम्पर्क में आकर प्रभाव ग्रहण नहीं करता। भाव मन तो आत्म विशुद्धि के कारण अन्तरंग तक प्रभाव स्थापित करता है।

अतः जैन दर्शन में मन की अवधारणा अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न ही है। इसका संचालन समुन्नत आत्मा के रूप में होता है।

वैदिक साहित्य में मन को इन्द्रिय नहीं माना है। स्मृतियां तथा अन्य दार्शनिक मन को इन्द्रिय रूप में ही ग्रहण करते हैं। वैदिक साहित्य में इन्द्रियों की संख्या पांच है। स्मृति और सांख्य दर्शन में इन्द्रियाँ ग्यारह मानी गई हैं। हिन्दू न्याय दर्शन में पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन को ही इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन दार्शनिकों का दृष्टिकोण हिन्दुन्याय दर्शन द्वारा वर्णित दृष्टिकोण से कथंचित् समान है। वे मन को इन्द्रिय के रूप में मानते हैं पर अन्य इन्द्रियों एवं मन में अन्तर स्पष्ट करते हैं। क्योंकि मन को विशेष अनुपम गुण के फलस्वरूप मन, मनोबल, ईषद् इन्द्रिय, अनिन्द्रिय, नोइन्द्रिय आदि संज्ञा से अभिहित करते हैं। मन में सभी वस्तुओं, कर्मों को ग्रहण करने की क्षमता है जबकि इन्द्रियां किसी विशेष कार्य का ही सम्पादन करती हैं। अतः मन आत्मकल्याण के मार्ग में सापेक्ष होने पर भी निरपेक्ष है।

जैन दर्शन में पर्याय का स्वरूप

डॉ. वीरसागर जैन*

'पर्याय'- जैन दर्शन का एक अति सूक्ष्म विषय है। इसे समझने के लिए सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप समझना आवश्यक है, क्योंकि पर्याय वस्तु का ही एक अंश है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, अतः उसके दो मुख्य हिस्से (अंश) हैं- एक द्रव्यरूप और दूसरा पर्यायरूप। वस्तु के नित्य अंश को द्रव्य कहते हैं और अनित्य अंश को पर्याय, अतः हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है।

सांख्य दर्शन में वस्तु को सर्वथा नित्य स्वीकार किया गया है और बौद्ध दर्शन में वस्तु को सर्वथा अनित्य स्वीकार किया गया है, परन्तु जैन दर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य हो, अपितु प्रत्येक ही वस्तु नित्यानित्यात्मक है। उसमें एक साथ नित्यता भी है और अनित्यता भी। वस्तुतः कोई भी वस्तु तभी सत् हो सकती है जब उसमें एक साथ नित्यता और अनित्यता दोनों ही निवास करती हो। एकान्ततः नित्य वस्तु भी कभी सत् नहीं हो सकती और एकान्ततः अनित्य वस्तु भी कभी सत् नहीं हो सकती। क्योंकि सत् का लक्षण ही यह है-

“उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।”²

अर्थात् सत् उत्पाद व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है।

प्रत्येक वस्तु में नवीन अवस्था के आगमन को उत्पाद कहते हैं, पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय को व्यय कहते हैं और उत्पाद-व्यय दोनों से रहित वस्तु के स्थिर स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं।

इसे हम आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रदत्त दो उदाहरणों द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं। यथा दूध का दही बना। तो यहाँ दही अवस्था का उत्पाद हुआ, दूध अवस्था का व्यय हुआ और गोरस ध्रौव्य रहा, क्योंकि उसका न उत्पाद हुआ, न व्यय। इसी प्रकार स्वर्णमय घट का मुकुट बना। यहाँ मुकुट अवस्था का उत्पाद हुआ, घट अवस्था का व्यय हुआ और स्वर्ण ध्रौव्य रहा, उसका उत्पाद-व्यय कुछ नहीं हुआ।

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि उक्त दोनों उदाहरण बहुत स्थूल हैं। यदि

* अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मा.वि.वि.), नई दिल्ली - 16.

सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो विश्व के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की उपलब्धि होती है। सूक्ष्म परिणामन हमारे अल्पज्ञान में पकड़ नहीं नहीं आता, अतः उदाहरण स्थूल परिणामन के दिये गये हैं।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु सदैव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में ही दो अंश नियम से पाये जाते हैं- एक अन्वय रूप और दूसरा व्यतिरेक रूप। 'यह वही है, वही है'- ऐसी प्रतीति जिसमें होती है उसे अन्वय कहते हैं और 'यह वह नहीं है, वह नहीं है'- ऐसी प्रतीति जिसमें होती है उसे व्यतिरेक कहते हैं। वस्तु में रहने वाले शाश्वत नित्य या अन्वय रूप अंश को द्रव्य कहते हैं और क्षणिक परिवर्तनशील या व्यतिरेकी अंश को पर्याय कहते हैं।

'पर्याय' का निरुक्त्यर्थ-

विक्रम की सातवीं शताब्दी के दिग्गज आचार्य श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने पर्याय की निरुक्ति इस प्रकार प्रकट की है-

“परि समन्तादायः पर्यायः”⁵

अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है।

इसी प्रकार आचार्य देवसेन भी 'आलाप-पद्धति' में लिखते हैं-

“स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः।”⁶

अर्थात् जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, परिणामन करती है, वह पर्याय है।

पर्याय के नामान्तर-

जैन-ग्रन्थों में पर्याय के अनेक नामान्तर गिनाये गये हैं। यद्यपि आचार्यों द्वारा पर्याय के लिए इन नामान्तरों का प्रयोग कहीं-कहीं ही किया गया है, तथापि पर्याय के स्वरूप-परिज्ञानार्थ इन नामान्तरों का भी ज्ञान होना आवश्यक है। यथा-

“पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः।”⁷

अर्थात् पर्याय, विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति- इन सबका एक अर्थ है।

“ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति”⁸

अर्थ:- व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय- ये सब एकार्थवाची हैं।

“पर्ययः पर्यवः इत्यनर्थान्तरम्।”⁹

अर्थ:- पर्यय, पर्यव और पर्याय- ये एकार्थक हैं।

“अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च।

भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते।।”¹⁰

अर्थ:- अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग- ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि उक्त चारों उद्धरणों में पर्याय के नामान्तरों में अंश, भाग आदि को भी गिनाया गया है और पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ 'वस्तु का अंश' होता भी है, परन्तु यहाँ हम जिस पर्याय को समझने का प्रयत्न कर रहे

हैं वह वस्तु का कोई-सा भी अंश नहीं है, अपितु मात्र व्यतिरेकी अंश है। और ऐसा रूढिवशात् ही है। ऐसा समझना चाहिए।

इसी तथ्य को क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णो ने भी अच्छी तरह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है:-

“पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है। ध्रुव अन्वयी सहभूत तथा क्षणिक व्यतिरेकी या क्रमभावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के होते हैं। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। वे गुण के विशेष परिणमनरूप होती हैं। अंश की अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढ़ि से केवल व्यतिरेकी अंश को ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है।”¹¹

पर्याय के भेद-

जैनाचार्यों ने पर्याय के भेदों का निरूपण अनेक प्रकार से किया है। यथा-

(1) “यः पर्यायः सः द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति।”¹²

अर्थ:- जो पर्याय है वह क्रमभावी और सहभावी- इस तरह से दो प्रकार की है।

(2) “द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च।”¹³

अर्थ:- पर्याय दो प्रकार की है- द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय।

(3) “अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यंजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति।”¹⁴

अर्थ:- अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की होती है।

(4) “पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्।”¹⁵

अर्थ:- पर्याय दो प्रकार की है- स्वभावपर्याय और विभावपर्याय।

(5) “स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति।”¹⁶

अर्थ:- स्वभावपर्याय दो प्रकार की कही जाती है- कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय।

किन्तु इनमें से स्वभाव-विभाव, द्रव्य-गुण और अर्थ-व्यंजन के तीन भेदयुगलों की ही शास्त्रों में विशेष विवक्षा दिखाई पड़ती है। इनको भी हम सामान्यतः इस प्रकार कह सकते हैं कि पर्याय के मूल भेद दो हैं:- स्वभावपर्याय एवं विभावपर्याय। फिर इन दोनों के दो-दो प्रभेद हैं- द्रव्यपर्याय एवं गुणपर्याय। द्रव्यपर्याय का अपर नाम व्यंजनपर्याय है और गुणपर्याय का अपर नाम अर्थपर्याय है।

यहाँ हम ‘द्रव्यपर्याय का अपर नाम व्यंजनपर्याय है और गुणपर्याय का अपर नाम अर्थपर्याय है’- इस कथन की पुष्टि हेतु निम्नलिखित शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं:-

(1) “व्यंजनपञ्जायस्स दव्वत्तामुवगमादो।”¹⁷

अर्थ:- व्यंजनपर्याय के द्रव्यपना स्वीकार किया गया है।

“अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्यायाणां हि।

व्यंजनपर्याया इति केचिन्नामान्तरे वदन्ति बुधाः।।”¹⁸

अर्थ:- कुछ विद्वान् द्रव्यपर्यायों का ही दूसरा नाम व्यंजनपर्याय भी कहते हैं।

(2) “गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।

अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्याया इति च।।”¹⁹

अर्थः- कुछ विद्वान् अर्थ और गुण दोनों के एकार्थवाची होने के कारण गुणपर्याय को ही अर्थपर्याय भी कहते हैं।

पर्याय के उक्त सभी भेदों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार हैं।

(क) स्वभावपर्याय एवं विभावपर्याय-

स्वभावपर्याय सभी द्रव्यों एवं सभी गुणों में होती है, किन्तु विभावपर्याय कतिपय द्रव्यों (मात्र जीव एवं पुद्गल द्रव्यों) और उन्हीं के कतिपय गुणों में ही होती है।²⁰

द्रव्य या गुण की स्वाभाविक अवस्था को स्वभावपर्याय कहते हैं और स्वभाव से विपरीत अवस्था को विभावपर्याय कहते हैं। उदाहरणार्थ सिद्ध अवस्था, केवलज्ञान, परमाणु आदि स्वभावपर्याय हैं और मतिज्ञान, स्कन्ध आदि विभावपर्याय हैं।

(ख) द्रव्यपर्याय एवं गुणपर्याय-

द्रव्यों में होने वाले परिणमन को द्रव्यपर्याय कहते हैं और गुणों में होने वाले परिणमन को गुणपर्याय कहते हैं। यथा सिद्ध, मनुष्य, स्कन्ध आदि द्रव्यपर्याय हैं और केवलज्ञान, मतिज्ञान, काला, पीला आदि गुणपर्याय हैं।

(ग) अर्थपर्याय एवं व्यंजनपर्याय-

अर्थपर्याय अत्यन्त सूक्ष्म होती है। उसे आगम-प्रमाण से ही जाना जा सकता है। वह प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में प्रतिसमय होती रहती है तथा व्यंजनपर्याय स्थूल है, प्रकट है और चिरस्थाई है।

अर्थपर्याय एवं व्यंजनपर्याय का स्वरूप जैन-ग्रन्थों में इस प्रकार समझाया गया है-

“सुहुमा अवायविसया खणखण्णो अत्थपञ्जया दिट्ठा।

वंजणजञ्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था।।”²¹

अर्थः- अर्थपर्याय सूक्ष्म है, अवाय (ज्ञान) विषयक है- शब्द से नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षण में बदलती है; किन्तु स्वयंजनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है- शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थाई है।

पर्याय और क्रिया में अन्तर-

पर्याय को कुछ लोग सामान्य अपेक्षा से क्रिया भी कह देते हैं, पर वस्तुतः पर्याय एवं क्रिया में बड़ा अन्तर है। क्रिया हलन-चलन रूप परिणमन को ही कहते हैं, परन्तु पर्याय वस्तु के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म परिणमन का नाम है। श्रीमद्भट्टकलकदेव ने भी ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

“भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः।”²²

अर्थात् भाव दो प्रकार के होते हैं- परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक। परिस्पन्दात्मक को क्रिया कहते हैं और अपरिस्पन्दात्मक को परिणाम (पर्याय)।

इससे स्पष्ट है कि क्रिया और परिणाम में बड़ा अन्तर है। पर्याय इस परिणाम का ही नाम है।

संदर्भ

1. देखिए आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित 'आप्तमीमांसा' के तृतीय परिच्छेद की कारिका 37 से 60 जिनमें इस विषय को अनेक तर्कों द्वारा स्पष्ट किया गया है।
2. तत्त्वार्थसूत्र 5/30.
3. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 1/357.
4. 'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयं।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥
पयोव्रतो न दध्यन्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकं॥' - आप्तमीमांसा, कारिका 59-60.
5. तत्त्वार्थवार्तिकम् 1/33/1.
6. आलाप-पद्धति - 6.
7. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 1/33.
8. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा-572.
9. आचार्य मल्लिषेणसूरि, स्याद्वादमञ्जरी, 23/272/11.
10. पञ्चाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक - 60.
11. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 3/44.
12. श्लोकवार्तिक - 1/33/60 (आचार्य विद्यानन्दि).
13. आचार्य जयसेन, पंचास्तिकाय-टीका, 16/35.
14. वही, 16/36.
15. आलापपद्धति - 3.
16. नियमसार-टीका, गाथा-15.
17. आचार्य वीरसेन, धवला - 4/1.5.4/337.
18. पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक - 63.
19. वही, 62
20. आचार्य जयसेन, पंचास्तिकाय-टीका 16/34/17.
21. आचार्य वसुनन्दि, श्रावकाचार, गाथा-25
22. तत्त्वार्थवार्तिक, 5/22.

क्षमा की शक्ति

सुरेश जैन आई.ए.एस. (से.नि.)*

- क्रोधित होना सरल है। कोई भी व्यक्ति आसानी से क्रोधित हो सकता है। किसी भी व्यक्ति या वस्तु पर अपना क्रोध प्रगट कर सकता है। किन्तु सही व्यक्ति पर क्रोधित होना सरल नहीं है। सही सीमा तक क्रोधित होना सरल नहीं है। सही उद्देश्य के लिए क्रोधित होना सरल नहीं है। सही व्यक्ति पर, सही सीमा तक, सही समय पर और सही उद्देश्य के लिए क्रोधित होना कठिन है। यह सही है कि हमारे लिए क्रोध का नियंत्रण एवं नियमन करना कठिन अवश्य दिखाई देता है, कठिन प्रतीत होता है किन्तु हम थोड़े से प्रयत्न, प्रशिक्षण और धैर्य से अपने क्रोध को नियमित और नियंत्रित कर सकते हैं। ऐसे नियंत्रित क्रोध को हम कुछ सीमा तक कभी-कभी रचनात्मक स्वरूप भी प्रदान कर सकते हैं। कभी-कभी विशेष प्रयास कर क्रोध को उदित ही न होने दें। क्रोध उत्पन्न होने पर तुरंत ही क्रोध को शांत करें। मंद करें। क्षमा का प्रयोग करें।
2. क्षमा शिशु सुलभ सरलता एवं अद्भुत आनंद की जननी है। अनुभवी, परिपक्व सज्जन और वृद्धजन की सजनी है। क्षमा करने की प्रवृत्ति अद्भुत मानसिक शक्ति और क्षमता की जननी है। क्षमा संयमित जीवन की उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति है। क्षमा का भाव सहनशीलता, उदारता और सद्भाव का जनक है। महत्वपूर्ण नैतिक गुण है। आंतरिक चेतना का शोधक है। क्षमा हमारा भला करती है। क्षमा हमारा कल्याण करती है। दूसरे को क्षमा करना, अपनी गलती स्वीकार करना और दूसरे से क्षमायाचना करना महत्वपूर्ण कला है। इस कला को हम प्रयत्न पूर्वक सीखें। दैनिक जीवन में इस कला का उपयोग करें। हम अपने हृदय में क्षमा, मैत्री और करुणा को भरकर रखें। अपने हृदय से सदैव करुणा, क्षमा और मैत्री को छलकने दें। विश्व के सभी धर्मग्रन्थों द्वारा हमारे दैनिक व्यवहार में क्षमा की महत्ता एवं उपयोगिता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है। प्राचीनकाल से ही भारत में क्षमा पर अनेक स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गई हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय पुराणों में वर्णित क्षमा और प्रतिक्षमा की अनेक जीवंत गाथायें पठनीय और अनुकरणीय हैं।
 3. ऐसी गाथाएं प्रभावी ढंग से हमें क्षमा का यह पाठ पढ़ाती हैं कि किसी भी व्यक्ति के प्रति धृणा न रखें दोषी व्यक्ति को अपनी इच्छापूर्वक क्षमाकर हम अद्भुत

* 30, निशात कॉलौनी, भोपाल, म.प्र. - 462003.

प्रसन्नता, शांति और मुक्ति का अनुभव करें। हम सदैव संस्कृत के निम्नांकित श्लोक का पठन, पाठन, चिंतन और मनन करें:-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थ-भावं विपरीत-वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव॥

4. मध्यप्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित कक्षा-7 की भाषा भारती की निम्नांकित हिन्दी कविता की पंक्तियों को गुणगुनाएँ:-

मैत्री भाव में जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन-दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा-स्रोत बहे॥
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आए।
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर, ऐसी परिणिति हो जाए॥
गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आए।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पाए॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आए।
गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जाए॥
फैले प्रेम परस्पर जग में, औरों का उपकार करें।
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहीं, कोई मुख से कहा करें॥

5. क्षमा के भाव हमें विकास के पथ पर सदैव आगे बढ़ाते हैं। ऊँचा उठते हैं। हम क्षमा करने से आर्थिक रूप से लाभान्वित होते हैं। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक रूप से स्वस्थ रहते हैं। अपना कार्य कुशलता पूर्वक करते हैं। जीवन में सदैव प्रगति करते हैं। अपनी भूल स्वीकार करने से भी यही लाभ प्राप्त होते हैं। हम ठेस पहुँचाने वाले व्यक्ति के साथ मित्रता का भाव रखें। ठेस पहुँचाने की घटना को यथाशीघ्र भुला दें। ठेस पहुँचाने वाले को क्षमा कर दें। ठेस पहुँचाने की घटना के बोझ को कभी न ढोएँ, कल हुई घटना को कल पर ही छोड़ दें। ऐसी घटना को यथाशीघ्र विस्मृत कर दें। उसको कभी स्मरण नहीं करें। उसकी कभी चर्चा न करें। उसका कभी स्मरण न करें। ऐसी नकारात्मक घटना के स्मरण से हमको ही क्षति पहुँचती है।
6. क्षमा की सखी मैत्री के भावों के विकास के लिए अपनी विचारधारा को हम विशाल एवं संवेदनशील बनायें। प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सद्भाव रखें। प्रत्येक व्यक्ति के साथ सद्व्यवहार करें। अपनी चेतना को उदार और व्यापक बनायें। अपनी चेतना को क्षुद्रता और संकीर्णता से बचायें। मैत्री केवल हमारे ऊपर ही निर्भर होती है। मैत्री किसी दूसरे व्यक्ति पर निर्भर नहीं होती है। मैत्री से हमारे मन में उल्लास और उत्साह का संचार होता है। अपने मित्र को देखते ही हमारे चेहरे पर मुस्कान खिल जाती है। हमारी आंखें चमकने लगती हैं। हमारा हाथ प्रसन्नता से मित्र के हाथ से मिलने के लिए आगे बढ़ जाता है। मैत्री भाव से हमारे मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। हमारे व्यक्तित्व से दुराव, छिपाव, तनाव और अवसाद जैसे दुर्गण दूर हो जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व सहज, सरल, सरस और भारमुक्त हो जाता है।

7. मैत्री में क्रोध सदैव बाधक होता है। क्रोध की प्रवृत्ति बाधक होती है। अतः हम अपने व्यक्तित्व में क्रोधित होने की प्रवृत्ति को पनपने ही न दें। छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न दें। यदि कोई व्यक्ति हमें चोट पहुँचाता है, हमारा अपमान करता है तो हम क्रोधित हो जाते हैं। ऐसी चोट और ऐसे अपमान को हम अपने क्रोध का कारण बना लेते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे क्रोधित होना हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। चोट पहुँचाने वाले के प्रति हम अपने मन में द्वेष पाल लेते हैं। द्वेष हमारे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास को धीमा कर देता है। कभी-कभी रोक देता है।
8. द्वेष से भरा व्यक्ति जीवन के पथ के बीच में ही अटक जाता है। वह झुंझलाने को तैयार रहता है। झगड़ने को तैयार रहता है। झुंझलाने एवं झगड़ने में ही अपने समय और शक्ति का अपव्यय करता है। दुनिया को धुंधले चश्में से देखता है। वह सदैव दूसरे की कमियों को खोजता रहता है। अतः हम झगड़े को सुलझाने के गुण विकसित करें। विवाद सुलझाने की प्रवृत्ति विकसित करें। विवाद सुलझाने की क्षमता विकसित करें। अपने परिवार के सदस्यों के साथ कभी विवाद या झगड़ा न करें। यदि कभी छोटा-मोटा विवाद हो जाए तो उसे तुरंत सुलझाएं।
9. अपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति हम अपने मन में किसी प्रकार का तिरस्कार या प्रतिशोध का भाव उत्पन्न नहीं होने दें। यदि हम क्रोध प्रगट करते हैं तो हमारा क्रोध, क्रोध के रूप में ही हमारे पास तुरंत लौट आता है। यदि हम क्रोध का विचार भी करते हैं तो क्रोध से ओतप्रोत विचार तुरंत ही हमारे पास लौट आता है। अतः हम क्रोध का प्रभावी ढंग से प्रबंधन करें। क्रोध के भावी और दीर्घकालिक परिणामों पर विचार कर क्रोध को नियंत्रित करें। क्रोध हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होता है। यह विचार कर क्रोध को विनियमित करें। योग और ध्यान के माध्यम से क्रोध और क्रोधान्वित प्रतिक्रिया को शांत करें। ध्यान हमारे हृदय की धड़कन को उपशांत करता है। मस्तिष्क की प्रतिक्रिया को धीमी करता है।
10. क्षमा करने का निर्णय लेने के लिए हम स्वयं सक्षम होते हैं। क्षमा करने के लिए हम पूर्णतः उत्तरदायी होते हैं। क्षमा कर हम अपनी प्रवृत्तियों को सकारात्मक बना सकते हैं। हम अपने सोच, व्यवहार और भावना को सरलता से नियमित कर सकते हैं। हम दूसरे व्यक्ति के सोच, व्यवहार और भावना को नियंत्रित नहीं कर सकते हैं। जब कभी हम सोचते हैं कि दूसरे व्यक्ति ने अपनी गलती स्वीकार नहीं की है। अतः हम उसे क्षमा क्यों करें? क्षमा प्रदान करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दूसरा व्यक्ति अपनी गलती स्वीकार करें। क्षमा, क्षमाकर्ता के लिए आवश्यक होती है। क्षमा करने से क्षमाकर्ता का स्वास्थ्य श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम हो जाता है। उसकी कार्यकुशलता में वृद्धि हो जाती है। क्षमा का पूर्ण लाभ क्षमाकर्ता को ही प्राप्त होता है। क्षमा, क्षमाकर्ता का भला करती है। क्षमाकर्ता क्षमा कर अपने मस्तिष्क का बोझ उतारकर प्रसन्न होता है।

11. क्षमा करने से पीड़ित व्यक्ति को अपराधी व्यक्ति की तुलना में अधिक लाभ होता है। दोषी को क्षमाकर हम स्वयं को ही राहत पहुँचाते हैं। क्षमा की औषधि गहराई में जाकर हमारी चोट और घाव का उपचार करती है। हमारे हृदय में प्रेम और सौहार्द को उत्पन्न करती है, बढ़ाती है। क्षमा करने से हमारा जीवन स्वस्थ और लंबा हो जाता है। हम क्षमाकर बड़ी राहत प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर दोषी व्यक्ति को क्षमा करने से उसके जीवन में नई किरण खिल जाती है। हमें क्षमा करने की प्रवृत्ति अपने पिताजी से विरासत में मिली है। जन्म से मिली है। मैंने क्षमा के गुण और क्षमा की क्षमता को प्रभावी ढंग से सतत विस्तार दिया है। उसे नए आयाम दिए हैं। अपने व्यावहारिक जीवन में क्षमा का प्रयोग कर अनेक शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आर्थिक लाभ प्राप्त किए हैं। संतोषजनक अनुभव प्राप्त किए हैं। चतुर्मुखी विकास के पथ पर कुछ पग आगे बढ़ाये हैं।
12. यह सही है कि क्षमा करना प्रायः सरल नहीं होता है। वीर और अतिवीर व्यक्ति ही पूर्णतः क्षमा कर पाता है। क्षमा करने के लिए निजी साहस की आवश्यकता होती है। इसीलिए क्षमा को परम बल के रूप में स्वीकार किया गया है। समर्थ व्यक्तियों के आभूषण के रूप में स्वीकार किया गया है। क्षमा करने के लिए भगवान से प्रार्थना करना आवश्यक होता है। क्षमा करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए उपवास और आशिक उपवास करना आवश्यक होता है। गहरी और गंभीर चोट को भरने के लिए धैर्यपूर्वक सतत प्रार्थना करना आवश्यक होता है। इसके लिए ईश्वर से शक्ति प्राप्त करना आवश्यक होता है।
13. यदि हम क्षमा नहीं करते हैं। आवेश में रहते हैं। बदला लेने की योजनायें बनाते रहते हैं। बदले की भावना को पैनी और तेज करते रहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप हमारी हृदयगति बढ़ जाती है। हमारे ब्लडप्रेसर में वृद्धि हो जाती है। हमारे हाथ और पैर फूल जाते हैं। लड़खड़ाने लगते हैं। हम उदास और चिंतित हो जाते हैं। समुचित नींद नहीं ले पाते हैं।
14. क्षमा की प्रवृत्ति की प्रवृत्ति दम्बूपन, विवशता, कमजोरी, मूर्खता या अतिकरुणा की सूचक नहीं है। हम यह सामान्य भ्रम न पालें कि क्षमा हमें कमजोर बनाती है। यह भ्रम सही नहीं है। हम अपने शत्रु से भी शत्रुता न रखें। उससे घृणा न करें। उसके प्रति सहानुभूति रखें। उसे क्षमा करने का प्रयास करें। क्षमा करने और क्षमा मांगने में झिझकें नहीं। यद्यपि अपने शत्रु के प्रति घृणा के स्थान पर सहानुभूति रखना अधिक कठिन है तदपि हमारे स्वयं के व्यक्तित्व विकास के लिए यह आवश्यक है।
15. दोषी व्यक्ति को भुला देना क्षमा नहीं है। उसके साथ अपने संबंध समाप्त करना क्षमा नहीं है। उसके साथ दूरी रखना क्षमा नहीं है। दोषी व्यक्ति से आगे के लिए संबंध तोड़ लेना क्षमा नहीं है। क्षमा आंतरिक प्रक्रिया होती है। क्षमा पीड़ित व्यक्ति द्वारा दोषी व्यक्ति को प्रदत्त महत्वपूर्ण भेंट होती है। यह भेंट देकर क्षमाकर्ता संतोष प्राप्त करता है। क्षमा करने के पूर्व पीड़ित व्यक्ति दोषी व्यक्ति की चोट से पहुँचे कष्ट को अपने

- हृदय से निकाल देता है। क्षमा की कोई शर्त नहीं होती है। क्षमा करते समय क्या? कौन? क्यों? और कैसे? जैसे प्रश्न उदित नहीं होते हैं। क्षमा के साथ किन्तु और परन्तु से नहीं जुड़ते हैं। अतः हम पूरी सही और सच्ची क्षमा प्रदान करें। ऐसी क्षमा के पश्चात् भविष्य में पुनः क्षमा करने की कभी भी आवश्यकता शेष नहीं रह जाती है। ऐसी क्षमा ही पवित्र क्षमा होती है। इस प्रकार क्षमा कर हम अपने संबंधों को घनीभूत बनायें पारस्परिक निकटता बढ़ायें। दोषी व्यक्ति के साथ दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना विकसित करें। उसकी कभी बुराई न करें। उसकी सदा भलाई करें। उससे निकटता रखें।
16. प्रतिशोध के लिए आवश्यक क्रोध और दुर्भावना वस्तुतः हमें ही क्षति पहुँचाती है। ठेस पहुँचाने वाले व्यक्ति का स्मरण करते ही हमारा रक्तचाप बढ़ जाता है। हमारे हृदय की धड़कन तेज हो जाती है। हमारे चेहरे की मांसपेशियों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। हमारे हाथ-पैरों में पसीना आ जाता है। ठेस पहुँचाने की घटना और ठेस पहुँचाने वाले व्यक्ति का स्मरण ही हमें पीड़ादायक होता है। दूसरी ओर अपराधियों के प्रति सहानुभूति रखने और उन्हें क्षमा करने से हमारी शारीरिक उग्रता कम हो जाती है। तनाव कम हो जाता है। क्षमा करने से हम अधिक स्वस्थ हो जाते हैं। हमारे जीवन में संतोष आ जाता है। घबराहट और बेचैनी कम हो जाती हैं। हमारी सोच सकारात्मक हो जाती है। अतः यह आवश्यक एवं उपयुक्त है कि अपने चतुर्मुखी विकास और आत्म कल्याण के लिए हम दोषी व्यक्ति को क्षमा प्रदान करें।
17. जब हम क्षमा नहीं करते हैं तब नकारात्मक भावना को पाले रहते हैं। ठेस पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष और घृणा की भावना को अपने मन में बनायें रखते हैं। द्वेष और घृणा की ऐसी भावना हमारे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास को विपरीत रूप से प्रभावित करती है। अतः प्रतिशोध लेने के लिए गुस्से की आग को जलाये न रखें। ऐसी आग को बुझाने का प्रयत्न करें। यदि हम गुस्से की आग को बुझा नहीं पाते हैं तो यह आग हमें ही जलाने लगती है। इस आग से हम अनेक बीमारियों से पीड़ित हो जाते हैं। हमारी प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है।
18. अपने मन में द्वेष की भावना को बनाये रखना और क्षमा नहीं करना अच्छी बात नहीं है। क्षमा न करना बुरी भावना को जन्म देता है। यह बुरी भावना हमारे स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव डालती है। बदला लेने की भावना रखने से हम मौसमी बीमारियों से पीड़ित हो जाते हैं। बदला लेने की भावना और ऐसी भावना से उत्पन्न ईर्ष्या और मनमुटाव से हम धीरे-धीरे अवसादग्रस्त हो जाते हैं। दुर्भावना तनाव की जननी है। ऐसी दुर्भावना हमारे तन, मन और धन को क्षति पहुँचाती है। बदला न लेने की भावना पवित्र होती है। बदला लेने की भावना अपवित्र होती है। अतः हम अपवित्र भावना से मुक्त होकर पवित्र भावना अपनायें और शान्ति प्राप्त करें।
19. जब भी हम बुरे अनुभव का स्मरण करते हैं। तब हम अनावश्यक रूप से क्रोध को

आमंत्रित कर लेते हैं। ऐसे क्रोध का हमारे शरीर पर घातक प्रभाव पड़ता है। यदि हम पुनः-पुनः बुरे अनुभव को स्मरण कर पुनः-पुनः क्रोधित होते हैं तो हम अपने शरीर पर अनावश्यक रूप से घातक प्रभाव डालते हैं। क्रोध विष की भाँति हमारे शरीर को क्षति पहुँचाता है। क्षमा शक्तिशाली दवा की भाँति हमें शांति पहुँचाती है। क्षमा स्वास्थ्य, सुख और उपलब्धि की वैज्ञानिक और सुदृढ़ सीढ़ी है। सकारात्मक चिंतन की आधारभूमि है। क्षमा हमारी आंतरिक शक्तियों को उन्मुक्त करती है। उन्हें रचनात्मकता और प्रभावकता प्रदान करती है। क्षमा करने से हमें पूरी संतुष्टि और राहत प्राप्त होती है। क्षमा हमारी महत्वपूर्ण संवेदना है। क्षमा की संवेदना को सीखना और अपनाना अत्यावश्यक है। परिणामतः हम सदैव क्षमा करने का निर्णय लें। क्षमा करने का निर्णय लेने के पूर्व समुचित और सही समझ के भाव विकसित करें। गंभीरता और लगन पूर्वक क्षमा की भावना को अपने जीवन में उतारें। अपनी जीवन शैली को रचनात्मक बनायें। अपने जीवन को सुखी, संतुष्ट एवं सार्थक बनायें। क्षमा की शक्ति का उद्घाटन कर विकास के चतुर्मुखी पथ पर आगे बढ़ें।

आगम और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में श्रमणाचार

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन*

जैनागम में श्रमण के आचार को निश्चय-व्यवहारचारित्र के रूप में प्रतिपादित किया गया है। निश्चय चारित्र के बिना मुक्ति असम्भव है। अतः आचार्यों ने निश्चयचारित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है किन्तु निश्चयचारित्र की प्राप्ति व्यवहार चारित्र के बिना नहीं हो सकती है, सो व्यवहार चारित्र को भेदों सहित आगम में निरूपित किया है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द निश्चयचारित्र की विवक्षा से चारित्र को समझाते हैं:-

चारित्रं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्धिट्ठो।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥७॥ - प्रवचनसार

चारित्र ही धर्म है तथा वह चारित्र समताभावरूप कहा गया है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही समता है।

यहाँ मोह और क्षोभ दोनों शब्द विचारणीय हैं। आचार्य मोह शब्द को दर्शन मोह के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं और चारित्रमोह के अर्थ में क्षोभ शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। कारण यह है कि समता रूप चारित्र दशम गुणस्थान तक उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि दशम गुणस्थान पर्यन्त चारित्रमोहनीयकर्म का उदय रहता है। जैसा कि आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने उक्त गाथा की टीका में ही स्पष्ट किया है- "स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्र-मोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः"।

अर्थात् स्वरूप में रमण करना सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से (विषमता रहित सुस्थित आत्मा का गुण होने से) साम्य है और साम्य, दर्शनमोहनीयकर्म तथा चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ (रागद्वेष) के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है।

यहाँ मोह की अभाव दशा में निश्चयचारित्र को बताने से स्पष्ट होता है कि शुद्ध निश्चयचारित्र उपशान्तमोह और क्षीणमोह की अवस्था में होता है। यथाख्यातचारित्र ही शुद्ध निश्चयचारित्र है। इसमें मोह के चिह्न न होने के कारण जीवात्मा में विशुद्धि विशेष होती

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दि. जैन कॉलेज, बड़ौत (बागपत)।

है। यह विशुद्धि और मोह की अभाव रूप अवस्था वर्तमान के हीन संहननधारी साधक के हो ही नहीं सकती है। आज तो श्रेण्यारोहण की शक्ति का भी अभाव है इसलिए निश्चयचारित्र की सिद्धि मानी ही नहीं जा सकती है, जो साक्षात् मुक्ति लाभ कराने वाली होती है। यह सत्य है कि उसका काल नहीं है किन्तु काल के अभाव में व्यवहारचारित्र को निर्दोष रीति से पालन करने की जिनाज्ञा है। व्यवहार के बिना निश्चयचारित्र का होना असंभव है। जैसे लता के बिना पुष्पोत्पत्ति नहीं है उसी प्रकार व्यवहारचारित्र के बिना निश्चयचारित्र नहीं है। व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र का कारण है। व्यवहारचारित्र के साधक वर्तमान में विद्यमान हैं। आज यदि मोक्ष नहीं है तो मुनियों या मोक्षमार्ग का अभाव तो नहीं माना जा सकता है। चारित्रचक्रवर्ती नामक ग्रंथ में एक प्रसंग है कि एक व्यक्ति ने चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के सामने एक प्रश्न किया था कि जब मोक्ष नहीं है तो आज साधु/मुनि बनने की क्या आवश्यकता है? तब आचार्य श्री जहाँ बैठे थे वहीं एक आम का पेड़ था उसे दिखाकर आचार्य श्री ने उस व्यक्ति से कहा था कि यह पेड़ किसका है तब प्रश्न करने वाले ने उत्तर दिया कि आम का है। आचार्य श्री ने उससे कहा था कि इसमें आम तो नहीं फिर आम का वृक्ष कैसे है? उस समय उस व्यक्ति ने कहा कि अभी आम के फलने का समय नहीं है। तभी आचार्य श्री ने उससे कहा था कि इसी प्रकार अभी मोक्ष का समय नहीं। मोक्ष जब भी मिलेगा इसी मुनि अवस्था से मिलेगा। इसलिए यह मुनि अवस्था आवश्यक है। वर्तमान में इस मुनि मुद्रा को अवश्य धारण करना चाहिए इसके द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। इसके लिए ही व्यवहारचारित्र का निर्दोष पालन भी अवश्य ही करना चाहिए। अब मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ाने वाले इसी व्यवहारचारित्र को आगम के परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित किया जा रहा है-

संसार शरीर भोगों से निर्विण्ण मुमुक्षु घर के साथ समस्त परिग्रह से अन्तरंग-बहिरंग सम्बन्ध त्यागकर पञ्चाचार पालक आचार्य के पास जाकर दीक्षा प्रदान करने का निवेदन करता है। बन्धु-बान्धवों से आज्ञा लेकर आये हुए भव्य प्राणी की परीक्षा करके आचार्य श्रेष्ठ उसे दीक्षित करते हैं। साधक अपने वस्त्र आदि समग्र परिग्रह का त्याग कर हिंसा से बचने के लिए मयूर पिच्छिका ग्रहण करते हैं। शुद्धि के लिए कमण्डलु ग्रहण करके पंच महाव्रतों का सम्यक् आचरण करता है। आत्म प्रभावना करते हुए ज्ञानाभ्यास के लिए शास्त्र अपने पास में रखते हैं। पीछी, कमण्डलु और शास्त्र के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ को अपने पास न रखकर सदा पैदल विहार करते हैं। इनका विहार निरन्तर चलता है। चार्तुमास में चार माह एक स्थान पर रहकर साधना करते हैं। अन्य समय में नगर में पांच दिन और ग्राम में एक दिन रुककर श्रावकों को कल्याण का मार्ग बताते हैं। जिस किसी नगर के सद्गृहस्थ के घर शुद्ध भोजन विधि अनुसार मिल जाता है तो वहीं पर भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन-शयन के अलावा शेष समय आत्मध्यान, स्वाध्याय, शास्त्रचर्चा या उपदेश आदि में व्यतीत करने वाले साधु होते हैं। साधु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा गया है-

विषयाशावशातीतो निररम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥१०॥

अर्थात् जो इन्द्रियों की विषय-वासनाओं से अलिप्त हो, खेती, व्यापार, उद्योग तथा भोजनादि के आरम्भ-कार्यों से अलग रहता है, किसी भी प्रकार का रंचमात्र परिग्रह जिसके पास न हो, जो ज्ञानाभ्यास करने में तथा आत्मध्यान में लगा रहता हो, ऐसा तपस्वी साधु प्रशंसनीय है।

दिगम्बर साधु की साधुता ही प्रशंसनीय क्यों है? इसके पीछे कारण यह है कि बाह्य परिग्रह परित्याग में वस्त्र का त्याग करना अति कठिन है। जैसा कि हिन्दी के एक कवि ने कहा भी है-

धन-मान माया त्यागना तो है बड़ा आसान,
छोड़ना अपनी जमीं मंका भी है भले आसान।
बन्धु बान्धव और नारी छोड़ सकता है मनुज
पर वस्त्र तज होना दिगम्बर नहीं है आसान॥

दिगम्बरत्व से आशय है मोह माया के साथ वस्त्र का त्याग करना। दिगम्बर साधु बाह्य पदार्थों में तो मूर्च्छा भाव रखता ही नहीं, वह तो शरीर में भी ममत्व नहीं रखता है। पञ्चेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर 28 मूल गुणों का सम्यक्क्रीत्या पालन कर अपनी आत्मा को विशुद्ध करने में प्रयत्नवान् रहता है। मूलगुणों के पालन से शरीर पर आत्मविशुद्धि करना ही साधुओं का ध्येय होता है। मूलगुणों को बतलाते हुए दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।

खिदिसयणमदंतवर्णं ठिदिभोयणमेयभत्तं च॥

अर्थात् पञ्च महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) पञ्च समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग) पंचेन्द्रियरोध (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) इन पांचों इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होना। केशलुंचन, षड् आवश्यक (समताभाव, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग) अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन करना और दिन में एक ही बार अन्य जल ग्रहण करना।

ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमणाचार की प्राथमिकता हैं। आगम के अनुसार इनका पालन करना साधु का अनिवार्य धर्म है। इनमें यत्किंचित् दोष होने अर्थात् एक या दो मूलगुण में शिथिलता होने पर पुलाक आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। पुलाक, वकुश, कुशील (कषायकुशील और प्रतिसेवनाकुशील) निर्ग्रथ और स्नातक सभी भेद भावलिङ्गी मुनिराज के ही हैं। हाँ मूलगुणों की उपेक्षा कर आरम्भ परिग्रह में लिप्त होने वाले साधु को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं किया गया है जो आरम्भ परिग्रह से दूर है, अपनी चर्या का पालन करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग में चलने वाले हैं, जैसा कि कहा भी गया है-

णिगगंथं मोहमुक्का बावीहपरिसहा जियकसाया।

पावारंभं विमुक्का ते गहीया मोक्खमग्गम्मि॥ - मोक्षपाहुड-80

जो परिग्रह से रहित हैं। पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के स्नेह से रहित हैं। 22 परीषहों को सहन करने वाले हैं। कषायों को जीतने वाले हैं तथा पाप और आरम्भ से दूर हैं। वे मोक्षमार्ग में अंगीकृत हैं।

श्रमण ही दुःखों से मुक्त हो पाते हैं। जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है-

एवं पणामिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।

पडिवज्जदु साम्मण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं॥20॥ - प्रवचनसार

यदि दुःखों से मुक्त होने की इच्छा है तो बार-बार सिद्धों को, अर्हन्तों को तथा श्रमणों को नमस्कार करके यतिधर्म को अंगीकार करो।

आगम में कहा गया है कि साधु का द्रव्यलिंग या शरीर का चिह्न पांच विशेषणों सहित जानना चाहिए - परिग्रह रहित पूर्ण रूप से नग्न होता है, मस्तक और दाढ़ी मूँछों के शृंगार सम्बन्धी रागादि दोषों को हटाने के लिए मस्तक दाढ़ी और मूँछों के केशों के लोंच सहित, चैतन्य चमत्कार के विरोधी सर्व पाप योगों से रहित, ममता आरम्भ करने के भाव से रहित तथा उपयोग और ध्यान की शुद्धि सहित पर द्रव्य की अपेक्षा रहित मोक्ष का कारण रूप मुनिराज का भावलिंग होता है³। भावलिंग ही मुक्ति का कारण है किन्तु भावलिंग द्रव्यलिंग के साथ होता है। जो एकदेश संयमी और असंयमी की द्रव्यलिंगी संज्ञा आगम है उससे अभिन्न शरीर की रचना और लिंग को ग्रहण किया है।

समाज के मध्य द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्गी स्वीकार कर लिया जाता है और उसको पूज्यता भी प्रदान की जाती है। समाज को भावलिंग को पहचानने की योग्यता नहीं होती है इसलिए समाज को द्रव्यलिंग को बहुमान देना उचित है। समाज तो मुनिलिंग के बाह्य उपकरणों को देखकर विनय करे यह आवश्यक है किन्तु साधु/मुनि को अपने परिणामों की संभाल करने का कर्तव्य है। यदि परिणामों के राग-द्वेष की स्थिति के साथ परिग्रह के प्रति चाह रहती है तो वह अप्रमत्त-प्रमत्त गुणस्थानों से गिरकर द्रव्यलिंगी हो जाता है। भावलिंग शून्य द्रव्यलिंग मात्र से कल्याण होने वाला नहीं है। साधु को अपने शरीर के आश्रय से रहने वाले रत्नत्रय की स्थिरता अवश्य रखनी चाहिए जैसा कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने कहा है-

ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।

लिंगं मुइत्तु दंसणणाण चरित्ताणि सेवन्ते॥

द्रव्यलिंग मात्र ही मोक्षमार्ग नहीं है अपितु उस लिंग/शरीर के आधार से रहने वाला जो रत्नत्रय है, उसी से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः भाव सहित उस द्रव्यलिंग को स्वीकार कर उसके माध्यम से अभेद रत्नत्रय को प्राप्त कर उसमें स्थिरता प्राप्ति के लिए सदा प्रयासरत रहना चाहिए।

रत्नत्रय की स्थिरता के लिए परिपूर्ण श्रमण होना अति आवश्यक है। प्रवचनसार में परिपूर्ण श्रमण के विषय में कहा गया है-

चरदि णिवद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।

चर्या का परिपालन करें तो मोक्षमार्ग की सच्ची प्रभावना होती रहेगी। श्रमण का मूल उद्देश्य विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना है। परभाव से हटकर स्वभाव में आना प्रदर्शन नहीं आत्मदर्शन है। लौकिक कार्यों के लिए दीक्षा का विधान नहीं है अपितु केवल आत्मविकास के लिए प्रवज्या ग्रहण करने का विधान आचार्यों ने बताया है-

स्याद्वाद-कौशल सुनिश्चलसंयमाभ्यां

यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।

ज्ञानक्रियानय परस्पर तीव्र मैत्री-

पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एक॥ - समयसार कलश, 267

स्याद्वाद की कुशलता और निश्चल संयम के द्वारा जो मुनि निरंतर अपने में उपयोग लगाकर आत्मा का अनुभव करता है तथा ज्ञान नय और क्रिया (आचरण) नय की परस्पर अटूट मैत्री ने जिसे पात्र बनाया है, वह इस उत्कृष्ट शुद्धोपयोग, शुक्लध्यान अथवा निर्विकल्प अनुभव का आश्रय लेता है। अर्थात् आत्म विकास को प्राप्त होता है।

श्रमण के लिए बाह्य शौच की अपेक्षा आध्यात्मिक शुद्धि का विशेष महत्व बताया गया है। इसमें पंचमुष्टि लोंच, जीवन की अन्तिम साधना, पादोपगमन आदि का उल्लेख है। साधना का परम बाधक तत्व आसक्ति है। आसक्ति से पतन अवश्यम्भावी है। विषय भोग नन्दीफल की तरह भले ही मधुर प्रतीत हों किन्तु वे जीवन को समाप्त करने वाले होते हैं।

जिस श्रमण के आचार में निर्मलता होती है, वही विज्ञ है और आचार का सही रूप से पालन करने वाला है। जो भोगासक्त होता है, इन्द्रियों के अधीन होता है। उसकी वही स्थिति होती है जैसी सुन्दर हरी घास खाने वाले बकरे की होती है। संयमीवृत्ति-गोचरी, भ्रामरी, गर्तपूरणिका, अक्षप्रक्षण कही गई हैं, वह श्रावक के घर आहार लेता है दाता के द्वारा जो योग्य पदार्थ दिया जाता है उसे सन्तोष से ग्रहण करता है और दाता को न देखकर आहार को शोधता है। इस प्रकार आहार विहार चर्या में निपुण साधु प्रायः तपश्चरण में निरत रहते हैं और संवर निर्जरा द्वारा मोक्षमार्ग को प्रशस्त करते हैं-

अपराजितसूरि गाथा-7 की उत्थानिका में लिखते हैं- 'तपो निर्जरां मुक्तेरनुगुणां करोति सति चारित्रे संवरकारिणि नान्यथेति दर्शयति।' संवर को करने वाले चरित्र के होने पर ही तप मुक्ति के अनुकूल निर्जरा करता है। भगवती आराधना में ही यह स्पष्ट किया गया है कि वस्तुतः चारित्र ही एक आराधना है, इसी में ज्ञान, दर्शन और तप आराधित हो जाते हैं अन्य आराधनाओं के होने पर चारित्र आराधना भजनीय है अर्थात् होती है और नहीं भी। इस प्रकार श्रमण को चारित्र पालन की मुख्यता दर्शायी गई है। साधुओं की चर्या आगम सम्मत ही श्रेष्ठ कही गयी है, वही मान्य भी है किन्तु सम्प्रति समाज के बीच रहने वाले कुछेक साधकों को क्रियाएं आगम से सर्वथा बाह्य हैं। आज अर्थयुग है इससे गृहस्थ का प्रभावित होना अलग बात है किन्तु साधु को तो अर्थ/धनादि से किसी भी रूप में प्रभावित नहीं होना चाहिए। अत्यन्त दुःख का विषय है कि वर्तमान में कुछ मुनिजन धनादि

की गिरफ्त में फंस गये हैं। तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है, वह कभी पूर्ण नहीं होती है। जो श्रमण के लिए हानिप्रद ही नहीं अपितु श्रमण संस्कृति विघातक है।

आधुनिक समय में साधुओं में एक बदलाव आया है जिससे बीस वर्ष पुरानी साधुओं की चर्या आज बिल्कुल बदली हुई दिखती है। आगम की आज्ञा का पालन करते हुए पूर्व में साधु वन / जिनमन्दिर तीर्थक्षेत्र / धर्मशाला आदि स्थानों पर रहकर धर्मारोपण में तत्पर रहते थे। वर्तमान में भी आगम की आज्ञा का पालन करने वाले साधक प्राचीन ऋषियों-मुनियों की भाँति वसतिकार्यों में रहते हैं। आहार चर्या के लिए ही श्रावकों के घरों पर जाते हैं। निर्दोष चर्या का पालन करते हैं किन्तु कुछ साधुओं के द्वारा महानगरों में चार्तुमास या धार्मिक आयोजनों के निमित्त प्रवेश किया जाता है और वहाँ उन्हें मन्दिर/धर्मशालाएँ निवास के लिए उपयुक्त नहीं लगती हैं अतः गृहस्थों की कोठियों में ठहरते हैं। कोठी की एक मंजिल में गृहस्थ और दूसरी में साधु निवास करते हैं। परस्पर में रात-दिन वार्ता चलती रहती है। इसी से चर्या में बदलाव आ जाता है। श्रावकों के लिए मंत्र औषधि आदि बताकर देकर उनसे आदान-प्रदान तक व्यवहार शुरू हो जाता है। साधु की करणीय शुद्ध भावना से बहुत दूरी हो जाती है। यंत्र मंत्र तंत्र विद्याओं की प्रवृत्ति बढ़ जाती है जिसका आचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है और साधु को गृहस्थों से दूर रहकर शुद्धात्मा की भावना में रत रहने को कहा गया है।

श्रमण को अपने धर्म का विधिवत् पालन करने हेतु लौकिक जनों के संसर्ग को नहीं रखना चाहिए। लौकिक कार्यों में रुचि रखने वालों की संयम साधना निरर्थक हो जाती है और उन्हें श्रमणधर्म का पालक ही नहीं माना जाता है-

णिगगंधं पव्वइदो वट्टदि यदि एहि गेहि कम्मोहिं।

सो लोगिगोत्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि॥69॥ -प्र0सा0

निर्ग्रन्थ दीक्षा का धारक होकर मुनि यदि इस लोक सम्बन्धी ज्योतिष-वैद्यक तथा तंत्र-मंत्र आदि कार्यों में प्रवर्तता है तो वह संयम और तप से युक्त होकर भी लौकिक कहा गया है।

आचार्य जयसेन स्वामी ने भी शुद्धात्मा के अभेदज्ञान की भावना करने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि ज्योतिष मंत्र तंत्र का आश्रय परमात्मा की भावना का नाश करने वाला है - "ज्योतिष्क मंत्रवाद रससिद्धयादीनि यानि खण्ड विज्ञानानि मूढजीवानां चिच्चमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रहं त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तु-युगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञशब्दवाच्यं यत्केवलज्ञानं तस्यैवोत्पत्ति कारणभूतं यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धरात्मनोऽभेदज्ञानं तत्र भावना कर्त्तव्या इति"। ज्योतिष, मंत्र, वाद, रस सिद्धि आदि के जो खण्डज्ञान हैं तथा जो मूढ जीवों के चित्त में चमत्कार करने के कारण हैं और जो परमात्मा की भावना के नाश करने वाले हैं उन सर्व ज्ञानों में आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत् व तीन काल की सर्ववस्तुओं को एक समय में प्रकाश करने वाले अविनाशी तथा अखण्ड और एक रूप से उद्योत रूप तथा सर्वज्ञत्व शब्द से कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसकी ही उत्पत्ति का कारण जो सर्व

रागद्वेषादि विकल्पजालों से रहित स्वाभाविक शुद्धात्मा का अभेदज्ञान अर्थात् स्वानुभवरूप ज्ञान है, उसमें भावना करनी योग्य है। इस प्रकार की शास्त्राज्ञा का उल्लंघन कर मंत्र तंत्र विद्या में ही समय लगाया जा रहा है। इसके अलावा निर्माण योजनाओं को प्राथमिकता दी जा रही है। सामाजिक चिन्तन शास्त्राध्ययन आदि का स्थान वास्तुविद्या और गृहस्थों के साथ की वार्ता लेती जा रही है। साधु नगरों के मध्य आश्रम या निवास योग्य भवन आदि के निर्माण की प्रेरणा ही समाज को नहीं दे रहे हैं अपितु गहरी रुचि लेकर उस कार्य को पूरा करा रहे हैं जबकि आत्मानुशासन में साधुओं द्वारा वन में निवास को छोड़कर ग्राम अथवा नगर के समीप रहने पर खेद प्रकट करते हुए कहा है- “जिस प्रकार भृगादि रात्रि के समय सिंहादि के भय से गांव के निकट आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन वन को छोड़कर गांवों के समीप रहने लगे हैं, यह कष्टकर है। अब यदि ग्रामादि में रहने से कालान्तर में स्त्रियों के कटाक्ष रूपी लुटेरों के द्वारा साधु का तप हरण कर लिया जाय तो साधु चर्या की अपेक्षा गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ है”।

अब यहाँ तक सुनने और देखने में आ रहा है कि ख्याति लाभ पूजा की चाह में कोई-कोई मुनि श्रेष्ठ चारित्रधारी की निन्दा भी करते हैं अपनी प्रशंसा कर श्रावकों को अपना भक्त बनाने में लगे हुए हैं। अपने मुनि स्वरूप की मर्यादा का पालन नहीं कर रहे हैं। इस प्रवृत्ति वालों के विषय में आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने कहा है कि जो मुनि जिन शासन में स्थित उत्तम श्रमण को देखकर द्वेष भाव से उसकी बुराई करता है तथा विनयादि क्रियाओं में अनुमति नहीं करता है, वह निश्चय से नष्ट चारित्र है”।

इन आगम वाक्यों को जानकर मुनिराजों को दोष पूर्ण क्रियाओं का परित्याग कर श्रमणाचार को आगमानुसार ही पालन करना श्रेष्ठ है उसी से आत्म प्रभावना के साथ जिनधर्म प्रभावना होगी।

वर्तमान में साधुओं की स्थायी निवास की प्रवृत्ति धर्म और आगम के अपलाप का निमित्त बनती जा रही है। यद्यपि वीतरागी साधकों के लिए स्थान का कोई महत्व नहीं होता है”। तथापि उन वसतिकाओं का निषेध किया गया है जो वसतिका ध्यान एवं अध्ययन में बाधाकारक हों, मोहोत्पादक हों, कुशील संसक्त (शराबी, जुआरि, चोर, वेश्या, नृत्यशाला आदि से युक्त) हों, स्त्रियों एवं अन्य जीवन-जन्तुओं की बाधा से युक्त हों, देवी-देवताओं के मन्दिरों से युक्त हों, राजमार्ग, बगीचा, जलाशय आदि सामाजिक स्थानों के समीप हों, तेली, कुम्हार, धोबी, नट आदि के घरों के पास हों”। साधुओं के लिए उक्त स्थान अयोग्य बताये गये हैं। इसका तात्पर्य है कि साधुओं शान्त स्थान में ही रहना चाहिए तभी उनके द्वारा ध्यान साधना करना सम्भव है।

वर्तमान में समय को दोष दिया जाता है जो उचित नहीं है। आज भी मोक्षमार्ग है। लौकान्तिक और सौधर्मेन्द्र आदि पदों को अगली पर्याय में धारण करने की योग्यता वाले साधक इस पंचम काल में यहाँ होते हैं और वर्तमान साधकों में साधना द्वारा चतुर्थकालीन साधकों से भी अधिक कर्म निर्जरा की सामर्थ्य है। अतः साधकों को आधुनिक वातावरण से प्रभावित न होकर आगम में प्रतिपादित श्रमणधर्म को शान्ति तथा कल्याण का मार्ग

अंगीकार कर यहाँ आचरण करना चाहिए। श्रमण जीवन सर्वश्रेष्ठ होता है। गृहस्थ व्रतों का पालन करता हुआ प्रतिपल/प्रतिक्षण यही चिन्तन करता है कि वह दिन कब आयेगा जिस दिन मैं श्रमणधर्म को ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करूँगा। साधना के अनुकूल वातावरण पाने के लिए गृहवास का त्याग और वेष परिवर्तन करना आवश्यक है। आन्तरिक जीवन की पूर्ण शुद्धि गृहस्थ जीवन में संभव नहीं है। आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए बाह्य वातावरण भी अपेक्षित है। यदि साधक को अनुकूल वातावरण नहीं मिलता है तो मार्ग में ही इधर-उधर भटक जाता है। अतएव योग्य वातावरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

सन्दर्भ:

1. आपिच्छ बंधुवर्गं, विमोचिदो गुरुकलत्त - पुत्तेहिं।
आस्मिञ्ज णाण-दंसण-चरित्तवीरियायारं।।
समणं गणिं गुणइढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पंडिच्छ मंचेदि अणुगहिदो।। प्रव. 202 एवं 205
2. भगवती आराधना-71
3. प्रवचनसार - 205-206
4. अहवा चारित्तासहणाए आराहियं हवइ सव्वं।
आराहणाए सेसस्स चारित्तासहणा भज्जा।।8।। भ.आ.
5. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभार्या यथा मृगाः।
वनाद्विंशत्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।।197।।
वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसम्पदः।।198।। - आत्मानुशासन
6. धवला 13/5, 4.26 15.20/66
7. भगवती आराधना - 228, 229, 663, 635
8. प्रवचनसार - 263

श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों में मुनि-आर्यिकाओं की वन्दना-विधि

डॉ. कमलेश कुमार जैन*

मोक्षमार्ग में विनय का विशिष्ट स्थान है। इसीलिये आचार्यों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसे ग्रहण करने का प्रयास किया है। षोडशकारण भावनाओं के अन्तर्गत द्वितीय भावना विनयसम्पन्नता है¹ और इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि- विनयसम्पन्नता एक भी होकर सोलह अवयवों से सहित है, अतः उस एक ही विनयसम्पन्नता से मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म को बाँधते हैं²।

इसी प्रकार दश धर्मों के अन्तर्गत मार्दवधर्म को द्वितीय धर्म के रूप में अर्थात् विनयता के भाव को अंगीकार करने एवं अहंकार को त्यागने का उपदेश दिया गया है³।

मुनि के लिये अवश्य करणीय द्वादश तपों में भी अन्तरंग रूप जो छः तप कहे गये हैं, उनमें द्वितीय तप के रूप में विनय तप को स्वीकार किया गया है⁴। और उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार-ये चार विनय के भेद कहे गये हैं। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने उक्त चार के अतिरिक्त तपोविनय को भी स्वीकार किया है⁵।

मूलाचार में विनय करने के पाँच कारणों का उल्लेख है, जिनमें लोक के अनुकूल प्रवृत्ति को लोकानुवृत्ति नामक प्रथम विनय, प्रयोजन विशेष के वशीभूत होकर की गई विनय को द्वितीय अर्थविनय, कामानुष्ठान हेतु की गई विनय को कामतंत्र नामक तृतीय विनय, भय के कारण की गई विनय को भय नामक चतुर्थ विनय, और मोक्षप्राप्ति हेतु की गई विनय को मोक्ष नामक पंचम विनय कहा है⁶। आगे विनय के इन पाँच भेदों के स्वरूप आदि का भी विवेचन मूलाचार में विस्तार से किया गया है⁷। पुनः मोक्ष विनय के पूर्वोक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार- ये पाँच भेद कहे हैं⁸। मोक्ष मार्ग में इन्हीं पाँच विनयों का महत्व स्वीकार किया गया है, क्योंकि विनय धर्म का मूल है।

मूलाचार में कहा गया है कि- विनय से रहित व्यक्ति की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल समस्त कल्याण है⁹।

आचार्य वसुनन्दी के अनुसार यहाँ समस्त कल्याण का तात्पर्य पञ्च कल्याणकों से है। वे लिखते हैं कि-

विनयफलं सर्वकल्याणान्यभ्युदयनिःश्रेयससुखानि। अथवा

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणादीति कल्याणादीनीनि¹⁰।

आगे वे लिखते हैं कि-

विणओ मोक्खद्दरं विणयादो संजमो तवो णाणं।

विणएणा राहिज्जदि आइरियो सव्वसंघो य¹¹।।

अर्थात् विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से आचार्य और सर्वसंघ की आराधना होती है।

मोक्षमार्ग में कार्यकारी ऐसी विनय को मुनिचर्या का अनिवार्य अंग स्वीकार किया गया है। यतः विनय अन्तरंग तपों में परिगणित है, अतः जिस किसी के सामने अवमाननापूर्वक अथवा प्रमादपूर्वक शिर झुका देना विनय तप नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह विनय तप भी मुनिचर्या का अंग है। इतना ही नहीं, अपितु मुनियों के जिन अद्वाइस मूलगुणों को स्वीकार किया गया है, उनमें षडावश्यकों के अन्तर्गत वन्दना तृतीय आवश्यक मूलगुण है। इसमें मुनि मन, वचन और काय से तीर्थकरादि एवं शिक्षा-दीक्षा-प्रदाता गुरुजनों/आचार्यों के प्रति बहुमान प्रकट करता है।

अरहन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और दीक्षा में ज्येष्ठ मुनि को मन, वचन की शुद्धि सहित कार्यात्सर्गपूर्वक सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति तथा गुरुभक्ति करते हुए प्रणाम करना वन्दना है¹²। इसे कृतिकर्म भी कहा जाता है। जिस अक्षरसमूह से या परिणाम से या क्रिया से आठों कर्मों का कर्तन या छेदन होता है उसे कृतिकर्म कहते हैं अर्थात् पाप के विनाश के उपाय का नाम कृतिकर्म है¹³।

मूलाचारकार ने कृतिकर्म पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है¹⁴ तथा इस सन्दर्भ में निम्न नौ प्रश्न उपस्थित किये हैं¹⁵-

1. कृतिकर्म कौन करे?
2. किसका करे?
3. किस विधि से करे?
4. किस अवस्था में करे?
5. कितनी बार करे?
6. कितनी अवनतियों से करे? अर्थात् कृतिकर्म करते समय कितने बार झुकना चाहिये?
7. कितने बार मस्तक पर हाथ रखकर करे?
8. कितने आवर्तों से शुद्ध होता है?
9. वह कृतिकर्म कितने दोष रहित करे?

इन नौ प्रश्नों का संक्षिप्त समाधान इस प्रकार है¹⁶-

1. संयमी व्यक्ति कृतिकर्म का अधिकारी है।
2. अरहन्त और सिद्ध की प्रतिमा तथा तपगुरु, श्रुतगुरु और गुणगुरु तथा जो दीक्षा में ज्येष्ठ है उसका कृतिकर्म करे।
3. पर्यकासन अथवा कार्यात्सर्ग मुद्रा में कृतिकर्म करना चाहिए।

4. जो मुनि-आचार्य पर्यकासन में सुखपूर्वक बैठा हो, उसे कृतिकर्म करे।
5. पूर्वाह्न एवं अपराह्न- इन दो कालों में करे।
6. दो अवनति से कृतिकर्म करे।
7. सामायिक के प्रारम्भ और अन्त में तथा थोस्सामि दण्डक के प्रारम्भ और अनन्त में-इस प्रकार चार बार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म करे।
8. सामायिक के प्रारम्भ में तीन और अन्त में तीन, इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन- इस प्रकार कुल बारह आवर्तों से कृतिकर्म करे।
9. बत्तीस दोषों¹⁷ से रहित होकर कृतिकर्म करे।

पण्डितप्रवर आशाधर ने निक्षेपों की अपेक्षा वन्दना के छः भेद किये हैं- नाम वन्दना, स्थापना वन्दना, द्रव्य वन्दना, काल वन्दना, क्षेत्र वन्दना और भाव वन्दना। अर्हन्त आदि में से किसी भी एक पूज्य पुरुष का नाम उच्चारण अथवा स्तवन आदि नाम वन्दना है। जिन प्रतिमा का स्तवन स्थापना वन्दना है। जिन भगवान के शरीर का स्तवन द्रव्य वन्दना है, जिस भूमि में कोई कल्याणक हुआ हो, उस भूमि का स्तवन क्षेत्र-वन्दना है और भगवान के गुणों का स्तवन भाव-वन्दना है¹⁸।

संसार से भयभीत, निरालसी श्रमण आचार्य, प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी, स्थविर तथा रत्नत्रय के विशेष रूप से आराधकों की मान रहित होकर वन्दना करनी चाहिये¹⁹। यदि आचार्य देशान्तर में हों तो मुनियों को कर्मकाण्ड में कही गयी विधि के अनुसार प्रवर्तक आदि की वन्दना करनी चाहिये। यदि वे भी दूर हों तो मुनियों को जो अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनि हों उनकी वन्दना करनी चाहिए²⁰।

देश संयमी श्रावकों और मुनियों को किसकी वन्दना नहीं करनी चाहिये? इसका निर्देश देते हुए पण्डितप्रवर आशाधर जी लिखते हैं कि- मुनि की तो बात ही क्या, यथोक्त अनुष्ठान करते हुए श्रावक को भी माता-पिता, शिक्षा गुरु, दीक्षा गुरु और राजा यदि असंयमी हों तो उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिये। तथा तापस आदि और पार्श्वस्थ आदि कुलिङ्गियों की व रुद्र आदि और शासन देवता आदि भूदेवों की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। और श्रावक यदि शास्त्रोपदेश का अधिकारी भी हो तो भी उसकी वन्दना मुनि को नहीं करनी चाहिये²¹।

संयमी साधु को संयमी साधु की वन्दना भी वन्दना के योग्य काल में जब वन्दनीय साधु अच्छी तरह से बैठे हों, तब उनकी अनुज्ञा लेकर करनी चाहिये। यदि वन्दनीय साधु किसी व्याकुलता में हों, या भोजन करते हों, या मल-मूत्र त्याग करते हों, या असावधान हों, या अपनी ओर उन्मुख न हों तो वन्दना नहीं करनी चाहिये²²।

वन्दना के काल के सन्दर्भ में आशाधर जी लिखते हैं कि- प्रातःकाल में प्रातःकालीन अनुष्ठान करने के पश्चात् क्रियाकाण्ड में कहे हुये विधान के अनुसार आचार्य आदि की वन्दना करनी चाहिये। मध्याह्न में देव वन्दना के पश्चात् वन्दना करनी चाहिये। और सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण करके वन्दना करनी चाहिये। साथ ही प्रत्येक नैमित्तिक

क्रिया के अनन्तर वन्दना करनी चाहिये²³।

आचार्य और शिष्य में तथा दोष संयमियों में परस्पर वन्दना और प्रतिवन्दना की विधि क्या हो? इसका विवेचन करते हुये पण्डित प्रवर आशाधर जी लिखते हैं कि- सभी नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्म के प्रारम्भ में शिष्य को आचार्य की वन्दना करनी चाहिये और उसके उत्तर में आचार्य को शिष्य की वन्दना करनी चाहिये। इसके सिवाय मार्ग में अन्य यतियों को देखने पर परस्पर में वन्दना-प्रतिवन्दना करनी चाहिये। साथ ही मल-त्याग के पश्चात् तथा कार्यात्सर्ग के पश्चात् यतियों को देखने पर परस्पर में वन्दना-प्रतिवन्दना करनी चाहिये²⁴। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि खड़े होकर दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखकर तथा दोनों हाथों को मुकुलित करना वन्दना मुद्रा है तथा इसी स्थिति में दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर में मिलाना मुक्ताशुक्ति मुद्रा है²⁵। आवश्यक करने वाले को वन्दना करते समय वन्दना मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये²⁶।

विजयोदया टीका में आचार्य अपराजितसूरि ने जिन दश कल्पों का उल्लेख किया है, उनमें सातवें कल्प का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि- चिरकाल से दीक्षित और पाँच महाव्रतों की धारी आर्यिका से तत्काल दीक्षित पुरुष भी ज्येष्ठ होता है। इस प्रकार पुरुष की ज्येष्ठता सातवाँ स्थिति कल्प है। पुरुषत्व कहते हैं संग्रह, उपकार और रक्षा करने में समर्थ होना। धर्म पुरुष के द्वारा कहा गया है इसलिये पुरुष की ज्येष्ठता है। इसलिये सब आर्यिकाओं को साधु की विनय करनी चाहिये। यतः स्त्रियाँ लघु होती हैं, पर के द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं। दूसरों से अपनी रक्षा की अपेक्षा करती हैं। पुरुष ऐसे नहीं होते इसलिये पुरुष की ज्येष्ठता है। कहा भी है- यतः स्त्री लघु होती है, दूसरों के द्वारा प्रसाध्य होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है, इसलिये पुरुष ज्येष्ठ है।

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्झाय।

भोरु अरक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो।²⁷

प्रातःकालीन देववन्दना के पश्चात् आचार्य आदि की वन्दना करने की विधि का उल्लेख करते हुए पं. आशाधर जी लिखते हैं कि- साधु को गवासन से बैठकर लघु सिद्ध भक्ति और लघु आचार्य भक्ति से आचार्य की वन्दना करनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धान्त के ज्ञाता हों तो लघु सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति से उनकी वन्दना करनी चाहिये तथा आचार्य से अन्य साधुओं की वन्दना आचार्य भक्ति के बिना सिद्धभक्ति से करनी चाहिये, किन्तु यदि साधु सिद्धान्त के वेत्ता हों तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पूर्वक उनकी वन्दना करनी चाहिये²⁸।

दूसरों से असाधारण गुणों से युक्त जो साधु परमार्थ से जगत् को संतुष्ट करते हैं, उन दीक्षा में ज्येष्ठ अथवा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य साधुओं की पूजा करने वाला इस लोक और परलोक में पूज्य होता है²⁹।

परस्पर वन्दना आदि के विषय में आचारसार में कहा है कि- ऐलक-क्षुल्लक परस्पर में 'इच्छामि' करते हैं। मुनियों को 'नमोऽस्तु' करते हैं और आर्यिकाओं को

‘वन्दामि’ करते हैं। ब्रह्मचारीगण या श्रावक भी मुनियों को ‘नमोऽस्तु’ आर्यिकाओं को ‘वन्दामि’ करते हैं। ये मुनि-आर्यिका भी ब्रतियों को ‘समाधिरस्तु’ अथवा ‘कर्मक्षयोऽस्तु’ ऐसा आशीर्वाद देते हैं। अब्रती श्रावक-श्राविकाओं को ‘सद्धर्मवृद्धिरस्तु’ ‘शुभमस्तु’ या ‘शान्तिरस्तु’ ऐसा आशीर्वाद देते हैं। अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा वन्दित होने पर उन्हें ‘धर्मलाभोऽस्तु’ और निम्न जाति के लोगों द्वारा वन्दना किये जाने पर ‘पापक्षयोऽस्तु’ ऐसा कहकर आशीर्वाद देते हैं³⁹।

इस प्रकार मोक्षमार्ग में संलग्न संयमीजनों के लिये अपने से बड़ों, छोटों अथवा अन्य सामान्यजनों के लिये किस प्रकार वन्दना करने, नमस्कार करने अथवा आशीर्वाद देने आदि का विधान श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों में किया गया है, इसका संक्षिप्त विवेचन मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है। सभी भव्य प्राणियों को अपनी-अपनी भूमिका के अनुकूल व्यवहार कर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ

1. तत्त्वार्थसूत्र (गृह्यपिच्छ आचार्य), विवेचनकर्ता- पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रका.-श्री गणेश वर्णा जैन ग्रन्थमाला, भदौनीघाट, बनारस, प्रथम संस्करण, वी. नि. सं. 2406.
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (क्षु. जिनेन्द्र वर्णा), भाग-3, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 1972.
3. भगवती आराधना (आचार्य श्री शिवार्य), सम्पा. एवं अनु.- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, तृतीयावृत्ति, वी. नि. सं. 2532.
4. मूलाचार (आचार्य वट्टकर), संस्कृत आचारवृत्ति एवं भाषा वचनिका सहित सम्पा.- डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी आदि, भा. अनेकान्त विद्वत् परिषद्, प्र. सं., 1996.
5. धर्माभूत (अनगर), पण्डित प्रवर आशाधर, सम्पा.- अनु.-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र. सं. 1977.
6. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी, प्रका.-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण, 1987.

पाद टिप्पणी

1. तत्त्वार्थसूत्र 6/24.
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृ.-559.
3. तत्त्वार्थसूत्र 9/6.
4. वही, 9/20.
5. विणओ पुण पंचविहो णिहिद्वो णाणदंसणचरित्ते।
तवविणवो य चउत्थो चरियो उवयारिओ विणओ॥ -भगवती आराधना, गाथा-111.
6. मूलाचार, गाथा 7/79.
7. वही, गाथा 7/80-82.

8. वही, गाथा 7/83.
9. विणयेण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्व कल्लाणं॥ - वही, 5/188.
10. वही, गाथा 5/188 की संस्कृत आचारवृत्ति।
11. वही, गाथा 5/189.
12. अरहंतसिद्धपडिमातव सुदगुण गुरुगुरूणरादीणां।
किदियम्येणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो॥ - वही, गाथा 1/25.
13. धर्माभूत (अनगार) 8/46 का विशेषार्थ।
14. मूलाचार, गाथा 7/76.
15. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 103.
16. वही, पृ. 104-109.
17. मूलाचार, गाथा 7/102-106, धर्माभूत (अनगार) 8/98-111.
18. नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम्।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादिवन्दना॥ - धर्माभूत (अनगार), 8/49.
19. धर्माभूत (अनगार), 8/50.
20. वही, 8/51.
21. वही, 8/52.
22. वही, 8/53.
23. वही, 8/54.
24. वही, 8/55.
25. स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कर्पूरौ मुकुलीकृतौ।
करौ स्याद् वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली॥ - वही 8/86.
26. वही, 8/87.
27. भगवती आराधना, गाथा 423 की विजयोदया टीका, पृ. 331.
28. धर्माभूत (अनगार), 9/31.
29. वही, 9/33.
30. नमोऽस्त्विति नतिः शास्ता समस्तमतसम्मता।
कर्मक्षयः समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यजने नते॥
धर्मबुद्धिः शुभं शान्तिरस्त्वित्याशीरगारिणी।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम्॥ - आचारसार 66-67, पृ. 37-38
(द्रष्टव्य- मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 319)

श्रावक के षट्कर्म-उपादेयता

विमला जैन 'विमल'*

एक लोकोक्ति है "महापुरुष क्या करते हैं यह अनुकरणीय नहीं है अपितु वे क्या कहते हैं यह करणीय है।" महापुरुषों का जीवन जन्म-जन्म के सत्पुरुषार्थों से तपा हुआ होता है अतः सामान्य क्रिया-कलाप वे करें ही यह आवश्यक नहीं। भगवान महावीर ने अपने पूर्वजन्मों मुख्यतः, अन्तिम दश भव मोक्ष महल के सोपान के रूप में चढ़े थे, आठवाँ भव तीर्थंकर पद की तैयारी में असिधारा तपश्चरण, सोलह कारण भावना और द्वादशांग के ज्ञान की फलश्रुति के रूप में "पुण्यफला अरिहन्ता" अवतरित हुये थे। गर्भ में आने से छह माह पूर्व ही यह अभिव्यक्त हो चुका था। वे जीवन के तीस वर्ष घर में रहकर अवश्य व्यतीत करते हैं परन्तु वे अलौकिक हैं, अनुपम हैं, वीतरागी भावों से परिपूर्ण हैं, गृहरूपी जल में रहकर भी कमलवत निर्मल हैं, निर्लिप्त हैं, प्रेयस की विभूतियाँ उनके चरणों में लोट रही थी, कंचन-कामिनी उनके दृष्टि पात को तरस रही थी पर वे निर्विकार अनासक्त स्वात्म चिन्तन में निमग्न रहते हैं, उन्हें ज्ञानार्जन को शिक्षक, वैराग्य को उपदेश और दीक्षा को गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे स्वयम्भू दीक्षित हुये, मौन साधना की और कैवल्य को प्राप्त कर लिया। प्रश्न है, भगवान महावीर ने गृहस्थावस्था के तीन दशक में श्रावक के षट्कर्म किये या नहीं? उत्तर स्पष्ट है वे इन प्राथमिक क्रिया-कलापों से बहुत ऊपर आ चुके थे उनके योग्य न गुरु थे न गुरु वाणी, उन्हें तो स्वयं ही सम्यक् रत्नत्रय की ज्योति को फैलाना था, यहाँ तक कि केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी योग्य श्रोता (गणधर) के अभाव में दिव्यध्वनि नहीं खिरी। पैंसठ दिन तक समवशरण (सभामण्डप) सप्त अतिशय से पूर्ण था, आठवाँ अतिशय दिव्य वाणी ध्वनित नहीं हुई, छयासठवें दिन इन्द्रभूति गौतम के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से विभूषित होते ही- वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी अरिहन्त भगवान महावीर की दिव्य अमृतवाणी ध्वनित हो गयी थी।

तीर्थंकर महावीर ने श्रमण और श्रावकचर्या का निरूपण किया है। वर्तमान में "आप्त द्वारा ध्वनित गणधर द्वारा कथित मुनि-आचार्य द्वारा आगत या रचित आगम दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक ज्ञान श्रुत रूप में मानव का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। आगम ग्रन्थों में समीचीन धर्म की विशद व्याख्या हुई है। यहाँ आध्यात्मिक संदर्भों में आत्मिक उत्थान और वैयक्तिक विकास तथा सामाजिक संगठन व जीव मात्र के कल्याण के लिये मंगल

* 1/344, सुहाग नगर, फिरोजाबाद, (उ.प्र.)।

सूत्र दिये हैं जिसपर अभ्युदय और निःश्रेयस (कल्याण) की सिद्धि हो, यही धर्म है और यही जिनवाणी है। जन का विशुद्ध रूप जिन है अर्थात् मनुष्य संयम तप से इन्द्रिय विजय कर, घातिया कर्मों को क्षय कर वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव बन तीर्थ प्रवर्तन करते हैं और उनके अनुयायी 'जैन' नाम से जाने जाते हैं। इन्हीं में जो आगमानुसार महाव्रत धारण कर मोक्ष पुरुषार्थ की साधना करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं और जो मोक्ष पुरुषार्थ का लक्ष्य तो रखते हैं परन्तु पूर्णतः निवृत्ति मार्ग को अपनाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं वे धर्म-अर्थ-काम इन त्रैवर्ग के सत्पुरुषार्थ को समीचीन अणुव्रती के रूप में रखते हैं वे श्रावक कहे जाते हैं। श्रावक श्रद्धवान्, तत्त्वार्थ, श्रद्धानी, विवेकशील (वरण पुण्य का) क्रियावान्/क्लिष्ट कर्म/पाप दूर करने में प्रयत्नशील होता है। वे पाप से निवृत्ति हेतु व्रताचरण करते हैं तथा पुण्य कृत्य में प्रवृत्ति करते हुये वैराग्य की ओर अग्रसर होते हैं उनका लक्ष्य वीतराग प्रभु के सानिध्य में, दर्शन-पूजा-गुणानुवाद, जप-ध्यान करके उन्हीं जैसा बनना, गुरु उपासना कर आत्म विशुद्धता का गुरु मंत्र सीखना, स्वाध्याय/श्रुतज्ञान द्वारा हेय-उपादेय विवेक को जाग्रत करना, संयम साधना से पंचेन्द्रिय तथा मन को जीतने एवं तपश्चरण के अभ्यास से कर्मों की निर्जरा करने, दान द्वारा अर्जित धन का सदुपयोग तथा चतुर्विधि संघ के धर्माचरण का संरक्षण करना, पुण्य के साथ-साथ मानवता का सम्बर्धन करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आगम में श्रावक के षट्कर्म की मीमांसा की गयी है। ये षट् आवश्यक कर्म श्रेष्ठ गृहस्थ श्रावक के लिए है, ऐरा-गैरा, नत्थू खेड़ा, पशुवत मानव पर्याय को व्यतीत करने वाले के लिये ये सत्कृत्य नहीं हैं। जो मनुष्य आहार, निद्रा, भय, मैथुन मात्र के लिए जन्म लेकर मर जाता है, उस वहिरात्मा के लिए यह शिवत्व का अमृत बीज नहीं है यह तो भव्यात्मा जो कुछ ही भवान्तरों में सिद्धत्व की अधिकारिणी है उनके लिये हैं। रही इन षट्कर्म में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के सापेक्ष में बदलाव की अपेक्षा, वह तो स्वयं हो जाता है इसे करने की आवश्यकता नहीं है यह निश्चय धर्म नहीं अतः शाश्वत् या सर्वकालिक भी नहीं हो सकता यह व्यवहार धर्म है। मुमुक्षु अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार, निमित्त और उपादान को समीचीन बना सकता है, उसका ज्ञान और विवेक मात्र एक भव के अर्जित पुण्य का फल नहीं होता, यही कारण है कि भगवान् ऋषभदेव को एक हजार वर्ष तक कठिन तपश्चरण के बाद केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी जबकि उन्हीं के पुत्र और शिष्य (मुख्य श्रोता) भरत चक्रवर्ती को अन्तर्मुहुर्त की साधना में ध्यान की फलश्रुति हो गयी थी। इसी आशय को लेकर श्रावक के नित्य-प्रति करणीय षट्कर्मों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानाम् षट् कर्माणि दिने-दिने॥ - श्रावकाचार

अर्थात् देव पूजा, गुरुओं की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थ के छः दैनिक कर्म हैं, प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन ये छः कर्म अवश्य करने चाहिये। कर्मसुग में कर्म पुरुषार्थ करके मानव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ की फलश्रुति पा सकता है अतः प्रेय और श्रेय को पाने का समीचीन उपाय भी चाहिये। तीर्थकर स्वयं साधना करके

सर्वज्ञता प्राप्त कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन त्रैरत्न मार्ग को प्ररूपण करते हैं। भगवान महावीर ऐसे चौबीसवें तीर्थंकर थे अतः उन्होंने भी श्रावक धर्म बताते समय ये षट्कर्म गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करने की बात कही है। ये मोक्ष पुरुषार्थ की नींव है जो धर्म पुरुषार्थ के रूप में करना अनिवार्य माना है। धर्म सनातन नैतिक मूल्य है अतः व्यवहार रूप में अर्थनीति और कामनीति कहकर अर्थ-काम को धर्म से जोड़ा गया है। धर्म का मोक्ष से अन्योन्याश्रय सम्बंध है अथवा मोक्ष मार्ग का व्यवहार स्वरूप धर्म के अन्तर्गत आता है अतः धर्म अध्यात्मसिक्त होते हुये भी व्यक्तिवादी है। धर्म कृत्यों से समष्टि को बल प्राप्त होता है और व्यक्ति का परिष्कार होता है। जैन दर्शन में धर्म और मोक्ष को जीवन का आधार कहा है तथा अर्थ और काम पर नियंत्रण रखने को भी श्रेयस को सर्वोपरि माना है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व में विवेक बना रहे, कर्मयोग में आशक्ति न हो, आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो, ऐसे ही कर्तव्य को करणीय कहा गया है।

देवपूजा:- श्रावक का आगमिक कर्म तथा कुल परम्परा के रूप में आवश्यक कर्तव्य है। वह श्रद्धा, विवेक के साथ इस सत्कृत्य को करने में अपना अहोभाग्य समझता है। श्रेयस (अर्थ-काम) - श्रेयस (धर्म-मोक्ष) की उपलब्धि के लिये वह अपने इष्ट देव वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी अरिहन्त भगवान की प्रतीक रूप जिनबिम्ब का दर्शन, अभिषेक, पूजन, गुणों का स्तवन, पंच नमस्कार मंत्र आदि का जाप और धर्म ध्यान करके ऐहिलौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति का शाश्वत कल्प वृक्ष लगाता है। श्रावक का दृढ़ श्रद्धान है कि देव पूजा भुक्ति और मुक्ति प्रदायक है। जिनेन्द्र देव ही मंगल प्रदायक हैं वे ही शाश्वत शरण हैं और कर्मबन्ध से मुक्त कराने वाले हैं। वह अपने इष्ट देव की पूजा करके पवित्र होना चाहता है। उनसे आत्मीयता स्थापित कर उनके गुणों को पाना चाहता है 'वन्दे तद् गुणलब्धये' उसका लक्ष्य है। भक्त भगवान से वार्तालाप कर अपनी चित्त वृत्तियों का निर्मलीकरण करता है। सर्वोत्कृष्ट त्रिलोक पति जिनेन्द्र देव के गुणों की पूजा कर व्यवहारिक रूप में वैयक्तिक उत्थान एवं परमार्थिक रूप में आत्मिक उद्धार का उसे पूर्ण विश्वास है। पूजन सामग्री अर्पित करते समय भी एक ही भावना और लगन है "मोहि आप सम कर देहु स्वामी" और एक दिन वह वास्तव में सिद्धत्व प्राप्त कर लेगा इसमें कोई संदेह नहीं।

गुरुपास्ति

गुरु उपासना में निर्ग्रन्थ मुनि, आर्थिका, व्रती श्रावक के प्रति कल्याण के इच्छुक श्रावक श्रद्धा-भक्ति रखते हुए उनका धर्मोपदेश सुन लाभान्वित होते हैं, एकाग्र भाव से उनके सान्निध्य में अध्ययन-स्वाध्याय कर ज्ञानार्जन करते हैं। उनके व्रताचरण के संरक्षण हेतु उनकी समीचीन आहार व्यवस्था, वसतिका, उपधि (पीछी आदि), वैयावृत्ति तथा विहार आदि की व्यवस्था करते हैं। श्रावक प्रतिदिन अपने द्वार पर खड़ा हो गुरु आगमन की प्रतीक्षा करता है ताकि उन्हें प्रासुक आहार कराके उनके रत्नत्रय साधना में सहयोगी बन सके तथा वह अपने गृह और गृहस्थ जीवन को सार्थक कर सके। श्रमण संस्कृति का सम्बर्धक श्रावक भी है, श्रमणचर्या को विशुद्ध रखना श्रावक का परमावश्यक कर्तव्य है।

‘न धर्मो धार्मिकैर्विना’ धर्मात्मा के बिना धर्म दिखाई नहीं देता अतः चतुर्विधि संघ के धर्माचरण के निर्वहन के लिये श्रावक प्रतिदिन अपने इस कर्त्तव्य का पालन करे यह आवश्यक है। ‘परस्परोग्रहो जीवानाम्’ के अनुसार श्री श्रमण श्रावक को धर्मोपदेश दे धर्म में प्रवृत्ति कराता है और श्रावक श्रमण रत्नत्रय के धर्म संरक्षण में सहयोगी हो स्व-पर का कल्याण करता है।

स्वाध्याय- स्व. आत्मा का ध्यान करना, निश्चय स्वाध्याय है:-

“स्व आत्मने अध्येति इति स्वाध्यायः”

भव्यात्मा परमात्मा बनने के लिए स्वात्मा में लीन हो, आत्मध्यान में तल्लीन हो, यह स्वाध्याय है। व्यवहार नय की अपेक्षा जिनवाणी, जिनागम का श्रद्धाभाव से अध्ययन करना स्वाध्याय है। ज्ञान पिपासु श्रावक जिनेन्द्र देव के वचन, जिनागम का अध्ययन कर तत्व बोध को प्राप्त करता है। वर्तमान में जिनागम चार अनुयोगों के रूप में द्रव्य श्रुत अवस्थित है। श्रावक प्रतिदिन अनिवार्य रूप से इनका पठन-पाठन श्रवण तथा चर्चा-परिचर्चा करके सम्यग्ज्ञान की पूंजी में वृद्धि करे। जिससे उसमें संवेग, प्रशम, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुणों की अभिवृद्धि हो प्रथमानुयोग में त्रेषठशलाका महापुरुषों की जीवन गाथा है जिनके जानने से आदर्श जीवन जीने की कला का ज्ञान होता है, संवेग जाग्रत होता है, पाप से निवृत्ति और धर्म में प्रवृत्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। करणानुयोग में लोकालोक की व्यवस्था वर्णित है अतः प्रशमता उत्पन्न होती है, कषायों का उपशमन होता है, इन शास्त्रों को गुरुओं के सान्निध्य में तथा विज्ञजनों के बीच में चर्चा-परिचर्चा करते हुए स्वाध्याय करना चाहिये। चरणानुयोग में श्रमण-श्रावक चर्चा की विस्तृत विवेचना है, इनका ज्ञान चारित्र में विशुद्धि लाता है तथा अनुकम्पा गुण में वृद्धि होती है। द्रव्यानुयोग में जीवाजीव, सात तत्व, नव पदार्थ, छः द्रव्य आदि की विषद् व्याख्या है अतः इनका अभिज्ञान आस्तिक्य भाव में वृद्धि ला शिवत्व का बोध कराता है। इस प्रकार देख-भाल कर चलने तथा किये का फल भोगने, कर्म सिद्धान्त के मर्म आदि का सम्यक् बोध स्वाध्याय से ही सम्भव है अतः श्रावक को द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव की विशुद्धि के साथ वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन पांचों अंगों को समझते हुए प्रतिदिन स्वाध्याय कर सर्वज्ञता प्राप्ति का बीजारोपण करने की बात कही गयी है। श्रुत ज्ञान का फल अच्युत और अनुपमेय है। आज जब सर्वज्ञ देव नहीं हैं तो सर्वज्ञ की वाणी जिनागम ही मानव को पुण्य, पाप, कृत्याकृत्य का समीचीन बोध कराती है, वैसे भी “णाणं णरस्स सारो” ज्ञान ही जीवन का सार है, मानवता की विशेषता ही ज्ञान और विवेक है अतः हेय-उपादेय का विवेक जाग्रत करने को स्वाध्याय की आवश्यकता कल भी थी, आज भी है और भविष्य में भी सम्यक् रत्नत्रय ही मोक्ष पहुँचायेगा।

संयम- ‘संयमनं संयमः’ मन के संयम को मुख्यतः संयम कहा है, मन ही है जो पांचों इन्द्रियों को सुमार्ग और कुमार्ग में ले जाता है। मन का उपयोग पर पदार्थ से हटा आत्मानुभव में लगाना, स्वयं को सीमित कर सम्यक् दिशा में ले जाना, पांच व्रतों को धारण करना, पांच समितियों के अन्तर्गत रहना, क्रोध, मान, माया, लोभ पर नियंत्रण रखना, मन-वचन-काय

का निग्रह करना, इन्द्रिय संयम है, अतः इन्द्रिय निरोधः संयमः के रूप में द्रव्य संयम और भाव संयम अथवा व्यवहार संयम और निश्चय संयम की साधना श्रावक का प्रतिदिन का कर्त्तव्य है। इन्द्रिय संयम के साथ प्राणी संयम छः काय के जीवों की रक्षा करना, श्रावक के लिये परमावश्यक है। मानव इन्द्रिय विषयों में आशक्ति छोड़ दे और प्राणी संयम के प्रति सजग रहे तो विश्व के समस्त अपराध समाप्त हो जायेंगे, न भाव प्रदूषण होगा न द्रव्य प्रदूषण, विशुद्ध पर्यावरण में आत्म साधना की बहार आ जायेगी। अतः श्रावक प्रेयस और श्रेयस की उपलब्धि के लिए संयमित जीवन शैली अपनाये यह गुरु मंत्र त्रैकालिक उपादेय है।

तप - 'तपसा निर्जरा च' तप के ताप से बाह्य मल की ही नहीं कर्म रज की भी निर्जरा होती है। श्रावक सांसारिक सुख के लिए नहीं अपितु आध्यात्मिक शाश्वत सुख के लिए तप करता है "कर्मक्षयार्थतप्यत इति तपः" अर्थात् कर्मों का क्षय करने के लिए तप करना ही सम्यक् तप है। श्रावक भली भाँति जानकर अन्तरंग और बहिरंग बारह प्रकार का तप यथाशक्ति करता है 'इच्छानिरोधस्तपः' कहकर अनिष्ट इच्छाओं का शमन करने के लिए तप किया जाता है। तप का उल्टा पत होता है अतः पतन से बचने के लिए उत्तम तप करना श्रावक का प्रतिदिन का कर्त्तव्य है। मानव की पर्याय में ही सिद्धत्व की प्राप्ति सम्भव है और उसका एक ही मार्ग है सम्यक् श्रद्धा के साथ सम्यक् ज्ञान पूर्वक सम्यक् चारित्र का पालन करना, इन तीनों की त्रिवेणी में डुबकी लगाकर कर्म मल से मुक्ति मिलती है इस उपाय रूप में संयम और तप की महती भूमिका है।

दान - 'दाणं पूया मुखम्' कहकर गृहस्थ जीवन में 'दान देना' सर्वोपरि कर्त्तव्य है। प्रकृति दान देकर ही चिरजीवी बनी है, विसर्जन करके अर्जन करना और अर्जित को विसर्जित करना संसार का शाश्वत नियम है। गृहस्थ धर्म निर्वहन करने की प्रथम भूमिका दान से ही आरम्भ होती है मानव जीवन जीने के लिए उसे पोषित होने, सुखी रहने के लिए भी दान देना और लेना आवश्यक है 'अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गोदानं' अर्थात् दूसरे के उपकारार्थ अपनी वस्तु देना 'दान' है। मानव सभ्यता और संस्कृति भी खिलाकर खाने को आदर्श मानती है। मनुष्य स्वार्जित धन को अपने पूर्वजों और अग्रजों पर व्यय करता है क्योंकि उनसे उसने लिया है और लेगा परन्तु दान मुख्यतः पात्रदत्ति-चतुर्विधि संघ को, आहार, औषधि, अभय और ज्ञान दान के रूप में दे दिया जाता है। समदत्ति में श्रावक व समाज के विकास हेतु द्रव्य दान किया जाता है। दयादत्ति में दोन-दुखी जरूरत मन्द की यथा योग्य सहायता की जाती है। अन्वय दत्ति में स्वार्जित द्रव्य व सत्ता को स्वपुत्र या योग्य व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप में देकर मनुष्य आत्मा के कल्याण में निःशल्य होकर लग जाता है। इस प्रकार विधिवत् श्रावक अपने धन, श्रम तथा समय को सम्यक् कार्यों में लगाता है। वैसे भी धन की तीन गति है, दान, भोग और नाश। श्रावक धर्म के संरक्षण और सम्बर्धन में धन लगाकर स्व-पर का कल्याण करता है। बिना दान के न श्रमण का धर्म पलेगा न श्रावक का कर्त्तव्य पूर्ण होगा। समाज का संतुलन तथा वैयक्तिक विकास के लिए कर्तृत्व और भोक्तृत्व में विवेकशीलता लाने में दान की महती भूमिका है।

ये षट्कर्म जीवन जीने की कला के छः अंग हैं, इनका अन्योन्याश्रय सम्बंध है। इनसे तृप्ति, तुष्टि, शान्ति तो होती ही है, आत्मा परमात्मा बनने की युक्ति भी जान जाती है। यदि मानव मात्र इन षट्कर्मों के मर्म को समझकर पालन करने लग जाये तो संसार स्वर्ग हो जाये। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के सापेक्ष में ही सही इनका पालन कर विश्व में सुख-शान्ति की सुगन्धि फैलाई जा सकती है जन-जिन बनकर ही शाश्वत् सुख का उपभोक्ता बन सकता है और जिन बनने की आधारशिला ये ही है। जैन गृहस्थ जो श्रावक है अपने षट्कर्मों को प्रतिदिन सम्यक् विधि-विधान से करके सम्यक् रत्नत्रय पथ पर अग्रसर हो प्रेयस और श्रेयस की उपलब्धि कर सकता है, इस दृष्टि से यह मंगल कृत्य सर्वकालिक उपादेय है।

समीचीन 'षट्कर्म' से, प्रेयस-श्रेयस सृष्टि,
'विमल' विश्व सुख शान्ति को, जिन वृषवैभव वृष्टि।

जैन आगम के आलोक में पूजन विधान

प्रतिष्ठाचार्य पं. वर्द्धमान कुमार जैन सौरया*

प्रस्तावना

जिनेन्द्र देव की पूजा परम्परा भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद से मौखिक (कंठगत) रूप में प्रचलित रही है। सर्वप्रथम पांचवीं शताब्दी में प. पू. आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी का जैनाभिषेक प्राप्त होता है। 9वीं शताब्दी में आचार्य श्री नयनंदी स्वामी का सकल विधि विधान एवं 10-11वीं शताब्दी में आचार्य अभयनंदी स्वामी का शान्तिचक्र पूजा, आचार्य श्री मल्लिषेण का वज्रपंजर विधान तथा आचार्य कल्प श्री आशाधर जी का जिन यज्ञ कल्प देखने को मिला। बारहवीं सदी में आचार्य श्री पद्मनंदी जी का देवपूजा एवं पार्श्वनाथ विधान तथा 14वीं सदी में आचार्य श्री श्रुतसागर जी का सिद्धचक्राष्टक एवं श्रुतस्कंध पूजा महाभिषेक आदि ग्रंथ हैं। इसके बाद विद्वानों ने हिन्दी पद्यान्तर पूजा ग्रंथों का निर्माण किया है। इन सभी के आधार पर तथा आगम के सैद्धान्तिक ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में जो देखा है उसके आधार पर इस आलेख को प्रस्तुत कर रहा हूँ। जहाँ तक विधि विधान की बात है अनेक पौराणिक ग्रंथों तथा प्रतिष्ठा ग्रंथों के आधार पर ही अर्हंत के पादमूल में भक्ति करना उपादेय है।

पूजा का हेतु- राग प्रचुर होने के कारण गृहस्थों के लिए जिनेन्द्र की पूजा करना प्रधान और प्रथम कर्त्तव्य है। इसमें पंच परमेष्ठी की प्रतिमाओं का आश्रय होता है। परन्तु स्वयं के परिणामों की प्रधानता है जिसके कारण पूजक के द्वारा पूज्य के प्रति की गई भक्ति से असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा होती रहती है। नित्य नैमित्तिक भेद से पूजा अनेक प्रकार की है। वाद्य गान-नृत्य के द्वारा की गई पूजा प्रचुर फलदायी होती है। याग, यज्ञ, ऋतु, पूजा, स्थायी, इज्या, अध्वर, मरण, यह सब पूजा के ही पर्यायवाची शब्द है। अतः पूजा विधान आगमोक्त विधि से युक्त होकर करना चाहिए।

आत्महित में पूजा की आवश्यकता

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थाणां षट् कर्माणि दिने दिने॥ - (आ. समन्तभद्र)

प्रावक के दैनिक षट् कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम कर्त्तव्य भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करना है। ऋजों की प्रधानता के कारण पूजक की असंख्यात गुणी पाप कर्म की निर्जरा

* वीतरागवाणी कार्यालय, सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)।

होती है और असंख्यात गुणा शुभ कर्म का आश्रव होता है। जैन आगम में भगवान जिनेन्द्र देव के साथ निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी की पूजा का भी विधान है। श्रावक के षट् कर्त्तव्यों में देव पूजा को प्रथम कर्त्तव्य के रूप में हमारे परम्पराचार्यों ने निहित किया है। जिनेन्द्र भक्ति से हम अशुभ से बचकर शुभ में प्रवृत्त होते हैं। शुभ से ही शुक्ल की ओर बढ़ा जाता है। अशुभ से शुक्ल की ओर नहीं बढ़ते। अतः जिनेन्द्र देव की पूजन परम्परा से मोक्ष का कारण कही गई है। मुनि हो या श्रावक दोनों को जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने का विधान है। मुनिराजों को भाव पूजा करने की आज्ञा है जबकि श्रावकों को द्रव्य पूजा करने का ही विधान है। मनुष्य जीवन की सार्थकता जिनेन्द्र भक्ति ही है। इसीलिए पूर्वाचार्यों ने इसे प्रधानता प्रदान की है।

पूजा के प्रकार

श्रावक और मुनि की अपेक्षा से पूजा द्रव्य और भाव से दो प्रकार की कही गई है। श्री जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में द्रव्य पूजा के चार प्रकार कहे हैं:-

1. **सदार्चन (नित्यमह)**- प्रतिदिन अपने घर से गन्ध पुष्प अक्षत फल आदि ले जाकर जिनालय में श्री जिनेन्द्र देव की पूजा करना सदार्चन है। भक्तिपूर्वक अर्हंतदेव की प्रतिमा और मंदिर का निर्माण करना, दान पत्र पर खेत खलिहान भवन आदि श्री जिन मंदिर की व्यवस्था हेतु देना भी सदार्चन ही है।
2. **चतुर्मुख (सर्वतोभद्र)**- मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है वह चतुर्मुख यज्ञ कहलाता है।
3. **कल्पद्रुम**- चक्रवर्ती के द्वारा किमिच्छिक दान देते हुए जो पूजा की जाती है वह कल्पद्रुम है। इसमें तीर्थकर के समवशरण की रचना कर उसके पार्श्व में विधिवत तीर्थकर की पूजा की जाती है।
4. **अष्टान्हिक**- अष्टान्हिका पर्व में जो पूजा की जाती है वह अष्टान्हिक पूजा है। इसमें सभी श्रावक अष्टान्हिक पर्व में विशेष आराधना करते हैं। इसके सिवाय इन्द्र के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है वह 'इन्द्रध्वज' विधान है। इसके अलावा जो अन्य प्रकार की पूजाएं हैं वह इन्हीं भेदों के अन्तर्गत अन्तर्गत हैं।

धवला पुस्तक 8 खण्ड 3 में लिखा है कि अष्टद्रव्य से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम पूजा है। वसुन्दी श्रावकाचार में लिखा है कि जिनेन्द्र पूजन के समय जिन भगवान के आगे जलधारा छोड़ने से पापरूपी मैल का संशोधन हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक द्रव्य के अर्पण से अनेक-अनेक सौभाग्यों का प्राप्त करना कहा है।

पूजा के भेद- श्री सोमदेव आचार्य ने छः प्रकार की पूजा करने का निर्देश दिया है-

1. **प्रस्तावना**- जिनेन्द्र देव का गुणानुवाद करते हुए जिनेन्द्र प्रतिमा पर जल के द्वारा अभिषेक विधि सम्पन्न करना प्रस्तावना है।
2. **पुराकर्म**- जिस पात्र में अभिषेक के लिए प्रतिमा स्थापित की जाती है उसके चारों कोनों पर चार कलश जलपूर्ति स्थापित करना पुराकर्म है।

3. **स्थापना-** अभिषेक के लिए जिन प्रतिमा को धाली में स्थापित करना स्थापना है।
4. **सन्निधापन-** भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा का अभिषेक करने के लिए तैयार हो जाना।
5. **पूजा-** अभिषेक के बाद जिन प्रतिमा की आरती करके पूजन विधि सम्पन्न करना।
6. **पूजाफल-** समस्त जीवों के कल्याण की भावना करना पूजाफल है।

आचार्य श्री वसुनंदी स्वामी ने वसुनंदी श्रावकाचार में भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा के छः भेद कहे हैं।

1. **नाम-** अरिहंत आदि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किए जाते हैं उसे नाम पूजा जानना चाहिए।
 2. **स्थापना-** आकार आदि में या आकारवान वस्तुयें अरिहंतादि गुणों का आरोपण करना भाव पूजा स्थापना है तथा अक्षत आदि में अमुक देवता है ऐसा संकल्प कर उच्चारण करना असद्भाव पूजा स्थापना है। हुण्डापसर्पिणी काल में असद्भाव स्थापना पूजा नहीं करना चाहिए क्योंकि कुलिंगमतियों से मोहित इस लोक में सन्देह हो सकता है।
 3. **द्रव्यपूजा-** जल आदि द्रव्यों से प्रतिमा की जो पूजा की जाती है उसे द्रव्यपूजा कहते हैं। अर्थात् अरिहंतादि के लिए गंध पुष्प दीप धूप अक्षत फल आदि समर्पण करना द्रव्य पूजा है।
 4. **क्षेत्रपूजा-** जिनेन्द्र भगवान के प्रत्येक कल्याणक युक्त भूमि की अष्टद्रव्य से की गई पूजा क्षेत्रपूजा कहलाती है।
 5. **कालपूजा-** जिस दिन तीर्थकरों के कल्याणक हुए हैं उस दिन तीर्थकर प्रतिमा का अभिषेक कर पूजन करना अथवा नन्दीश्वर आदि की अष्टान्हिक पर्वों में जो जिन महिमा की जाती है वह कालपूजा जानना चाहिए।
 6. **भावपूजा-** मन से अरिहंतादि के गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है अथवा णमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप करे या स्तोत्र का पाठ करे यह भावपूजा है।
- पूजा की महत्ता-** आचार्यश्री पदमनंदी स्वामी ने “पद्मनंदि पंचविंशति” नामक ग्रंथ में लिखा-

ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।

निष्फलं जीवनं तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥

जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न दर्शन करते हैं न पूजन करते हैं और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उनके गृहस्थ को धिक्कार है। उसी प्रकार पंचाध्यायी महान ग्रंथ में लिखा है कि-

पूजा मप्यर्हता कुर्याद्वा प्रतिमासु तद्विया।

स्वर व्यंजनादि संस्थाप्य सिद्धातव्यर्चयेत्सुधी॥

उत्तम बुद्धि वाला श्रावक प्रतिमाओं में अर्हत की बुद्धि से अर्हत भगवान की और सिद्ध यंत्र में स्वर व्यंजन आदि रूप से सिद्धों की स्थापना करके पूजा करे। विवेकी जीव भावपूर्वक अरिहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि अर्हत नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का

कारण है। भगवंत पुष्पदंत भूतवली स्वामी ने धवला ग्रंथ में लिखा है कि-

“जिणविंव दंसणेण णिधत्ताणि काचिदस्स विमिच्छत्तादि कम्म-कलावस्स खयदेसणादो”

अर्थात् जिन बिम्ब के दर्शन से निधत और निकाचित रूप कर्म भी मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का क्षय हो जाता है। अर्हत भगवान की पूजा के माहात्म्य से सम्यक् दर्शन से पवित्र भी पूजक को पूजा आज्ञा आदि उत्कर्षकारक सम्पत्तियाँ आवश्यक रूप से प्राप्त होती हैं। फिर व्रत सहित व्यक्ति का तो कहना ही क्या है। जो व्यक्ति भक्ति से जिनवाणी को पूजते हैं- वह पुरुष वास्तव में जिन भगवान को ही पूजते हैं। क्योंकि सर्वज्ञदेव, जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी अन्तर नहीं है।

पूजा की वैज्ञानिकता

ज्ञानपूर्वक श्री अरिहंत के पादमूल में की गई पूजन ही उत्तमफल और सिद्धियों को देने वाली होती है। जिस थाली में द्रव्य चढ़ाते हैं उसमें बीजाक्षरों को अंकित करते हैं उनका हेतु हमें अवश्य जानना चाहिए। क्योंकि बिना कारण के कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। विवेक पूर्वक की गई पूजा प्रवृत्ति से ही मोक्षसिद्धि में साधक होती है।

द्रव्य चढ़ाने वाली थाली में सर्वप्रथम चन्दन या केशर से ॐ बीजाक्षर लिखें उसके नीचे “श्री” तथा उनके नीचे ५ स्वस्तिक बनाएं। दाएं हाथ की तरफ खड़े में 5 बिन्दु और बायें हाथ की तरफ खड़े में चार बिन्दु स्वस्तिक के नीचे तीन बिन्दु रखें तथा थापना (ठोना) के ऊपर अष्टगुणी का कमल बनायें।

जब हम पूजन आरंभ करें तो बायें हाथ की तरफ थाली में बने चार बिन्दुओं पर ही पुष्प चढ़ायें यह चार बिन्दु अर्हत सिद्ध साधु तथा इनके कहे हुए धर्म के प्रतीक हैं। यही तीन लोक में उत्तम हैं, मंगलमय हैं तथा शरणभूत हैं। अतः उत्तम कल्याणक शरणभूत के लिए अर्हत के पादमूल में इन्हीं 4 बिन्दुओं पर पुष्प चढ़ाकर कल्याण की भावना साकार करते हैं। पूजन के आरंभ में अपवित्रः पवित्रो वा पद बोल कर पूजक को यंत्र की, कल्याणकों की, द्वादशांग वाणी की, तीर्थंकर के 1008 गुणों की एवं तत्त्वार्थ सूत्र की पूजा करना चाहिए। अतः पांच बिन्दुओं पर पांचों पूजायें या 5 अर्थ उपर्युक्त हेतुओं की आराधना के अर्थ अर्पित करते हैं।

हमारे पूर्वाचार्यों ने प्राकृत या संस्कृत भाषा में जिन पूजाओं की रचना की है पूर्व विद्वान कवियों ने हिन्दी पद्यान्तर में उसी अनुरूप पूजायें लिखकर महान उपकार किया। वर्तमान कवियों ने नवीन-नवीन प्रकार की अक्रमिक पूजायें लिखकर पूजा पद्धति में विकृति प्रदान की है। सर्वप्रथम देवशास्त्र गुरु की पूजा करना चाहिए और इस पूजा की अष्ट द्रव्य ॐ बीजाक्षर पर ही अर्पित करना चाहिए। प्रत्येक बीजाक्षर को आत्मभूत करने (सिद्ध करने) के लिए उस बीजाक्षर की तद्रूप की गई आराधना की अष्ट द्रव्य चढ़ाने की आवश्यकता है। इससे ही वह बीजाक्षर आत्मभूत होता है। जब तक बीजाक्षर आत्मभूत नहीं होगा आत्मा की पात्रता मोक्षरूप सम्भव नहीं है। ॐ बीजाक्षर पंच परमेष्ठी के प्रथम मूल अक्षरों का संयुक्त रूप है अतः इस बीजाक्षर के आत्मभूत होने पर पंचपरमेष्ठी पद

की प्राप्ति सुनिश्चित है। यह पद ही मोक्ष सिद्धि का हेतु है। देव के अन्तर्गत सिद्ध भगवान भी आते हैं। अतः देवशास्त्र गुरु और सिद्ध भगवान की आराधना सामग्री ऊँ पर ही अर्पित करते हैं। जब तीर्थकर विशेष या सामूहिक तीर्थकर मात्र की पूजन करें तो 'श्री' बीजाक्षर पर ही आठों द्रव्य अर्पित करें। 'श्री' बीजाक्षर श्रेय का प्रतीक कहा गया है। अतः जो श्रेय तीर्थकर की आत्मा ने प्राप्त किया है वैसा ही श्रेय उनकी आराधना से मुझे प्राप्त हो। इस आकांक्षा को साकारता में हम 'श्री' बीजाक्षर को आत्मभूत करते हैं।

स्वस्तिक卐 कल्याण का प्रतीक बीजाक्षर है। अतः व्रत निर्वाण भूमि, तीर्थ मंदिर आदि की आराधना से हमारा कल्याण होता है। इसलिए इन सभी की पूजाओं को द्रव्य卐 पर ही अर्पित करते हुए कल्याण की आकांक्षा साकार करते हैं।

थापना (ठोना) पर आठ पंखुड़ी का कमल बनाते हैं। सिद्धप्रभु के आठ गुण है। अतः उन गुणों की प्राप्ति हेतु आह्वानन स्थापना सन्निधिकरण के पुष्प ठोना पर अर्पित करते हैं। स्वस्तिक के नीचे जो आड़े में तीन बिन्दु रखे हैं- समस्त पूजायें करने के बाद जिस ग्राम / नगर में हम पूजा कर रहे हैं उस नगर के अन्य समस्त जिनालयों में विराजे जिन भगवन्तों के साथ उस नगर की सीमा में जमीन के अन्दर यदि कोई जिन मंदिर या प्रतिमा दबी हो अथवा उस नगर की सीमा में आकाश में कोई व्यंतर अपना चैत्यालय लिए घूम रहा हो उसमें विराजे जिन भगवन्तों की आराधना का अर्घ्य अन्त में चढ़ाकर शान्तिपाठ/विसर्जन करना चाहिए। पूजाभक्ति में इन परिणामों के साथ पूजक पूज्य की आराधना कर अपार शुभाश्रव के साथ निर्जरा भी करता है।

द्रव्य अर्पण की महत्ता

श्री वसुनंदी आचार्य ने अपने श्रावकाचार ग्रंथ में लिखा है कि जल से पूजा करने से पाप रूपी मैल का संशोधन होता है। चन्दन चढ़ाने से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है। अक्षत चढ़ाने से अक्षय निधि रूप मोक्ष को प्राप्त करता है तथा अक्षीण लब्धि युक्त होता है। पुष्प से पूजन करने वाला कामदेव के समान समर्चित देहवाला होता है। नैवेद्य चढ़ाने से शक्ति, कान्ति और तेज से सम्पन्न होता है। दीप से पूजन करने वाला केवलज्ञानी होता है। धूप से पूजन करने से त्रैलोक्य व्यापी यशवाला होता है तथा फल से पूजन करने वाला निर्वाण सुख रूप फल को प्राप्त करता है तथा अर्घ आठों अक्षय तिथियों की प्राप्ति का प्रतीक है।

निर्माल्य

जिनेन्द्र भगवान की आराधना के निमित्त लाई गई सामग्री अथवा चढ़ाई गई सामग्री को किसी भी रूप में श्रावक को ग्राह्य नहीं करना चाहिए। अष्ट द्रव्यादि सामग्री असहाय जीवों तथा पशु पक्षियों को डाल देना चाहिए तथा जो मूल्यवान साज-सज्जा या पुनः उपयोगी वस्तुयें हैं उन्हें मंदिर जी के भण्डारगृह में ही रखें और पुनः-पुनः उपयोग के बाद अनुपयोगी होने पर किसी नदी तालाब में उन्हें विसर्जित कर देना चाहिए। जिससे उस वस्तु के प्रति ममकार अथवा ग्राह्यता की भावना न रहे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार ग्रंथ की गाथा 32 में लिखा है कि "जिनशासन के आयतनों की रक्षा अपना

आराधना के निमित्त प्रदान किए हुए दान को जो मनुष्य लोभ बस ग्रहण करे तो वह पुरुष भरकगामी महापापी है। “राजवार्तिक ग्रंथ में भी लिखा है कि”- मंदिर के गन्ध, माल्य, धूप आदि का चुराना अशुभ नाम कर्म के आश्रव का कारण है। अथवा देव के लिए निवेदित या अनिवेदित किए गए द्रव्य का ग्रहण अन्तराय कर्म के आश्रव का कारण है। धवलादि ग्रंथों में भी निर्माल्य के संदर्भ में विशेष विवेचन आया है।

सहायक-ग्रन्थ

1. जैनाभिषेक (आचार्य पूज्यपाद)
2. शान्तिचक्र (आचार्य अभयनंदी)
3. बज्रपंजर (आचार्य मल्लिषेण)
4. जिन पूजा विधि (शोध निबंध) श्री सौरया जी
5. नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
6. राजवार्तिक (आचार्य अकलंकदेव)
7. जिनयज्ञ कल्प (आचार्यकल्प आशाधरजी)
8. देवपूजा (आचार्य पद्मनंदीजी)
9. सिद्धचक्राष्टक (आचार्य श्रुतसागर)
10. श्रुतस्कंध पूजा (आचार्य श्रुतसागर)
11. रत्नकरण्डक श्रावकाचार (आचार्य समन्तभद्र)
12. आदिपुराण (श्री जिनसेन स्वामी)
13. पद्मनंदी पंचविंशति (आचार्य पद्मनंदी)
14. धवला पुस्तक - 8 (आचार्य भूतबली स्वामी)
15. पूजा के प्रकार (आचार्य सोमदेव)
16. वसुनंदी श्रावकाचार (वसुनंदी आचार्य)

भारतीय तन्त्र-साधना और जैन धर्म-दर्शन (एक समन्वयात्मक विवेचन)

प्रो. सागरमल जैन*

तन्त्र शब्द का अर्थ

जैन धर्म-दर्शन और साधना-पद्धति में तांत्रिक साधना के कौन-कौन से तत्व किस-किस रूप में उपस्थित हैं, यह समझने के लिए सर्वप्रथम तंत्र शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। विद्वानों ने तंत्र शब्द की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ अनेक प्रकार से की हैं। उनमें से कुछ परिभाषाएँ व्युत्पत्तिपरक हैं और कुछ रूढार्थक। व्युत्पत्ति की दृष्टि से तन्त्र शब्द 'तन्' + 'त्र' से बना है। 'तन्' धातु विस्तृत होने या व्यापक होने की सूचक है और 'त्र' त्राण देने या संरक्षण करने का सूचक है। इस प्रकार जो आत्मा को व्यापकता प्रदान करता है और उसकी रक्षा करता है, उसे तन्त्र कहा जाता है। तान्त्रिक ग्रन्थों में 'तन्त्र' शब्द की निम्न व्याख्या उपलब्ध है-

स्तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।

त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।

अर्थात् जो तत्व और मन्त्र से समन्वित विभिन्न विषयों के विपुल ज्ञान को प्रदान करता है और उस ज्ञान के द्वारा स्वयं एवं दूसरों की रक्षा करता है, उसे तंत्र कहा जाता है। वस्तुतः तंत्र शब्द एक व्यवस्था का सूचक है। जब हम तंत्र शब्द का प्रयोग राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र आदि के रूप में करते हैं, तब वह किसी प्रशासनिक व्यवस्था का सूचक होता है।

मात्र यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक विशुद्धि और आत्म-विशुद्धि के लिए जो विशिष्ट साधना-विधियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, उन्हें भी 'तंत्र' कहा जाता है। इस दृष्टि से 'तंत्र' शब्द एक व्यापक अर्थ का सूचक है, और इस आधार पर प्रत्येक साधना-विधि 'तंत्र' कही जा सकती है। वस्तुतः जब हम शैवतंत्र, शाक्ततंत्र, वैष्णवतंत्र, जैनतंत्र या बौद्धतंत्र की बात करते हैं, तो यहाँ तंत्र का अभिप्राय आत्म विशुद्धि या चित्तविशुद्धि की एक विशिष्ट पद्धति से ही होता है। मेरी जानकारी के अनुसार इस दृष्टि से जैन परम्परा में 'तंत्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र ने अपने दो ग्रन्थों-'पञ्चाशक' और 'ललितविस्तरा' (आठवीं शती) में किया है। उन्होंने पञ्चाशक में जिन आगम को और ललितविस्तरा में

* संस्थापक निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर (म.प्र.) - 465001.

जैन धर्म के ही एक सम्प्रदाय विशेष को 'तंत्र' के नाम से अभिहित किया है। आगे चलकर आगम का वाचक तंत्र शब्द किसी साधनाविधि या दार्शनिकविधा का भी वाचक बन गया। वस्तुतः तंत्र एक दार्शनिक विधा भी है और साधनामार्ग भी। दार्शनिक विधा के रूप में उसका ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय पक्ष तो है ही, किन्तु इसके साथ ही उसकी अपनी एक जीवन दृष्टि भी होती है जिसके आधार पर उसकी साधना के लक्ष्य एवं साधना-विधि का निर्धारण होता है वस्तुतः किसी भी दर्शन की जीवनदृष्टि ही एक ऐसा तत्व है, जो उसकी ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं साधना विधि को निर्धारित करता है और इन्हीं सबसे मिलकर उसका दर्शन एवं साधनातंत्र बनता है।

व्यावहारिक रूप में वे साधना पद्धतियाँ जो दीक्षा, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, ध्यान, कुण्डलिनी शक्ति जागरण आदि के माध्यम से व्यक्ति के पाशविक या वासनात्मक पक्ष का निवारण कर उसका आध्यात्मिक विकास करती हैं या उसे देवत्व के मार्ग पर आगे ले जाती हैं, तंत्र कही जाती हैं। किन्तु यह तंत्र का प्रशस्त अर्थ है और अपने इस प्रशस्त अर्थ में जैन धर्म-दर्शन को भी तंत्र कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी अपनी एक सुव्यवस्थित, सुनियोजित साधना-विधि है, जिसके माध्यम से व्यक्ति वासनाओं और कषायों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विकास के मार्ग में यात्रा करता है। किन्तु तंत्र के इस प्रशस्त व्युत्पत्तिपरक अर्थ के साथ ही 'तंत्र' शब्द का एक प्रचलित रूढ़ार्थ भी है, जिसमें सांसारिक आकांक्षाओं और विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए मद्य, मांस, मैथुन आदि पंच मकारों का सेवन करते हुए यंत्र, मंत्र, पूजा, जप, होम, बलि आदि के द्वारा मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण आदि षट्कर्मों की सिद्धि के लए देवी-देवताओं की उपासना की जाती है और उन्हें प्रसन्न करके अपने अधीन किया जाता है। वस्तुतः इस प्रकार की साधना का लक्ष्य व्यक्ति की लौकिक वासनाओं और वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि ही होती है। अपने इस प्रचलित रूढ़ार्थ में तंत्र को एक निकृष्ट कोटि की साधना-पद्धति समझा जाता है। इस कोटि की तांत्रिक साधना बहुप्रचलित रही है, जिससे हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों ही साधना-विधियों पर उसका प्रभाव भी पड़ा है। फिर भी सिद्धान्ततः ऐसी तांत्रिक साधना जैनों को कभी मान्य नहीं रही, क्योंकि वह उसकी निवृत्तिप्रधान जीवन दृष्टि और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। यद्यपि ये निकृष्ट साधनाएं तंत्र के सम्बन्ध में एक भ्रान्त अवधारणा ही हैं, फिर भी सामान्यजन तंत्र के सम्बन्ध में इसी धारणा का शिकार रहा है। सामान्यतया जनसाधारण में प्राचीन काल से ही तांत्रिक साधनाओं का यही रूप अधिक प्रचलित रहा है। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी तंत्र के इसी स्वरूप का समर्थन करते हैं।

भोगमूलक जीवनदृष्टि और वासनोन्मुख तंत्र की इस जीवनदृष्टि के समर्थन में भी बहुत कुछ कहा गया है। कुलार्णव में कहा गया है कि सामान्यतया जिन वस्तुओं के उपयोग को पतन का कारण माना जाता है, उन्हें ही कौलतंत्र में महात्मा भैरव ने सिद्धि का साधन बताया है। इसी प्रकार न केवल हिन्दू तांत्रिक साधनाओं में अपितु बौद्ध परम्परा में भी प्रारम्भ से ही कठोर साधनाओं के द्वारा आत्मपीड़न की प्रवृत्तियों को उचित नहीं

माना गया। भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के रूप में जैविक मूल्यों की पूर्ति हेतु भोगमय जीवन का भी जो आंशिक समर्थन किया था, वही आगे चलकर बौद्ध धर्म में वज्रयान के रूप में तांत्रिक भोगमूलक जीवनदृष्टि के विकास का कारण बना और उसमें भी निवृत्तिमय जीवन के प्रति विरोध के स्वर मुखरित हुए। चाहे बुद्ध की मूलभूत जीवनदृष्टि निवृत्तिमार्गी हो, किन्तु उनके मध्यममार्ग के आधार पर ही परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने वज्रयान या सहजयान का विकास कर भोगमूलक जीवनदृष्टि को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। गुह्यसमाज तंत्र में कहा गया है-

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः।

अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्॥

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति।

सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति॥

भोगमूलक जीवनदृष्टि के समर्थकों का तर्क यह है कि कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे, कामभोगों की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार वे उसे दबाते होंगे, परन्तु क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा, दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से भी दबते न देख, अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए संयम की जागरूक अवस्था में थोड़ा अवसर दिया कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनंगवज्र ने कहा है कि चित्तक्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हो-

तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।

संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिनैव कदाचन॥

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल हिन्दू तांत्रिक साधनाओं में अपितु बौद्ध तांत्रिक साधना में भी किसी न किसी रूप में भोगवादी जीवनदृष्टि का समर्थन हुआ है। यद्यपि परवर्तीकाल में विकसित बौद्धों की यह भोगमूलक जीवनदृष्टि भारत में उनके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का कारण बनी, क्योंकि इस भोगमूलक जीवनदृष्टि को अपना लेने पर बौद्ध और हिन्दू परम्परा का अन्तर समाप्त हो गया। दूसरे इसके परिणाम स्वरूप भिक्षुओं में भी एक चारित्रिक पतन आया। फलतः उनके प्रति जनसाधारण की आस्था समाप्त हो गयी और बौद्ध धर्म की अपनी कोई विशिष्टता नहीं बची, फलतः वह अपनी जन्मभूमि से समाप्त हो गया।

जैनधर्म में तंत्र की भोगमूलक जीवनदृष्टि का निषेध

तंत्र की इस भोगवादी जीवनदृष्टि के प्रति जैन आचार्यों का दृष्टिकोण मुख्यतः निषेधपरक ही रहा है। वैयक्तिक भौतिक हितों एवं वासनाओं की पूर्ति के निमित्त धन,

सम्पत्ति, सन्तान आदि की प्राप्ति हेतु अथवा कामवासना की पूर्ति हेतु अथवा शत्रु के विनाश के लिए की जाने वाली साधनाओं के निर्देश तो जैन आगमों में उपलब्ध हो जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार की तांत्रिक साधनाएँ प्राचीन काल में भी प्रचलित थीं, किन्तु प्राचीन जैन आचार्यों ने इसे सदैव हेय दृष्टि से देखा था और साधक के लिए ऐसी तांत्रिक साधनाओं का सर्वथा निषेध किया था। सूत्रकृताङ्गसूत्र में चौसठ प्रकार की विद्याओं के अध्ययन या साधना करने वालों के निर्देश तो हैं, किन्तु उसमें इन विद्याओं को पापाश्रुत-अध्ययन कहा गया है। मात्र यही नहीं उसमें स्पष्ट रूप से यह भी कहा गया है कि जो इन विद्याओं की साधना करता है वह अनार्य है, विप्रतिपन्न है और समय आने पर मृत्यु को प्राप्त करके आसुरी और किल्बिषिक योनियों को प्राप्त होता है।

पुनः उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो छिद्रविद्या, स्वरविद्या, स्वप्नलक्षण, अंगविद्या आदि के द्वारा जीवन जीता है, वह भिक्षु नहीं है। इसी प्रकार दशवैकालिकसूत्र में भी स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि मुनि नक्षत्रविद्या, स्वप्नविद्या, निमित्तविद्या, मन्त्रविद्या और भैषज्यशास्त्र का उपदेश गृहस्थों को न करे। इससे स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि वैयक्तिक वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की विद्याओं की साधना को जैन आचार्यों ने सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सांसारिक विषय-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त पशुबलि देना, मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्राओं का सेवन करना एवं मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्मों की साधना करके अपने क्षुद्र लौकिक स्वार्थों और वासनाओं की पूर्ति करना जैन आचार्यों को मान्य नहीं हो सका, क्योंकि यह उनकी निवृत्तिप्रधान अहिंसक जीवनदृष्टि के विरुद्ध था। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जैन धर्म ऐसी तांत्रिक साधनाओं से पूर्णतः असंपृक्त रहा है। प्रथमतः विषय-वासनाओं के प्रहाण के लिए अर्थात् अपने में निहित पाशविक वृत्तियों के निराकरण के लिए तंत्र, जाप, पूजा, ध्यान आदि की साधना-विधियाँ जैन धर्म में ईस्वी सन् के पूर्व से ही विकसित हो चुकी थीं। मात्र यही नहीं परवर्ती जैनग्रन्थों में तो ऐसे भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जहाँ धर्म और संघ की रक्षा के लिए जैन आचार्यों को तांत्रिक और मान्त्रिक प्रयोगों की अनुमति भी दी गई है। किन्तु उनका उद्देश्य लोककल्याण ही रहा है।

मात्र यही नहीं, यहाँ आचारांगसूत्र (ई. पू. पाँचवी शती) में शरीर को धुन डालने या सुखा देने की बात कही गई थी, वहीं परवर्ती आगमों और आगमिक व्याख्याओं में शरीर और जैविक मूल्यों के संरक्षण की बात भी कही गई। स्थानांगसूत्र में अध्ययन एवं संयम के पालन के लिए आहार के द्वारा शरीर के संरक्षण की बात कही गई। मरणसमाधि में कहा गया है कि उपवास आदि तप उसी सीमा तक करणीय हैं— जब तक मन में किसी प्रकार के अमंगल का चिन्तन न हो, इन्द्रियों की हानि न हो और मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति शिथिल न हो। मात्र यही नहीं, जैनाचार्यों ने अपने गुणस्थान सिद्धान्त में कषायों एवं वासनाओं के दमन को भी अनुचित मानते हुए यहाँ तक कह दिया कि उपशम श्रेणी अर्थात् वासनाओं के दमन की प्रक्रिया से आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने वाला

साधक अन्ततः वहाँ से पतित हो जाता है। फिर भी जैनाचार्यों ने वासनाओं की पूर्ति का कोई मार्ग नहीं खोला। हिन्दू तांत्रिकों एवं वज्रयानी बौद्धों के विरुद्ध वे यही कहते रहे कि वासनाओं की पूर्ति से वासनाएँ शान्त नहीं होती हैं, अपितु वे घृत सिञ्चित अग्नि की तरह अधिक बढ़ती ही हैं। उनकी दृष्टि में वासनाओं का दमन तो अनुचित है, किन्तु उनका विवेकपूर्वक संयमन और निरसन आवश्यक है। यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सामान्यतः भारतीय धर्मों में और विशेषरूप से जैन धर्म में तान्त्रिक साधना का विकास क्यों हुआ और किस क्रम में हुआ?

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का समन्वय

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मानव प्रकृति में वासना और विवेक के तत्व उसके अस्तित्व काल से ही रहे हैं, पुनः यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि पाशविक वासनाओं अर्थात् पशु तत्व से ऊपर उठकर देवत्व की ओर अभिगमन करना ही मनुष्य के जीवन का मूलभूत लक्ष्य है। मानव प्रकृति में निहित इन दोनों तत्वों के आधार पर दो प्रकार की साधना पद्धतियों का विकास हुआ।

प्रवृत्तिमार्गी परम्परा का मूलभूत लक्ष्य यही रहा है कि स्वयं के प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से अथवा उनके असफल होने पर दैवीय शक्तियों के सहयोग से जैविक आवश्यकताओं एवं वासनाओं की पूर्ति करके चैतसिक शांति का अनुभव किया जाय। दूसरी ओर निवृत्तिमार्गी परम्पराओं ने वासनाओं की सन्तुष्टि को विवेक की उपलब्धि के मार्ग में बाधक समझा और वासनाओं के दमन के माध्यम से वासनाजन्म तनावों का निराकरण कर चैतसिक शांति या समाधि को प्राप्त करने का प्रयास किया। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा वहीं प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिप्रधान रहीं। किन्तु एक ओर वासनाओं की सन्तुष्टि के प्रयास में चित्तशांति या समाधि सम्भव नहीं हो सकी, क्योंकि नई-नई इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ जन्म लेती रहीं; तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन से भी चित्तशांति सम्भव न हो सकी, क्योंकि दमित वासनाएँ अपनी पूर्ति के लिए चित्त की समाधि भंग करती रहती हैं। इसका विपरीत परिणाम यह हुआ कि एक ओर प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में व्यक्ति ने अपनी भौतिक और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए दैविक शक्तियों की सहायता पाने हेतु कर्मकाण्ड का एक जंजाल खड़ा कर लिया तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन के लिए देहदण्डनरूपी तप साधनाओं का वस्तुतः खड़ा हो गया। एक के लिए येन-केन प्रकारेण वैयक्तिक सुखों की पूर्ति या वासनाओं की सन्तुष्टि ही वरेण्य हो गई तो दूसरे के लिए जीवन का निषेध अर्थात् देहदण्डन ही साधना का लक्ष्य बन गया। वस्तुतः इन दोनों अतिवादों के समन्वय के प्रयास में ही एक ओर जैन, बौद्ध आदि विकसित श्रमणिक साधना विधियों का जन्म हुआ तो दूसरी ओर औपनिषदिक चिन्तन से लेकर सहजभक्तिमार्ग और तंत्र साधना तक का विकास भी इसी के निमित्त से हुआ। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का जो समन्वयात्मक स्वर औपनिषदिक ऋषियों ने दिया था, परवर्ती समस्त हिन्दू साधना और उसकी तांत्रिक विधियाँ उसी के परिणाम हैं। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति के पक्षों का समुचित सन्तुलन स्थिर नहीं रह सका। इनमें किसे प्रमुखता दी जाय,

इसे लेकर उनकी साधना-विधियों में अन्तर भी आया।

जैनों ने यद्यपि निवृत्तिप्रधान जीवनदृष्टि का अनुसरण तो किया, किन्तु परवर्ती काल में उसमें प्रवृत्तिमार्ग के तत्त्व समाविष्ट होते गए। न केवल साधना के लिए जीवन रक्षण के प्रयत्नों का औचित्य स्वीकार किया गया, अपितु ऐहिक-भौतिक कल्याण के लिए भी तार्त्रिक साधना की जाने लगी।

तार्त्रिक साधना का मूल लक्ष्य इच्छा, वासना और विकल्पों से ऊपर उठकर निर्विकल्प चेतना में अवस्थिति है। योग साधना में इसे 'चित्तवृत्ति निरोध' कहा है तो जैन साधना ने इसे मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की निर्विकल्प अवस्था माना। योग एवं जैनदर्शन दोनों का लक्ष्य मन को अमन बना देना, विकल्पों से ऊपर उठ जाना है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक अनासक्त चेतना का विकास किन्तु यह अनासक्त चेतना की अवस्था या ज्ञाता, दृष्टा भाव में अवस्थिति कैसे हो? यह प्रश्न विधादास्पद ही रहा है। एक पक्ष का मानना यह है कि इच्छाओं एवं पूर्ति के माध्यम से हम उस अनासक्त निष्काम चेतना का अनुभव कर सकते हैं। इस परम्परा का मानना यह है कि यदि इच्छाओं एवं वासनाओं को तृप्त कर दिया जाए तो जीवन के लिए करणीय या वाञ्छनीय कुछ भी नहीं रहेगा। इस प्रकार एक परम्परा विकसित हुई जो भोग के माध्यम से उस निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करने का लक्ष्य अपने सामने रखती हैं।

दूसरी ओर यह माना गया कि इच्छाओं एवं वासनाओं की पूर्ति से चित्त निर्विकल्प नहीं बनता है, क्योंकि प्रत्येक इच्छा या वासना अपनी सन्तुष्टि के साथ या तो किन्हीं नई इच्छाओं और वासनाओं को जन्म देती है या वही इच्छा एवं वासना पुनः भोग की इच्छा रखती है। अतः इच्छाओं एवं वासनाओं की पूर्ति के माध्यम से निर्विकल्प चित्त दशा की प्राप्ति संभव नहीं है। क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, अतः उनकी पूर्ति सम्भव नहीं है। ये दमित इच्छाएँ चेतन या अचेतन स्तर पर चित्त को विक्षोभित करती रहती हैं। इस प्रकार इच्छाओं एवं वासनाओं से ऊपर उठने के दो विकल्प हैं एक उन इच्छाओं और वासनाओं को दबाकर निर्विकल्पता की दिशा में आगे बढ़ा जाये किन्तु कालान्तर में यह स्पष्ट हो गया है कि यह दमन का मार्ग भी इच्छाओं एवं वासनाओं को निर्मूल नहीं करता है अपितु उन्हें मात्र अचेतन में भेजने का प्रयास करता है। अचेतन में संकलित ये दमित इच्छाएँ एवं वासनाएँ चित्त को विक्षुब्ध ही करती रहती हैं। अतः यह माना गया कि इच्छाओं और वासनाओं से ऊपर उठकर चेतना की उपलब्धि इनके निरसन से ही सम्भव है। यह निरसन तभी संभव हो सकता है जब चेतन अन्तर्मुख होकर आत्मद्रष्टा बने तथा इच्छा और वासनाओं के रूप में चित्त को विक्षुब्ध करने वाली अवस्थाओं की निरर्थकता को समझे।

भारत में तार्त्रिक साधना का जो विकास हुआ उसका मूल लक्ष्य तो अनासक्त निर्विकल्प चेतना की उपलब्धि ही था, किन्तु उसने कालान्तर में दो दिशाएँ ग्रहण कर लीं। एक प्रवृत्तिमूलक भोग मार्ग की और दूसरी निर्वृत्तिमूलक योग मार्ग की। जहाँ चार्वाक सम्प्रदाय सहित हिन्दूधर्म के वाममार्गी सम्प्रदाय, बौद्ध धर्म के वज्रयान ने भोग के माध्यम

से इच्छाओं एवं वासनाओं के निराकरण मार्ग को चुना, वहीं हिन्दू धर्म के ज्ञानमार्गी एवं संन्यासमार्गी सम्प्रदाय, बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय एवं जैन धर्म ने निर्वृत्तिमूलक योग मार्ग को स्वीकार किया। वैसे शैव एवं शाक्त तंत्रों में भी मूल लक्ष्य तो पशु को पशुपति अर्थात् इच्छाओं और वासनाओं का स्वामी बनाने की बात कही गयी, वही बात इन तीनों ही परम्पराओं ने मान्य रखी। फिर भी कालान्तर में प्रवृत्तिमूलक भोगमार्ग की परम्पराओं से वे भी नहीं बच सके।

जैन धर्म में तंत्र साधना के दोनों ही पक्षों का प्रभाव देखा जाता है यद्यपि निर्वृत्तिमूलक संन्यास मार्ग की परम्परा का समर्थक होने के कारण उस पर यह दूसरा पक्ष हावी नहीं हो पाया, किन्तु इस निर्वृत्तिमूलक अवधारणा पर कहीं न कहीं प्रवृत्तिमूलक भोग मार्ग का प्रभाव तो आया ही है। यह प्रभाव कैसे एवं किस रूप में आया इसकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ अपेक्षित है।

क्या जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है?

सामान्यतया यह माना जाता है कि तंत्र की जीवनदृष्टि ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य मानती है, जबकि जैनों का जीवनदर्शन निषेधमूलक है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जैन धर्म दर्शन तंत्र का विरोधी है, किन्तु जैन दर्शन के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्त धारणा ही होगी। जैनों ने मानव जीवन को जीने के योग्य एवं सर्वथा वरेण्य माना है। उनके अनुसार मनुष्य जीवन ही तो एक ऐसा जीवन है जिसके माध्यम से व्यक्ति विमुक्ति के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। इतना अवश्य है कि जैनों की दृष्टि में पाशविक शुद्ध स्वार्थों से परिपूर्ण, मात्र जैविक एषणाओं की पूर्ति में संलग्न जीवन न तो रक्षणीय है, न वरेण्य; किन्तु यह दृष्टि तो तंत्र की भी है, क्योंकि वह भी पशु अर्थात् पाशविक पक्ष का संहार कर पाश से मुक्त होने की बात करता है। जैनों के अनुसार जीवन उस समीप तक वरेण्य और रक्षणीय है जिस सीमा तक वह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है और अपने आध्यात्मिक विकास के माध्यम से लोकमंगल का सृजन करता है। प्रशस्त तांत्रिक साधना और जैन साधना दोनों में ही इस सम्बन्ध में सहमति देखी जाती है। वस्तुतः जीवन की एकान्त रूप से वरेण्यता और एकान्त रूप से जीवन का निषेध दोनों ही अवधारणाएँ उचित नहीं हैं। यही जैनों की जीवनदृष्टि है। वासनात्मक जीवन के निराकरण द्वारा आध्यात्मिक जीवन का विकास-यही तंत्र और जैन दर्शन दोनों की जीवनदृष्टि है और इस अर्थ में वे दोनों विरोधी नहीं हैं, सहगामी हैं।

फिर भी सामान्य अवधारणा यह है कि तंत्र दर्शन में ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य माना गया है। उसकी मान्यता है कि जीवन आनन्दपूर्वक जीने के लिए है। जैन धर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है, उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अतः यहाँ इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन धर्म में तप-त्याग के गौरवगान का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाय। जैन धर्म के अनुसार

शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य में कहा है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत आनन्द के कूल में ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्व भी है और उसकी सार-संभाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होनी चाहिए, क्योंकि नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की एक साधना के रूप में स्वीकृति जैन धर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो आध्यात्मवाद और भौतिकवाद में अन्तर करती है। भौतिकवाद में उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अन्तिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों के साधन हैं। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों ही साधना के लिए हैं।

जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है, जो वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है, अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अतः जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहाँ तक वे स्वीकार्य हैं और जहाँ तक उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उसे सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं, अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का करना है। क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विशोभों) के कारण बनते हैं, अनासक्तचित्त या वीतराग के लिए नहीं। अतः जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन तांत्रिक साधना और लोक कल्याण का प्रश्न

तांत्रिक साधना का लक्ष्य आत्मविशुद्धि के साथ लोक कल्याण भी है। यह सत्य है कि जैन धर्म मूलतः संन्यासमार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर ही अधिक जोर दिया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन धर्म में लोकमंगल या लोककल्याण का कोई स्थान ही नहीं है। जैन धर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से समाज निरपेक्ष, एकाकी जीवन अधिक ही उपयुक्त है। किन्तु इसके साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि 12 वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवन भर उसका मार्ग-दर्शन करते रहे।

जैन धर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के चारित्रिक उन्नयन से ही सामाजिक कल्याण की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है, जब तक व्यक्ति का चारित्रिक विकास नहीं होगा, तब तक उसके द्वारा सामाजिक कल्याण नहीं हो सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियंत्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाज जब भी खड़ा होता वह त्याग और समर्पण के मूल्यों पर ही होता है। लोकसेवक और जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें-यह जैन आचार संहिता का आधारभूत सिद्धांत है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो तान्त्रिक साधनाएँ की जाती हैं, वे सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होती हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का संगठन समाज कहलाने का अधिकारी है? क्या चोर, डाकू और लुटेरे अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए देवी-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु जो तान्त्रिक साधना करते या करवाते हैं, उसे सही अर्थ में साधना कहा जा सकता है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति सामाजिक कल्याण का आधार बन सकती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। जैन साधना में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये जो पाँच व्रत माने गये हैं, वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं हैं।

जैन तन्त्र के दार्शनिक आधार

जैन तत्त्व दर्शन के अनुसार जीव कर्मों के आवरण के कारण बन्धन में है। बन्धन से मुक्ति के लिए एक ओर कर्म आवरण का क्षयोपशम आवश्यक है तो दूसरी ओर उस क्षयोपशम के लिए विशिष्ट साधना भी आवश्यक है किन्तु इस साधना के लिए बन्धन और बन्धन के कारणों का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान दार्शनिक अध्ययन से ही प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना साधना अधूरी रहती है। अतः जैन तंत्र में भी तान्त्रिक साधना के पूर्व तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा का सम्यक् अनुशीलन आवश्यक है। इस प्रकार जैन तत्त्व साधना में दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

जैनधर्म में तान्त्रिक साधना का उद्भव एवं विकास

यदि तन्त्र का उद्देश्य वासना-मुक्ति और आत्मविशुद्धि है तो वह जैन धर्म में उसके अस्तित्व के साथ ही जुड़ी हुई है। किन्तु यदि तन्त्र का तात्पर्य व्यक्ति की दैहिक वासनाओं और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देवता-विशिष्ट की साधना कर उसके माध्यम से अलौकिक शक्ति की प्राप्ति कर या स्वयं देवता के माध्यम से उन वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना माना जाय तो प्राचीन जैन धर्म में इसका कोई स्थान नहीं था। इसे हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं। यद्यपि जैन आगमों में ऐसे अनेकों सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुसार उस युग में अपनी लौकिक एषणाओं की पूर्ति के

लिए किसी देव-देवी या यक्ष-यक्षी की उपासना की जाती थी। अंतगडदसा आदि आगमों में नैगमेषदेव के द्वारा सुलसा और देवकी के छः सन्तानों के हस्तान्तरण की घटना, कृष्ण के द्वारा अपने छोटे भाई की प्राप्ति के लिए तीन दिवसीय उपवास के द्वारा नैगमेष देव की उपासना करना अथवा बहुपुत्रिका देवी की उपासना के द्वारा सन्तान प्राप्त करना आदि अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, किन्तु इस प्रकार की उपासनाओं को जैन धर्म की स्वीकृति प्राप्त थी, यह कहना उचित नहीं होगा। प्रारम्भिक जैन धर्म, विशेषरूप से महावीर की परम्परा में तंत्र-मंत्र की साधना मुनि के लिए सर्वथा वर्जित ही मानी गई थी। प्राचीन जैन आगमों में इसको न केवल हेय दृष्टि से देखा गया, अपितु इस प्रकार की साधना करने वाले को पापश्रमण या पार्श्वस्थ तक कहा गया है। इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्गसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के सन्दर्भ पूर्व में दिये जा चुके हैं। आगमों में पार्श्वस्थ का तात्पर्य शिथिलाचारी साधु माना जाता है। यद्यपि महावीर की परम्परा ने प्रारम्भ में तंत्र साधना को कोई स्थान नहीं दिया, किन्तु उनके पूर्ववर्ती पार्श्व (जिनका जन्म इसी वाराणसी नगरी में हुआ था) की परम्परा के साधु अष्टांगनिमित्त शास्त्र का अध्ययन और विद्याओं की साधना करते थे, ऐसे संकेत जैन आगमों में मिलते हैं। यही कारण था कि महावीर की परम्परा में पार्श्व की परम्परा के साधुओं को पार्श्वस्थ अर्थात् शिथिलाचारी कहकर हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्राकृत में 'पासत्थ' शब्द के तीन अर्थ होते हैं- 1. पाशस्थ अर्थात् पाश में बँधा हुआ 2. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व के संघ में स्थित या 3. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व में स्थित संयमी जीवन के समीप रहने वाला।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र जैसे अंग-आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम वर्ग में और आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि और आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनमें पार्श्वपत्य श्रमणों और श्रमणियों द्वारा अष्टाङ्गनिमित्त एवं मंत्र-तंत्र आदि की साधना करने के उल्लेख हैं। आज भी जैन परम्परा में जो तांत्रिक साधनाएँ की जाती हैं, उनमें आराध्यदेव महावीर न होकर मुख्यतः पार्श्वनाथ अथवा उनकी शासनदेवी पद्मावती ही होती है। जैन तांत्रिक साधनाओं में पार्श्व और पद्मावती की प्रधानता स्वतः ही इस तथ्य का प्रमाण है कि पार्श्व की परम्परा में तांत्रिक साधना की प्रवृत्ति रही होगी। यह माना जाता है कि पार्श्व की परम्परा के ग्रन्थों, जिन्हें 'पूर्व' के नाम से जाना जाता है, में एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी था। यद्यपि वर्तमान में यह ग्रन्थ अप्राप्त है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जो निर्देश उपलब्ध हैं उनसे इतना तो सिद्ध अवश्य होता है कि इसकी विषय-वस्तु में विविध विद्याओं की साधना से सम्बन्धित विशिष्ट प्रक्रियाएँ निहित रही होंगी। न केवल पार्श्व की परम्परा के पूर्व साहित्य में, अपितु महावीर की परम्परा के आगम साहित्य में भी विशेष रूप से प्रश्नव्याकरणसूत्र में विविध-विद्याओं की साधना सम्बन्धी सामग्री थी, ऐसी टीकाकार अभयदेव आदि की मान्यता है। यही कारण था कि योग्य अधिकारियों के अभाव में उस विद्या को पढ़ने से कोई साधक चरित्र से ध्रष्ट न हो, इसलिए लगभग सातवीं शताब्दी में उसकी विषय-वस्तु को ही बदल दिया गया। यह सत्य है कि महावीर की परम्परा में प्रारम्भ में तंत्र-मंत्र और विद्याओं की

साधनाओं को न केवल वर्जित माना गया था, अपितु इस प्रकार की साधना में लगे हुए लोगों को आसुरी योनियों में उत्पन्न होने वाला भी कहा गया। किन्तु जब पार्श्व की परम्परा का विलय महावीर की परम्परा में हुआ तो पार्श्व की परम्परा के प्रभाव से महावीर की परम्परा के श्रमण भी तार्त्रिक परम्पराओं से जुड़े। महावीर के संघ में तान्त्रिक साधनाओं की स्वीकृति इस अर्थ में हुई कि उनके माध्यम से या तो आत्मविशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ा जाय अथवा उन्हें सिद्ध करके उनका उपयोग जैन धर्म की प्रभावना या उसके प्रसार के लिए किया जाय।

इस प्रकार महावीर के धर्मसंघ में तंत्र साधना का प्रवेश जिनशासन की प्रभावना के निमित्त हुआ और परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए तार्त्रिक-साधनाओं से प्राप्त शक्ति का प्रयोग भी किया, जैन साहित्य में ऐसे संदर्भ विपुलता से उपलब्ध होते हैं। आज भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में किसी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या की साधना करनी होती है। मात्र यहीं नहीं श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रमण और श्रमणियाँ मंत्रसिद्ध सुगन्धित वस्तुओं का एक चूर्ण जिसे वासक्षेप कहा जाता है, अपने पास रखते हैं और उपासकों को आशीर्वाद के रूप में प्रदान करते हैं। यह जैन धर्म में तंत्र के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार मंत्रसिद्ध रक्षाकवच भी उपासकों को प्रदान किये जाते हैं। न केवल श्वेताम्बर और दिगम्बर भट्टारक परम्परा में अपितु वर्तमान दिगम्बर परम्परा में भी अनेक आचार्य और मुनि विशेष रूप से आचार्य विमलसागर जी की परम्परा के मुनिगण तंत्र-मंत्र का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। लगभग सातवीं शती के अनेक अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें जैन-मुनियों द्वारा तंत्र-मंत्र के प्रयोग के प्रसंग उपलब्ध हैं। वस्तुतः चैत्यवास के परिणामस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय में विकसित भट्टारक परम्परा और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विकसित यति परम्परा स्पष्टतया इन तार्त्रिक साधनाओं से सम्बंधित रही है, यद्यपि अध्यात्मवादी मुनिवर्ग ने इन्हें सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है और समय-समय पर इन प्रवृत्तियों की आलोचना भी की है।

वस्तुतः जैन परम्परा में तार्त्रिक साधनाओं का विकास चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। कल्पसूत्र पट्टावली में जैन श्रमणों की जो प्राचीन आचार्य परम्परा वर्णित है उसमें विद्याधरकुल का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः विद्याधर कुल जैन श्रमणों का वह वर्ग रहा होगा जो विविध विद्याओं की साधना करता होगा। यहाँ विद्या का तात्पर्य बुद्धि नहीं, अपितु देव अधिष्ठित अलौकिक शक्ति की प्राप्ति ही है। प्राचीन जैन साहित्य में हमें जंधाचारी और विद्याचारी, ऐसे दो प्रकार के श्रमणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह माना जाता है कि ये मुनि अपनी विशिष्ट साधना द्वारा ऐसी अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेते थे जिसकी सहायता से वे आकाश में गमन करने में असर्थ होते थे।

यह माना जाता है कि आर्य वज्रस्वामी (ईसा की प्रथम शती) ने दुर्भिक्षकाल में पट्टविद्या की सहायता से सम्पूर्ण जैन संघ को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया था। वज्रस्वामी द्वारा किया गया विद्या का यह प्रयोग परवर्ती आचार्यों और साधुओं के लिए एक उदाहरण

बन गया। वज्रस्वामी के सन्दर्भ में आवश्यकनिर्युक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उन्होंने अनेक विद्याओं का उद्धार किया था। लगभग दूसरी शताब्दी के मथुरा के एक शिल्पांकन में आकाशमार्ग से गमन करते हुए एक जैन श्रमण को प्रदर्शित भी किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से भी जैनों में अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति हेतु तांत्रिक साधना के प्रति निष्ठा का विकास हो गया था।

वस्तुतः जैन धर्मसंघ में ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से चैत्यवास का आरम्भ हुआ और उसी के परिणामस्वरूप तंत्र-मंत्र की साधना को जैन संघ में स्वीकृति भी मिली।

जैन परम्परा में आर्य खपुट, (प्रथम शती), आर्य रोहण (द्वितीय शती), आचार्य नागार्जुन (चतुर्थ शती), यशोभद्रसूरि, मानदेवसूरि, सिद्धसेनदिवाकर (चतुर्थ शती), मल्लवादी (पंचम शती), मानतुङ्गसूरि (सातवीं शती) हरिभद्रसूरि (आठवीं शती), बप्पभट्टिसूरि (नवीं शती), सिद्धर्षि (नवीं शती), सूर्याचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनेश्वरसूरि (ग्यारहवीं शती), अभयदेवसूरि (ग्यारहवीं शती), वीराचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनदत्तसूरि (बारहवीं शती), वादिदेवसूरि (बारहवीं शती), हेमचन्द्र (बारहवीं शती), आचार्य मलयगिरि (बारहवीं शती), जिनचन्द्रसूरि (बारहवीं शती), पार्श्वदेवगणि (बारहवीं शती) जिनकुशल सूरि (तेरहवीं शती) आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने मंत्र और विद्याओं की साधना के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की। यद्यपि विविध ग्रंथों, प्रबंधों और पट्टावलिओं में वर्णित इनके कथानकों में कितनी सत्यता है, यह एक भिन्न विषय है, किन्तु जैन साहित्य में जो इनके जीवनवृत्त मिलते हैं वे इतना तो अवश्य सूचित करते हैं कि लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी से जैन आचार्यों का रुझान तांत्रिक साधनाओं की ओर बढ़ा था और वे जैन-धर्म की प्रभावना के निमित्त उसका उपयोग भी करते थे।

मेरी दृष्टि से जैन परम्परा में तांत्रिक साधनाओं का जो उद्भव और विकास हुआ है, वह मुख्यतः दो कारणों से हुआ है- प्रथम तो यह कि जब वैयक्तिक साधना की अपेक्षा संघीय जीवन को प्रधानता दी गई तो संघ की रक्षा और अपने श्रावक भक्तों के भौतिक कल्याण को भी साधना का आवश्यक अंग मान लिया गया। दूसरे तंत्र के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैन आचार्यों के लिए यह अपरिहार्य हो गया था कि वे मूलतः निवृत्तिमार्गी और आत्मविशुद्धिपरक इस धर्म को जीवित बनाए रखने के लिए तांत्रिक उपासना और साधना-पद्धति को किसी सीमा तक स्वीकार करें, अन्यथा उपासकों का इतर परम्पराओं की ओर आकर्षित होने का भय था।

अध्यात्म के आदर्श की बात करना तो सुखद लगता है किन्तु उन आदर्शों को जीवन में जीना सहज नहीं है। जैन धर्म का उपासक भी वही व्यक्ति है जिसे अपने लौकिक और भौतिक मंगल की आकांक्षा रहती है। जैन धर्म को विशुद्ध रूप से मात्र आध्यात्मिक और निवृत्तिमार्गी बनाए रखने पर भक्तों या उपासकों के एक बड़े भाग से जैन धर्म के विमुख हो जाने की सम्भावनाएँ थीं। इन परिस्थितियों में जैन आचार्यों की यह विवशता थी कि वे अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैन धर्म में बनी रहे इसके लिए उन्हें यह आश्वासन दें कि चाहे तीर्थंकर उनके लौकिक-भौतिक कल्याण करने में असमर्थ हों किन्तु

उन तीर्थंकर के शासन रक्षक देव उनका लौकिक और भौतिक मंगल करने में समर्थ हैं। जैन देवमण्डल में विभिन्न यक्ष-यक्षियों, विद्यादेवियों, क्षेत्रपालों आदि को जो स्थान मिला, उसका मुख्य लक्ष्य तो अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैन धर्म में बनाए रखना ही था।

यही कारण था कि आठवीं-नौवीं शताब्दी में जैन आचार्यों ने अनेक विधि-विधानों को जैन साधना और पूजा-पद्धति का अंग बना दिया। यह सत्य है कि जैन-साधना में तान्त्रिक साधना की अनेक विधाएँ यथा मंत्र, यंत्र, जप, पूजा, ध्यान आदि क्रमिक रूप से विकसित होती रही हैं, किन्तु यह सब अपनी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम थी, जिसे जैन धर्म के उपासकों की निष्ठा को जैन धर्म के बनाए रखने के लिए स्वीकार किया गया था।

जैनधर्म में तान्त्रिक साधना से सम्बंधित हिन्दू देव-मण्डल का प्रवेश

जहाँ तक जैन उपासना और पूजा पद्धति का प्रश्न है उस पर हिन्दू तान्त्रिक साधना का प्रभाव लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी से ही मिलता है। यह सुस्पष्ट तथ्य था कि निवृत्ति मार्ग के प्रणेता वीतराग परमात्मा अपने उपासकों के भौतिक कल्याण में समर्थ नहीं थे जबकि मानव की यह एक स्वाभाविक कमजोरी है कि वह धर्म साधना और उपासना के माध्यम से भी अपने भौतिक कल्याण की अपेक्षा रखता है। यही कारण था कि जैन उपासना पद्धति में शासनरक्षक देव और देवियों के रूप में हिन्दू तान्त्रिक साधना के देव मण्डल के अनेक देवी-देवताओं को समाहित कर लिया गया। सर्वप्रथम विद्या देवियों के रूप में रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रगर्भखला, वज्रांकुशी, अप्रतिचक्रा, गौरी, गान्धारी आदि और कालान्तर में शासन देवियों के रूप में काली, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, सिद्धायिका, निर्वाणी, तारा आदि अनेक देवियाँ और ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, धरणीन्द्र, कुबेर आदि यहाँ जैन देव मण्डल का अंग बन गए और उनकी उपासना और आराधना को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इसी प्रकार नवग्रह, अष्टदिक्पाल भी जैन पूजा और उपासना के अंग बन गए। कालान्तर में गणेश का प्रवेश भी पार्श्वयक्ष के रूप में जैन धर्म का अङ्ग बन गया और उसे भी गणेश के समान ही गजमुख मानकर लोकमंगल का देवता मान लिया गया।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हिन्दू देवमण्डल से सर्वप्रथम सरस्वती एवं लक्ष्मी ये दो देवियाँ जैन देव-मण्डल का अङ्ग बन गईं। सरस्वती को श्रुत देवी के रूप में आराध्य बनाया गया। जैन ग्रन्थों में अनेक प्रसंगों पर श्रुत देवता के रूप में इसका उल्लेख पाया जाता है यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आज विश्व में सरस्वती की जो प्राचीनतम (ईसा प्रथम शताब्दी) मथुरा की प्रतिमा उपलब्ध है वह जैन अभिलेख से युक्त जैन सरस्वती या श्रुतदेवी ही है। सरस्वती के पश्चात् जैन परम्परा में लक्ष्मी भी जैन देव-मण्डल का सदस्य बन गई। अनेक जैन मन्दिरों में गजलक्ष्मी की प्रतिमाएँ आज भी उपलब्ध होती हैं।

इसी प्रकार क्षेत्रपाल के रूप में भैरव और 64 योगिनियाँ भी जो कि तान्त्रिक देवता थे वे भी जैन देव मण्डल के सदस्य बन गए। जैनों में आज भी सम्मोदशिखर के

भौमिथा जी एवं नाकोड़ा के नाकोड़ा भैरव सर्वाधिक उपासना के पात्र माने जाते हैं। लगभग प्रायः सभी जैन मन्दिरों में क्षेत्रपाल के रूप में भैरव की प्रतिमाएँ स्थापित हैं और इन देव-देवियों के जैन उपासक आज भी अपने भौतिक कल्याण के लिए मनौतियाँ माँगते हैं। यद्यपि एक विशुद्ध निवृत्तिमूलक धर्म में यह सब विकृतियाँ ही हैं किन्तु भारतीय तन्त्र के प्रभाव से उनका प्रवेश तो हुआ है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य विशुद्ध अध्यात्म या निवृत्तिमूलक आदर्शों पर जीवित नहीं रह सकता है।

जैन योग और पातञ्जल योग : एक समन्वय

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि वे सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ जो चित्तविशुद्धि या आत्मविशुद्धि (समाधि) को अपना लक्ष्य बना कर चलती हैं, उन सभी में किसी न किसी में योग-साधना का स्थान रहा हुआ है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो मुख्य रूप से तीन धर्म हमारे सामने आते हैं-

1. पातञ्जल योग
2. बौद्ध योग
3. जैन योग

जहाँ तक पातञ्जल योग और जैन योग की तुलना एवं समन्वय का प्रश्न है सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना होगा कि इन दोनों परम्पराओं में प्रारम्भिककाल में योग शब्द दो भिन्न अर्थों में ही प्रयुक्त होता था। जहाँ जैन परम्परा में योग शब्द का अर्थ मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति था जो आस्रव एवं बन्ध की हेतु थी वही पातञ्जल योग में योग शब्द को 'चित्तवृत्तियों के निरोध' के अर्थ में स्वीकार किया गया था, जो मुक्ति का हेतु थी। फिर भी योगसूत्र और तत्त्वार्थ सूत्र में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जो उनकी संवादिता के सूचक हैं। पं. सुखलाल जी संघवी ने अपनी तत्त्वार्थ सूत्र की भूमिका (पृ. 55-56) में उन प्रसंगों की तुलना की है, जो जैन दर्शन और योग दर्शन की एक-दूसरे से निकटता को सूचित करती हैं। मैं यहाँ अति विस्तार में न जाकर केवल उस संक्षिप्त सूची को ही प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिससे जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और योग दर्शन की निकटता को समझा जा सकता है-

तत्त्वार्थसूत्र

1. कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तिरूप आस्रव (6.1)
2. मानसिक आस्रव (8.1)
3. सकषाय व अकषाय-यह दो प्रकार का आस्रव (6.5)
4. सुख-दुःखजनक शुभ व अशुभ आस्रव (6.3-4)

योगदर्शन

1. कर्माशय (2.12)
2. निरोध के विषयरूप में ली जाने वाली चित्तवृत्तियाँ (1.6)
3. क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार का कर्माशय (2.12)
4. सुख-दुःखजनक पुण्य व अपुण्य कर्माशय (2.14)

- | | |
|---|--|
| 5. मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के पाँच हेतु (8.1) | 5. अविद्या आदि पाँच बन्धक क्लेश (2.3) |
| 6. पाँचों में मिथ्यादर्शन की प्रधानता | 6. पाँचों में अविद्या की प्रधानता (2.4) |
| 7. आत्मा और कर्म का विलक्षण सम्बन्ध ही बन्ध (8.2-3) | 7. पुरुष और प्रकृति का संयोग ही हेय दुःख का हेतु (2.17) |
| 8. बन्ध ही शुभ-अशुभ हेय विपाक का कारण | 8. पुरुष व प्रकृति का संयोग ही हेय दुःख का हेतु (2.17) |
| 9. अनादि बन्ध मिथ्यादर्शन के अधीन | 9. अनादि संयोग अविद्या के अधीन (2.24) |
| 10. कर्मों के अनुभागबन्ध का आधार कषाय (6.5) | 10. कर्मों के विपाकजनन का मूल क्लेश (2.13) |
| 11. आस्रवनिरोध ही संवर (9.1) | 11. चित्तवृत्तिनिरोध ही योग (1.2) |
| 12. गुप्ति-समिति आदि और विविध तप आदि संवर के उपाय (9.2-3) | 12. यम, नियम आदि और अभ्यास, वैराग्य आदि योग के उपाय (1.12 से और 2.29) |
| 13. अहिंसा आदि महाव्रत (7.1) | 13. अहिंसा आदि सार्वभौम यम (2.30) |
| 14. हिंसा आदि वृत्तियों में ऐहिक, पारलौकिक दोषों का दर्शन करके उन्हें रोकना (7.4) | 14. प्रतिपक्ष भावना द्वारा हिंसा आदि वित्कों को रोकना (2.33-34) |
| 15. हिंसा आदि दोषों में दुःखपने की ही भावना करके उन्हें त्यागना (7.5) | 15. विवेकी की दृष्टि में सम्पूर्ण कर्माशय दुःखरूप (2.15) |
| 16. मैत्री आदि चार भावनाएँ (7.6) | 16. मैत्री आदि चार भावनाएँ (1.33) |
| 17. पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार आदि चार शुक्ल ध्यान (9.41-46) | 17. सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचाररूप चार संप्रज्ञात समाधियों (1.16 और 41, 44) |
| 18. निर्जरा और मोक्ष (9.3 और 10.3) | 18. आशिकहान-बन्धोपरम और सर्वथाहान (2.25) |
| 19. ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा और मोक्ष का हेतु (1.1) | 19. सांगयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (2.26) |

1. ये चार भावनाएँ बौद्ध परम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती हैं और उन पर बहुत जोर दिया गया है।
2. ध्यान के ये चार भेद बौद्धदर्शन में भी प्रसिद्ध हैं।
3. इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं, जो तीसरा आर्यसत्य है।

- | | |
|---|--|
| 20. जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्यज्ञान
और चारणविद्यादि लब्धियाँ
(1.12 और 10.7 का भाष्य) | 20. संयमजनित वैसी ही विभूतियाँ ⁴
(2.29 और 3.16 से आगे) |
| 21. केवलज्ञान (10.1) | 21. विवेकजन्य तारक ज्ञान (3.54) |

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-योग, बौद्ध-योग और पातञ्जल-योग अनेक सन्दर्भों में एक-दूसरे के अति निकट हैं। यद्यपि यहाँ यह कहना अति कठिन है कि जो समरूपताएँ परिलक्षित हो रही हैं उन्हें किस परम्परा से किसने गृहीत किया है, क्योंकि अनेक सन्दर्भों में विचार साम्य होते हुए भी भिन्न-भिन्न शब्दावलियों का प्रयोग हुआ।

जैन-योग और पातञ्जल-योग के पारस्परिक समन्वय के सूत्र हमें आचार्य हरिभद्र (लगभग 8 वीं शती) के काल से मिलने लगते हैं। आचार्य हरिभद्र ने सर्वप्रथम जैन-दर्शन में जो 'योग' शब्द की परिभाषा एवं व्याख्या चली आ रही थी उसे परिवर्तित किया और यह कहा कि जो मोक्ष से जोड़ता है, वह योग है। जैन परम्परा में मोक्ष की उपलब्धि हेतु योग निरोध से माना गया है। अतः यहाँ जैनदर्शन और योगदर्शन दोनों ही चित्त वृत्ति के निरोध को योग के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस प्रकार से योग शब्द मोक्ष मार्ग के रूप में दोनों परम्पराओं में स्वीकृत हो गया। आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं— 1. योग बिन्दु, 2. योगशतक, 3. योगविंशिका और 4. योग दृष्टिसमुच्चय। इन चारों ग्रन्थों पर योगसूत्र और कौलतंत्र का पर्याप्त प्रभाव है, पतंजलि के अष्टांगयोग को हरिभद्र ने आठ योगदृष्टियों के रूप में विवेचित किया है। कौलतंत्र के आधार पर कुलयोगी, गोत्रयोगी आदि की चर्चा की है।

हिन्दू परम्परा के ग्रन्थ गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और राजयोग के उल्लेख हमें स्पष्ट रूप से मिलते हैं। जैन परम्परा में ज्ञानयोग को सम्यक्ज्ञान के रूप में, कर्मयोग को सम्यक् चरित्र के रूप में, भक्तियोग को सम्यक्दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु जहाँ तक गीता में वर्णित राजयोग का प्रश्न है उसे किसी सीमा तक जैन परम्परा में सम्यक्तप के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, तप में स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि की चर्चा है।

पातञ्जल योगसूत्र में जो अष्टाङ्गयोग की चर्चा है, वह किसी रूप में जैन आगमों में प्राचीन काल से ही उपलब्ध रही है। आचार्य आत्माराम जी ने 'जैन आगम और अष्टाङ्गयोग' नाम से एक लघु पुस्तिका लिखी थी और उसमें यह बताया कि जैन परम्परा में ये आठ अंग किस रूप में पाए जाते हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जैन परम्परा में जिन पाँच महाव्रतों का उल्लेख है वे ही योग दर्शन में पञ्च यम के रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार योगसूत्र में वर्णित पञ्च नियम ही जैन परम्परा में प्रकारान्तर से उपलब्ध हो

4. बौद्धदर्शन में इनके स्थान पर पाँच अभिज्ञाएँ हैं। देखें - धर्मसंग्रह, पृ. 4 और अभिधम्मसंगहो, परिच्छेद 9, पैरा 24.

जाते हैं। जहाँ तक आसनों का प्रश्न है जैन परम्परा में वे ही आसन मान्य रहे हैं जिनके माध्यम से सुख पूर्वक ध्यान किया जा सकता है। जैन आगमों में हठयोग के क्लिष्ट आसनों की तो कोई भी चर्चा नहीं है किन्तु पद्मासन, गोदुहासन और खड्गासन के उल्लेख विपुल मात्रा में मिलते हैं। प्राणाधाम की जो चर्चा है वह हमें जैन आगमों में अल्प ही मिलती है किन्तु जैन आगमों में श्वासोच्छ्वास को देखने की बात विस्तार से अनेक स्थलों पर उल्लिखित है। जहाँ तक प्रत्याहार का प्रश्न है, वह इन्द्रिय-निग्रह एवं संवर के रूप में उसकी विस्तृत चर्चा उत्तराध्ययन आदि अनेक आगमों में मिलती है। जहाँ तक धारणा का प्रश्न है जैन ज्ञानमीमांसा में उसे प्रत्यक्ष का एक अंग मानकर विवेचित किया है। किसी सीमा तक धारणा को बौद्ध दर्शन के आष्टांगिक आर्य मार्ग में सम्यक् स्मृति के साथ जोड़ा जा सकता है। किसी सीमा तक धारणा को बौद्धदर्शन के आष्टाङ्गिक आर्य मार्ग में सम्यक् स्मृति के साथ जोड़ा जा सकता है।

ध्यान के सन्दर्भ में जैन आगमों में विस्तृत उल्लेख मिलता है। यहाँ उसकी विस्तृत चर्चा तो सम्भव नहीं है किन्तु इसी लेख के अन्तर्गत आगे हमने यह बताने का प्रयास किया है कि जैन ध्यान साधना पर पातञ्जल योगसूत्र के साथ-साथ कौलतन्त्र का भी प्रभाव आया है। पिष्टपेशण के भय से इस चर्चा को यहाँ विराम दे रहे हैं। जहाँ तक समाधि का प्रश्न है वह जैन परम्परा में योग निरोध के रूप में ही उल्लिखित है और जैन दर्शन के शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों को पातञ्जल योग की समाधि के साथ देखा जा सकता है। इसी सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य हेमचन्द्र के योग शास्त्र का तेरहवाँ अध्याय नाथपंथ से पूर्णतया प्रभावित लगता है।

मंत्र साधना और जैन दृष्टि

मंत्र साधना तांत्रिक साधना अथवा योग-साधना का एक आवश्यक अंग है। जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथों में तो मात्रिक साधना का स्पष्ट निषेध किया गया था किन्तु परवर्ती काल में तांत्रिक परम्परा के प्रभाव से जैन धर्म में मात्रिक साधनाएँ स्वीकृत हो गईं। फिर भी जहाँ तांत्रिक साधना हो वहाँ मंत्र को आध्यात्मिक या दैवीय शक्ति से सम्पन्न भौतिक कल्याण का हेतु माना गया वहाँ जैन दर्शन में मंत्र और तंत्र को पौद्गलिक शक्ति से सम्पन्न भौतिक कल्याण का हेतु माना गया वहाँ जैन दर्शन ने मंत्र और तंत्र को पौद्गलिक शक्ति से युक्त भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण का हेतु माना। धरसेन ने योनिस्राभृत में स्पष्ट रूप से यह कहा है कि मंत्र एवं तंत्र शक्तियों को पौद्गलिक शक्ति का ही एक विभाग मानना चाहिए (जोनि पाहुडे भण्ड-मंत-तंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागोत्ति घेतव्वो)। इस प्रकार जहाँ तांत्रिक साधना में मंत्र को देव अधिष्ठित आत्मिक शक्ति कहा गया वहाँ जैन परम्परा में उसे एक पौद्गलिक शक्ति ही माना गया।

जैनों के अनुसार मंत्र ध्वनि रूप होते हैं। ध्वनि मात्रिका पदों (स्वर-व्यंजनों) के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। मंत्र ध्वनि रूप है और ध्वनि को जैन दर्शन में भाषावर्गणा के पुद्गलों से निर्मित एक पौद्गलिक संरचना माना गया है। अतः ध्वनि रूप मंत्र ही

पौद्गलिक है। वस्तुतः मंत्र के उच्चारण से जो ध्वनि तरंगें प्रसृत होती हैं उनमें ही मंत्रों की कार्य शक्ति निहित होती है।

ध्वनि तरंगों की क्या और कैसी प्रभावक शक्ति होती है, यह आज के वैज्ञानिक युग में अज्ञात नहीं है। वस्तुतः आज अधिकांश वैज्ञानिक उपकरणों का नियंत्रण तरंगों के माध्यम से ही होता है। मात्र इतना ही नहीं जैन दर्शन का तो यह भी मानना है कि मंत्र साधना में जो ध्यान के माध्यम से सूक्ष्म चिन्तन होता है वह विचार या चिन्तन ही शब्द रूप होता है और चाहे कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो तरंग रूप होता है। वे सूक्ष्म ध्वनि की सूक्ष्मतम तरंगें भी कम्पनों को उत्पन्न कर अपना कार्य सिद्ध करती हैं। अतः जैन आचार्यों की यह मान्यता की मंत्र शक्ति पौद्गलिक शक्ति है, पूर्णतः वैज्ञानिक है। यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन दर्शनानुसार जिस प्रकार कर्म पुद्गल चेतना या चित्त शक्ति को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार मंत्र भी देवों की चित्त शक्ति को प्रभावित करते हैं।

यह सत्य है कि प्रारम्भिक काल में जैन साधना में मंत्र साधना आध्यात्मिक विशुद्धि रूप ही मानी जाती थी। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जैन परम्परा में जिस मंत्र साधना का प्रारम्भिक काल में विरोध किया गया वह मंत्र साधना मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि से संबंधित मंत्र साधनाएँ ही थीं। आत्म विशुद्धि के हेतु के रूप में मंत्र साधना का निषेध नहीं था।

प्राचीन काल में जैन परम्परा में पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र को मंत्र रूप में मान लिया गया था। इस नमस्कार मंत्र को सर्वश्रेष्ठ मंगलदायक मंत्र माना जाता था और इन्हीं पाँच पदों के आधार पर सकलीकरण एवं ग्रह शांति की जाती थी। उसके पश्चात् परमावधि ज्ञानी, केवलज्ञानी, लब्धिधर आदि को उनमें सम्मिलित किया गया। इस प्रकार 48 पदात्मक सूरि मंत्र आदि का निर्माण हुआ। कालान्तर में चौबीस तीर्थंकरों और उनके यक्ष-यक्षियों से संबंधित मंत्रों का निर्माण हुआ और इन मंत्रों के माध्यम से सकलीकरण, ग्रह शांति आदि के कार्य सम्पन्न किये जाने लगे। यहाँ तक तो जैन मंत्र साधना से जैन धर्म का कुछ संबंध रहा, किन्तु आगे चलकर ज्वालामालिनी आदि देवियों, 64 योगिनियों, भैरव आदि से संबंधित मंत्र भी अस्तित्व में आये— जिन्हें हम हिन्दू तांत्रिक साधना का स्पष्ट प्रभाव कह सकते हैं। यह प्रभाव कैसे और किस रूप में है, आगे इसकी विस्तृत चर्चा करेंगे।

सर्वप्रथम तो जैनों ने अपने नमस्कार महामंत्र को ही मान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया और इसी क्रम में न केवल नमस्कार मंत्र के पदों की संख्या में विकास हुआ अपितु प्रत्येक पद के साथ बीजाक्षर अर्थात् ॐ ऐं ह्रीं आदि योजित किए गये। इस प्रकार नमस्कार मंत्र को तंत्र परम्परा में प्रचलित बीजाक्षरों से समन्वित करके जैन आचार्यों ने उसे तंत्र-साधना की दृष्टि से मान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया। यह स्पष्ट है कि नमस्कार मंत्र के साथ बीजाक्षरों को योजित करने की यह परम्परा तंत्र से प्रभावित है। मात्र इतना ही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैन आचार्यों ने अन्य परम्पराओं में प्रचलित तांत्रिक साधना का मात्र अन्धानुकरण नहीं किया है अपितु अनेक स्थितियों में उसे विवेकपूर्वक अपनी परम्परा से योजित भी किया है।

इसी क्रम में तंत्र साधना से प्रभावित होकर जैनों ने न केवल प्रणव (ॐ) को नमस्कार मंत्र से निष्पन्न बताया अपितु प्रत्येक पद के वर्ण आदि का भी निर्धारण किया और आत्मरक्षा, सकलीकरण, अंग न्यास, ग्रह-नक्षत्र आदि की शांति के प्रसंग में भी नमस्कार मंत्र को योजित करने का प्रयत्न किया है। जैनाचार्यों ने नमस्कार मंत्र के विविध पदों के आधार पर विविध प्रयोजन संबंधी मंत्रों की रचना भी की जिसकी चर्चा सिंहनन्दि विरचित 'पंचनमस्कृति दीपिका' के नमस्कार संबंधी मंत्रों के प्रसंग में की गई है। नमस्कार मंत्र के पश्चात् जैन परम्परा में लब्धिधरों, ऋद्धिधरों के प्रति नमस्कार पूर्वक अनेक मंत्रों की रचना हुई। सर्वप्रथम तो इन पदों में सूरिमंत्र या गणधरवलय की रचना हुई जिसमें इन लब्धिधारियों को नमस्कार किया गया है। प्रत्येक लब्धिधारी पद में नमस्कार पूर्वक बीजाक्षरों को योजित करके अनेक मंत्र बने और उन मंत्रों की साधनाविधि तथा उनसे होने वाले फलों या उपलब्धियों की भी चर्चा की गयी। इसके पश्चात् 'लोगस्स' और 'नमोत्थण' (शक्रस्तव) जो मूलतः प्राचीन स्तुति परक प्राकृत रचनाएँ हैं, उनके आधार पर भी मंत्रों की रचनाएँ हुईं। इनमें इन स्तुति पाठों के अंशों के साथ बीजाक्षरों आदि को योजित करके मंत्र बनाए गए और इनकी साधना से भी विविध लौकिक उपलब्धियों की चर्चा की गयी।

इन मंत्रों के साथ-साथ जब जैन परम्परा में 16 महाविद्याओं, 24 यक्षिणियों एवं 24 यक्षों, नवग्रह, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि को देवमंडल में सम्मिलित कर लिया गया तो इनसे संबंधित मंत्रों की भी रचनाएँ हुईं, जो पूरी तरह अन्य तांत्रिक साधना पद्धतियों से प्रभावित हैं। जहाँ तक पंच परमेष्ठि, 24 तीर्थंकर और लब्धिधारियों से संबंधित मंत्रों का प्रश्न है वे मुख्यतया प्राकृत में रचे गए हैं। मात्र बीजाक्षरों अथवा फट्, स्वाहा आदि के रूप में ही उनके साथ संस्कृत शब्दों की योजना की गयी। विद्यादेवियों, यक्षों, यक्षिणियों (शासनदेवियों) से संबंधित जो मंत्र निर्मित हुए हैं वे मुख्यतः संस्कृत भाषा में रचित हैं यद्यपि इनसे संबंधित कुछ मंत्र प्राकृत में भी मिलते हैं। वस्तुतः यक्ष-यक्षी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल (भैरव), नवग्रह, नक्षत्र आदि की अवधारणाओं का जैन परम्परा में भी अन्य परम्पराओं से संग्रह किया गया। उसके परिणामस्वरूप तत्संबंधी मंत्र भी अन्य परम्पराओं से आंशिक परिवर्तनों के साथ गृहीत कर लिए गए। पुनः इन देव-देवियों संबंधी जो भी मंत्र बने, उनमें लौकिक उपलब्धियों की ही कामना अधिक रही। यहाँ तक कि मारण, मोहन, उच्चाटन आदि षट्कर्मों से संबंधित मंत्र भी जैन परम्परा में मान्य हो गये जो उसकी निवृत्तिमार्गी अहिंसक परम्परा के विपरीत थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मंत्र साधना के क्षेत्र में जैनों पर अन्य तांत्रिक परम्पराओं का प्रभाव है। विशेष रूप से षट्कर्म संबंधी मंत्रों में तो उन्होंने अविवेकपूर्वक अन्य परम्पराओं का अन्धानुकरण किया है, किन्तु अनेक प्रसंगों में उन्होंने स्वविवेक का परिचय ही दिया है और अपनी परम्परा के अनुरूप मंत्रों की रचना की ताकि सामान्यजन की श्रद्धा को जैन धर्म में स्थित रखा जा सके और जैन परम्परा की मूलभूत जीवन दृष्टि को भी सुरक्षित रखा जा सके।

स्तोत्र पाठ, नामजप एवं मंत्रजप

तांत्रिक साधना में इष्ट देवता की प्रसन्नता के हेतु ध्यान के साथ-साथ स्तुति, नामसंकीर्तन और जप का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इष्ट देवता की स्तुति एवं नामस्मरण के साथ-साथ विभिन्न मंत्रों की सिद्धि के लिए उन मंत्रों का या उनके अधिष्ठायक देवता का विभिन्न संख्याओं में जप करने के विधान भी हमको न केवल हिन्दू-तांत्रिक परम्परा के ग्रन्थों में, अपितु जैन परम्परा के तंत्र संबंधी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या ध्यान-साधना के समान ही नामस्मरण या जप साधना की भी जैनों की अपनी कोई मौलिक परम्परा रही है। हमें जैनागमों में और 9वीं शती के पूर्व के जैन ग्रन्थों में जप-साधना और उससे संबंधित विधि-विधानों के कोई विशेष उल्लेख देखने को नहीं मिलते हैं। जो भी प्राचीन उल्लेख उपलब्ध हैं वे मात्र स्तुतियों से संबंधित हैं। प्राचीन आगमों में वीरस्तुति (वीरत्थुई), शक्रस्तव (नमोत्थुणं), चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) और पंच नमस्कार से संबंधित संदर्भ ही मिलते हैं।

जैन परम्परा में नाम स्मरण एवं जप साधना के हमें जो उल्लेख प्राप्त होते हैं वे सभी प्रायः 9वीं शती के पश्चात् के हैं और मुख्यतः भक्तिमार्गी एवं तांत्रिक परम्परा के प्रभाव से ही विकसित हुए हैं। स्तुतियों से संबंधित संदर्भ आचारंग, सूत्रकृतांग, भगवती एवं आवश्यक सूत्र जैसे प्राचीन आगमों में उपलब्ध हैं। किन्तु नामस्मरण की परम्परा इसमें परवर्ती है। जिनसहस्रनाम का सर्वप्रथम उल्लेख जिनसेन (9वीं शती) के आदिपुराण में मिलता है। मंत्रों के जप संबंधी निर्देश तो इसकी अपेक्षा भी परवर्ती हैं। वे ईसा की 10वीं शताब्दी के बाद के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं।

जैन ध्यान साधना पर तांत्रिक साधना का प्रभाव

ध्यान साधना श्रमण परम्परा की अपनी विशेषता है। उसमें ध्यान साधना का मुख्य प्रयोजन आत्म विशुद्धि अर्थात् चित्त को विकल्पों एवं विक्षोभों से मुक्त कर निर्विकल्प दशा या समाधि (समत्व) में स्थित करना रहा है। इसके विपरीत तांत्रिक साधना में ध्यान का प्रयोजन मंत्रसिद्धि और हठ योग में षट्चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी को जागृह करना है। यद्यपि उनमें भी ध्यान के द्वारा आत्मशांति या आत्मविशुद्धि की बात कही गई है, किन्तु यह उन पर श्रमण धारा के प्रभाव का ही परिणाम है क्योंकि वैदिक धारा के अथर्ववेद आदि प्राचीन ग्रन्थों में मंत्रसिद्धि का प्रयोजन लौकिक उपलब्धियों के हेतु विशिष्ट शक्तियों की प्राप्ति ही था। वस्तुतः हिन्दू तांत्रिक साधना वैदिक और श्रमण परम्पराओं के समन्वय का परिणाम है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण, स्तम्भन आदि षट्कर्मों के लिए मंत्र सिद्धि की जो चर्चा है वह वैदिक धारा का प्रभाव है क्योंकि उसके बीज अथर्ववेद आदि में भी हमें उपलब्ध होते हैं जबकि ध्यान, समाधि आदि के द्वारा आत्मविशुद्धि की जो चर्चा है वह निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का प्रभाव है। किन्तु यह भी सत्य है कि सामान्य रूप से श्रमण धारा और विशेष रूप से जैनधारा पर भी हिन्दू तांत्रिक साधना और विशेष रूप से कौलतंत्र का प्रभाव आया है।

वस्तुतः जैन तंत्र में सकलीकरण, आत्मरक्षा, पूजाविधान और षट्कर्मों के लिए

मंत्रसिद्धि के विविध विधान हिन्दू तंत्र से प्रभावित हैं। मात्र इतना ही नहीं, जैन ध्यान साधना, जो श्रमणधारा की अपनी मौलिक साधना पद्धति है, पर भी हिन्दूतंत्र विशेष रूप से कौलतंत्र का प्रभाव आया है। विशेष रूप से यह प्रभाव ध्यान के आलम्बन या ध्येय को लेकर है।

जैन परम्परा में ध्यान-साधना के अन्तर्गत विविध आलम्बनों की चर्चा तो प्राचीन काल से थी, क्योंकि ध्यान साधना में चित्त की एकाग्रता के लिए प्रारम्भ में किसी न किसी विषय का आलम्बन तो लेना ही पड़ता है। प्रारम्भ में जैन परम्परा में आलम्बन के आधार पर धर्म-ध्यान को निम्न चार प्रकारों में विभाजित किया गया था- 1. आज्ञा विचय 2. अपाय विचय 3. विपाक विचय 4. संस्थान विचय।

इन चारों की विस्तृत चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यह भी स्पष्ट है कि धर्म-ध्यान के ये चारों आलम्बन जैनों के अपने मौलिक हैं। किन्तु आगे चलकर इन आलम्बनों के संदर्भ में तंत्र का प्रभाव आया और लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती से आलम्बन के आधार पर धर्म-ध्यान के नवीन चार भेद किये गये- 1. पिण्डस्थ 2. पदस्थ 3. रूपस्थ 4. रूपातीत।

यह स्पष्ट है कि धर्मध्यान के इन आलम्बनों की चर्चा मूलतः कौलतंत्रों से प्रभावित है, क्योंकि शुभचन्द्र (ग्यारहवीं शती) और हेमचन्द्र (बारहवीं शती) के पूर्व हमें किसी भी जैन ग्रंथ में इनकी चर्चा नहीं मिलती है। सर्वप्रथम शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव में और हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के अन्त में ध्यान के इन चारों आलम्बनों की चर्चा नहीं की है। मात्र यही नहीं, पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत धारणा के पाँच प्रकारों की जो चर्चा हुई है, वह हिन्दू तंत्र से प्रभावित है। ये पाँच धारणाएँ हैं- 1. पार्थिवी 2. आग्नेयी 3. मारुति 4. वारुणी और 5. तत्त्ववती। वस्तुतः ध्यान के इन चार आलम्बनों में और पंच धारणाओं में ध्यान का विषय स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है। आगे हम संक्षेप में इनकी चर्चा करेंगे। ध्यान के इन चारों आलम्बनों या ध्येयों और पाँचों धारणाओं को जैनों ने कौलतंत्र से गृहीत करके अपने ढंग से किस प्रकार समायोजित किया है, यह निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायेगा।

1. **पिण्डस्थ ध्यान**- ध्यान साधना के लिए प्रारम्भ में कोई न कोई आलम्बन लेना आवश्यक होता है। साथ ही इस क्षेत्र में प्रगति के लिए यह भी आवश्यक होता है कि इन आलम्बनों का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होता जाये। पिण्डस्थ ध्यान में आलम्बन का विषय सबसे स्थूल होता है, पिण्ड शब्द के दो अर्थ हैं- शरीर अथवा भौतिक वस्तु। पिण्ड शब्द का अर्थ शरीर लेने पर पिण्डस्थ ध्यान का अर्थ होगा आन्तरिक शारीरिक गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करना, जिसे हम शरीरप्रेक्षा भी कह सकते हैं, किन्तु पिण्ड का अर्थ भौतिक तत्व करने पर पार्थिवी आदि धारणायें भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। ये धारणाएँ निम्न हैं-

(क) **पार्थिवी धारणा**- आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के अनुसार पार्थिवी धारणा में साधक को मध्यलोक के समान एक अतिविस्तृत क्षीरसागर का चिंतन करना चाहिए। फिर

यह विचार करना चाहिए कि उस क्षीरसागर के मध्य में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला और एक हजार पंखुड़ियों वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य में दैदीप्यमान स्वर्णिम आभा से युक्त मेरु पर्वत के समान एक लाख योजना ऊँची कर्णिका है, उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल श्वेत सिंहासन है, उस सिंहासन पर आसीन होकर मेरी आत्मा अष्टकर्मों का समूल उच्छेदन कर रही है।

(ख) आग्नेयीधारणा- ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में इस धारणा के विषय में कहा गया है कि साधक अपने नाभि मण्डल में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करे। फिर उस कमल की कर्णिका पर अर्ह की, और प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः- इन सोलह स्वरों की स्थापना करे। इसके पश्चात् अपने हृदय भाग में अधोमुख आठ पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करे और यह विचार करे कि ये आठ पंखुड़ियाँ अनुक्रम से 1. ज्ञानावरण 2. दर्शनावरण 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयुष्य 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय कर्मों की प्रतिनिधि हैं। इसके पश्चात् यह चिंतन करे कि उस अर्ह से जो अग्नि शिखाएँ निकल रही हैं उनसे अष्टदल कमल की अष्टकर्मों की प्रतिनिधि ये पंखुड़ियाँ दग्ध हो रही हैं। अंत में यह चिन्तन करे कि अर्ह के ध्यान से उत्पन्न इन प्रबल अग्नि शिखाओं ने अष्टकर्म रूपी उस अधोमुख कमल को दग्ध कर दिया है उसके बाद तीन कोण वाले स्वस्तिक तथा अग्निबीज रेफ से युक्त वह्निपुर का चिंतन करना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि उस रेफ से निकलती हुई ज्वालाओं ने अष्टकर्मों के साथ-साथ मेरे इस शरीर को भी भस्मीभूत कर दिया है। इसके पश्चात् उस अग्नि के शांत होने की धारणा करें।

(ग) वायवीय धारणा - आग्नेयी धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि समग्र लोक के पर्वतों को चलायमान कर देने में और समुद्रों को भी क्षुब्ध कर देने में समर्थ प्रचण्ड पवन बह रहा है और मेरे देह और आठ कर्मों के भस्मीभूत होने से जो राख बनी थी उसे यह प्रचण्ड पवन वेग से उड़ाकर ले जा रहा है। अंत में यह चिन्तन करना चाहिये कि उस राख को उड़ाकर यह पवन भी शांत हो रहा है।

(घ) वारुणीय धारणा- वायवीय धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि अर्द्धचन्द्राकार कलाबिन्दु से युक्त वरुण बीज 'व' से उत्पन्न अमृत के समान जल से युक्त मेघमालाओं से आकाश व्याप्त है और इन मेघमालाओं से जो जल बरस रहा है उससे शरीर और कर्मों की जो भस्मी उड़ी थी उसे भी धो दिया है।

(ङ) तत्त्ववती धारणा- उपर्युक्त चारों धारणाओं के द्वारा सप्तधातुओं से बने शरीर और अष्ट कर्मों के समाप्त हो जाने पर साधक पूर्णचन्द्र के समान निर्मल एवं उज्ज्वल काँति वाले विशुद्ध आत्मतत्त्व का चिन्तन करे और यह अनुभव करे कि उस सिंहासन पर आसीन मेरी शुद्ध बुद्ध आत्मा अरहंत स्वरूप है।

इस प्रकार की ध्यान साधना के फल की चर्चा करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि पिण्डस्थ ध्यान के रूप में इन पाँचों धारणाओं का अभ्यास करने वाले साधक का उच्चाटन, मारण, मोहन, स्तम्भन आदि संबंधी दुष्ट विद्यायें और मांत्रिक शक्तियाँ कुछ भी

नहीं बिगाड़ सकती हैं। डाकिनी-शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाचादि दुष्ट प्राणी उसके तेज को सहन करने में समर्थ नहीं हैं। उसके तेज से वे त्रास को प्राप्त होते हैं। सिंह, सर्प आदि हिंसक जन्तु भी स्तम्भित होकर उससे दूर ही रहते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में (7/8-28) तार्त्रिक परम्परा ही इन पाँचों धारणाओं को स्वीकार करके भी उन्हें जैन धर्मदर्शन की आत्मविशुद्धि की अवधारणा से योजित किया है। क्योंकि इन धारणाओं के माध्यम से वे अष्टकर्मों के नाश के द्वारा शुद्ध आत्मदशा में अवस्थित होने का ही निर्देश करते हैं। किन्तु जब वे इसी पिण्डस्थ ध्यान की पाँचों धारणाओं के फल की चर्चा करते हैं, तो स्पष्ट ऐसा लगता है कि वे तार्त्रिक परम्परा से प्रभावित हैं, क्योंकि यहाँ उन्होंने उन्हीं भौतिक उपलब्धियों की चर्चा की है जो प्रकारान्तर से तार्त्रिक साधना का उद्देश्य होती हैं।

2. पदस्थ ध्यान- जिस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में ध्येय भौतिक पिण्ड या शरीर होता है उसी प्रकार पदस्थ ध्यान में ध्यान का आलम्बन पवित्र मंत्राक्षर, बीजाक्षर या मातृकापद होते हैं। पदस्थ ध्यान का अर्थ है पदों अर्थात् स्वर और व्यंजनों की विशिष्ट रचनाओं को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय बनाना। इस ध्यान के अन्तर्गत मातृकापदों अर्थात् स्वर-व्यंजनों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस पदस्थ ध्यान में शरीर के तीन केन्द्रों अर्थात् नाभिकमल, हृदयकमल और मुखकमल की कल्पना की जाती है। इसमें नाभिकमल के रूप में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके उसकी उन पंखुड़ियों पर सोलह स्वरों का स्थापना किया जाता है। हृदयकमल में कर्णिका सहित चौबीस पटल वाले कमल की कल्पना की जाती है और उसकी मध्यकर्णिका तथा चौबीस पटलों पर क्रमशः क, ख, ग, घ आदि 'क' वर्ग से 'प' तक के पच्चीस व्यंजनों की स्थापना करके उनका ध्यान किया जाता है। इसी प्रकार अष्ट पटल युक्त मुखकमल की कल्पना करके उसके उन अष्ट पटलों पर य, र, ल, व, श, स, ष, ह- इन आठ वर्णों का ध्यान किया जाता है। चूँकि सम्पूर्ण वाङ्मय इन्हीं मातृकापदों से निर्मित है अतः इन मातृकापदों का ध्यान करने से व्यक्ति सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है (योगशास्त्र 8/1-5)।

ज्ञानार्णव के अनुसार मंत्र व वर्णों (स्वर-व्यंजनों) के ध्यान में समस्त पदों का स्वामी 'अर्ह' माना गया है, जो रेफ कला एवं बिन्दु से युक्त अनाहत मंत्रराज है। इस ध्यान के विषय में कहा गया है कि साधक को एक सुवर्णमय कमल की कल्पना करके उसके मध्य में कर्णिका पर विराजमान, निष्कलंक, निर्मल चंद्र की किरणों जैसे आकाश एवं सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त 'अर्ह' मंत्र का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् उसे मुखकमल में प्रवेश करते हुए, प्रवलयों में भ्रमण करते हुए, नेत्रपलकों पर स्फुरित होते हुए, भाल मण्डल में स्थिर होते हुए, तालुरन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत की वर्षा करते हुए, उज्ज्वल चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल में भ्रमण करते हुए, आकाश में संचरण करते हुए तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए कुम्भक के समान सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त होने का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार चित्त एवं शरीर में इसकी स्थापना द्वारा मन को क्रमशः सूक्ष्मता से

‘अर्ह’ मंत्र पर केन्द्रित किया जाता है। अर्ह के स्वरूप में अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तरंग में एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है, जो अक्षय तथा अतीन्द्रिय होती है। इसी ज्योति का नाम ही आत्मज्योति है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रणव नामक ध्यान में अर्ह के स्थान पर ‘ऊँ’ पद का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का साधक योगी सर्वप्रथम हृदयकमल में स्थित कर्णिका में इस पद की स्थापना करता है तथा वचन-विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंच परमेष्ठी के वाचक, मूर्धा में स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से सराबोर महामंत्र प्रणव (ऊँ) श्वास को निश्चल करके कुम्भक द्वारा ध्यान करता है। इस ध्यान की विशेषता यह है कि स्तम्भन कार्य में पीत, वशीकरण में लाल, क्षोभन में मूंगे के रंग के समान, विद्वेष में कृष्ण, कर्मनाशन अवस्था में चन्द्रमा की प्रभा के समान उज्ज्वल वर्ण का ध्यान किया जाता है।

हेमचन्द्र के अनुसार पंचपरमेष्ठी नामक ध्यान में प्रथम हृदय में आठ पंखुड़ी वाले कमल की स्थापना करके कर्णिका के मध्य में सप्ताक्षर ‘अरहंताणं’ पद का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् चारों दिशाओं के चार पत्रों पर क्रमशः ‘णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं तथा णमो लोए सव्वसाहूणं’ का ध्यान किया जाता है तथा चार विदिशाओं के पत्रों पर क्रमशः ‘एसो पंच णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं एवं पढमं हवइ मंगलं’ का ध्यान किया जाता है। शुभचन्द्र के मतानुसार मध्य एवं पूर्वादि चार दिशाओं में ‘णमो अरहंताणं’ आदि का तथा चार विदिशाओं में क्रमशः ‘सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यग्चारित्र्य नमः तथा सम्यक् तपसे नमः’ का चिन्तन किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इन दोनों नमस्कार मंत्र से संबंधित अनेक ऐसे मंत्र या पदों का उल्लेख है जिनका ध्यान या जप करने से मनोव्याधियाँ शांत होती हैं, कष्टों का परिहार होता है तथा कर्मों का आस्रव रुक जाता है।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में चित्त को स्थित करने के लिए मातृका पदों, बीजाक्षरों एवं मंत्राक्षरों का आलम्बन लिया जाता है।

जैनाचार्यों ने यह तो माना है कि इस पदस्थ ध्यान से विभिन्न लब्धियाँ या अलौकिक शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, किन्तु वे साधक को इनसे दूर रहने का ही निर्देश करते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य चित्त को शुद्ध और एकाग्र करना है न कि भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त करना।

(3) रूपस्थ ध्यान- इस ध्यान में साधक अपने मन को अर्ह पर केन्द्रित करता है अर्थात् उनके गुणों एवं आदर्शों का चिन्तन करता है। अर्हत् के स्वरूप का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है वह ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है। रूपस्थ ध्यान का साधक रागादृष्टादि विकारों से रहित समस्त गुणों, प्रातिहार्यों एवं अतिशयों से युक्त जिनेन्द्रदेव का निर्मल चित्त से ध्यान करता है। वस्तुतः यह सगुण परमात्मा का ध्यान है।

(4) रूपातीत ध्यान- रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप-रंग से अतीत, निरंजन, निराकार, ज्ञान स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप सिद्ध परमात्मा का स्मरण करना। इस अवस्था में ध्याता

ध्येय के साथ एकत्व की अनुभूति करता है। अतः इस अवस्था को समरसीभाव भी कहा गया है।

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमशः भौतिक तत्त्वों या शरीर, मातृकापदों, सर्वज्ञदेव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है, क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जैन ग्रन्थों में कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्र भेदन

जैन ग्रन्थों में कुण्डलिनी जागरण की साधना विधि का विशिष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। यहाँ तक कि तंत्र साधना से प्रभावित शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव एवं हेमचन्द्र के योगशास्त्र में भी इस संबंध में कोई निर्देश नहीं है। सर्वप्रथम सिंहतिलकसूरि (13वीं शती) में परमेष्ठिविद्यामंत्रकल्प में इसका निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि-

कुण्डलिनीतन्तुद्युतिसंभृतमूर्त्तीनि सर्वबीजानि।
शान्त्यादि-संपदे स्युरित्येषो गुरुक्रमोऽस्माकम्॥
किं बीजैरिह शक्तिः कुण्डलिनी सर्वदेववर्णजनुः।
रवि-चन्द्रान्तर्ध्याता भुक्त्यै च गुरुसारम्॥
भ्रूमध्य-कण्ठ-हृदये नाभौ कोणे त्रयान्तरा ध्यातम्।
परमेष्ठीपंचकमयं मायाबीयं महासिद्धयै॥
श्रीविबुधचन्द्रगणभृच्छिष्यः श्रीसिंहतिलकसूरिरिमम्।
परमेष्ठियमन्त्रकल्पं लिलेख साहलाददेवताक्त्या॥

परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्पः।

यह कुण्डलिनी नाड़ी सभी बीजाक्षरों (मंत्र-बीजाक्षरों) की प्रकाशवान मूर्ति ही है। वही शांति आदि सम्पदाओं का आधार है, ऐसी हमारी गुरु परम्परा या मान्यता या आम्नाय हैं। वस्तुतः इन मंत्र-बीजाक्षरों से भी क्या? जब कुण्डलिनी शक्ति सभी देव (देव-पदों) एवं वर्णाक्षरों (बीजाक्षरों) की जनक है तो फिर इसी की साधना करनी चाहिए। सूर्य नाड़ी एवं चन्द्र नाड़ी (ईडा पिंगला) में इन बीजाक्षरों का ध्यान करने से भोग और सुषुम्ना में ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा गुरु के द्वारा के द्वारा बताया गया रहस्य है।

भ्रूमध्य अर्थात् आज्ञाचक्र, कण्ठ अर्थात् विशुद्धि चक्र, हृदय अर्थात् अनाहत चक्र, नाभि अर्थात् मणिपूरचक्र और कोणद्वय अर्थात् स्वाधिष्ठान और मूलाधारचक्र में पंच परमेष्ठी मायाबीज हीं का ध्यान करने पर ही महासिद्धि की प्राप्ति होती है।

सिंहतिलक सूरि के अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा में कुण्डलिनी शक्ति एवं ईडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की चर्चा करने वाले दूसरे आचार्य हैं आनन्दधन जी। अपने एक पद में इस संबंध में चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि-

म्हारो बालूडो संन्यासी, देह देवल मठवासी।
ईडा पिंगला मारग तजि जोगी, सुखमना धरि आसी।

ब्रह्मरंध्र मधि आसणपूरी बाबू, अनहद नाद बजासी॥ म्हारो ॥1॥
 जम नियम आसण जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी।
 प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी॥ म्हारो ॥2॥
 मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यंकासनचारी।
 रेचक पूरक कुंभककारी, मन इन्द्री जयकारी॥ म्हारो॥3॥
 धिरता जोग जुगति अनुकारी, आपो आप विचारी।
 आतम परमातम अनुसारी, सीझे काज सवारी॥ म्हारो॥4॥

मेरा बाल-अल्पवयस्क (अल्पअभ्यासी) संन्यासी जो देह-शरीर रूप मठ में निवास करता है, वह ईडा, पिंगला नाडियों का मार्ग छोड़कर सुषुम्ना नाड़ी के घर आता है। आसन जमाकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र में ले जाकर अनहदनाद बजाता हुआ चित्तवृत्ति को उसमें लीन कर देता है।

यम-नियमों को पालन करने वाला, एक आसन से दीर्घकाल तक बैठने में समर्थ, प्राणायाम का अभ्यासी, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान करने वाला साधक शीघ्र ही समाधि प्राप्त कर लेता है।

वह बाल संन्यासी संयम के मूल और उत्तर गुणों रूपी मुद्रा को धारण कर तथा पर्यंकासन का अभ्यासी रेचक, पूरक और कुंभक प्राणायाम क्रियाओं को करने वाला है। वह मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर योग साधना का अनुगमन करता हुआ जब परमात्म पद का अनुसरण करता है तो उसके सभी कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं।

तांत्रिक साधना में कुण्डलिनी शक्ति के जागरण हेतु षट्चक्रों की साधना को प्रधानता दी जाती है। सामान्यतया हिन्दू तांत्रिक साधना पद्धति में षट्चक्र की अवधारणा ही प्रमुख रही है। किन्तु कुछ आचार्यों ने सप्तचक्रों और नवचक्रों की भी चर्चा की है। ये षट्चक्र हैं- 1. मूलाधार 2. स्वाधिष्ठान 3. मणिपूर 4. अनाहत 5. विशुद्धि और 6. आज्ञाचक्र। जिन आचार्यों ने सात चक्र माने हैं वे सहस्रार को सातवां चक्र और जिन्होंने नौ चक्र माने हैं उन्होंने उपर्युक्त सात चक्रों के साथ-साथ आज्ञाचक्र और सहस्रार के मध्य तालु में स्थित ललनाचक्र और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित गुरुचक्र की भी कल्पना की है। जैन तन्त्रसाधना में लगभग तेरहवीं शती से चक्र साधना के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु वे हिन्दू तांत्रिक साधना और हठ योग की परम्परा से ही गृहीत हैं।

जैन परम्परा में हरिभद्र (8वीं शती) के योगदृष्टिसमुच्चय आदि योग संबंधी ग्रंथों में शुभचन्द्र (12वीं शती) के ज्ञानार्णव में एवं हेमचन्द्र (12वीं शती) के योगशास्त्र में भी हमें इन चक्रों का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार षट्चक्र की अवधारणा 12वीं शताब्दी के पश्चात् ही जैन परम्परा में अस्तित्व में आयी। सर्वप्रथम आचार्य विबुधचन्द्र के शिष्य सिंहतिलकसूरि (13वीं शती) ने अपने 'परमेष्ठिविद्यायंत्रकल्प' नामक ग्रंथ में इन नव चक्रों का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध भी होता है कि चक्रों की यह अवधारणा उन्होंने हिन्दू तंत्र से ही अवतरित की है क्योंकि उनके नाम आदि हिन्दू परम्परा के अनुरूप एवं बौद्ध परम्परा से भिन्न हैं। उनके अनुसार ये नवचक्र निम्न हैं-

1. आधार चक्र 2. स्वाधिष्ठानचक्र 3. मणिपूरचक्र 4. अनाहत चक्र 5. विशुद्धि चक्र 6. ललनाचक्र 7. आज्ञा चक्र 8. ब्रह्मरन्ध्र चक्र (सोमचक्र) और 9. सुषुम्ना चक्र (ब्रह्मबिन्दुचक्र या सहस्रार चक्र)। सिंहतिलकसूरि ने इन नौ चक्रों के शरीर में नौ स्थान भी बताये हैं उनके अनुसार आधारचक्र गुदा के मध्यभाग में, स्वाधिष्ठानचक्र लिंगमूल के समीप, मणिपूरचक्र नाभि में, अनाहतचक्र हृदय के समीप, विशुद्धिचक्र कण्ठ में, ललनाचक्र तालु में घोटिका (कण्ठकूप) के समीप, आज्ञाचक्र कपाल में दोनों भौहों के बीच, ब्रह्मरन्ध्र चक्र मूर्धा के समीप और सुषुम्नाचक्र मस्तिष्क ऊर्ध्व भाग में स्थित है। प्रत्येक चक्र के कमलदलों की संख्या इस प्रकार बतायी गयी है- मूलाधार चक्र में 4 दल, स्वाधिष्ठान में 6, मणिपुर में 10, अनाहत में 12, विशुद्धि में 16, ललना में 20, आज्ञा में 3, ब्रह्मरन्ध्र में 16 और ब्रह्मबिन्दु या सहस्रार चक्र में 6 दल होते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार ब्रह्मबिन्दु या सहस्रार चक्र में सहस्र (1000) दल होते हैं। सिंहतिलकसूरि के अनुसार ललना चक्र में वाक् शक्ति (सरस्वती), आज्ञाचक्र में मन और ब्रह्मचक्र में चन्द्र के समान शीतल एवं निर्मल परमात्मशक्ति का निवास है। इनके दलों पर एक विशिष्ट व्यवस्था के अनुसार मातृकाक्षरों का स्थान है। इनमें आधारचक्र रक्त, स्वाधिष्ठान अरुणाभ, मणिपूरचक्र श्वेत, अनाहतचक्र पीत, विशुद्धिचक्र श्वेत, ललना, आज्ञा और ब्रह्मचक्र रक्तवर्ण के और सहस्रार चक्र श्वेत रंग वाला है। इस प्रकार आचार्य तिलकसूरि ने इन चक्रों के नाम स्थान कमलदलों की संख्या, रंग, बीजाक्षर आदि की चर्चा तो की है किन्तु वह हिन्दू तंत्र से प्रभावित है।

तांत्रिक साधना के विधि-विधान और जैन धर्म

आध्यात्मिक शक्ति के विकास एवं लौकिक उपलब्धियों के लिए मंत्र और तंत्र की साधना विधियों का उल्लेख अनेक जैनाचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। विशेष रूप से सिंहतिलक सूरि ने मंत्रराजरहस्य में, जिनप्रभसूरि ने विधिमागप्रपा में, मल्लिषेण सूरि ने भैरवपद्मावतीकल्प में, आचार्य कुन्धुसागर जी ने लघुविद्यानुवाद में तंत्र साधना की अनेक विधियों का उल्लेख किया है। विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित तंत्र साधना की विभिन्न विधियों में कहीं क्रमभेद है तो कहीं संख्याभेद है और कहीं-कहीं तो मंत्र भेद भी है। वस्तुतः तंत्र साधना विधियों को लेकर जैन आचार्यों में अनेक आमनाय प्रचलित रहे हैं और उन आमनायों के आधार पर साधना प्रक्रिया तथा मंत्र आदि को लेकर कुछ मतभेद देखे जाते हैं। फिर भी सामान्यरूप से उनमें कोई महत्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित नहीं होता। मंत्र रहस्य में सिंहतिलकसूरि ने तांत्रिक साधना के जिस विधान का उल्लेख किया है, उसके अन्तर्गत निम्न विधान आते हैं- 1. भूमिशुद्धि 2. कराङ्गन्यास 3. सकलीकरण 4. दिक्पाल आह्वान 5. हृदयशुद्धि 6. मंत्रस्नान 7. कल्मषदहन 8. पंचपरमेष्ठी स्थापन 9. आह्वान 10. स्थापना 11. सन्निधान 12. सन्निरोध 13. अवगुण्ठन 14. छोटिकाप्रदर्शन 15. अमृतीकरण 16. जाप 17. क्षोभण 18. क्षामन 19. विसर्जन और 20. स्तुति।

वर्द्धमान विद्याविधि में जिस मंत्र साधना विधि का उल्लेख है उसमें निम्न सोलह विधियों के उल्लेख हैं - 1. पंचाङ्गशौच 2. भूमिशुद्धि 3. मंत्रस्नान 4. वस्त्रशुद्धि

5. पंचांगुलिन्यास 6. कल्मषदहन 7. हृदयशुद्धि 8. दुःस्वप्न दुर्निमित्ताशनिविद्युत्शत्रुभयादिरक्षा
9. सकलीकरण 10. पट या यंत्र पूजा 11. सजीवतापादन 12. दिग्बंधन 13. जप 14.
आसनक्षोभण 15. क्षमाप्रार्थना 16. विसर्जन एवं हृदय में इष्ट स्थापन।

ऋषिमंडलस्तव में मंत्र साधना विधान के निम्न आठ अंग माने गये हैं- 1. मंत्र
2. न्यास 3. ध्यान 4. साधन 5. जप 6. तप 7. अर्चा और 8. अन्तयोग।

श्री सागरचंद्र सूरि ने मंत्राधिराजकल्प में मंत्र साधना के निम्न छः ही अंग स्वीकार
किये हैं- 1. आसन 2. सकलीकरण 3. मुद्रा 4. पूजा 5. जप और 6. होम।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न जैनाचार्यों ने पूजाविधान के अंगों के सम्बन्ध
में अपने भिन्न-भिन्न मत प्रदर्शित किये हैं। इनमें संख्या, क्रम एवं मंत्र आदि के सम्बन्ध
में भिन्नता होते हुए भी कोई मौलिक अन्तर परिलक्षित नहीं होता। सभी ने तंत्र साधना के
पूर्व शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि, भूमिशुद्धि, मंत्र स्नान, कल्मषदहन, हृदयशुद्धि न्यास, सकलीकरण
आदि का उल्लेख किया है। अन्य तांत्रिक परम्पराओं के समान ही जैनाचार्यों ने भी
भूमिशुद्धि, शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि के बाह्य विधि-विधानों के साथ विभिन्न मंत्रों की भी
योजना की है।

मुद्रा

तांत्रिक साधना में मुद्राओं का विशेष महत्व है। मुद्रा शब्द 'मुद्' धातु से निष्पन्न
है जिसका अर्थ है- प्रसन्नता। अतः जो देवताओं को प्रसन्न कर देती है अथवा जिसे
देखकर देवता प्रसन्न होते हैं उसे तंत्र शास्त्र में मुद्रा कहा जाता है। किन्तु तंत्रशास्त्र में भी
'मुद्रा' के अनेक अर्थ प्रचलित हैं। इनमें निम्न चार अर्थ मुख्य हैं- हठ योग के प्रसंग में
मुद्रा का अर्थ है एक विशिष्ट प्रकार का आसन, जिसमें सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील रहता है।
पूजा के प्रसंग में मुद्रा का अर्थ हाथ और अंगुलियों से बनायी गई वे विशेष आकृतियाँ हैं,
जिन्हें देखकर देवता प्रसन्न होते हैं। जैन और वैष्णव तंत्रों में मुद्रा से यही अर्थ अभिप्रेत
है। तंत्र की सात्विक परम्परा में घृत से संयुक्त भुने हुए अन्न को भी मुद्रा कहा गया है-
यह मुद्रा का तीसरा अर्थ है। जबकि वाममार्गी तान्त्रिकों की दृष्टि में मुद्रा का अर्थ वह
नारी है जिससे तांत्रिक योगी अपने को सम्बंधित करता है- यह मुद्रा का चतुर्थ अर्थ है।
पंचमकारों में मुद्रा इसी अर्थ में गृहीत है। किन्तु जैनों को मुद्रा का यह अर्थ कभी भी मान्य
नहीं रहा है, वे तो मुद्रा के उपरोक्त दूसरे अर्थ को ही मान्य करते हैं। अधिधान राजेन्द्रकोश
में मुद्रा शब्द के अन्तर्गत कहा गया है कि हाथ आदि अंगों का विन्यास विशेष मुद्रा कहा
जाता है, यथा- योगमुद्रा, जिनमुद्रा, मुक्तासुक्तिमुद्रा आदि। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में कहा गया
है कि देववन्दना, ध्यान या सामायिक करते समय मुख एवं शरीर के विभिन्न अंगों की
जो आकृति बनाई जाती है उसे मुद्रा कहते हैं।

यद्यपि हिन्दू, बौद्ध एवं जैन तीनों ही परम्पराओं की तांत्रिक साधना एवं पूजा में
मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है, फिर भी मुद्राओं की संख्या स्वरूप, नाम और
परिभाषाओं को लेकर न केवल विभिन्न परम्पराओं में मतभेद पाया जाता है अपितु एक
परम्परा में भी अनेक मान्यताएँ हैं। हिन्दू परम्परा में शारदातिलक (23/107-114) में नौ

मुद्राओं का उल्लेख है, तो वहीं ज्ञानार्णवतंत्र (4/31-47) में तीस से अधिक मुद्राओं का निर्देश दिया गया है। विष्णुसंहिता (7) के अनुसार तो मुद्राएँ अनगिनत हैं। देवीपुराण (11/16/68-102), ब्रह्मपुराण (61/55), नारदीयपुराण (2/57/55, 56) आदि अनेक हिन्दू पुराणों और तांत्रिक ग्रन्थों में मुद्राओं के उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध परम्परा में भी मंजू श्री कल्प (380) में 108 मुद्राओं के नाम दिये गये हैं। जैन परम्परा में अभिधानराजेन्द्रकोश में योगमुद्रा, जिनमुद्रा और मुक्तासुक्तिमुद्रा का तथा जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में योगमुद्रा, जिनमुद्रा, वन्दनामुद्रा और मुक्तासुक्तिमुद्रा-ऐसी चार मुद्राओं का उल्लेख मिलता है- 1. दोनों भुजाओं को लटकाकर और दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर कायोत्सर्ग में खड़े रहने का नाम जिनमुद्रा है। 2. पल्यंकासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनों में से किसी भी आसन में बैठकर, नाभि के नीचे, ऊपर की तरफ हथेली करके दोनों हाथों को ऊपर नीचे रखने से योग मुद्रा होती है। 3. खड़े होकर दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखने और दोनों हाथों को मुकुलित कमल के आकार में बनाने पर वन्दनामुद्रा होती है। 4. वन्दनामुद्रा के समान ही खड़े होकर, दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखकर, दोनों हाथों की अंगुलियों को आकार विशेष के द्वारा आपस में संलग्न करके मुकुलित बनाने से मुक्तासुक्तिमुद्रा होती है।

प्रियबलशाह ने जर्नल ऑफ इन्स्टीच्यूट ऑव बड़ौदा के खण्ड-6, संख्या-1, पृष्ठ 135 में मुद्राओं से संबंधित दो जैन ग्रन्थों का उल्लेख किया है- 1. मुद्रा विचार और 2. मुद्रा विधि। उनका कथन है कि मुद्रा विचार में 73 मुद्राओं का और मुद्राविधि में 114 मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। अभी ये दोनों ग्रन्थ मुझे देखने को नहीं मिले हैं। उपलब्ध एवं प्रकाशित जैन ग्रन्थों में लघुविद्यानुवाद में 45 मुद्राओं को परिभाषित किया गया है और कुछ मुद्राओं के चित्र भी दिये गये हैं। भैरवपद्मावतीकल्प के अंत में भी कुछ मुद्राओं के चित्र हैं, किन्तु ये मुद्राएँ वहीं हैं जो लघुविद्यानुवाद में उल्लिखित हैं।

मुद्राओं के संदर्भ में एक विस्तृत विवरण विधिमार्गप्रपा के मुद्राविधि नामक 37वीं विधि में मिलता है। इसमें आह्वान संबंधी नौ मुद्राओं, पूजा संबंधी चार मुद्राओं, षोडश विद्या संबंधी सोलह मुद्राओं, दिक्पाल संबंधी चार मुद्राओं, देवदर्शन संबंधी तीन मुद्राओं, प्रतिष्ठा विधि संबंधी अट्ठाइस मुद्राओं के उल्लेख उपलब्ध हैं। विधिमार्गप्रपा में जिन मुद्राओं का उल्लेख है उनके नाम इस प्रकार हैं- 1. नाराच मुद्रा 2. कुम्भ मुद्रा 3. हृदय मुद्रा 4. शिरो मुद्रा 5. शिखर मुद्रा 6. कवच मुद्रा 7. क्षुर मुद्रा 8. अस्त्र मुद्रा 9. महा मुद्रा 10. धेनु मुद्रा 11. आवाहनीय मुद्रा 12. स्थापनी मुद्रा 13. सन्निधानी मुद्रा 14. निष्ठुरा मुद्रा या विसर्जन मुद्रा 15. पाणियुग आवाहनीय मुद्रा 16. पाणियुग स्थापन मुद्रा 17. निरोध मुद्रा 18. अवगुण्ठन मुद्रा 19. गोवृष मुद्रा 20. त्रसनी मुद्रा 21. पूजा मुद्रा 22. पाश मुद्रा 23. अंकुश मुद्रा 24. ध्वज मुद्रा 25. खरद मुद्रा 26. शंख मुद्रा 27. शक्ति मुद्रा 28. शृंखला मुद्रा 29. वज्र मुद्रा 30. चक्र मुद्रा 31. पद्म मुद्रा 32. गदा मुद्रा 33. घण्टा मुद्रा 34. कमण्डल मुद्रा 35. परशु मुद्रा (द्वय), 36. वृक्ष मुद्रा 37. सर्प मुद्रा 38. खड्ग मुद्रा 39. ज्वलन मुद्रा 40. श्रीमणि मुद्रा 41. दण्ड मुद्रा 42. पाश मुद्रा 43. शूल मुद्रा 44. संहार

या विसर्जन मुद्रा, 45. परमेष्ठि मुद्रा 46. पार्श्व मुद्रा 47. अंजलि मुद्रा 48. कपाट मुद्रा 49. जिन मुद्रा 50. सौभाग्य मुद्रा 51. सबीज सौभाग्य मुद्रा 52. योनि मुद्रा 53. गरुड़ मुद्रा 54. मुक्तासुक्ति मुद्रा 55. प्राणिपात मुद्रा 56. त्रिशिखा मुद्रा 57. शृंगार (भृंग) मुद्रा 58. योगिनी मुद्रा 59. क्षेत्रपाल मुद्रा 60. उमरुक मुद्रा 61. अभय मुद्रा 62. वरद मुद्रा 63. अक्षसूत्र मुद्रा 64. बिम्ब मुद्रा 65. प्रवचन मुद्रा 66. मंगल मुद्रा 67. आसन मुद्रा 68. अंग मुद्रा 69. योग मुद्रा 70. पर्वत मुद्रा 71. विस्मय मुद्रा 72. नाद मुद्रा और 73. बिन्दु मुद्रा।

मुद्राओं के संदर्भ में यह एक विस्तृत सूची है। जिनप्रभसूरि ने न केवल मुद्राओं के नामों का निर्देश किया है। अपितु यह भी बताया है कि किस प्रसंग में किस मुद्रा का उपयोग किया जाता है और उस मुद्रा की रचना किस प्रकार होती है। विस्तारभय से यहाँ हम ये मुद्राएँ किस प्रकार बनायी जाती हैं। इसकी चर्चा हम नहीं कर रहे हैं।

यंत्र और मण्डल

तांत्रिक साधना में यंत्रों के साथ-साथ मण्डलों का भी उल्लेख पाया जाता है। मुद्रा और मंडल तांत्रिक साधनों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जहाँ मुद्रा इष्ट देवता को प्रसन्न करने हेतु हाथ और अंगुलियों की सहायता से बनायी गयी विशिष्ट शारीरिक आकृतियाँ होती हैं वहीं मण्डल ध्यान हेतु चेतना में कल्पित विभिन्न आकृतियाँ होती हैं। वैसे यंत्र और मण्डल में बहुत अधिक अंतर नहीं है। किन्तु जहाँ यंत्र पूजा अथवा धारण के काम में आते हैं वहाँ मण्डल ध्यान के विषय होते हैं। मण्डलों की बाह्य आकृतियाँ बनाकर फिर उनपर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायाम की चर्चा के अन्तर्गत वायु की गतियों, मण्डल एवं उनके प्रकारों का निर्देश किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में प्रतिपादित तंत्र साधना और योग साधना पर अन्य भारतीय परम्पराओं का पर्याप्त प्रभाव रहा है। यद्यपि जैन आचार्यों ने तंत्र साधना और योग साधना के क्षेत्र में अन्य भारतीय परम्पराओं से बहुत कुछ ग्रहीत किया है फिर भी उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने इसे अपनी मूलभूत निवृत्तिमार्गी मान्यताओं के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में अन्धानुकरण भी हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप जैन धर्म दर्शन के निवृत्तिमार्गी स्वरूप पर कुछ खरोचें भी आई हैं। किन्तु यहाँ हमें यह स्मरण रखना होगा कि जैन तंत्र-साधना और योग-साधना का विकास अपनी सहवर्ती परम्पराओं के मध्य ही हुआ है, इसलिए उनके प्रभावों से पूर्णतः अछूता रहना सम्भव भी नहीं था।

अष्टाङ्गयोग

डॉ. रामप्रकाश पोद्दार*

‘योग’ शब्द संस्कृत की ‘युज्’ धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है- बाँधना, जोड़ना, जुए से लगाना, उपयोग में लाना या नियुक्त करना। इसका लाक्षणिक अर्थ सम्मिलन या समागम भी हो सकता है। इस निबंध में हम जिस सन्दर्भ में योग की चर्चा करने जा रहे हैं इसमें इसका अर्थ है, ‘मन, वचन और काया की शक्तियों को अभीष्ट के साधन में लगाना, बुद्धि, मन एवं आवेगों को संयमित कर ऐसा आध्यात्मिक संतुलन प्राप्त करना जिससे व्यक्ति का चैतन्य विविध परिस्थितियों में ‘समभाव’ में अवस्थित रहे।

‘योग’ छह भारतीय पारम्परिक दर्शनों में एक है। पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र नामक ग्रन्थ में इसे संकलित और व्यवस्थित किया है। इसमें कुल 185 सूत्र हैं। पारम्परिक भारतीय विचारधारा में समस्त दृश्य जगत का कारण परमात्मा है और जीवात्मा उसी का एक अंश है। इस सन्दर्भ में ‘योग’ उस पद्धति को कहा गया है जिसके द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से सम्मिलन या समागम हो और सांसारिक आवागमन का बंधन छूट जाय।

जो योगमार्ग का अनुसरण करता है उसे योगी कहते हैं। भगवद्गीता के छठे अध्याय में योग-मार्ग उसे कहा गया जो रागद्वेषजनित दुःख से मुक्ति की ओर ले जाय-

“जिसके मन, बुद्धि और अहंकार संयमित होकर आत्मा में ही अवस्थित हो जाते हैं, जिसकी विषयों के प्रति स्पृहा छूट जाती है उस व्यक्ति को ‘युक्त’ अथवा योगावस्था को प्राप्त कहा जाता है। जैसे निवात स्थान में दीये की लौ कम्पित नहीं होती है, उसी तरह मन, बुद्धि और अहंकार को नियंत्रित कर आत्मा में अधिष्ठित योगी राग-द्वेष जनित आवेगों से उद्धेलित नहीं होता। योगाभ्यासजनित उपशम की अवस्था में चित्त प्रसन्न हो जाता है और आत्मा को आत्मा में देखता हुआ परम तोष को प्राप्त करता है। यह आत्यन्तिक और अतीन्द्रिय सुख की अवस्था है। इसमें चित्त तत्त्वतः निश्चल हो जाता है। इसे प्राप्त कर लेने पर अन्य सारी प्राप्तियाँ न्यून प्रतीत होती हैं। इस अवस्था में गुरुतम दुःख से भी चित्त विचलित नहीं होता। इसी को सारे दुःखों के संयोग से मुक्त करने वाला योग कहा गया है। ऐसे इस योग का निर्वेदरहित होकर अभ्यास करना चाहिए।” भगवद्गीता अ. 6 (18-23)

* भण्डारकर औरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूणे-4.

योग की पात्रता के बारे में भगवद्गीता में कहा गया है कि न बहुत खाने वाले को योग हो सकता है और न एकान्त निराहारी को, न बहुत सोने वाले को और न सदा जाग्रत रहने वालों को ही। यह योग उसके लिए सुलभ है जो आहार विहार में और अन्य कर्मों में संयमित है जो निद्रा और जागृति में ताल-मेल बनाये रखता है। भगवद्गीता अ. 6 (16-17)

योगसूत्र के प्रथम पाद के दूसरे सूत्र में पतञ्जलि ने योग को 'चित्तवृत्ति का निरोध' कहा है। इसका तात्पर्य है चित्त के पर्यायों या अवस्थान्तरों का नियंत्रण या नियमन करना। चित्त में मन, बुद्धि और अहंकार समाविष्ट रहते हैं। मन इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है, बुद्धि उचित-अनुचित का निर्णय करती है, अहंकार या 'मैं-पन, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' ऐसा भाव उत्पन्न करता है।

'वृत्ति' शब्द संस्कृति की 'वृत्' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है-घूमना, पलटना, चक्कर काटना, आगे बढ़ना, घटित होना आदि। तदनुसार वृत्ति का अर्थ परिणमन या अवस्थान्तरण, बहाव या प्रवाह हो सकता है। योग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परिणममान या अनियंत्रित भाव से प्रवहमान चित्त को नियंत्रित किया जाता है और तज्जनित ऊर्जा को अभीष्ट दिशा में लगाया जाता है।

गतिशील या प्रवहमान चित्त का निरोध कोई सरल कार्य नहीं है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण से कहा- 'आपने मुझे योग का मार्ग तो बताया, परन्तु (चित्त की चंचलता के कारण) मुझे लगता है कि यह स्थायीरूप से उपलब्ध है नहीं। मन तो स्वभाव से चंचल, लोभकारी, प्रबल और हठी होता है। अतः उसका निग्रह चराचर जगत के प्रचालक वायु के निग्रह के समान दुष्कर है।' कृष्ण ने उत्तर दिया- निस्सन्देह मन चंचल है और उसका निग्रह दुष्कर है। परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह सम्भव है। सचमुच असंयत व्यक्ति के लिए योग दुष्प्राप्य है। परन्तु जो वशी, यत्नशील है, वह उपायतः इसे सिद्ध कर सकता है। भगवद्गीता अ. 6 (34-35)

योग के आठ अंग

योग सिद्ध करने के उपाय के रूप में पतञ्जलि ने योग के आठ अंग या आठ सीढ़ियाँ बतायी हैं ये हैं- (1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान और (8) समाधि।

यम और नियम राग-द्वेष जनित उद्वेगों को संयमित करते हैं और योगी को कल्याणकारी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करते हैं। आसन से उसका शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होता है जिससे वह प्रकृति के साथ समवाय स्थापित कर सकता है। इससे शरीर के प्रति ममत्व क्रमशः घटता जाता है और योगी इसे आत्मा का अधिष्ठान मात्र मानने लगता है जिसे स्वस्थ और सुदृढ़ रखने का एक मात्र उद्देश्य है आध्यात्मिक विकास के लिए इसे उपादेय बनाना। ये प्रारम्भिक तीन सीढ़ियाँ 'बहिरंग साधना' कहलाती हैं। अगली दो सीढ़ियों, प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा योगी श्वास-प्रश्वास का नियमन करता है और इन्द्रियों को उनके विषयों से पराक्ड.ख करता है। इनसे उसका मन वश में आता है। इन

दोनों को अन्तरंग साधना कहते हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि योगी को आत्मा की गहराई में ले जाते हैं। योगी परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आकाश की ओर नहीं देखता। वह जानता है कि परमात्मा अन्तरात्मा के रूप में उसके भीतर विराजमान है। ये अन्तिम तीन सीढ़ियाँ आत्मा और परमात्मा में समवाय स्थापित करती हैं। इसलिए इन्हें 'अन्तरात्मा साधन' कहते हैं।

समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात एकाकार हो जाते हैं, द्रष्टा, दर्शन और दृष्ट का भेद मिट जाता है, मानों गायक, गीत और साज सब मिलकर एक हो गये। जब योगी को अन्तरात्मा की अनुभूति होती है जो परमात्मा का अंश है, महत् ज्वाला-पुञ्ज का एक स्फुल्लिंग है। यह योग साधना की चरमावस्था है।

1. यम - योग का प्रथम सोपान है। इसका अर्थ है संयम या नियंत्रण। योगसूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय चोरी नहीं करना, दूसरे की कोई भी वस्तु अनधिकृत रूप से नहीं लेना ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आचरण यम हैं। इस प्रकार के आचरण से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है; सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति रहती है। इसके विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह की वृत्ति से अनाचार फैलता है और वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन अशान्त और दुःखद हो जाता है। हिंसा आदि की प्रवृत्तियाँ ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि दुर्भावनाओं से उद्भूत होती हैं। अहिंसादि के आचरण से ये क्रमशः क्षीण होती हैं और साधक का मन स्वच्छ से स्वच्छतर होता जाता है और उसकी इन्द्रियाँ वश में आती हैं।

ये पाँचों यम जैनधर्म में गृहस्थों के लिए अणुव्रत के रूप में (छोटे पैमाने पर या सीमित रूप में) और साधुओं के लिए महाव्रत या सार्वभौम व्रत के रूप में विहित किये गये हैं। पतञ्जलि भी इनका, जाति, देश, काल और समय (शर्त या पाबंदी) से बाधित लघु रूप और अन्य सार्वभौम महत् रूप मानते हैं।

(क) अहिंसा- अहिंसा का शाब्दिक अर्थ हिंसा का वर्जन होता है अर्थात् किसी प्राणी को नहीं मारना या किसी प्रकार से नहीं सताना। परन्तु, इसकी परिणति विश्वप्रेम या समस्त जगत के प्रति मैत्रीभाव में होती है। यदि कोई व्यक्ति अपनी शारीरिक क्रिया द्वारा किसी जीव को क्षत नहीं करता, परन्तु उनके मन में वैरभाव रहता है, ईर्ष्या और द्वेष रहता है तो वह अहिंसक नहीं हो सकता। अतएव अहिंसा के आचरण के लिए वैरभाव का सर्वथा विसर्जन और मैत्रीभाव का अभ्यास आवश्यक है।

व्यक्ति हिंसा क्यों करते हैं? मांसाहारी भोजन के लिए जीवों का वध करते हैं या कराते हैं; भय के कारण भी जीव-हिंसा की जाती है। जैसे साँप से भय है, इसलिए लोग उसे मार देते हैं। स्वत्व या अधिकार की रक्षा के लिए भी हिंसा होती है। किसी का मान आहत होता है तो वह प्रतिशोध की भावना से हिंसा पर उतारू हो जाता है। आजीविका हेतु दैनन्दिन कार्य के प्रसंग में भी हिंसा हो सकती है। इस तरह हिंसा के कई प्रकार हो सकते हैं। इन सबों में सर्वाधिक गहिरे वह है जो रागद्वेष वश संकल्पपूर्वक की जाती है, इसका सर्वथा वर्जन किया जाना चाहिए। हिंसा के विविध प्रकारों को देखते हुए पतञ्जलि

ने अहिंसा के आचरण के दो विभाग किये हैं- सामान्य या ईषत् और दूसरा महत्। सामान्य स्तर पर जहाँ अहिंसा का आचरण जाति, देश, काल और समय (शर्त या पाबंदी) की सीमा में होगा वहाँ महत् स्तर पर यह सार्वभौम होगा। जैन आचार में इसे ही अणु (छोटा) व्रत और महाव्रत कहा गया है। योगी को सार्वभौम अहिंसा का आचरण करना है। मनुष्य के लिए मांसाहार उपादेय नहीं है। अतएव योगी के लिए आहार हेतु हिंसा करने या कराने का प्रश्न ही नहीं उठता है। भय, लोभ या क्रोध के वश हिंसा योगी से हो नहीं सकती क्योंकि इन भावों को पूर्ण रूप से समाप्त कर ही और अपने हृदय में असीम मैत्रीभाव लेकर ही वह योगारूढ़ होता है। उसके लिए कोई शत्रु है ही नहीं। यदि कोई इसके प्रति शत्रुता का बर्ताव भी करे तो भी उसकी शिकायत उस व्यक्ति के प्रति नहीं वरन् उसकी कलुषित बुद्धि के प्रति होगी और वह उसके कलुष को मिटाकर उसके प्रति अपने मैत्री भाव का निर्वाह करना चाहेगा। यह कार्य कठिन तो है परन्तु असाध्य नहीं। आधुनिक युग में भी गाँधी ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया।

(ख) सत्य- सदाचार में सत्य का स्थान सर्वोपरि है। महात्मा गाँधी ने कहा है- 'सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है'। मन-वचन और काया की क्रियाओं में सत्य का आचरण करने वाला परमात्मा के निकट पहुँच जाता है। कबीर ने कहा है-

‘साँई से साँचा रहो, साँई साँच सुहाय।

साँचे को साँचा मिले साँचे माहि समाया।’

सत्य को साधने का मार्ग है अहिंसा या प्रेम। सत्य केवल यथार्थ कथन तक सीमित नहीं है, किसी को अश्लील बातें कहना, धोखा देना, निन्दा और पिशुनता करना या उपहास करना भी सत्य का व्याघात है। सम्राट अशोक ने अपने एक अभिलेख में कहा है कि सभी सम्प्रदायों का परस्पर मिलकर रहना अच्छा है (समवायो एव साधु)। फिर आगे है, उसका मूल है वचन का संयम (तस्स मूलं वचिगुति) तत्परतापूर्वक वाग्व्यापार का संरक्षण करना ही सत्य की साधना है।

(ग) अस्तेय- भोग और परिग्रह के लिए स्पर्धा व्यक्ति को कदाचार की ओर ले जाती है। इसी से चोरी करने या दूसरे के स्वत्व को किसी अन्य रीति से अपना लेने की प्रवृत्ति होती है। जो भी अर्जन अन्याय या कदाचार से किया जाता है वह स्तेय या चौर्य है। कदाचार या अन्याय से परिग्रह करने वाला व्यक्ति जिस समाज में रहता है वह उस समाज के प्रति चौर्य कर्म करता है। योगी अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम कर लेता है। अन्यो के भोग और परिग्रह के प्रति उसकी कोई स्पृहा नहीं रहती। भोग और परिग्रह की इच्छा और स्पर्धा का कहीं कोई अन्त नहीं है- 'इच्छा हु आगास समा अणान्तिया'। दूसरी ओर विगतस्पृह को परम सुख और शान्ति मिलती है-

‘चाह गई, चिन्ता मिटी मनुआं बेपरवाह।

जाको कछु नहिं चाहिए वा ही साहंसाह॥ (कबीरदास)

किन्तु जीवन वसर करने के लिए कुछ तो चाहिए ही। परन्तु उस कुछ की सीमा बाँधने के प्रति व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिए। यदि सीमा का वह उल्लंघन करने लगा

तब फिर आकाश की अनन्तता में खो जायेगा। कबीर ने कहा-

‘साँई इतना दीजिये जामें कुट्टैब समाय।

मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।।

परन्तु ‘इतना’ की सीमा बाँधने के प्रति मानो सावधान करते हुए उन्होंने कहा-

रूखा सूखा खाई के ठंडा पानी पीव।

देखि विरानी चूपड़ी मत ललचावे जीव।।

यह विरानी चूपड़ी देखकर जी ललचाने की जो बात है वही परिग्रह की ओर ले जाती है और परिग्रह में प्रवृत्त होने पर स्पृहा और स्पर्धावश उचित-अनुचित का विवेक चला जाता है और व्यक्ति ठगी, धोखा, चोरी, अपहरण आदि में प्रवृत्त होता है। अतः अस्तेय का आचरण करने के लिए योगी इच्छा और स्पर्धा को वशीभूत करता है।

(घ) ब्रह्मचर्य- पतञ्जलि के अनुसार मन, वचन और काया में मैथुन का वर्जन ब्रह्मचर्य है। जैनधर्म भी ब्रह्मचर्य का यही अर्थ किया गया है। परन्तु, महाव्रती जहाँ सर्वतोभावेन मैथुन का वर्जन करेगा वहाँ गृही के लिए मर्यादित मैथुन की स्वीकृति दी गई है। इस रूप में यह ‘स्वदार संतोष’ है अर्थात् गृही के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का अर्थ है परकीया या सामान्या का वर्जन। पतञ्जलि ने भी यमों के दो स्तर किये हैं- ‘जाति, देश, काल और समयावच्छिन्न’ और महत्। इस पद्धति में स्वदार संतोष को समयावच्छिन्न ब्रह्मचर्य व्रत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि विवाह भी समय (शर्त या पाबंदी) है। वस्तुतः विवाह के बन्धन का उद्देश्य है उद्दाम और बहुमुखी काम वासना को मर्यादित और एकनिष्ठ करना। इस रूप में यह ‘अणु’ या छोटे स्तर पर ब्रह्मचर्य व्रत ही है। चूँकि अमैथुन या मर्यादित मैथुन आत्मसंयम की आधारशिला के बिना टिक नहीं सकता। इसलिए, ब्रह्मचर्य का प्रवेशद्वार आत्मसंयम है।

जैनधर्म में ब्रह्मचर्य का महाव्रत के रूप में समावेश भगवान महावीर ने किया। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने चातुर्याम (चार यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) का उपदेश दिया था। विवेकी के लिए अपरिग्रह में ही ब्रह्मचर्य अन्तर्भुक्त हो जाता था क्योंकि स्त्री एक परिग्रह ही नहीं अपितु सभी परिग्रहों की जड़ है। परन्तु जब कुछ वक्रबुद्धि लोग अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य की अव्याप्ति का आग्रह करने लगे तब भगवान महावीर को अलग से इसे विहित करना पड़ा।

(ङ) अपरिग्रह- अस्तेय और अपरिग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहाँ अनुचित ढंग से वस्तु का अर्जन चौर्य है वहाँ अनावश्यक वस्तु का अर्जन और संग्रह परिग्रह है। यह भी एक प्रकार का चौर्य ही है। जो वस्तु जरूरतमंद के काम आ सकती थी उसे परिग्रही अनावश्यक रूप से अपने पास रख लेता है। अतएव वह समष्टि के प्रति दोषी है। परिग्रही को अपने परिग्रह के प्रति मोह हो जाता है और जैसे-जैसे उसका परिग्रह बढ़ता जाता है मोह भी गाढ़ से गाढ़तर होता जाता है। अनावश्यक परिग्रह नहीं करना और पूर्व अनावश्यक परिग्रह को क्रमशः न्यून से न्यूनतम कर लेना ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह के आचरण से मोह क्षीण से क्षीणतर होता है और क्रमशः साधक का शरीर के प्रति मोह भी क्षीण हो जाता

है। वह ऐसा समझने लगता है कि उसका शरीर भी एक उपकरण मात्र है और जैसे उपकरणों का हस्तांतरण होता है उसी तरह शरीर-रूप उपकरण का स्वामी जीव भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। यह क्रम उसके वर्तमान जीवन के पूर्व से चलता आ रहा था और आगे भी चलता रहेगा तब तक जबतक प्रकृति का बन्धन नहीं छूट जाता और उसकी अन्तरात्मा का परमात्मा में विलय नहीं हो जाता।

2. नियम- जहाँ यम व्यक्ति के सामाजिक आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है वहाँ नियम उसके व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है। पतञ्जलि ने पाँच नियम बताये हैं- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान।

(क) शौच- शौच का अर्थ है शुद्धि। इसके अन्तर्गत शरीर, वस्त्र, आवास और भोजन की शुद्धि अभिप्रेत है। कायशुद्धि के क्रम में योगी को इस बात की प्रतीति होती है कि काया स्वभावतः अशुचि है- मूत्र, पुरीष, श्लेष्मा, स्वेद आदि घृणित वस्तुओं का घर है। इससे उसमें काया के प्रति और काया के स्वाभाविक आवेगों (जैसे कामचेष्टा) आदि के प्रति जुगुप्सा का भाव जगता है। दूसरे व्यक्ति के शरीर के प्रति भी उसके ऐसा ही जुगुप्सा का भाव जग जाता है। इससे उसकी वृत्तियाँ शारीरिक धरातल पर से उठकर आध्यात्मिक धरातल पर चली जाती हैं। वह देखता है कि पशु प्रेम जताने के लिए चाटते हैं, काटने का स्वांग करते हैं। प्रेम की यह अभिव्यक्ति उसे घटिया और धिनौनी लगने लगती है और वह करुणा, मैत्री आदि के द्वारा प्रेम की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की ओर सहज ही प्रवृत्त हो जाता है।

पतञ्जलि कहते हैं कि शुचिता से सत्त्वशुद्धि (अन्तरात्मा की शुद्धि) होती है, सौमनस्य होता है। सौमनस्य का अर्थ है मन की प्रसन्नता, मन में आस्था विश्वास का जगना। इस तरह मन के निष्कलुष (ईर्ष्यादि से रहित) होने से एकाग्रता होती है और एकाग्रता से इन्द्रियजय और आत्मशर्दन की योग्यता आती है।

(ख) संतोष- तृष्णा के क्षय से संतोष का उदय होता है। संतोष अपरिमित सुख और शान्ति का जनक है। कहा गया है-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व. 174-46)

अर्थात् इस लोक में जो काम्य वस्तुओं के उपभोग से शुरू होता है और स्वर्ग का जो महान् सुख है ये दोनों मिलकर भी उस सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं जो सुख तृष्णा के क्षय से अर्थात् संतोष से होता है। संतोष से योगी निश्चिन्त हो जाता है और योगमार्ग में स्थिर रहता है।

(ग) तप- 'तप' शब्द 'तप्' धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु तपने, जलने, दुःख झेलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तप द्वारा शरीर मन और वचन का विशेष प्रकार से नियमन किया जाता है। निराहार रहना, निश्चल होकर खड़े रहना या बैठना, प्राणवायु का नियमन करना, ग्रीष्म में आतापना लेना, जाड़े में खुले शरीर खुले आसमान के नीचे ठंडक को

झेलना आदि तप के प्रकार हैं। तप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से काय-क्लेश उठाना पड़ता है। जैसे स्वर्ण का शोधन करने के लिए उसे आग में तपाया जाता है, वैसे ही मानसिक और शारीरिक शुद्धि के लिए तप किया जाता है। जैसे तपाने से स्वर्ण का मल जल जाता है वैसे ही मानसिक और शारीरिक अशुद्धियाँ तप से दूर हो जाती हैं और शरीर तथा इन्द्रियों की क्षमता चामत्कारिक रूप से बढ़ जाती है।

(घ) स्वाध्याय- 'स्वाध्याय' शब्द 'स्व' और 'अध्याय' की सन्धि से बना है। इसका अर्थ 'स्व' का अथवा अपने आपका, अपनी अन्तरात्मा का, अपने मन और इन्द्रियों का अध्ययन करना, उनकी चेष्टाओं की अनुप्रेक्षा करना हो सकता है। इससे अपने आपके साथ-साथ जितनी भी बाह्य वस्तुओं से साधक का सम्बन्ध है उनको उसे अनुभूति होगी और उसमें सहज ज्ञान का स्फुरण होगा। सत्साहित्य यथा वेदोपनिषद् आदि का अध्याय है। ये आप्तवचन हैं। अतएव इनके अध्ययन से अध्येता को ऐसे विषयों का ज्ञान होगा जो प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ज्ञात नहीं होते; बल्कि, जिनका ज्ञान आगम से ही होता है।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान- पतञ्जलि के अनुसार ईश्वर पुरुष (जीव)-विशेष है। जहाँ सामान्य पुरुषों (जीवों) की चित्तवृत्तियाँ क्लिष्ट (क्लेशयुक्त) हो सकती हैं ईश्वर में क्लेश का शाश्वत अभाव रहता है। ईश्वर के न पुण्य-पाप होते हैं, न कर्म-विपाक होता है और न कोई वासना रहती है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा (अजीव या जड़-बुद्धि, मन आदि) को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख-रूप और आत्म-स्वरूप मानना अविद्या है। बुद्धि, मन आदि जड़ हैं। वे पुरुष (जीव) से ही चैतन्ययुक्त होते हैं। इन जड़ पदार्थों को ही चैतन्य (जीवरूप) समझना, चैतन्य का उनके साथ, तादात्म्य करना, अस्मिता है। स्पष्ट है कि अस्मिता आदि की जननी अविद्या ही है। प्रीतिकर में रमण करने की इच्छा और अप्रीतिकर के प्रति असहनशीलता क्रमशः राग और द्वेष हैं। जीवन के प्रति जो आसक्ति है वही अभिनिवेश है। यह प्राणी के पूर्व जन्म में अनुभूत मरण-भीति के कारण जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है।

'ईश्वर-प्रणिधान' का अर्थ है ईश्वर की विशेष भक्ति, ईश्वर के प्रति शरणागति। इस अवस्था में योगी अपने सारे कर्मों को, सारे भावों को, ईश्वरार्पित कर देता है। ईश्वर से पृथक् उसकी कोई वैयक्तिकता नहीं रहती। उसका स्वात्म सर्वात्म में लीन हो जाता है। इससे सहज ही उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है।

3. आसन- शरीर को स्थिर और सुखावह अवस्था में रखने का नाम आसन है। यह शरीर को एक विशेष स्थिति में रखना है जिसमें साधक का शरीर अभीष्ट कालावधि पर्यन्त स्थिर रहे और उसे किसी शारीरिक तनाव आदि का अनुभव न हो। आसनों का नामकरण, वनस्पति, कीट-पतंग, जलजन्तु, पक्षी, पशु आदि के नाम पर किया गया है, यथा- ताड़-आसन, पद्मासन, वृश्चिकासन, भुजंगासन, शलभासन, मत्स्यासन, भेकासन, कूर्मासन, गरुडासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, उष्ट्रासन, सिंहासन आदि।

आसन के अभ्यास से शरीर सुगठित, दृढ़ और हल्का हो जाता है और योगी के

लिए योग के अगले अंग, प्राणायाम का अभ्यास सुकर हो जाता है। ध्यान रहे कि आसन केवल शरीर को सुगठित बनाने के साधन नहीं हैं। वे शरीर को योग की साधना के योग्य बनाने के साधन हैं जिस साधना का अंतिम लक्ष्य समाधि और कैवल्य है। यद्यपि योगी को शरीर के प्रति मोह नहीं होता, तथापि अन्तरात्मा के वाहक के रूप में वह, शरीर का सम्मान करता है, उसके रख-रखाव और उपादेयता पर पूरा ध्यान रखता है। आसन शरीर को योग-साधना के लिए उपादेय बनाने के साधन हैं। आसनसिद्धि से साधक शीतोष्ण, मृदु-कठोर, स्निग्ध-रुक्ष आदि द्वन्द्वों के स्पर्श से अभिभूत नहीं होता है।

पतञ्जलि ने आसनों पर विशेष जोर नहीं दिया है। योग की एक पद्धति हठयोग कहलाती है। इसका विस्तार से विवेचन स्वात्मारामकृत 'हठयोग-प्रदीपिका' में किया गया है। हठयोग कायशुद्धि, आसन, मुद्रा आदि पर विशेष जोर देता है। पतञ्जलि की पद्धति में लक्ष्य समाधि है और साधन की आवश्यकता वहीं तक है जहाँ तक वे सरलता और त्वरा के साथ लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक हों। इसलिए हठयोग के सम्मुख पतञ्जलि की पद्धति को 'राजयोग' (सरलता या आसानी से साध्य योग) कहा गया है।

4. प्राणायाम- प्राणायाम योग का चतुर्थ अंग है। यहाँ प्राण का अर्थ श्वास-प्रश्वास है; उसका आयाम अर्थात् विस्तार या नियंत्रण प्राणायाम है। पतञ्जलि ने इसे श्वास-प्रश्वास के बीच गति-विच्छेद के रूप में परिभाषित किया है। अर्थात् श्वास लेना, प्राणवायु से फेफड़ों को भरना, तदनन्तर उसे रोकना और इसके बाद छोड़ना, फिर छोड़ने के बाद भी श्वसन क्रिया को किञ्चित् कालपर्यंत अवरुद्ध करना और फिर श्वास भरना। इसी क्रिया को दुहराना। श्वास लेते हुए फेफड़ों को वायु से भरने की क्रिया को पूरक (भरनेवाली क्रिया) कहते हैं। श्वास लेकर प्राणवायु को भीतर रोकने की क्रिया को अन्तः कुम्भक और श्वास छोड़कर पुनः श्वास लेने की क्रिया को किञ्चित् कालपर्यंत रोकने की क्रिया को बाह्य कुम्भक कहते हैं।

प्राणायाम कठिन साधना है और इसे सुयोग्य गुरु से सीखना चाहिए तथा गुरु के सानिध्य में ही प्रारंभिक अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा गलती होने के घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं।

प्राणायाम से जहाँ एक ओर रक्त संचार की क्रिया का विनिमन होता है और उसे स्फूर्ति मिलती है वहाँ दूसरी ओर मन और इन्द्रियों को विश्राम मिलता है, बुद्धि निर्मल और प्रसन्न हो जाती है। पतञ्जलि कहते हैं कि मोह के कारण विवेक ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा रहता है वह प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण होता है। कहा गया है- प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। इससे शारीरिक और मानसिक मलों की विशुद्धि होती है और ज्ञान दीप्त होता है।

5. प्रत्याहार- इन्द्रियाँ स्वभाव से ही क्षोभकारी होती हैं। वे विषयों की ओर मन को ले जाती हैं और बुद्धि को विवश कर देती हैं। इस स्वेच्छाचार को छोड़कर इन्द्रियों का चित्त का अनुगामी हो जाना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार के अभ्यास में इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख किया जाता है। विषय-विमुख होने पर इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामी हो जाती हैं।

तब जैसे रानी मक्खी उड़ती है तो सभी श्रमिक मधुमक्खियाँ उड़ जाती हैं और फिर वह जहाँ बैठती है वहाँ सभी बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त का अनुगमन करती हैं। जैसे-जैसे चित्त वृत्तियों के निरोध की ओर जाता है वैसे-वैसे इन्द्रियाँ उसके साथ चलती हैं, विद्रोह या विक्षेप नहीं करती हैं। प्रत्याहार के परिणाम स्वरूप इन्द्रियों की परमावश्यता होती है, ऐसी वश्यता जो फिर शिथिल नहीं होती।

6. धारणा- चित्त को किसी एक स्थान पर केन्द्रित करने की क्रिया को पतञ्जलि धारणा कहते हैं। यह स्थान साधक के शरीर के अन्दर हो सकता है, यथा, नाभिकन्द्र, हृदयपुण्डरीक, नासिकाग्र, भ्रूमध्य इत्यादि। धारणा किसी बाह्य विषय की भी जा सकती है। परन्तु इसकी शर्त यह है कि 'प्रत्याहार' में जो चित्त के प्रति इन्द्रियों का समर्पण हुआ वह किसी भौतिक डिगने न पाये। मन की भ्रान्त अवस्था को 'क्षिप्त' कहा गया है, जहाँ वह एक विषय से दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त होता रहता है। उद्वेलित और भोगोत्सुक अवस्था को 'विक्षिप्त' कहा गया है। इन दोनों अवस्थाओं में रजोगुण की प्रधानता रहती है। मन की निष्क्रिय अवस्था को 'मूढ़' कहा गया है जहाँ तमोगुण का प्राधान्य रहता है। जब मन अपनी सारी शक्तियों को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करता है तो उसे एकाग्र कहते हैं। द्रोणाचार्य द्वारा धनुर्विद्या की परीक्षा के क्रम में जब अर्जुन ने कहा कि उसे केवल चिड़िया की आँख (लक्ष्य) देख रही थी, तब उसका मन एकाग्र था। योग-साधना में मन की चरमावस्था को 'निरुद्ध' कहा गया है जहाँ मन, बुद्धि और अहंकार पूर्णतः चित्त के नियंत्रण में आ जाते हैं, अहंभाव का लोप हो जाता है। धारणा मन की एकाग्रता की स्थिति है। यहाँ से योगी की आध्यात्मिक उपलब्धि शुरू होती है। इसलिए पतञ्जलि ने इसे विभूति पाद के अन्तर्गत रखा है।

7. ध्यान- धारणा में ज्ञानवृत्ति की एकतानता नहीं होती है। वह त्रुटित या खण्डित होती रहती है। यह ज्ञानवृत्ति जब एकतान हो जाती है तो वह ध्यान की अवस्था कहलाती है। जैसे जल जिस पात्र में रखा जाता है उसी का आकार ले लेता है, वैसे ही ध्यान की अवस्था में मन ध्येय वस्तु-रूप हो जाता है। इसलिए ब्रह्म या परमात्मा का ध्यान करने का विधान किया गया है जिसका वाचक ऊँकार या प्रणव है। इससे योगी के स्वात्म की सर्वात्म में संलीनता की अनुभूति होती है।

प्रायः सभी धर्मों में ध्यान की महिमा गाई गई है और इसे आध्यात्मिक साधना का अनिवार्य अंग बताया गया है। पिछले कुछ दशकों में मानों ध्यान को लेकर एक क्रान्ति ही हो गयी है। आध्यात्मिक उपलब्धि के साथ-साथ भौतिक उपलब्धियों, यथा रोगी के लिए स्वास्थ्य-लाभ आदि के लिए भी इसका प्रयोग किया जाने लगा है।

ध्यान का मुख्य उद्देश्य तो आध्यात्मिक ही है। परन्तु इस क्रम में ध्याता को भौतिक उपलब्धियाँ भी होती हैं। जैसे बिजली के बल्ब के फिलामेंट में जब निर्बाध रूप से विद्युत का प्रवाह होता है तब वह चमकने लगता है। इसी तरह ध्यान से साधक की बुद्धि और मन प्रखर हो जाता है। उसका मुखमण्डल दीप्तिमान और शरीर स्वस्थ हो जाता है। उसकी वाणी मधुर और गम्भीर हो जाती है। इनके अतिरिक्त उसे अतिमानवीय शक्तियाँ

की उपलब्धि भी हो सकती है। परन्तु इन उपलब्धियों के प्रति आसक्त होने से वह योगभ्रष्ट हो सकता है। भगवद्गीता में अर्जुन ने कृष्ण से पूछा कि योगभ्रष्ट की गति क्या होती है। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि योग से भ्रष्ट होने पर भी साधक दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह दीर्घकाल तक स्वर्ग-सुख का भोग करता है; फिर ज्ञानियों और योगियों के बीच उसका जन्म होता है जहाँ पूर्वाभ्यास के कारण उसे शीघ्र योग की प्राप्ति होती है। (अ. 6, 38-47)

8. समाधि- जब ध्याता ध्येयाकार हो जाता है और उसका स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। तर, तम अवस्था के अनुसार समाधि के अनेक भेद किए गए हैं। योगसूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एकत्र संयम कहे गये हैं। संयम के फलस्वरूप अनेक अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होने की बात कही गई है, यथा अपने शरीर पर संयम करने से अन्तर्धान होने की शक्ति (3-20); सूर्य पर संयम करने से भुवनज्ञान (3.26); नाभिचक्र पर संयम करने में शरीर की संरचना का, उसकी भिन्न-भिन्न धातुओं का ज्ञान (3.29) आदि। योग की 1. अणिमा, 2. लघिमा (हल्का होने की शक्ति), 3. महिमा (बढ़ जाने की शक्ति), 4. प्राप्ति (किसी वस्तु तक पहुँचने की शक्ति), 5. प्राकाम्य (अमोघ इच्छाशक्ति), 6. वशित्व (भौतिक पदार्थों को अपने वश में रखने की शक्ति), 7. ईशित्व (भौतिक पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट करने की शक्ति), 8. यथाकामावसायित्व (सत्य संकल्पता), ये आठ सिद्धियाँ तो सुप्रसिद्ध हैं ही। परन्तु ये सिद्धियाँ अनुभूतिगम्य ही हो सकती हैं, इन्हें तर्कसिद्ध नहीं किया जा सकता। इन समस्त सिद्धियों के प्रति वीतरागता के फलस्वरूप ही कैवल्य, प्रकृति के बंधन से मोक्ष की सिद्धि होती है जो योग का चरम लक्ष्य है।

अहिंसा की परिधि में पर्यावरण सन्तुलन

प्रो. (डॉ.) पुष्पलता जैन*

अहिंसा धर्म है, संयम है और पर्यावरण निसर्ग है, प्रकृति है। प्रकृति की सुरक्षा हमारी गहन अहिंसा और समय साधना का परिचायक है। प्रकृति का प्रदूषण पर्यावरण के असन्तुलन का आवाहक है और असन्तुलन अव्यवस्था और भूचाल का प्रतीक है अतः प्राकृतिक सन्तुलन बनाए रखना हमारा धर्म है, कर्त्तव्य है और आवश्यकता भी। अन्यथा विनाश के कगारों पर हमारा जीवन बैठ जाता है और कटी हुई पतंग-सा लड़खड़ाने लगता है। यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सत्य है। जिसे आज हम भोग रहे हैं।

हमारे यहां प्रारंभ में पर्यावरण संरक्षण की समस्या नहीं थी। चारों दिशाओं में हरे-भरे खेत, घने जंगल कल-कल करती नदियां, जड़ी-बूटियों से भरे पर्वत आदि सभी कुछ प्राकृतिक सुषमा का बखान करते थे। हमारा प्राचीन साहित्य इसी प्रकृति की सुरम्य छटा के वर्णन से आपूर है। उसमें व्यक्ति की भद्र प्रकृति और उसकी पापभीरुता का भी दिग्दर्शन होता है। वनस्पति जगत का जो सम्मान यहां किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अवतारों और जैन तीर्थंकरों के चिन्ह पशु-पक्षियों में से ग्रहण किये गये हैं। प्राचीन मूर्तिकला, स्थापत्यकला तथा मुद्राओं पर अशोक, कदम्ब, पीपल आदि वृक्षों के चित्र भी इसी के प्रमाण हैं। वसंत ऋतु में रंग-बिरंगे मनमोहक पुष्प, ग्रीष्म ऋतु का तपता हुआ वायुमंडल, वर्षाऋतु की लहलहाती धरती और शीत ऋतु की सुहावनी रातें भला कौन भूल सकता है?

प्राचीन ऋषियों-महर्षियों और आचार्यों ने इस प्राकृतिक तत्व को न केवल भली-भांति समझ लिया था बल्कि उसे उन्होंने जीवन में उतारा भी था। वे प्रकृति के रम्य प्रांगण में स्वयं रहते थे, उसका आनंद लेते थे और वनवासी रहकर स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति की सुरक्षा किया करते थे। वैदिक ऋषि-महर्षि, महावीर और बुद्ध जैसे महापुरुषों के जीवन की अनेक घटनाएं प्रकृति की छत्र-छाया में घटित हुई हैं। कालांतर में उन वृक्षों की पूजा का विधान रच कर उनकी सुरक्षा का प्रबंध धर्म मान लिया गया। पीपल (बोधिवृक्ष) ज्ञान-प्रकाशक है, ग्राम गोष्ठी और व्याकुल पथिक के लिए आश्रयदाता है। वटवृक्ष भी ज्ञान और समृद्धि का प्रतीक है। अशोक वृक्ष ने सीताजी को आश्रय दिया था, इस बात को हम सभी जानते हैं। वृक्षों की उपयोगिता के कारण वे अनेक जनश्रुतियों

* पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस.एफ.एस. कॉलेज, तुकाराम चाल, सदर, नागपुर - 440 001.

के भी केन्द्र बन गये। इन जनश्रुतियों की चर्चा से अधिक महत्व का प्रसंग वृक्षों के संरक्षण का है।

इधर कुछ वर्षों से पर्यावरण संतुलन काफी डगमगा गया है। बढ़ती हुई आबादी तथा आधुनिक औद्योगिक मनोवृत्ति ने पर्यावरण को बुरी तरह प्रदूषित कर दिया है। जंगल के जंगल कटते चले जा रहे हैं। सामर्थ्य के बाहर खेतों से खाद्यान्न पैदा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कीटनाशक दवाओं और रासायनिक खादों के प्रयोग से खाद्य सामग्री दूषित होती जा रही है, शुद्ध पेय जल कम होता जा रहा है। वन्य पशु-पक्षी लुप्त-से हो रहे हैं। कालिदास जैसे महाकवियों के वन-उपवन, अरण्य आज अदृश्य से होते जा रहे हैं। पर्यावरण के असंतुलित हो जाने से ऋतु चक्र में बदलाव आया। भीषण बाढ़ का प्रकोप बढ़ा, कैंसर, हृदयघात, मानसिक तनाव, रक्तचाप जैसे विघातक रोगों की संख्या बढ़ी, शुद्ध-हवा पानी मिलना मुश्किल-सा हो गया, गंगा-नर्मदा जैसी नदियों की पवित्रता पर प्रश्नचिन्ह लग गया। जगह-जगह भूचाल हो रहे हैं। सुनामी लहरों का प्रकोप भी पर्यावरण के असन्तुलन का कारण है।

यह सब हुआ प्रकृति पर दिग्विजय की महत्वाकांक्षा पालने के कारण और मानव की स्वार्थभरी मानसिकता के कारण। हमारी अज्ञानता ने हमें प्रकृति के वास्तविक रूप को समझने से दूर रखा, धर्म-अधर्म का विवेक हमने खो दिया, मानवता को दर-किनार रख तकनीकी और वैज्ञानिक विकास ने हमें अंधा बना दिया। फलतः प्राकृतिक विपदाओं के अंबर लग गये।

प्रकृति प्रदत्त सभी वनस्पतियां हम-आप जैसी सांस लेती हैं कार्बन-डाय-ऑक्साइड के रूप में और सांस छोड़ती हैं ऑक्सीजन के रूप में। यह कार्बन-डाय-ऑक्साइड पेड़-पौधों के हरे पदार्थ द्वारा सूर्य की किरणों के माध्यम से फिर ऑक्सीजन में बदल जाती है। इसलिए बाग-बगीचों का होना स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। पेड़-पौधों की यह जीवन-प्रक्रिया हमारे जीवन को संबल देती है, स्वस्थ हवा और पानी देकर आवाहन करती है जीवन को संयमित और अहिंसक बनाये रखने का। सारा संसार जीवों से भरा हुआ है और हर जीव का अपना-अपना महत्व है। उनके अस्तित्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। उनमें भी सुख-दुःख के अनुभव करने की शक्ति होती है। उनका संरक्षण हमारा नैतिक उत्तरदायित्व है।

जैनागमों में मूलतः स्थावर और त्रस, ये दो प्रकार के जीव बतलाये गये हैं। स्थावर जीवों में चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती, ऐसे जीव पांच प्रकार के होते हैं- (1) पृथ्वीकायिक, (2) अप्कायिक, (3) वनस्पतिकायिक, (4) अग्निकायिक और (5) वायुकायिक। दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। जैनशास्त्रों में इन जीवों के भेद-प्रभेदों का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरता है। इन सब जीवों का गहरा सम्बन्ध पर्यावरण से है।

हमारे चारों ओर की भूमि, हवा और पानी ही हमारा पर्यावरण है। इनसे हमारा पुराना सम्बन्ध है लेकिन इससे भी अधिक पुराना सम्बन्ध है पौधों और जानवरों से। हमारे

लिए सारे जानवर और पौधे जरूरी हैं। उनके बिना हमारा जीवन सुसंचालित नहीं हो सकता। यह पर्यावरण जीव-जन्तुओं और पेड़ पौधों के कारण ही जीवन्त है। उनकी हिंसा करने पर प्रकृति भी अपनी प्रतिक्रिया दिखलाती है। आज के भौतिक वातावरण में विज्ञान की चकाचौंध में हम अज्ञानवश अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अपने प्राकृतिक पर्यावरण को दूषित कर रहे हैं। इससे प्रकृति का सन्तुलन डगमगाने लगा है। उसकी सादगी और पवित्रता कुचली जा रही है, नष्ट हो रही है। इसका मूल कारण है हमारी असंयममूलक तृष्णा और प्रबल आशा का संचरण। हमने वन, उपवन को नष्ट-भ्रष्ट कर ऊँची-ऊँची अट्टालिकायें बना लीं, बड़े-बड़े कारखाने स्थापित कर लिए जिनसे हानिकारक रसायनों, गैसों का निर्झरण हो रहा है, उपयोगी पशु-पक्षियों और कीड़ों-मकोड़ों को समाप्त किया जा रहा है। वाहनों आदि से ध्वनि, प्रदूषण, गन्धगी, कूड़ा-कचड़ा आदि बहा देने से जल प्रदूषण और गैसों से वायु प्रदूषण हो रहा है। हम अपने क्षणिक लाभ के लिए सारी प्राकृतिक सम्पदा को असन्तुलित करने के दोषी बन रहे हैं।

कुछ प्रदूषण प्रकृति से होता है पर उसे प्रकृति ही स्वच्छ कर देती है। जैसे पेड़-पौधों की कार्बन डाई आक्साइड सूर्य की किरणों से साफ होकर आक्सीजन में बदल जाती है। हमारा बहुत सारा जीवन इन्हीं पेड़-पौधों पर अवलम्बित है। वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धान के आधार पर स्पष्ट किया है कि अलग-अलग तरह के पेड़ पौधों की पत्तियाँ विभिन्न गैसों आदि के जहर, धूल आदि से जूझकर पर्यावरण को स्वच्छ रखती हैं। इस संदर्भ में नीम की पत्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। जंगल कट जाने से वर्षा कम होती है, आबहवा बदल जाती है, सूखा पड़ता है, बाढ़ आती है, गर्मी अधिक होती है।

यदि हमने पर्यावरण की सुरक्षा और प्रदूषण की मात्रा कम नहीं की तो पर्यावरण जहरीला होकर हमारे जीवन को तहस-नहस कर देगा। नई-नई बीमारियों से हम त्रस्त हो जाएंगे। पर्यावरण की रक्षा वस्तुतः हमारा विकास है। उदाहरण के तौर पर काई, आम, पीपल, बरगद आदि पेड़-पौधे वातावरण की गन्दी हवा को छानकर और स्वयं जहर का घूँट पीकर हमें स्वच्छ हवा और प्राणवायु देते हैं। इसी तरह आम, सूर्यमुखी, चौलाई, कनकौना, गौर, सनई आदि भी गन्दी हवा दूर करके हमारी सेवा करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसन्धान के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि पर्यावरण का असन्तुलन हिंसाजन्य है और यह हिंसा तब तक होती रहती है जबतक हमें आत्मबोध न हो। आत्मतुला की कसौटी पर कसे बिना व्यक्ति न तो दूसरे के दुःख को समझ सकता है और न उसके अस्तित्व को स्वीकार कर पाता है। कदाचित् यही कारण है कि आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम ग्रन्थ का प्रारम्भ शस्त्रपरीक्षा से करके हमें अस्तित्व बोध कराया गया है। यह अस्तित्व बोध अहिंसात्मक आचार-विचार की आस्था का आधारस्तम्भ है। अहिंसा के चार मुख्य आधार स्तम्भ हैं- आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। प्राकृतिक पर्यावरण और नैतिक पर्यावरण, दोनों की सुरक्षा के लिए इन चारों मापदण्डों का पालन करना आवश्यक है। इनकी पृष्ठभूमि में अहिंसा-दर्शन प्रहरी के रूप में खड़ा रहता है।

दिशा-दृष्टि से दूर पड़ा हुआ व्यक्ति “जीवो जीवस्य भोजनम्” मानकर स्वयं की रक्षा के लिए दूसरे का अमानुषिक वध और शोषण करता है, प्रशंसा, सम्मान, पूजा, जन्म-मरण मोचन तथा दुःख प्रतिकार करने के लिए वह अज्ञानतापूर्वक शस्त्र उठाता है और सबसे पहले पृथ्वी और पेड़-पौधों पर प्रहार करता है जो मूक हैं, प्रत्यक्षः कुछ कर नहीं सकते, परन्तु ये मात्र मूक हैं इसलिए चेतनाशून्य हैं और निरर्थक हैं यह सोचना वस्तुतः हमारी मृत्यु का कारण बन सकता है जिसे महावीर ने कहा- “एस खलुगंधे, एस खलुमोहे, एस खलुनिरए।” (आचारांग, 1.25) यह मोह हमारी प्रमाद अवस्था का प्रतीक है। इसी से हम पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा करते हैं। इन स्थावर जीवों में भी प्राणों का स्पन्दन है, उनकी चेतना सतत् मूर्च्छित और बाहर से लुप्त भले ही लग रही हो पर उन्हें हमारे अच्छे-बुरे भावों का ज्ञान हो जाता है और शस्त्रच्छेदन होने पर कष्टानुभूति भी होती है। भगवतीसूत्र (19.35) में तो यह कहा गया है कि पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर वृद्ध पुरुष से कहीं अधिक अनिष्टतर वेदना का अनुभव करता है। इतिहास यह बताता है कि जो पृथ्वी के गर्भ में करोड़ों साल पहले जीवों का रूप छिपा रहता है जो फासिलस (जीवाश्म) के रूप में हमें प्राप्त हो सकता है, पृथ्वी के निरर्थक खोदने से उनके टूटने की सम्भावना हो सकती है और साथ ही पृथ्वी के भीतर रहने वाले जीवों के वध की भी जिम्मेदारी हमारे सिर पर आ जाती है।

जैनधर्म के अनुसार पृथ्वी सजीव है, शशरीरी है- सति प्राणा पुढो सिया (आचा0 1.16)। सर्वार्थसिद्धि (2.13) में पृथ्वी के चार भेद बताए गए हैं- पृथिवी, पृथिवीकायिक, पृथिवीकाय और पृथिवीजीव। मूलाचार (गाथा 206-09) में पृथ्वी के 36 भेद बताये गये हैं- मिट्टी, बालू, पत्थर, लोहा, तांबा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, मणि आदि। इन सभी के बारे में जैन साहित्य में काफी सामग्री भरी पड़ी हुई है। जैन धर्म में पृथ्वीकाय की ही हिंसा वर्जित है। यदि व्यक्ति इस हिंसा से विरत होता है तो खनन आदि के कारण जो पर्यावरण प्रदूषण या आपत्तियों की सम्भावना बढ़ती है वह कम हो सकती है।

इसी तरह जलकायिक जीव होते हैं जिनकी हिंसा न करने के लिए हमें सावधान किया गया है। क्षेत्रीय आधार पर जल में कीड़े उत्पन्न होने को तो सभी ने स्वीकार किया है पर जल के रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों की स्वीकृति जैन दर्शन में ही दिखाई देती है इसलिए उत्सेचन (कुंए से जल निकालना), गालन (जल छानना), धोवन (जल से उपकरण आदि धोना) जैसी क्रियाओं को जलकाय के शस्त्र के रूप में निर्दिष्ट किया है। ऐसी हिंसा व्यक्ति के अहित के लिए होती है, अबोध के लिए होती है (ताए से अहि, तं से अबोहीए)। इसीलिए जैनधर्म में जल गालन और प्रासुक जलसेवन को बहुत महत्व दिया गया है। साथ ही यह भी निर्देश दिया गया है कि जो पानी जहाँ से ले आये, उसकी बिलछावनी धीरे से उसी में छोड़नी चाहिए ताकि उसके जीव मर न सकें। “पानी पीजे छानकर, गुरु कीजे जानकर” कहावत स्वच्छ पानी के उपयोग का आग्रह करती है।

प्रज्ञापना (11.21-28) में जल कायिक जीवों के दो भेद निर्दिष्ट हैं- सूक्ष्म और सूक्ष्मेतर। ओस, हिम, ओले, शुद्धोदक, शीतोदक, क्षारोदक आदि बादर जल कायिक जीव

हैं जो पृथ्वी के नीचे कुएं, नदी, सरोवर आदि में रहते हैं इन जल प्रकारों में औषधियाँ भी मिली रहती हैं जो स्वास्थ्य के लिए हितकर होती हैं। यदि जल प्रदूषित हुआ तो उसका प्रभाव व्यक्ति के स्वास्थ्य पर निश्चित ही पड़ने वाला है। अनर्थदण्ड नामक व्रतपालन के माध्यम से साधक जल को प्रदूषित होने से तथा उसे अनावश्यक बहाने से बचाता है। जल को प्रदूषित करने में कागज, स्टील, शक्कर, वनस्पति, घी, रसायन, उद्योग, चमड़ा-शोधन, शराब-उद्योग, वस्त्र रंगाई उद्योग, मांस-उद्योग बहुत सहायक सिद्ध हो रहे हैं। सैण्टिक टैंकों और मलवाहक पाइपों के रिसाव से भी जल प्रदूषित हो रहा है।

यह दूषित जल निश्चित ही हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। पोलियो और पोलियो जैसे वायरस रोग, दस्त, हैजा, टायफाइड जैसे बैक्टीरिया रोग और सूक्ष्म जीवों व कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग दूषित-प्रदूषित जल के उपयोग से ही होते हैं। एक बूंद पानी में हजारों जीव रहते हैं, यह वैज्ञानिक तथ्य है। आज के प्रदूषित पर्यावरण में पाताली कूपों, जलाशयों, नदियों और समुद्रों का जल भी उपयोगिता की दृष्टि से प्रश्नचिन्ह खड़ा कर देता है। खाड़ी-युद्ध के संदर्भ में समुद्र में गिराये हुए तेल से समुद्री जीवों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया और उसमें रहने वाले खाद्य शैवाल (काई), लवण आदि उपयोगी पदार्थ दूषित हो गये। अनेक जल संयंत्रों के खराब होने का भी अंदेशा हो गया।

अग्नि में भी जीव होते हैं जिन्हें हम मिट्टी, जल आदि डालकर प्रमादवश नष्ट कर डालते हैं। वायु कायिक जीव भी इसी तरह हमसे सुरक्षा की आशा करते हैं। आज का वायु प्रदूषण हमें उस ओर अप्रमत्त और अहिंसक रहने का संकेत करता है।

जैनागम में यह स्थापना की गई है कि अग्नि से ऊष्म शक्ति उत्पन्न होती है। प्रकाश शक्ति है, इसलिए उसका अस्तित्व है। मिट्टी, बालू आदि से उसे बुझाया जा सकता है। यह बुझाना भी हिंसा है (आव. नि., गाथा 123-24, तिलोय. प. 5-278-80), अंगार, विद्युत, मणि, ज्वाला आदि में अग्निकायिक जीव रहते हैं। इसी तरह वायुकायिक जीव भी एकेन्द्रिय है। पंखा, ताड़पत्र, चामर आदि से इन जीवों का विनाश होता है (आव. नि., गाथा 170)। हम जानते हैं, जैन श्रमणाचार के अनुसार वह न बिजली जलाता है और न पंखा आदि चलाता है (आव. 1.7.49, मूलाचार, 5.15, दस. 4.7)। मौनव्रत, ईर्या समिति आदि के माध्यम से वायुमण्डल को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है।

वायु प्रदूषण के साथ-साथ भूमि प्रदूषण भी आजकल बढ़ता जा रहा है। कृषि में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाइयों के प्रयोग का दुष्प्रभाव भूमि पर पैदा होने वाले खाद्यान्न, फल-सब्जियों आदि पर पड़ता है और हमारे भाजन को दूषित कर देती हैं। कीटनाशक डी.डी.टी. और बी.एच.सी. की विषाक्तता तो अब और भी बढ़ गयी है। जिन कीटनाशकों पर इनका प्रयोग किया जाता है, उनमें अब निरोधक क्षमता बढ़ गयी है इससे इन दवाओं का असर उनपर कम हो गया है। पर हमारे खान-पान में इन दवाओं से प्रभावित जो वनस्पतियां आ रही हैं उनसे कैंसर, मस्तिष्क, रुधिर व हृदय रोगों में वृद्धि हुई है।

वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा आज सर्वाधिक बढ़ी समस्या बनी हुई है। पेड़-पौधों को काटकर आज हम उन्हें व्यर्थ ही जलाते चले जा रहे हैं। वे मूक-बधिर

अवश्य दिखाई देते हैं पर उन्हें हम आप जैसी कष्टानुभूति होती है। पेड़-पौधे जनमते, बढ़ते और म्लान होते हैं। भगवतीसूत्र के सातवें-आठवें शतक में स्पष्ट कहा गया है कि वनस्पतिकायिक जीव भी हम जैसे ही श्वासोच्छ्वास लेते हैं। शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म आदि सभी ऋतुओं में कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से भी यह कथन सत्य सिद्ध हुआ है। प्रज्ञापना (22 से 25 सूत्र) में वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार बताये गये हैं और उन्हीं का विस्तार अंगविज्ञान आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों के उद्धरणों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि तुलसी जैसे सभी हरे पौधे और हरी घास, बांस आदि वनस्पतियाँ हमारे जीवन के निर्माण की दिशा में बहुविध उपयोगी हैं।

जैन धर्म वनस्पति में भी चेतना के अस्तित्व को प्रारम्भ से ही स्वीकार करता है जिससे आधुनिक विज्ञान भी सहमत है। पौधे अपनी हिंसा से भयभीत हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। इसलिए जैनधर्म वनस्पति-जगत को काटने में हिंसा मानता है और उससे विरत रहने का निर्देश देता है (आचारांग, 1.5.82, मूला. 5-23, दस 4-8)। उसके अनुसार वृक्ष, कन्दमूल आदि प्रत्येक वनस्पति हैं। पृथक्-पृथक् शरीर वाले हैं और मूली, अदरक आदि को साधारण वनस्पति माना जाता है जिनमें अनन्त जीव रहते हैं। पर्यावरण को सुरक्षित रखने की दृष्टि से जैनधर्म में इन सभी की हिंसा चर्जित मानी गयी है।

स्वचालित वाहनों और औद्योगिक संसाधनों से निकलने वाली गैस से वायुमंडल तेजी से दूषित हो रहा है। विषाक्त धुआँ और गैस मनुष्य के फेफड़ों में जाकर स्वास्थ्य पर कुठाराघात करती है। खांसी, दमा, सिलिकोसिस, तपैदिक, कैंसर आदि बीमारियाँ वायु-प्रदूषण से ही हो रही हैं।

मोटर-वाहनों, कल-कारखानों आदि का तीव्र शोर पर्यावरण को अपनी कम्पनों द्वारा दूषित करता है जिससे मनुष्य की श्रवण-शक्ति प्रभावित होती है और वे बहरे हो जाते हैं। इतना ही नहीं, शोर से उनका हृदय और मस्तिष्क भी कमजोर हो जाता है। शोर से अनिद्रा, सिरदर्द, तनाव, चिड़चिड़ाहट और झुंझलाहट भी बढ़ती है। इससे रोगियों को स्वस्थ होने में देर लगती है और कभी-कभी तो अधिक शोर रोगियों की मृत्यु का भी कारण बन जाता है। सन् 1905 में नोबिल पुरस्कार विजेता राबर्ट कोच ने ध्वनि-प्रदूषण के बारे में कहा था कि एक दिन ऐसा आएगा, जब मनुष्य को स्वास्थ्य के सबसे बड़े शत्रु के रूप में निर्दयी 'शोर' से संघर्ष करना पड़ेगा। यह ध्वनि-प्रदूषण उद्योग-धंधों, मशीनों, परिवहन और मनोरंजन के साधनों द्वारा उत्पन्न हो रहा है, जिसे संयमित किया जाना परमावश्यक है। क्योंकि इसका दुष्प्रभाव पेड़-पौधों, जीव-जंतुओं और प्राकृतिक संपदा पर पड़ता है।

रेडियोधर्मी प्रदूषण भी हो रहा है- अणु, परमाणु, हाइड्रोजन बमों आदि के परीक्षणों से। यह प्रदूषण वनस्पति को बुरी तरह प्रभावित करता है। भूमि की उर्वराशक्ति को नष्ट करता है और सारे वातावरण को विषेला बना देता है। हीरोशिमा और नागासाकी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हमारे सामने एक उदाहरण और है भोपाल गैस कांड का, जिसके

रिसाव से हजारों लोग प्रभावित हुए। ऊर्जा का यदि सही उपयोग किया जाए तो वह मानव के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। कोयला, तेल, गैस, बिजली, भाप, पेट्रोल, डीजल आदि ऊर्जा के ही रूप हैं जिनसे हम अपनी सुविधाएं जुटाते हैं। इसका ताप पर्यावरण संतुलन को बिगाड़ता है। रेडियोधर्मी विकिरण से त्वचा जल जाती है। यह न तो दिखाई देती है, न इसमें कोई गंध होती है पर शरीर पर घातक प्रभाव छोड़ती है।

इसी तरह ओजोन गैस हमारे लिए एक जीवनदायिनी शक्ति है जो रासायनिक क्रियाओं के द्वारा सूर्य की पराबैंगनी किरणों के विषैले विकिरण को पृथ्वी तक आने ही नहीं देती। परन्तु पिछले दो दशकों में हमने आधुनिकता की अंधी दौड़ में क्लोरो-फ्लोरो कार्बन का प्रचुर उत्पादन किया है, जिससे ओजोन की छतरी में विशाल छिद्र हो चुके हैं और उसका क्षरण प्रारंभ हो गया है। फलतः प्रदूषण के कारण भयानक रोगों को हमने आमंत्रित कर लिया है। इसके बावजूद आवश्यकता को ध्यान में रखकर अमेरिका ने क्लोरो-फ्लोरो कार्बन का उत्पादन पुनः प्रारंभ कर दिया है। 1 जनवरी 1987 में कनाडा के मॉन्ट्रियल शहर में 48 देशों ने एक समझौता किया जिसमें उसके उत्पादन पर नियंत्रण का प्रस्ताव था। भारत सहित चीन, ब्राजील, दक्षिण कोरिया आदि राष्ट्रों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर करने से अपनी असमर्थता व्यक्त की, इस तर्क के साथ कि उक्त घातक रसायनों के लिए अमेरिका ही सर्वाधिक उत्तरदायी है।

नायाधम्मकहाओ में भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहां प्रकृति का सुंदर वर्णन किया गया है। (1.44; 1.82, 2.10, 2.15, 5.3) और उससे आकर्षक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और रूपकों के लिए सामग्री एकत्रित की गयी है। भवनों में भित्ति-चित्रों पर प्राकृतिक चित्रों को उकेरकर उन्हें जनजीवन से समरस किया गया है। (1.16-18, 1.30, 1.44)। वनस्पति और पशुजगत की उपयोगिता दिखाई गयी है। (1.34, 2.24), दावानल से पर्यावरण प्रदूषण (1.166-183), चारित्रिक पतन से सामाजिक प्रदूषण (2-9), समुद्र प्रदूषण (नवम् अध्याय) और मल्लि प्रतिमा में कचड़े के भर देने से उत्पन्न दुर्गन्धजन्य प्रदूषण की ओर संकेत मिलते हैं (आठवां अध्याय)। मंडप को लीप-पोत कर साफ रखना तथा नगर की गलियों को तरह-तरह के पुष्पों से सजाकर उन्हें सुगन्धित द्रव्यों से पर्यावरण प्रदूषण बचाना भी यहाँ उल्लेखनीय है।

पर्यावरण प्रदूषण की इस भीषणता का अंदाज हमारे जैनाचार्यों को बहुत पहले ही हो गया था। जैनागमों में जिस भयंकर अकाल, बाढ़, आदि का वर्णन मिलता है वह स्वयं इस तथ्य का प्रतीक है कि जैन धर्म की अहिंसा की पृष्ठभूमि में पर्यावरण सुरक्षा का भाव रहा होगा और पर्यावरण के प्रदूषण की भयावहता का ध्यान रखकर वनस्पति जगत ही नहीं बल्कि समूचे पृथ्वी, अप, तेज, वायु में रहने वाले जीवों के अस्तित्व की पैरवी की और उनकी हिंसा से लोगों को विरत किया। आज के वैज्ञानिक अनुसंधान ने भी इस तथ्य पर अपनी सील लगा दी कि स्थावर जीवों में भी भावग्रहण की शक्ति है।

स्थावर जीवों के समान त्रसकायिक जीवों की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए उनकी भी जीवन रक्षा का उपदेश जैनागमों में मिलता है। पशु-पक्षी समुदाय की सुरक्षा

में जैन धर्म की निश्चित ही अहम् भूमिका रही है। इतना ही नहीं, वनस्पति जगत और पशु-पक्षी जगत से तीर्थकरों के चिन्हों को ग्रहण किया जाना भी उनके प्रति मां की ममता को प्रस्थापित करना है और 72 कलाओं और 14 या 16 स्वप्नों में प्रकृति जगत को स्थान देना उसके महत्व को स्वीकार करना है।

यह एक विश्वजनीन सत्य है कि पदार्थ में रूपान्तरण प्रक्रिया चलती रहती है। “सद्द्रव्य-लक्षणम्” और “उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य-युक्तम् सत्” सिद्धान्त सृष्टि संचालन का प्रधान तत्व है। रूपान्तरण के माध्यम से प्रकृति में सन्तुलन बना रहता है। पदार्थ पारस्परिक सहयोग से अपनी जिन्दगी के लिए ऊर्जा एकत्रित करते हैं और कर्म सिद्धान्त के आधार पर जीवन के सुख-दुःख के साधन संजो लेते हैं। प्राकृतिक सम्पदा को असुरक्षित कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर हम अपने सुख-दुःख की अनुभूति में यथार्थता नहीं ला सकते। अप्राकृतिक जो भी होगा, वह मुखौटा होगा, मिलावट के अलावा और कुछ नहीं प्रकृति का हर तत्व कहीं न कहीं उपयोगी होता है। यदि उसे उसके स्थान पर हटाया गया तो उसका प्रतिफल बुरा भी हो सकता है। ब्रिटेन में मूंगफली की फसल अच्छी बनाने के लिए मक्खी की सृष्टि को नष्ट किया गया फिर भी मूंगफली का उत्पादन नहीं हुआ, क्योंकि वे मक्खियाँ, मूंगफली के पुष्पों के मादा और नर में युग्मन करती थीं। सर्प आदि अन्य कीड़े-मकोड़ों आदि के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उनके विनाश से हमें प्राकृतिक शक्तियों से लोहा लेना पड़ता है जिनसे वे निपटा करते थे।

आर्थिक विकास एवं तीव्र औद्योगीकरण दोनों परस्पर पर्यायार्थक शब्द हो गये हैं। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक विकास भी आवश्यक हो गया और फलतः उद्योगों की स्थापना होने लगी। उद्योग के क्षेत्र में दो घटक होते हैं- उत्पादक और उपभोक्ता। दोनों की वृत्तियों से पर्यावरण प्रभावित होता है। उपभोक्ता क्रमशः आरामदायक और विलासिता संबंधी वस्तुओं को खरीदता है और उत्पादक उसका शोषण कर अधिक से अधिक पैसा अर्जित करने का प्रयत्न करता है। फलतः दोनों के बीच विघात वातावरण बन जाता है और अनैतिकता घर कर जाती है।

जनसंख्या वृद्धि का यह भी एक कुपरिणाम हुआ है कि वनों को काटकर खेती की जाने लगी है। उत्पादन बढ़ाने वाले आधुनिक रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग होने लगा है। जिससे नैसर्गिक उत्पादन क्षमता में हास हुआ है और पर्यावरण पर कुप्रभाव पड़ा है। आबादी जैसे-जैसे बढ़ेगी, वस्त्र, आवास और अन्न की समस्या भी उत्पन्न होगी इस समस्या को समाधानित करने के लिए एक ओर वनों को और भी काटना शुरू हो जाएगा तो दूसरी ओर जीव-हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

पर्यावरण का सम्बन्ध मात्र प्राकृतिक सन्तुलन में ही नहीं है बल्कि आध्यात्मिक और सामाजिक वातावरण को परिशुद्ध और पवित्र बनाए रखने के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है। इस कथन की सिद्धि के लिए हम जैन-बौद्ध-वैदिक आदि परम्पराओं में मान्य उन चैत्य और बोधि वृक्षों का उल्लेख कर सकते हैं जिनके नीचे बैठकर तीर्थकरों, बुद्धों और ऋषि-महर्षियों ने ज्ञान प्राप्त किया था। इतना ही नहीं, जैन तीर्थकरों के चिन्हों

को भी पर्यावरण से जोड़ा जा सकता है। संक्षेप में यदि कहा जाए तो धर्म ही पर्यावरण का रक्षक है और नैतिकता उसका द्वारपाल।

आज हमारे देश में चारों ओर अनैतिकता और भ्रष्टाचार सुरसा की भाँति बढ़ रहा है। चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो या शिक्षा का, धर्म का क्षेत्र हो या व्यापार का, सभी के सिर पर पैसा कमाने का भूत सवार है माध्यम चाहे कौसा भी हो इससे हमारे सारे सामाजिक सम्बन्ध तहस-नहस हो गए हैं। भ्रातृत्व भाव और प्रतिवेशी संस्कृति किनारा काट रही है, आहार का प्रकार मटमैला हो रहा है, शाकाहार के स्थान पर अप्राकृतिक खान-पान स्थान ले रहा है। शाकाहार अहिंसा और करुणा पर टिकी एक जीवनशैली है, सात्विक मानवीय और सुविकसित जीवन दर्शन है। उसमें लूटखसोट, मारकाट और क्रूरता नहीं होती। आर्थिक दृष्टि से भी शाकाहार एवं पर्यावरण का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। शाकाहार मानव को प्रकृति से जोड़ता है इसलिए प्रकृति की रक्षा भी इससे जुड़ी हुई है उसमें मानव शरीर के लिए सभी तरह के पोषक पदार्थ विद्यमान हैं जबकि मांसाहार रोगों का घर है। शाकाहार से पशु-पक्षियों की कई जातियाँ लुप्त होने से भी बच जायेंगी और प्रदूषण की समस्या का भी समाधान हो जायेगा।

मिलावट ने व्यापारिक क्षेत्र को सड़ी रबर की तरह दुर्गन्धित कर दिया है। अर्थलिप्सा की पृष्ठभूमि में बर्बरता बढ़ रही है। प्रसाधनों की दौड़ में मानवता कूच कर रही है। इन सभी भौतिक वासनाओं की पूर्ति में हम अपनी आध्यात्मिक संस्कृति को भूल बैठे हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं के बीच समन्वय खत्म हो गया है। हमारी धार्मिक क्रियायें मात्र बाह्य आचरण का प्रतीक बन गयी हैं। परिवार का आदर्श जीवन समाप्त हो गया है, ऐसी विकट परिस्थिति में अहिंसा के माध्यम से पर्यावरण को सन्तुलित बनाए रखने की साधना को पुनरुज्जीवित करना नितान्त आवश्यक हो गया है।

ऐसी विकट परिस्थिति में पर्यावरण का यह बाह्य और आंतरिक असंतुलन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में जबरदस्त क्रांति लाएगा। यह क्रांति अहिंसक हो तो निश्चित ही उपादेय होगी, पर यह असंतुलन और बढ़ता गया तो खूनी क्रांति होना भी असंभव नहीं। जहाँ एक-दूसरे समाज के बीच लंबी-चौड़ी खाई हो गयी हो, एक तरफ प्रासाद और दूसरी तरफ झोपड़ियाँ हों, एक ओर कुपच और दूसरी ओर भूख से मृत्यु हो तो ऐसा समाज बिना वर्ग-संघर्ष के कहां रह सकता है? सामाजिक समता की प्रस्थापना और वर्ग संघर्ष की व्यथा-कथा को दूर करने के लिए अहिंसक समाज की रचना और पर्यावरण की विशुद्धि एक अपरिहार्य साधन है। यही मानव धर्म है, यही हमारी नैतिकता है-

एवं खु जाणिणो सारं जं हिंसइ ण कंचणं।

अहिंसा समयं चैव एयावंतं वियाणियाः॥ - सूत्रकृतांग, 1.1.4.10

जैसा हमने पीछे संकेत किया है, पर्यावरण का प्रथमतः दृश्य संबंध हमारे शरीर से है। जैनाचार्यों ने उपासक दशांग, भगवतीसूत्र आदि ग्रंथों में ऐसे बीसों रोगों की चर्चा की है जो पर्यावरण के असंतुलित हो जाने से हमारे शरीर को घेर लेते हैं और मृत्यु की ओर हमें ढकेल देते हैं। 'अंगविज्जा' में तो इन सारे संदर्भों की एक लंबी लिस्ट मिल जाती

है। संधिवात, साइटिका, लकवा, मिर्गी, सुजाक, पायरिया, क्षय, कैंसर, ब्लडप्रेसर आदि जैसे रोगों का मुख्य कारण कब्ज है और गलत आहार-विहार तथा श्रम का अभाव है। शुद्ध शाकाहार प्राकृतिक आहार है और संयमित-नियमित भोजन रोगों के निदान, उत्तर स्वास्थ्य और मन की खुशहाली का मूल कारण है। मांसाहार एक ओर जहाँ मानसिक क्रियाओं को असंतुलित करता है वहीं वह शरीर को भी बुरी तरह प्रभावित करता है। इसीलिए धर्माचार्यों ने अहिंसा की परिधि में शाकाहार पर बहुत जोर दिया है और उन पदार्थों के सेवन का निषेध किया है जो किसी भी दृष्टि से हिंसाजन्य है। इसलिए प्राकृतिक चिकित्सा अहिंसात्मक साधना के लिए सर्वाधिक अनुकूल पैथी है। बारह व्रतों का परिपालन, त्रिगुणियों से विषय-वासनाओं का संयमन और पंच समितियों से व्यावहारिक हिंसा से बचने के उपायों का निदर्शन पर्यावरण की सुरक्षा तथा व्यक्ति के आध्यात्मिक संकल्प की पूर्ति का सक्षम उदाहरण हैं।

जैन श्रावकाचार के अनुसार न्यायपूर्वक अर्जन, माता-पितादि की सेवा, धर्मश्रवण, जितेन्द्रियता आदि गुण श्रावक में होना चाहिए। पाक्षिक श्रावक आठ मूल गुणों का पालन करता है- पञ्चाणुव्रत तथा मद्य, मांस, मधु त्याग, इन अष्ट मूलगुणों का पालन करता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान करने वाला सभी व्यसनों से निर्मुक्त होता है। इसी सन्दर्भ में जैन साहित्य में अहिंसा और सदाचार का काफी विस्तार से वर्णन मिलता है। यज्ञ, बलि आदि जैसी कर्मकाण्डीय क्रियाओं और त्रिमूढताओं से दूर रहने का भी आह्वान किया गया है। इसी तरह नैष्ठिक श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करता है और नैतिक प्रदूषण से बचता/बचाता है। एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य को स्वास्थ्य के सबसे बुरे शत्रु के रूप में निर्दयी 'शोर' से संघर्ष करना पड़ेगा। यह ध्वनि प्रदूषण उद्योग-धन्धों, मशीनों, परिवहन और मनोरंजन के साधनों द्वारा उत्पन्न हो रहा है जिसे संयमित किया जा सकता है परिमाण व्रत का पालन करने से।

पर्यावरण का यह विकट आन्तरिक और बाह्य असन्तुलन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जबर्दस्त क्रान्ति लायेगा। यह क्रान्ति अहिंसक हो तो निश्चित ही उपादेय होगी पर यह असन्तुलन और बढ़ता गया तो खूनी क्रान्ति होना भी असंभव नहीं है। जहाँ एक दूसरे समाज के बीच लम्बी-चौड़ी खाई हो गयी हो, एक तरफ प्रासाद और दूसरी तरफ झोपड़ियाँ हो, एक ओर कुपच और दूसरी ओर भूख से मृत्यु हो तो ऐसा समाज बिना वर्ग संघर्ष के कहाँ रह सकता है? सामाजिक समता की प्रस्थापना और वर्ग संघर्ष की व्यथा-कथा को दूर करने के लिए अहिंसक समाज की रचना और पर्यावरण की विशुद्धि एक अपरिहार्य साधन है।

उपर्युक्त पर्यावरण प्रदूषण के भयानक दुष्परिणामों से बचने के लिए यह अब आवश्यक है कि हम प्रदूषण-स्रोतों को नियंत्रित करें, वनीकरण और वृक्षारोपण संबंधी चिपको आंदोलन जैसे कल्याणकारी कदमों को स्वीकार करें। औद्योगिक विकास को रोकें बिना प्रदूषित पदार्थों को कुशलतापूर्वक निस्तारित करने की योजना बनायें, रासायनिक

अवशिष्ट पदार्थों को जल में न बहाकर उनको खाद आदि जैसे उपयोगी पदार्थ में परिवर्तित करें, जनसंख्या को नियंत्रित करें, आध्यात्मिकता का वातावरण बनायें, शाकाहार का प्रचार-प्रसार करें और पर्यावरण प्रदूषण की समस्याओं को दूर करने के लिए जनचेतना को जाग्रत करें और लोगों को समझायें कि शुद्ध पर्यावरण ही हमारा जीवन है। उस पर छाने वाले हर संकट की काली बदली हमारे लिए खतरे की घंटी है। अतः हम प्रकृति से अपने महनीय जीवन की कीमत पर खिलवाड़ न करें और पर्यावरण को स्वस्थ और संतुलित बनाये रखने के लिए निःस्वार्थ होकर विकास के हर कदम को तर्क और विवेक की कसौटी पर भलीभाँति कसें ताकि भावी गीढ़ी पर्यावरण प्रदूषण के शिकार होने से बच सकें।

बीसवीं शताब्दी में कदाचित् सर्वप्रथम 1948 में फोलब्लानगर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहयोग से प्रकृति के संरक्षण के उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित हुआ। इसके बाद तो लगभग सभी देशों में तरह-तरह के कानून बनते रहे। हमारे भारत में भी ऐसे कानूनों की कमी नहीं रही भले ही हमने उनका उपयोग न किया हो। कानूनों के बन जाने के बाद भी जंगल आदि कटते रहे और उद्योग खड़े होते रहे जिससे पर्यावरण सन्तुलन विघटित हो गया।

संयुक्त राष्ट्र ने पर्यावरण कार्यक्रम की पहल पर 1992 में रियोडि जेनेरियो में हुए 'पृथ्वी सम्मेलन' में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के लिए एक वैश्विक प्रोटोकाल बनाने पर जोर दिया था जो 1997 में क्योटो (जापान) में तैयार किया गया। इससे प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन तथा प्रदूषणकारी तकनीकों के बढ़ते इस्तेमाल से धरती का जो तापमान बढ़ रहा है उससे उत्पन्न होने वाले खतरों से बचा जा सकता है। 16 फरवरी 2004 से 141 देशों ने इसे लागू करने का फैसला किया है। इसके अन्तर्गत पर्यावरण सुरक्षित तकनीकों का इस्तेमाल करना होगा और परम्परागत स्रोतों पर निर्भरता घटाना होगी। इस फैसले से प्रकृति और वायुमण्डल के लिए हानिकारक गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के साझा प्रयास किये जायेंगे।

इस तरह के कानूनों से आम आदमी में यह सोच विकसित होती है कि पर्यावरण हमारी रक्षा करता है तो हम भी उसकी रक्षा करें।

जैन धर्म प्रकृतिवादी है। उसका समूचा अध्यात्मवाद प्रकृति की सुरक्षा पर आधारित है। इसलिए जैनाचार्यों ने प्राकृतिक संसाधनों को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए प्रारम्भ से ही जनता को आगाह किया है और उसे धर्म से जोड़ दिया है। अनर्थदण्ड को व्रत का रूप देकर पर्यावरण को ही सुरक्षित रखने का विधान दिखाई देता है। इस प्रकार समग्र रूप में पर्यावरण पर यदि चिंतन किया जाए तो समूचा जैन धर्म हमारे सभी प्रकार के पर्यावरणों को अहिंसात्मक ढंग से संतुलित करने का विधान प्रस्तुत करता है और वैयक्तिक तथा सामाजिक शांति के निर्माण के स्थायित्व की दृष्टि से नये आयामों पर विचार करने को विवश करता है।

पर्यावरण संतुलन और जैन सिद्धान्त

डॉ. पी.सी. जैन*

पर्यावरण शब्द का अर्थ है परितः आवृत्यते अर्थात् जो हमें चारों ओर से धारण किये हुए हैं। मानव के चारों ओर जो प्रकृति का आवरण है, वह आवरण कहलाता है। मानव को चारों ओर से घेरने वाला आवरण जिसमें जीव और अजीव सभी सम्मिलित हैं वह पर्यावरण है। पर्यावरण ऐसा घेरा है जिसमें हम हैं और जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है। पर्यावरण वह आवरण है जो मनुष्य को शामिल करते हुए बाह्य भौतिक-जैविक परिस्थितियों से जुड़ा है।

वेबस्टर शब्दकोश के अनुसार “पर्यावरण से आशय उन परिव्याप्त रहने वाली परिस्थितियों, प्रभावों एवं शक्तियों से है, जो सामाजिक व सांस्कृतिक दशाओं के समूह द्वारा व्यक्ति व समुदाय के जीवन को प्रभावित करती है।”

प्रसिद्ध मानवशास्त्री हरस्कोविट्ज के अनुसार “पर्यावरण संपूर्ण बाह्य परिस्थितियों और उनका जीवधारियों पर पड़ने वाला प्रभाव है, जो जैन जगत के जीवन-चक्र का नियामक है।”²

मैकमिलन शब्दकोश के अनुसार “The natural world, including the land, water, air, plants and animals, especially considered as something that is affected by human activity”³

प्रो. साविन्द्र सिंह के अनुसार “पर्यावरण एक अभिमान्य समष्टि है तथा भौतिक, जैविक, सांस्कृतिक तत्वों वाले पारस्परिक क्रियाशील तंत्रों से इसकी रचना होती है। ये तंत्र अलग-अलग तथा सामूहिक रूप से विभिन्न रूपों में आपस में सम्बद्ध होते हैं। भौतिक तत्व (स्थल, जलीय भाग, जलवायु, मृदा, शैल, खनिज) मानव निवास क्षेत्र की परिवर्तनशील विशेषताएँ उस तंत्र के सुअवसरों और प्रतिबंधक अनास्थितियों को निश्चित करते हैं। सांस्कृतिक तत्व (आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक) मुख्य रूप से मानव निर्मित होते हैं तथा सांस्कृतिक पर्यावरण की रचना करते हैं।”⁴

पर्यावरण का निर्माण मानव और उसको घेरे हुए भौतिक एवं अभौतिक तत्वों के संयोजन से होता है। पर्यावरण में मानव, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीट-पतंगे, वायरस, जीवाणु, मिट्टी, हवा, पानी, खनिज आदि सभी जैव और अजैव तत्व सम्मिलित हैं।

* निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

पर्यावरण में सभी तत्वों का एक निश्चित अनुपात है जिससे पर्यावरण सुचारु रूप से कार्य करता है, वह निश्चित अनुपात ही पर्यावरण संतुलन है।

पर्यावरण में प्रकृति प्रदत्त एक विशेष क्षमता है कि विभिन्न तत्वों के अनुपात में जो थोड़ी बहुत कमी-बढ़ोत्तरी होती है उसे वह स्वयं संतुलित कर लेता है जिससे पर्यावरण संतुलन बना रहता है, परन्तु जब यह अनुपात एक सीमा से अधिक बिगड़ जाता है तो विकास उत्पन्न होता है। यहीं से पर्यावरण असंतुलन उत्पन्न होता है।

पर्यावरण में ऐसे तत्वों का बढ़ना जिनसे जैन-अजैव घटकों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है और उनका संतुलन दुष्प्रभावित होता है, पर्यावरण प्रदूषण कहलाता है।

पर्यावरण प्रदूषण आधुनिक युग की विकरालतम समस्याओं में से एक है। दुनिया भर के वैज्ञानिक बुद्धिजीवी, विद्वान, विचारक, दार्शनिक, पत्रकार, समाजसेवी, राजनेता इस समस्या के प्रति मानव समुदाय का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। समाचार पत्र-पत्रिकाओं, टी. वी., रेडियो, गोष्ठियों, सभाओं, रैलियों, प्रदर्शनों में पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को आज प्रमुखता दी जा रही है। पर्यावरण प्रदूषण ने मानव अस्तित्व को संकट में डाल दिया है। इसलिए यह समस्या हमारे गहन विचार और अन्वेषण का विषय है। पर्यावरण प्रदूषण को निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है-

1. वायु प्रदूषण, 2. जल प्रदूषण, 3. मृदा प्रदूषण, 4. ध्वनि प्रदूषण।

1. वायु प्रदूषण- “वायु के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में ऐसा कोई अवांछित परिवर्तन जिसके द्वारा स्वयं मनुष्य का जीवन या अन्य जीवों की जीवन परिस्थितियों, हमारे औद्योगिक प्रक्रमों तथा हमारी सांस्कृतिक सम्पत्ति को हानि पहुंचे या हमारी प्राकृतिक सम्पदा नष्ट हो या उसे हानि पहुंचे, वायु प्रदूषण कहलाता है।”⁵

कारण- वायु प्रदूषण प्राकृतिक और मानवकृत कारणों से होता है। प्रकृति में ज्वालामुखी, आंधी, तूफान, दावानल, कोहरा, मार्श गैस आदि के द्वारा प्रदूषण होता है जिसके उपचार में प्रकृति स्वयं समर्थ है। वायु प्रदूषण का महत्वपूर्ण कारण मानवीय गतिविधियाँ हैं। मानव की भोगवृत्ति ने उसे भौतिक संसाधन बढ़ाने को मजबूर किया है। घरेलू कार्यों, औद्योगिक प्रक्रमों, वाहनों, खनन, शस्त्र निर्माण-प्रयोग आदि वायु प्रदूषण के मुख्य कारण हैं। इन विविध कार्यों से कार्बन-डाई-ऑक्साइड, कार्बन-मोनो-ऑक्साइड, सल्फर-डाई-ऑक्साइड, नाइट्रो आक्साइड, धूलकण, सूक्ष्म कार्बन कण, सीसा, नाभिकीय अवपात होता है। वायु प्रदूषण का मानव, सूक्ष्मजीवों, जीव-जंतुओं, पेड़-पौधों, कीट-पतंगों पर गहरा दुष्प्रभाव पड़ता है।

वायु प्रदूषण का फल- वायु प्रदूषण के कारण मानव में ब्रोंकाइटिस, दमा, फेफड़े का कैंसर, आँख दुखना, सिर चकराना, जुकाम-खाँसी आदि विभिन्न रोग हो जाते हैं। वायु प्रदूषण का जीव-जंतुओं के स्वास्थ्य पर भी गहरा दुष्प्रभाव पड़ता है, कुछ जीव तो मर ही जाते हैं। पेड़-पौधों में पत्तियों का पीला पड़ना फूलों का कुम्हलाना, मुरझाना आदि वायु प्रदूषण के कारण होता है।

2. जल प्रदूषण- जल के भौतिक, रासायनिक व जैविक संघटन में अवांछित बाह्य पदार्थों के मिलने से हानिकारक परिवर्तन जल प्रदूषण कहलाता है।

कारण- जल प्रदूषण के प्राकृतिक और मानवीय कारण हैं। भू-क्षरण, खनिज पदार्थ, गैस, जीवांश पदार्थ, पशु-पक्षियों के मल-मूत्र, फूल-पत्तियों आदि प्राकृतिक कारणों से होने वाला प्रदूषण बहुत कम और धीमा होता है। प्रकृति में इसे सहन करने की क्षमता होती है और वह इसका संतुलन कर लेती है।

जल प्रदूषण मुख्यतः मानवीय गतिविधियों से होता है। इन गतिविधियों में औद्योगिक बहिःस्राव, घरेलू अपशिष्ट, वाहित मल, कृषि बहिःस्राव आदि शामिल हैं। चर्म उद्योग, उर्वरक, कागज, तेल-शोधन, रासायनिक उद्योग, छपाई, रंगाई आदि विभिन्न उद्योगों से निकलने वाला अवशिष्ट विषैला जल बिना उपचार किये ही नदियों, सागरों, तालाबों में डाल दिया जाता है। घरेलू गतिविधियों, नहाने-धोने, भोजन, साफ-सफाई आदि से निकलने वाला दूषित जल नालियों के द्वारा सतही जल और भूगर्भीय जल को प्रदूषित करता है। घरेलू शौचालयों का मल-मूत्र जल स्रोतों को दूषित करता है। नाले-नदियों में पशु-पक्षियों के मरने से भी जल प्रदूषण होता है। कृषि में प्रयुक्त रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक जल को प्रदूषित करते हैं।

जल प्रदूषण का फल- प्रदूषित जल के उपभोग से मानव में हैजा, टाइफाइड, पेचिशा, हेपेटाइटिस, पीलिया, अमीबीडीसेट्टी एस्केरिस आदि बीमारियाँ हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त दूषित जल के बाह्य प्रयोग से ही विभिन्न चर्मरोग हो जाते हैं, फ्लोराइड युक्त जल के प्रयोग से दाँतों को नुकसान पहुँचता है। प्रदूषित जल से जलीय जीव-जंतुओं का जीवनचक्र गहरे रूप से प्रभावित होता है। उनकी वृद्धि, प्रजनन, चयापचय आदि क्रियाएँ प्रभावित होती हैं, बहुत से जलीय जीव मर जाते हैं। थलचर और नभचर भी दूषित जल का प्रयोग करने से गंभीर बीमारियों के शिकार हो जाते हैं, यहाँ तक कि मर भी जाते हैं। पादपों की वृद्धि के लिए दूषित जल हानिकारक होता है। जलीय वनस्पति दूषित जल से नष्ट हो जाती है।

3. मृदा प्रदूषण- भूमि के भौतिक, रासायनिक व जैविक गुणों में ऐसा कोई अवांछित परिवर्तन जिसका दुष्प्रभाव मनुष्य व अन्य जीवों पर पड़े या जिससे भूमि की प्राकृतिक गुणवत्ता व उपयोगिता नष्ट हो, भू-प्रदूषण कहलाता है।

कारण- भू-प्रदूषण घरेलू, नगरपालिका, औद्योगिक अपशिष्टों, कीटनाशकों, रसायनों, भू-उत्खनन, मृदा-क्षरण आदि से होता है। घरेलू अपशिष्टों में कूड़ा-करकट, फल-सब्जी के शेष पदार्थ, लोहे प्लास्टिक के डिब्बे-डिब्बियाँ, बोतलें, पैकिंग बॉक्स, काँच या चीनी के टूटे बर्तन, प्लास्टिक की थैलियाँ, रबड़ के बने उपकरण आदि शामिल हैं। नगरपालिका अपशिष्ट में बाजार, सब्जी-मण्डी, अस्पताल, नालियों, वधशालाओं, गटरों, पशु-शालाओं का कचरा शामिल है। उद्योगों में प्रयुक्त कच्चा माल अधजला कार्बन, विविध रसायन, बचे हुए हानिकारक पदार्थ आदि भू-प्रदूषण के कारण हैं। कृषि क्रिया में प्रयुक्त कीटनाशक और रसायन भू-प्रदूषण के महत्वपूर्ण कारक हैं। भू-प्रदूषण का अन्य कारण खनन क्रिया

है जिससे भूमि का उपजाऊपन नष्ट होता है, मृदा-अपरदन बढ़ता है।

मृदा प्रदूषण का फल- भू-प्रदूषण के कारण अपशिष्ट अन्य प्रदूषण यथा- जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण को बढ़ाते हैं। प्रदूषित स्थलों से पनपने वाले कीटाणु, जीवाणु, मानव स्वास्थ्य को गहरी क्षति पहुंचाते हैं। मल-जल से सिंचित भूमि में उत्पन्न होने वाली वनस्पति-सब्जियाँ प्रदूषित होती हैं, जिनके उपयोग से मानव, पशु-पक्षियों का स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है। भू-क्षरण से रेगिस्तान का विस्तार हो रहा है, उपजाऊ कृषि भूमि घट रही है जिससे मानव के लिए पर्याप्त उपयोगी फसलें उत्पन्न करने में कठिनाई हो रही है। रसायनों और कीटनाशकों के प्रयोग से प्रदूषित मृदा में उत्पन्न होने वाली फल-सब्जियाँ अपने साथ विषैले तत्व मानव शरीर तक ले जाती हैं जो मानव स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है।

4. ध्वनि प्रदूषण- व्यक्ति की श्रवण क्षमताओं से अधिक ध्वनि "ध्वनि प्रदूषण" है। एक सीमा से उच्च हो जाने पर सामान्य ध्वनि ही ध्वनि प्रदूषण का रूप ले लेती है। **कारण-** ध्वनि प्रदूषण का मुख्य कारण नगरीकरण और आधुनिक यांत्रिकीकरण है। वाहनों का विस्तार, औद्योगिक इकाईयों का चलन, ध्वनि प्रसारक यंत्रों का बढ़ना, पटाखे, घरेलू उपकरण आदि ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख कारक हैं।

ध्वनि प्रदूषण का फल- ध्वनि प्रदूषण से मानव, जीव-जंतुओं के स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ता है। ध्वनि प्रदूषण से मनुष्य में तनाव, स्नावीय रोग, श्रवण क्षमता का कम होना, हृदय रोग आदि हो जाते हैं। इससे मनुष्य असमय ही वृद्ध हो जाता है।

पर्यावरण पर आसन्न संकट मानव अस्तित्व पर आसन्न संकट ही है। इस संकट के परिणामस्वरूप मानव के माथे पर चिंता की रेखाएँ गहरी गई हैं। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इसका समाधान क्या हो। इन्हीं समाधानों को खोजते हुए हमारी दृष्टि विभिन्न विकल्पों की ओर उठती है। यदि इन विकल्पों में हमारी परम्पराएँ और धर्म दर्शन के सार्वभौमिक सिद्धान्त शामिल हों तो कितना अच्छा हो। जैन-धर्म दर्शन ऐसा ही एक विकल्प है जो अपनी दृष्टि विशेष से पर्यावरण चिंतन के प्रति जागरूक है।

यद्यपि जैनागम में पर्यावरण शब्द नहीं मिलता परन्तु जितनी सूक्ष्म विवेचना पर्यावरण के तत्वों के अन्य नाम से जैन साहित्य में की गई है, वह अन्यत्र बहुत ही कम मिलती है।

जैन धर्म के अनुसार व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष वह अवस्था है जब समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है^०। मोक्ष अवस्था की प्राप्ति के लिए जैन दर्शन में एक विशेष मार्ग दिया गया है, वह मार्ग है सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र का^१ यह मार्ग ही मानव को अपनी जीवन शैली में परिवर्तन करने को प्रेरित करता है और मानव जीवन में आने वाली विविध समस्याओं का समाधान बताता है।

पर्यावरण संतुलन बिगड़ने का मूल कारण देखने पर ज्ञात होता है कि इसके मूल में मानव की भोगवृत्ति है। प्राकृतिक जीवन शैली छोड़कर मनुष्य जब कृत्रिम शैली अपनाता है और उसी के अनुरूप भौतिक संसाधनों का उपयोग करता है तो उसके परिणामस्वरूप संतुलन डगमगाने लगता है और प्रदूषण उत्पन्न होता है।

पर्यावरण में जीव और अजीव घटक आते हैं, जैन दर्शन में आकाश का वह स्थान जहाँ तक जीव और अजीव हैं वह लोक कहा गया है। इस प्रकार लोक और पर्यावरण समानार्थक शब्द हुए। इस लोक में षड्द्रव्य पाये जाते हैं, वे हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीवों में स्थावर (पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय) व त्रस (द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय व सैनी-असैनी-पंचेन्द्रिय) सम्मिलित हैं।

जैन दर्शन के अनुसार पर्यावरण प्रदूषण के जो कारण नजर आते हैं, वे मुख्यतः प्रदूषण के बाह्य कारण हैं, इनके उपचार से समस्या का पूर्णतः समाधान संभव नहीं है। प्रदूषण का मूल कारण मानव की असीम भोग-विलास, वासना की लालसा है, जिसके वशीभूत होकर मानव प्रकृति के अन्य घटकों को अपने स्वार्थ के लिए निर्दयतापूर्वक प्रयुक्त करता है। जबतक मानव की इस भोगवृत्ति का सीमांकन नहीं होगा तबतक भले ही विविध प्रकार से नये-नये पर्यावरण मित्रयंत्र बना लें, पर्यावरण प्रदूषण नहीं रुकेगा।

मानव की कामवासना ने प्रकृति पर आवश्यकता से अधिक जनसंख्या का भार डाल दिया है। यहीं से शुरू होता है पर्यावरण प्रदूषण का चक्र। इस अत्यधिक जनसंख्या के भरण-पोषण, निर्वहन के लिए अधिक साधनों की आवश्यकता होती है और फिर यंत्रीकरण की ओर मुंह देखना पड़ता है। फलस्वरूप प्रदूषण बढ़ता है और यह प्रदूषण उस जनसंख्या के लिए घातक सिद्ध होगा जिसके भरण-पोषण का दायित्व उनके कंधे पर था।

जैन धर्म का पंचम व्रत ब्रह्मचर्य इस समस्या के समाधान के लिए बेहद उपयोगी है। ब्रह्मचारी व्यक्ति अपनी ऊर्जा को संयोजित कर बहुत कम बाह्य पदार्थों पर निर्भर रहकर ही कार्य चला सकता है। जनसंख्या भी कम बनी रहेगी। प्रकृति प्रदत्त वस्तुएँ मानव के लिए पर्याप्त रहेंगी। मानव सुखी व सरल जीवन जी सकेगा।

पर्यावरण प्रदूषण की जड़ जहाँ भोग-विलासिता है वहाँ यह भी प्रवृत्ति है कि मानव प्रकृति के अन्य समस्त जैन-अजैव तत्वों से श्रेष्ठ है। अतः मानव को उनके उपभोग और उनपर नियंत्रण-निर्देशन का पूर्ण अधिकार है।

जैनधर्म में जीव रक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। स्थावर और त्रस सभी जीवों को अपना जीवन व्यतीत करने का पूर्ण अधिकार है। महावीर स्वामी की देशना है “णो हीनो णो अतिरिक्ते”। इस जगत् में कोई भी हीन और कोई भी उच्चतर नहीं है। सभी जीव बराबर हैं। जब यह भाव विस्तरित होता है, तभी सभी जीवों के प्रति संवेदना उत्पन्न होती है और ऐसी संवेदना मानव को सर्वजीव हिताय की प्रेरणा देती है।

वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण आदि सभी में मानव की यह भावना कार्य करती है कि ये सभी अजैव घटक हैं और इनका उपयोग मानव हेतु ही है। इस धारणा के परिणामस्वरूप मानव इनका अधिकाधिक शोषण करता है और इन तत्वों को प्रदूषित करने में लगा रहता है। जैन दर्शन की यह मूलभूत मान्यता है कि वायु, जल और मृदा में केवल जीव ही नहीं रहते वरन् ये भी वायुकायिक, जलकायिक और पृथ्वीकायिक जीव हैं। सभी स्थावरों में कायबल, प्राण, आयुप्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण व स्पर्शन प्राण तथा

आहार, भय, मैथुन व परिग्रह चारों संज्ञाएँ होती हैं, उनका जन्म होता है, उन्हें भय महसूस होता है, उनके प्रति हिंसा होती है, वे संश्लेषित होते हैं।

वायु प्रदूषण निवारण- वायु प्रदूषण कारण दहन, औद्योगिक निर्माण, खनन, उद्योग और अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग है। श्रावकाचार संस्कृति इनके परिणाम पर नियंत्रण कर वायु प्रदूषण की रोकथाम में सहायक हो सकती है। वायु में पाये जाने वाले जीवों की रक्षा ही नहीं वरन् जब स्वयं वायुकायिक जीव की रक्षा ध्येय हो तो मानव की संवेदनशीलता स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है।

जैनधर्म का जीव और पुद्गल का भेद इसमें सहायता करता है। मानव अपने सभी प्रयास शरीर को सुख-आराम पहुंचाने के लिए करता है, परन्तु जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह शरीर पुद्गलों द्वारा निर्मित है तथा आत्मा अनन्त चतुष्टयधारी है तो शरीर के सुख-साधन विस्तार के प्रति उसका मोह घटता है। वह भोग-साधनों को घटाने में लग जाता है। इन भोग साधनों में कमी लाकर वह वायु प्रदूषण के कारकों में स्वतः कमी ला देता है।

मानव की संवेदना जाग्रत होगी यदि वह सभी जीवों को अपने समान समझेगा। जब उसकी समझ में आ जायेगा कि सभी जीवों का अस्तित्व सभी जीवों के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। किसी एक जीव द्वारा अन्य जीवों पर अधिकार और नियंत्रण जमाने का प्रयास समस्त सृष्टि चक्र के लिए घातक हो सकता है। जब वह यह समझेगा कि परस्पर उपकार करना ही जीव का स्वभाव है (परस्परोपग्रहो जीवानाम्)⁸ तभी उसकी चेतना में अन्य स्थावर जीवों के नाशक यंत्रों के उपयोग के प्रति मोह घटेगा।

जल प्रदूषण निवारण- जल में न केवल जीव रहते हैं, वरन् जल स्वयं एक जीव है। इस उच्च संवेदना का विकास केवल तभी हो सकता है जब यह ज्ञान हो कि प्रदूषण न केवल जीवों वरन् स्वयं जलकायिक जीव का नाशक है।

जैन धर्म में अहिंसागुणव्रत में कहा है- "श्रावक के स्थूल हिंसा का त्याग, स्थूल असत्य का त्याग, स्थूल चोरी का त्याग, स्थूल अब्रह्मचर्य का त्याग व स्थूल परिग्रह का त्याग होता है। इनसे एक देश या आंशिक विरति ही पंचाणुव्रत है। स्थूल हिंसा से तात्पर्य उस हिंसा से है जिसे लोक में सर्वसाधारण भी हिंसा के नाम से पुकारते हैं। वह इन संकल्पों से त्रस जीवों की द्रव्य व भाव हिंसा नहीं करता और प्रयोजनवश की जाने वाली स्थावर हिंसा से भी डरता है। यथासंभव उनकी भी यत्ना (बचाने का यत्न) करता है।"⁹

श्रावक को त्रस हिंसा का पूर्ण परित्याग और स्थावर हिंसा से बचने का प्रयास करने का निर्देश है। जल प्रदूषण जो त्रस और स्थावर हिंसा का कारक है, उसमें श्रावक कैसे शामिल हो सकता है? श्रावक द्वारा वे सभी प्रयास किये जाते हैं जो जल प्रदूषण को रोके और जल प्रदूषण के कारणों का मूलोच्छेद करे।

जैनागम द्वारा जल संबंधी आचरण के जो निर्देश दिए गए हैं वे स्पष्ट करते हैं कि जल प्रदूषण के प्रति जैन धर्म में कितनी चेतना है-

"अहिंसा पालन के लिए पानी उसी समय छानकर काम लाना चाहिए। नहाना, कपड़ा धोना, प्रक्षालन आदि क्रियाएँ उसी समय छाने पानी से करनी चाहिए बिना छाने पानी

से स्नानादि करने से अहिंसाव्रत खण्डित होता है।”¹⁰

यह भी कहा गया है- “जो अगालित (बिना छाना) जल पीता है, वह जिन आज्ञा को नहीं जानता, जो अगालित जल पीता है वह धीवरों का प्रधान है।”¹¹

गालित जल के नियम के कारण श्रावक कभी नदी में स्नान नहीं करते, न वस्त्र धोते हैं, न ही मल-जल का नदी-नालों में प्रवाह करते हैं।

जल प्रदूषण के कारणों में औद्योगिक बहिःस्राव एक बड़ा कारण है। श्रावकाचार में वे आजीविका कर्म ही वर्जित हैं जिनसे प्रत्यक्षतः त्रस हिंसा होती है या जो त्रस हिंसा का कारण बनते हैं। सागारधर्माभृत में कहा गया है- “श्रावक को प्राणी पीड़ाजनक व्यापार नहीं करने चाहिए। इस खर कर्म निषेध व्रत को भोगोपभोग त्यागव्रत कहते हैं। वन जीविका, अग्नि जीविका, अनोजीविका (वाहन निर्माण), स्फोट कर्म, तेल निकालना या ईखादिका रस निकालने जैसी जीविका, जानवरों के छेदन-भेदन से संबंधित जीविका, हिंसक प्राणियों के पालन-पोषण व दास-दासियों को पोषित कर उन्हें बेचने या भाड़े पर देने जैसी जीविका (असती पोषण), सरशोष यानि जलाशयों से पानी निकालकर दूसरी जगह ले जाना यानि तालाब सुखाना जैसी जीविकाएँ, अच्छी खेती के लिए घास या वन जलाने जैसी जीविकाएँ निषिद्ध हैं। विष से सम्बंधित व्यापार, लाख, दाँत व हड्डी, केश व अक्ष वाणिज्य, मदिरा, मधु, चर्बी, मक्खन आदिका व्यापार भी निषिद्ध है। यह सूची संकेत भर है, क्योंकि पाप रूपी आजीविकाओं की गिनती नहीं की जा सकती।”¹²

श्रावक के द्वादश व्रतों में से एक प्रमादचर्या में बिना प्रयोजन भूमि खोदना, वायु रोकना, अग्नि बुझाना, पानी सींचना या बिना जरूरत पानी बिखेरना, बैठे-बैठे पानी में पत्थर फेंकना, बचे हुए जल को जमीन पर डालना, घास खींचना, फूल-पत्ते तोड़ना आदि के त्याग की बात है। इस प्रकार यहाँ निष्प्रयोजन जल प्रदूषण पर रोक लगती है। अनर्थदण्ड व्रत के पापोदेश में नदी में स्नान करने के लिए प्रेरित करना भी त्याज्य है।

भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत द्वारा व्यक्ति के जलभोग की सीमा निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार निर्धारित मात्रा से अधिक जल के प्रदूषण से व्यक्ति बच सकता है।

नदियों, जलाशयों के जल में विविध पदार्थों को डालने का निषेध करते हुए कहा है- “जो जीव मरे हुए जीवों के कल्याण के लिए तिल पिण्डादि जल में डालकर तर्पण करते हैं उनमें अनेक जीवों (स्थावर व त्रस) की हिंसा करते हैं। यह कितनी मूर्खता की बात है।”¹³

पंच समितियों में से एक उत्सर्ग समिति में मल त्याग संबंधी संयम की बात कही गई है। जल प्रदूषण का एक बड़ा कारण नदी-नालों में मल-जल प्रवाह है। इसकी रोक जैनागम द्वारा निम्न प्रकार की गई है- “एकान्त स्थान, अचित्त स्थान, सजीव पृथ्वी, सजीव जल, सजीव वनस्पति अर्थात् घास, अंकुरित फसलादि, दूर छिपा हुआ बिल और छेदरहित (वे त्रस जीवों के घर हैं) चौड़ा स्थान और जिसकी निंदा व विरोध न हो ऐसे स्थान पर मूत्र व विष्ठा आदि देहमल का क्षेपण करना चाहिए।”¹⁴ यद्यपि यह आचार श्रमणों के लिए निर्दिष्ट है परन्तु यदि श्रावक भी इस आचार का अर्थ यह निकाले कि मानव, जीव-जंतुओं

की गंदगी जल स्रोतों में नहीं जानी चाहिए तो प्रदूषण का एक बड़ा कारण समाप्त हो जाता है।

जल प्रदूषण का एक अन्य कारण कृषि में रासायनिक खाद व कीटनाशकों का प्रयोग है। जैन दृष्टिकोण रासायनिक खाद व कीटनाशकों के प्रयोग का विरोध करता है। श्रावकाचार अहिंसा धर्म को प्राधान्य देता है जिसके कारण कीटनाशकों का प्रयोग स्वतः ही बंद करना आवश्यक हो जाता है। रासायनिक खाद का उपयोग उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाता है परन्तु जब उपभोग पर ही संयम लागू हो जाता है तो उत्पाद को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती, साथ ही रासायनिक खाद के स्थान पर जैविक खाद का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि उपलों-कण्डों से जैनाचारानुसार भोजन बनाना वर्जित है। इस प्रकार बचे गोबर का उपयोग खाद के रूप में हो सकता है। प्रदूषण का यह स्रोत भी समाप्त हो जाता है।

भू-प्रदूषण निवारण- जैनागम मृदा को पृथ्वीकायिक जीव मानता है। इसका भी जन्म-मरण होता है। पृथ्वी पर जीव आश्रित होते हैं परन्तु पृथ्वी भी खुद एक जीव है। पृथ्वी प्राणों से युक्त एक औदारिक, कार्मण व तैजस शरीर से युक्त होती है।¹⁵ पृथ्वी में प्राणियों की तरह दीनता, अनाथता, अशरणता आदि भी है, अतः पृथ्वी जीव है।¹⁶ पृथ्वीकायिक द्वारा जो शरीर छोड़ा जाता है, वह पृथ्वीकाय है।¹⁷ जो जीव पृथ्वीकायिक नामकर्म के उदय से पृथ्वी नामक शरीर को प्राप्त करते हैं वे पृथ्वीकायिक हैं।¹⁸

मृदा प्रदूषण का कारण घरेलू, नगरपालिका, औद्योगिक अपशिष्ट, कीटनाशक व रसायनों का प्रयोग व भू-उत्खनन है।

विविध अपशिष्टों को भोगोपभोग परिमाण व्रत द्वारा सीमित किया जा सकता है। मानव यदि अपनी आवश्यकताओं पर संयम रखे तो उसे उत्पादन की कम आवश्यकता होगी, स्वाभाविक रूप से जब कम उत्पादन होगा तो अवशिष्ट भी कम होंगे।

खनन-उद्योग भी भू-प्रदूषण का महत्वपूर्ण कारण है। खनन कच्चे माल की प्राप्ति हेतु किया जाता है। जब आवश्यकता कम होगी तो उत्पादों की मांग कम होगी और परिणामस्वरूप कच्चे माल की मांग भी स्वतः कम हो जाएगी।

मानवीय सोच में यह भी परिवर्तन लाना है कि पृथ्वीकाय भी जीव है ताकि संवेदना का स्तर उच्च हो और पृथ्वी को प्रदूषित करने वाली क्रियाओं को रोकने के प्रति उत्सुक हो सके।

जैन दृष्टिकोण कीटनाशकों और रासायनिक खाद का विरोध करता है क्योंकि इनका प्रयोग उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाता है परन्तु जब हम उपभोग की कमी कर देंगे तो उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं होगी। रासायनिक खाद के स्थान पर जैविक खाद का प्रयोग प्रशस्त माना गया है। आधुनिक युग में जैविक खाद्यान्न की मांग तेजी से बढ़ी है जो बिना कीटनाशकों और जैविक खाद द्वारा तैयार किया जाता है। इस प्रकार आधुनिकता भी जैन सिद्धान्तों का समर्थन करती है। कीटनाशकों और रासायनिक खाद के प्रयोग से जमीन की उर्वरता नष्ट हो जाती है और वह जमीन बंजर हो जाती है, ऐसा आधुनिक वैज्ञानिक शोधों

द्वारा सिद्ध हुआ है। यह जैन सिद्धान्त के समर्थन में एक और प्रमाण है।

ध्वनि प्रदूषण निवारण- ध्वनि प्रदूषण यंत्रीकरण, नगरीकरण और दिखावे की देन है। जैन संस्कृति भोगवाद की विरोधी है। भोग के कारण ही आधुनिक यंत्रों का विस्तार हुआ है। नगरों की विस्तृत दूरियाँ वाहन प्रयोग का प्रमुख कारण है। व्यक्तिवादी अहम् इतना अधिक है कि व्यक्ति सार्वजनिक वाहनों के स्थान पर निजी वाहनों का प्रयोग करना अपनी शान समझता है। इसके दोहरे दुष्परिणाम निकलते हैं- एक तो ध्वनि प्रदूषण-दूसरा वायु प्रदूषण। दिखावा इतना अधिक बढ़ गया है कि रैलियों, जलसों, सभाओं, गोष्ठियों, भजन-कीर्तन संध्याओं, विवाह, जन्मदिन समारोहों आदि में लाउडस्पीकरों का प्रयोग होता है जो ध्वनि प्रदूषण का बहुत बड़ा कारण है। जैन दृष्टिकोण इसका विरोध करता है।

जैनागम शब्द संयम पर बल देता है। इसके अनुसार शब्द पुद्गल है। जीव शब्द पुद्गल का भोग-उपभोग करता है। इसके इस भोग-उपभोग पर नियंत्रण आवश्यक है। जैनधर्म वचनगुक्ति, भाषासमिति की बात करता है, जो शब्द नियंत्रण पर बल देते हैं।

श्रावकाचार का पालक मौन का महत्व समझता है, वह उस स्थान पर रहना पसंद करता है, जहाँ ध्वनि प्रदूषण कम हो, साथ ही वह स्वयं ऐसे कार्य करता है, जो ध्वनि प्रदूषण पर नियंत्रण रखते हैं।

संदर्भ

1. वेबस्टर शब्दकोश।
2. हरस्कोविट्स एम. जे. मैन एण्ड हिज वर्क्स, यू.एस.ए., 1956.
3. *Macmilan Dictionary.*
4. पर्यावरण भूगोल : प्रो. साविन्द्र सिंह।
5. पर्यावरण व प्रदूषण : डॉ. रघुवंशी, पृष्ठ 65.
6. तत्त्वार्थसूत्र, 10/2.
7. वही, 1/1.
8. वही, 5/21.
9. सागारधर्मावृत, 4/6-7.
10. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, 12/105-106.
11. धर्मोपदेशपोयूष पर्व श्रावकाचार, 4/90.
12. सागर धर्मावृत, 5/22-24.
13. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, 3/118.
14. मूल आराधना, 15/321-323.
15. व्याख्याप्रज्ञप्ति, पृष्ठ 105.
16. प्रश्नव्याकरण सूत्र, पृष्ठ 20.
17. तत्त्वार्थवार्तिक, 2/13.
18. षट्खण्डागम, 2/18-19.

जैनदर्शन में जीव और पर्यावरण चेतना

रामनरेश 'नीरज' जैन*

सम्पूर्ण विश्व के मानचित्र पर उभरने वाले प्रमुख मुद्दों में पर्यावरण संरक्षण की चिन्ता एक प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। विकास के नाम पर मनुष्य जिस तीव्र गति से दिन-रात प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर रहा है उससे प्रतीत होता है कि वह दिन दूर नहीं जब यही विकास मानव जाति के विनाश का एक बहुत बड़ा कारण बन जायेगा।

हमारा ईकोसिस्टम जब असन्तुलित होता है और हमारे जीवन की अस्मिता पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा हो जाता है तब विकास के सारे तर्क थोथे नजर आते हैं। यह बात सही है कि विकास को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, किन्तु जब विकास की प्रक्रिया मानवजाति के अस्तित्व को ही चुनौती देने लग जाये तब हमें उस पर पुनः चिन्तन करने की आवश्यकता हो जाती है।

प्राचीन शास्त्र हमें बताते हैं कि आज से हजारों वर्ष पहले भारत देश अधिक समृद्ध व समुन्नत था। यही कारण है कि भारत की प्राचीन ज्ञानराशि हमें आज भी संतुलित और स्वस्थ जीवनशैली की प्रविधि सिखाती है। आज नये सिरे से इस तथ्य की खोज की जा रही है कि प्राचीन शास्त्रों में ऐसे कौन-से सूत्र सन्निहित हैं जिनकी नई व्याख्या करके हम आज विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन स्थापित कर सकें।

दूर-दृष्टि सम्पन्न जैनाचार्यों ने सहस्राब्दियों पूर्व ही पर्यावरण प्रदूषण की विकट समस्या का अनुभव किया था और उसके लिए मानव को अहिंसा एवं संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया था तथा इसके लिये उनके द्वारा प्रतिपादित उस निरतिचार श्रावक व्रताचरण को प्रशस्त मार्ग बतलाया, जिसका मूलाधार अहिंसा है।

जैनाचार्यों ने भले ही पर्यावरण शब्द का प्रयोग न किया हो, तथापि श्रावकादि के आचार वर्णन के माध्यम से तद्विषयक विधि-निषेधों पर उसका विचार अवश्य किया है। पर्यावरण शब्द का अर्थ आस-पास या पास-पड़ोस से होता है। पर्यावरण शब्द परि+आवरण का मिश्रण है जो हमें अर्थात् मानव, समाज, संस्कृति आदि को चारों ओर से आवृत किये हो वह पर्यावरण है।

* शोध छात्र, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाहन्।

सी.सी. पार्क महोदय पर्यावरण को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि- मनुष्य एक विशेष स्थान पर, विशेष समय पर जिन सम्पूर्ण परिस्थितियों से घिरा हुआ है उसे पर्यावरण कहते हैं।

पर्यावरण का विभाजन दो घटकों से किया जाता है (1) भौतिक पर्यावरण (2) जैविक पर्यावरण।

(1) भौतिक पर्यावरण- भौतिक पर्यावरण के अन्तर्गत ठोस पदार्थ, तरल पदार्थ, गैस पदार्थ को समाहित किया जाता है। ठोस पदार्थ में पृथ्वी, भूमि को सम्मिलित किया जाता है। इसी प्रकार तरल पदार्थ में जल/पानी को तथा गैस पदार्थ में वायु मण्डल को समाहित किया जाता है।

(2) जैविक पर्यावरण- जैविक पर्यावरण में पेड़-पौधों, जानवरों तथा मनुष्यों को सम्मिलित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के चारों ओर जो भी पदार्थ या वस्तुयें दिखाई दे रहीं हैं वे सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में पर्यावरण से सम्बंधित हैं। इन्हीं वस्तुओं-पदार्थों में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मनुष्य, पेड़-पौधों) जैन दर्शन आत्मा-चैतन्य-जीवत्व की सत्ता स्वीकार करता है।

भारतीय धर्म-दर्शन की परम्परा पर दृष्टिपात् करें तो हम पाते हैं कि सभी दर्शनों ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, पशुपक्षियों इत्यादि को किसी न किसी रूप में स्थान दिया है तथा उन सभी में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। परन्तु जैन दर्शन आत्मा की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म व्याख्या करता है, जो कि वर्तमान समय में पर्यावरण शास्त्रियों के लिए चिन्तनीय विषय होगा।

जैन दर्शन में जीव की अवधारणा

जैनदर्शन में जीव का स्वरूप बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि 'उपयोगो लक्षणम्' अर्थात् उपयोगवान् हो जो जानता, देखता और सुख-दुःख का अनुभव करता हो, जिसमें ज्ञान पाया जाता है वह जीव है। जीव के दो भेद हैं²।

1. मुक्त जीव 2. संसारी जीव

1. मुक्त जीव- मुक्त जीव, वे जीव हैं जो मोक्ष जा चुके हैं अर्थात् जो निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं।

2. संसारी जीव- संसारी जीव जो संसार में संसरण कर रहे हैं। दुःख से निवृत्त होने का तथा सुखी होने का प्रयत्न कर रहे हैं। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं³।

(क) त्रस जीव (ख) स्थावर जीव

(क) त्रस जीव- दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के जीव त्रस जीव कहलाते हैं⁴।

(a) दो इन्द्रिय जीव- जिसमें स्पर्शन और रसना इन्द्रिय पाई जाये, वह दो इन्द्रिय जीव है। जैसे लट, केंचुआ आदि।

(b) **तीन इन्द्रिय जीव**- जिसमें स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पाई जाये, वह तीन इन्द्रिय जीव है। जैसे चींटी, चिंटा आदि।

(c) **चार इन्द्रिय जीव**- जिसमें स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ पाई जाये, वह चार इन्द्रिय जीव है। जैसे भौरा, तितली, मक्खी, मधुमक्खी आदि।

(d) **पाँच इन्द्रिय जीव**- जिसमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण से पाँच इन्द्रियाँ पाई जाये, वह पाँच इन्द्रिय जीव है जैसे- मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली आदि।

(ख) **स्थावर जीव**- जिनके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय पाई जाती है वे स्थावर जीव हैं। स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं⁹।

(1) पृथ्वीकायिक जीव (2) जलकायिक जीव (3) अग्निकायिक जीव (4) वायुकायिक जीव (5) वनस्पतिकायिक जीव।

(1) **पृथ्वीकायिक जीव**- पृथ्वी ही जिसका शरीर हो, वह पृथ्वीकायिक जीव है। आर्ष में पृथ्वी के चार भेद किये गये हैं¹⁰। पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वी जीव।

मूलाचार ग्रंथ में कहा है कि⁷ मिट्टी आदि पृथ्वी, बालू, तिकोन, चौकोन, रूप शर्करा, गोल पत्थर, बड़ा पत्थर, लोहा, ताँबा, जस्ता, सीसा, सोना, चाँदी, हीरा, मूँगा, मणि इत्यादि पृथ्वी के भेद हैं। इनमें जीवों को जानकर सजीव का त्याग करें।

डॉ. कामता प्रसाद जैन⁸ लिखते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिकों की खोजों के अनुसार एक वर्ग जीवित भूमि में लगभग पच्चास लाख कीटाणु रहते हैं जो पृथ्वी की उर्वरा शक्ति तथा उसके खनिजों की वृद्धि में सहायक होते हैं। वह सभी के पोषण के लिए धन, धान्य तथा स्वास्थ्य प्रदान करने वाले फल, वृक्ष, लताएँ, पेड़-पौधे, जड़ी-बूटियाँ इत्यादि उत्पन्न करते हैं।

(2) **जलकायिक जीव**- जल ही जिसका शरीर होता है, वह जलकायिक जीव है। जलकायिक जीवों के जीवनदायी उपकारों के कारण ही अन्य सभी जीव सुरक्षित हैं क्योंकि जल के बिना न तो कोई जीवित रह सकता है और न ही सुरक्षित रह सकता है। परन्तु वर्तमान समाज जल में जीवत्व को स्वीकार ही कहाँ करती है। जैनदर्शन तो जल की एक बूंद में अनंत जीवों की सत्ता स्वीकार करता है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी जल में जीवों की सत्ता स्वीकार की है और पानी की एक बूंद में 36450 सूक्ष्म जीव देखे हैं⁹।

(3) **अग्निकायिक जीव**- अग्नि ही जिसका शरीर हो, वह अग्निकायिक जीव है। वैदिक सूक्तों में अग्नि को देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। अग्नि त्रिकोण व लाल होती है¹⁰। वट्टकेर स्वामी मूलाचार में कहते हैं कि¹¹ धुआँ रहित, अंगार, ज्वाला, दीपक की लौ, कंडा की आग, वज्राग्नि, बिजली आदि से उत्पन्न शुद्ध अग्नि, ये तैजसकायिक जीव हैं। इनमें जीवों को जानकर हिंसा का त्याग करें।

(4) **वायुकायिक जीव**- वायु ही जिसका शरीर है वह वायुकायिक जीव है। वायु को भी वैदिक सूक्तों में देवता का स्थान दिया गया है। वट्टकेर स्वामी कहते हैं कि¹² ऊँचा

जाने वाला पवन, बहुत रज सहित, गूँजने वाला पवन, पृथ्वी में लगता हुआ चक्कर वाला पवन, गूँजता हुआ चलने वाला पवन, महापवन, घनोदधि वात, घनवात, तनुवात ये वायुकायिक जीव हैं। महाकवि पद्म ने¹³ वायुकायिक जीवों की आयु 3000 वर्ष बतलाई है।

(5) वनस्पतिकायिक जीव- वनस्पति ही जिसका शरीर है वह वनस्पतिकायिक जीव है। वनस्पति अर्थात् पेड़-पौधों को वैदिक ग्रंथों में पूज्यता प्रदान की गई है। यथा- तुलसी, पीपल, बरगद आदि। वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं-

(a) प्रत्येक वनस्पति

(b) साधारण वनस्पति

(a) प्रत्येक वनस्पति- धवला पुस्तक¹⁴ में कहा है कि जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येक वनस्पति जीव कहते हैं जैसे- खैर आदि वनस्पति। इसी प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका में कहा है कि¹⁵ जितने प्रत्येक शरीर हैं, उतने वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव जानने चाहिए, क्योंकि एक-एक शरीर में एक-एक जीव होने का नियम है।

इसी विषय को आधारीकृत्य करके जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में लिखते हैं कि¹⁶ नित्य खाने-पीने के काम में आने वाली वनस्पति प्रत्येक शरीर है, वह दो प्रकार की है- अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित। एक ही जीव के शरीर वाली वनस्पति अप्रतिष्ठित और असंख्यात साधारण शरीरों के समवाय से निष्पन्न वनस्पति सप्रतिष्ठित है। वहाँ एक-एक वनस्पति के स्कन्ध में एक रस होकर असंख्यात साधारण शरीर होते हैं और एक-एक उस साधारण शरीर में अनन्तानन्त निगोद जीव वास करते हैं। सूक्ष्म साधारण शरीर या निगोद जीव लोक में सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं। परन्तु सूक्ष्म होने से हमारे ज्ञान के विषय नहीं हैं। सन्तरा, आम आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं और आलू, गाजर, मूली आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं।

(b) साधारण वनस्पति- धवला पुस्तक में कहा है कि जिस कर्म के उदय से एक ही शरीर वाले होकर अनन्त जीव रहते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है। आ. पूज्यपाद कहते हैं कि¹⁷ बहुत आत्माओं के उपभोग का हेतु रूप से साधारण शरीर जिसके निमित्त से होता है वह साधारण शरीर नामकर्म है।

अकलंक देव कहते हैं कि¹⁸ साधारण जीवों के साधारण आहारादि चार पर्याप्तियाँ और साधारण ही जन्म-मरण श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं जब एक के आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनपान पर्याप्त होती है, उसी समय अनन्त जीवों के जन्म-मरण हो जाते हैं। जिस समय एक जीव श्वासोच्छ्वास लेता या आहार करता या अग्नि आदि से उपहत होता है उसी समय शेष अनन्त जीवों के भी श्वासोच्छ्वास, आहार और उपघात आदि होते हैं।

इस प्रकार पेड़-पौधे वनस्पति आदि में जीव है और यह जीवत्व की सिद्धि अनादि काल से जैनधर्म कहता आ रहा है और वनस्पति में जीवत्व की सिद्धि सर जगदीश चन्द्र वसु ने भी की है। एल्डुमस हक्सले ने स्वर्ण वसु जी की प्रयोगशाला में जाकर देखा है कि वनस्पति भी एक प्राणधारी जीव है¹⁹।

जीव एवं पर्यावरण का सम्बन्ध

हम देखते हैं कि जैन दर्शन की जीव विषयक दृष्टि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। जैन दर्शन ने सर्वत्र किसी न किसी अपेक्षा से जीव की सत्ता को स्वीकार किया है। जैन दर्शन ने जहाँ-जहाँ जीव-आत्मा की सत्ता स्वीकार की है वहाँ-वहाँ पर्यावरण भी समाहित है। चाहे भौतिक पर्यावरण हो या जैविक पर्यावरण दोनों ही घटकों में जीवत्व पाया जाता है। भौतिक एवं जैविक पर्यावरण के माध्यम से पर्यावरण का अवभासन होता है और इन दोनों में ही मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति के क्रिया-कलाप संचालित होते हैं। यदि हम किसी भी तरह से पर्यावरण के घटकों से छेड़-छाड़ करते हैं तो उसके दुष्परिणाम भुगतने को तैयार रहना पड़ेगा। चाहे एक इन्द्रिय जीव हो या दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय जीव हो यदि इनमें से किसी एक का भी विनाश होता है तो हमारी खाद्य शृंखला विघटित हो जायेगी। जिससे हमारा ईकोसिस्टम बिगड़ जायेगा। एक उदाहरण से समझते हैं जैसे मृत पशुओं को गिद्ध, चील आदि खाते हैं जिससे हमारा पर्यावरण प्रदूषित नहीं होता, लेकिन वर्तमान समय में देखते हैं कि गिद्ध, चील आदि नहीं दिखाई देते तब मृत पशुओं का क्या किया जाये? और इन मृत पशुओं से विभिन्न प्रकार के रोगादि फैल रहे हैं, वातावरण प्रदूषित हो रहा है।

इसलिये वातावरण को स्वच्छ रखना है तो हमें प्रत्येक प्रकार के जीवों की रक्षा करनी होगी।

जीवत्व सिद्धि और पर्यावरण चेतना

पर्यावरण चेतना के सन्दर्भ जीवत्व सिद्धि का कई दृष्टियों से अध्ययन कर सकते हैं, जिससे वर्तमान समाज जागरूक होकर पर्यावरण संरक्षण में योगदान दे सके।

(i) आध्यात्मिक दृष्टि से पर्यावरण चेतना

(ii) नैतिक दृष्टि से पर्यावरण चेतना

(i) आध्यात्मिक दृष्टि से पर्यावरण चेतना

मेरी भावना में जुगल किशोर मुख्तार कहते हैं कि-

“मैत्रीभाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।

दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे॥”

अर्थात् भावना भाते हुए यहाँ कहा है कि सब जीवों से मेरा मैत्रीभाव रहे तथा दीन दुःखी जीवों पर हृदय से करुणा भाव हो। जैन दर्शन में तो प्रत्येक पदार्थ में जीवत्व की सत्ता स्वीकार की गयी है। जैन धर्म अहिंसा परमो धर्मः और दयामूलो धम्मो के सिद्धांत को स्वीकार करता है। इसके साथ ही 'जीओ और जीने दो' में विश्वास रखता

है। जैन धर्म कहता है कि बेवजह पेड़-पौधों, मनुष्यों, पशुओं को मत काटो, मत मारो, क्योंकि उनमें जीव है और जीवों की हिंसा करने से, वध करने से पाप का बन्ध होता है। जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शन भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि- मनुष्य जैसा दूसरों के साथ करेगा वैसा उसके साथ भी होगा और उसे वैसा ही फल मिलेगा। अतः अहिंसा प्रधान देश में जीवों की हत्या न करें, क्योंकि इससे पाप के बन्ध के साथ-साथ पर्यावरण असन्तुलित होता है और जब पर्यावरण असन्तुलित होगा तो जीवन-यापन मुश्किल हो जायेगा।

(ii) नैतिक दृष्टि से पर्यावरण चेतना

वर्तमान समय में मनुष्य समस्याओं से सराबोर है। जहाँ देखो, जब देखो मनुष्य को समस्या ही दिखाई देती है। जब किसी वस्तु का आवश्यकता से अधिक अथवा बेवजह दोहन किया जाता है तब समस्या होती है और प्रत्येक समस्या को उत्पन्न किसी और ने नहीं, स्वयं मनुष्य ने किया है। गांव से लेकर महानगरों में जल की विकट समस्या, बिजली की समस्या, रसोई गैस की समस्या, साग-सब्जी, वनस्पति की समस्या, बाढ़ की समस्या, भूकम्प-सुनामी की समस्या इत्यादि ये सभी समस्याएँ मनुष्य द्वारा ही सृजित हैं और इनका समाधान भी मनुष्य ही कर सकता है। जैसे मनुष्य को आवश्यक है नहाना, कपड़े धोना आदि। मनुष्य को नहाने के लिए पानी चाहिए मान लो दो बाल्टी, परन्तु यदि दो बाल्टी की जगह तीन-चार बाल्टी पानी गिराये तो इससे क्या होगा? पानी की कमी आयेगी। जैन दर्शन ने एक बूंद पानी में अनन्त जीव बताये हैं। वैज्ञानिकों ने भी यही सिद्ध किया है।

इसी प्रकार वनस्पति, पेड़-पौधों को भी न काटें, क्योंकि पेड़ों को काटने से बाढ़ की समस्या, वर्षा की कमी एवं तापमान में विभिन्नता आदि। हक्सले ने कहा है कि किसी पशु-पक्षी की मृत्यु का दृश्य देखकर हमलोग मर्माहत हो जाते हैं क्योंकि उसकी यंत्रणा को स्वयं अपनी आँखों से देखते हैं किन्तु वनस्पतियों के जीवन मरण को देखने के लिए तो हमारी दृष्टि लाखों गुनी तेज होनी चाहिए।

इसी प्रकार त्रस जीवों को नहीं मारना चाहिए क्योंकि यदि इन क्षुद्र कीड़े-मकोड़े आदि जीवों को मारते हैं तो हिंसा तो होती ही है साथ ही साथ परिस्थिति तंत्र भी बिगड़ता है। हम बेवजह मच्छर-मक्खी आदि को मार देते हैं, परन्तु ये जीव भी परिस्थिति तंत्र के लिए विशेष उपयोगी है।

अन्त में कह सकते हैं कि यदि जैन दर्शन की जीव रक्षा विषयक अवधारणा को स्वीकार करते हुए चलें तो पर्यावरण सम्बन्धी सभी समस्याओं का स्वतः समाधान हो जायेगा। क्योंकि यदि मानव अपने आसपास की वस्तुओं को जीव दृष्टि से देखेगा तो उनकी रक्षा के विषय में भी सोचेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. तत्त्वार्थसूत्र-आ. उमास्वामी, 2/8
2. वही, 2/10
3. वही, 2/12
4. वही, 2/14
5. वही, 2/14
6. एषां पृथिव्यादीनामार्थे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकम्। तत्कथमिति चेत्? उच्यते, पृथ्वी, पृथ्वीकायः पृथ्वीकायिकः पृथ्वी जीव इत्यादि।
सर्वार्थसिद्धि, आ. पूज्यपाद, द्वितीय अध्याय, पृ.-125-125, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चौदहवाँ संस्करण-2006
7. पुढवी य वलुगा सक्करा य उबले सिला य लोणे य।
अयं तेव तउ य सीस य रूप्य सुवण्णे य वइरे य॥-206
हरिदाले हिंगुलाए मणोसिला सस्स गंजणपवाले य
अब्भपडलब्भवालुय वादरकाया मणि विधिय॥ 206
गोमज्झगे य रुजगे अंके फलहे य लोहिदंके य।
चंदप्पम वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ 208
गेरुय चंदण वव्वग वयमोए तह मसारगल्ले य।
ते जान पुरुवि जीवा जणित्ता परिहर देव्वा ॥ 209
मूलाचार- आ. वट्टकेर स्वामी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. 'अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत'- डॉ. राजाराम जैन, प्रकाशन श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबिल ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ.-197
9. वही, पृ.-199
10. अग्निः त्रिकोणः रक्तः, ज्ञानसार श्लोक, 57, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ.-35, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
ते जाण तेउजीवा जाणित्ता-परिहरेदव्वा॥ मूलाचार- आ. वट्टकेर-गाथा-221, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
12. वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महाघण णू य।
ते जाण वाउजीवा जाणित्ता-परिहरेदव्वा॥ मूलाचार-आ. वट्टकेर-गाथा, 535
13. ब्रव्यसहस्रवरिस वायुतणुंए- महाकवि पद्म-पदम्-1/440 एवं 'अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षयस्रोत-जैन धर्म' तथा 'लोकनायक वर्द्धमान महावीर।'
14. प्रत्येकं पृथक् शरीरयेषां ते प्रत्येक शरीरः खदिरादयो वनस्पतयः, धवलापुस्तक 1/1.1/सूत्र 41/26816
15. यावन्ति प्रत्येक शरीराणि तावन्ति एव प्रत्येक वनस्पति जीवाः तत्र प्रतिशरीरं एकैकस्य प्रतिज्ञानात्-गोम्मटसार जीवकाण्ड-नेमीचन्द्राचार्य गाथा-186/423/14
16. शुल्लक जिनेन्द्र वर्णा- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-भा. ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ.-500

17. बहुनामात्मनामुवभोगहेतुत्वेन साधारण शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरणाम्। सर्वार्थसिद्धि-आ. पूज्यपाद-अष्टम् अध्याय, ग्यारहवाँ सूत्र पृ.-305, भा. ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-2006
18. साधारणाहारादि पर्याप्ति चतुष्टय जन्ममरण प्राणापानानुग्रहोपद्याताः साधारण जीवाः। यदैकस्याहारशरीरेन्द्रियप्राणापान-पर्याप्ति-निर्वृत्तिः तदैवानन्तानाम तत्वार्थ वार्तिक-आ. अकलंकदेव, अष्टम् अध्याय, ग्यारहवाँ सूत्र, पृ.-578, भा. ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण-1993
19. डॉ. राजाराम जैन-अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोतः जैनधर्म तथा लोकनायक वर्द्धमान महावीर, मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबिल ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ.-204

महावीर-युग की वैशाली

साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव*

आगम-परवर्ती जैन ग्रन्थकार महावीर-युग की वैशाली का नामोल्लेख पूर्वक वर्णन में प्रायः उदासीन हैं। यही कारण है कि महावीर-चरित-विषयक ग्रन्थों में वैशाली का नाम-संकेत बहुत ही कम हुआ है। वैशाली की जगह वहाँ अवस्थित महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुर (कुण्डलपुर या क्षत्रिय कुण्डग्राम) या फिर विदेह-क्षेत्र का चित्रण उपलब्ध होता है। इसके विपरीत, बौद्ध ग्रन्थों में नाम कीर्तन-पूर्वक वैशाली की बहुत ही मनोरम सांस्कृतिक और ऐतिहासिक, साथ ही राजनयिक झांकी-प्रस्तुत की गई है, जिसमें बुद्ध और अम्बपाली की हृदयावर्जक कथा, प्रवृत्ति और निवृत्ति, राग और विराग के अन्तर्द्वन्द्व की नन्दतिक भावना से ततोऽधिक ऊर्जस्वल होकर उभरी है। इस प्रकार वैशाली महावीर और बुद्ध दोनों महापुरुषों की समयुगीन संस्कृति को युगपत् अभिव्यंजना करने वाली ऐतिहासिक नगरी के रूप में लब्धप्रतिष्ठ है।

आधुनिक युग में अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति और महातीर्थ के गौरव से सम्पन्न वैशाली पुरायुग, अर्थात् महावीर के युग में लिच्छवियों की राजधानी थी, साथ ही भारत के तत्कालीन सोलह महाजनपदों में, शक्तिशाली गणतंत्रात्मक बज्जिसंघ के शासन-केन्द्र के रूप में उसकी मान्यता थी। ख्रिष्टपूर्व पंचम-षष्ठ शती के जैनागमों में वैशाली से सम्बद्ध अनेक ऐसे ऐतिहासिक सूत्र मिलते हैं, जिनसे वैशाली की विशालता संकेतित होती है। हिंसावादी एकान्तियों के लिए अहिंसावादी 'अनेकान्त' की जयपताका फहरानेवाले, पराचेतना से संवलित वैशाली-विभूति महावीर को 'सूत्रकृतांग, में 'वेसालिय' कहा गया है 'एवं से उदाहु अनुत्तरमुणी अनुत्तरदंसी अनुत्तरणाणदंसनधरे अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालिए विआहिए त्ति बेमि।' इस प्रकार, वैशाली पुत्र महावीर स्वामी के लिए 'वेसालिय' (वैशालीक) विशेषण 'उत्तराध्ययन' आदि विभिन्न जैनागमों में भी भूयशः आवृत्त हुआ है।

'जैनकल्पसूत्र' के अनुसार, वैशाली विदेह की राजधानी थी, जिससे महावीर स्वामी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस ग्रन्थ के अनुसार, महावीर विदेहवासी थे और उनकी माता का नाम विदेहदत्ता था। उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य तीस वर्ष वैशाली में व्यतीत किये थे। पन्द्रहवीं शती के जैन आचार्य भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत-निबद्ध

* 37, भा. स्टेट बैंक आफिसर्स कॉलोनी, काली मन्दिर मार्ग, हनुमान नगर, कंकड़बाग, पटना - 800020.

‘वीरवर्द्धमानचरित’ के सप्तम अधिकार के प्रारम्भ में महावीर कालीन विदेह जनपद और वहाँ के कुण्डपुर नगर का विपुल सांस्कृतिक चित्र उपन्यस्त किया है। तदनुसार, तत्कालीन विदेह भारतवर्ष के विशाल प्रदेशों में परिगणित था। वह प्रदेश विदेह क्षेत्र के नाम से भी विख्यात था, जिसकी महिमा अविमुक्त क्षेत्र काशी के समानान्तर थी। उक्त प्रदेश या क्षेत्र का ‘विदेह’ नाम इसलिए भी सार्थक था कि वहाँ के निवासी श्रमण मुनि अपने शुद्ध चारित्र से देहरहित (सदेहमुक्त) हो जाते थे एवं वे मुनि अपने जीवन-काल में विदेहमुक्त होते थे, जिसे गीता में ‘जीवन्मुक्त’ कहा गया है।

विदेहभूमि की अपनी विशेषता थी कि वहाँ के निवासियों में अनेक मनुष्य सदाचार और विशुद्ध भावनाओं से तीर्थंकर नाम-कर्म अर्जित करने की क्षमता आयत्त कर लेते थे और अनेक मनुष्य पंचोत्तर विमानों में अहमिन्द्रत्व प्राप्त करने की शक्ति से सम्पन्न होते थे। कतिपय भव्य जीव, सत्पात्रों के लिए उत्तम शक्ति के साथ दान करके भोगभूमि अर्जित करते थे और कुछ लोग जिन-पूजन के प्रभाव से इन्द्रत्व को प्राप्त कर लेते थे। उस विदेह-क्षेत्र में देव, मनुष्य और विद्याधरों से वन्दनीय तीर्थंकरों और सामान्य केवलियों की निर्वाण भूमियाँ पदे-पदे दृष्टिगत होती थीं। वहाँ के वन, पर्वत आदि ध्यानावस्थित योगियों द्वारा निरन्तर आसेवित थे और नगर, ग्राम आदि ऊँचे-ऊँचे जिन मन्दिरों से सुशोभित रहते थे। केवलज्ञानी भगवान और उनके गणधर धर्म-प्रवृत्ति के निमित्त चारों संघों के साथ वहाँ तपो-विहार किया करते थे।

इस प्रकार के धार्मिक तथा औत्सविक वातावरण से समलंकृत उस विदेहभूमि, अर्थात् वैशाली के नाभितुल्य मध्यभाग में, अयोध्यानगरी के समान कुण्डपुर नाम का महानगर विराजित था। सुरक्षा की दृष्टि से वह महानगर ऊँचे-ऊँचे गोपुरों, परकोटों और गहरी खाइयों से घिरा था, फलतः वह शत्रुओं के लिए दुर्लभ था। वहाँ स्वर्ग के देवता तीर्थयात्रा करने तथा केवली और तीर्थंकरों के पंच कल्याणक महोत्सव मनाने के निमित्त बराबर आया करते थे। इस प्रकार वह विदेहभूमि अनवरत समारोह की सुषमा से परम रमणीय और नित्य नवीन बनी रहती थी।

उस विशाल नगर में सोने और रत्नों से निर्मित उत्तम जिनालय अपनी पवित्र आभा बिखेरते थे। ज्ञानियों से सुशोभित वह महानगर अद्भुत धर्म-समुद्र की भाँति प्रतीत होता था। वहाँ के जिनालयों में बराबर जय-जयकार गूँजता रहता था और स्तोत्र, गीत, नृत्य, वाद्य आदि की मनोमोहक स्वरमाधुरी अनुध्वनित रहती थी। जिनालयों की दिव्य मणिमय जिन प्रतिमाएँ दिव्य सुवर्ण के अलंकरणों और उपकरणों से दीप्त रहती थीं। पूजन के लिए आने वाले दम्पति अपने उत्कृष्ट गुणों और दिव्य रूपों से देवयुगल के समान सुशोभित होते थे।

उस कुण्डपुर में बुद्धिमान तथा ‘किमिच्छित’ दान करने वाले पुरुष नित्य अपने घर के द्वार पर अतिथियों की प्रतीक्षा करते थे। व्रतनिष्ठ मुनियों को पारण कराने वाले गृहस्थों के घर में निरन्तर रत्नवृष्टि या पंचदिव्य की वर्षा होती रहती थी, जिसे देखकर दूसरे लोगों को भी दान करने की प्रेरणा मिलती रहती थी। वहाँ ऊँचे-ऊँचे गगनचुम्बी प्रासाद (महल) अपनी ध्वजा-रूपी हाथों से देवेन्द्रों का आह्वान करते-से प्रतीत होते थे।

वहाँ के भवनों में रहने वाले लोग दाता, धार्मिक, शूरवीर तथा व्रतशील गुणों के धारक होते थे। वे देव-गुरुओं की भक्ति, सेवा और पूजा में लगे रहते थे। वहाँ के निवासी नीतिमार्ग में निपुण, लोक-परलोक के हित-साधन में उद्यत, धर्मात्मा, सदाचारी, धनी, सुखी और ज्ञानी थे। वहाँ के दिव्य रूप गुणवाले पुरुष और उनके समान ही दिव्य रूप-गुणवाली स्त्रियाँ देव-देवियों के समान प्रतीत होते थे। इस प्रकार, वह कुण्डपुर तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक चेतना की परमोन्नत स्थिति का परिचायक था।

गुणचन्द्रगणिविरचित प्राकृत-निबद्ध 'महावीर चरियं' के सातवें प्रस्ताव में वैशाली का नामोल्लेख पूर्वक वर्णन मिलता है। महावीर स्वामी तपो विहार के क्रम में जिस समय वैशाली नगरी लौटे थे, उस समय वहाँ 'शंख' नाम का गणराजा राज्य करता था। ('सो महावीर जिणवरो कमेण विहरमाणो वेसालिं नयरिं संपत्तो, तत्थ य ... संखो नाम गणराया।') शंख ने महावीर स्वामी का बड़े ठाट-बाट से स्वागत-सत्कार किया था। महावीर स्वामी वहाँ से पुनः वैशाली के पार्श्ववर्ती वाणिज्यग्राम नगर में भी पधारे थे। उस समय वैशाली और वाणिज्य ग्राम नगर के बीच अतिशय गहरे जलवाली गण्डकी नदी बहती थी और उसमें नावें चलती थीं। नाविक नौका यात्रियों से खेवा लेकर ही उन्हें पार उतारते थे। निर्ग्रन्थ महावीर स्वामी भी जब नाव से पार उतरे थे, तब नाविकों ने खेवा के लिए उन्हें रोक लिया था। फलतः, महावीर स्वामी को कड़ी धूप में गरम बालू पर बहुत देर तक खड़ा रहना पड़ा था। बाद में, शंख राजा का भाँजा 'चित्त' ने उन्हें नाविकों से छुटकारा दिलाया था।

भगवान महावीर ने वाणिज्य ग्राम नगर के बहिर्भाग में जहाँ तपोविहार किया था, वह स्थान वनखण्ड से मण्डित था, जिसमें छहों ऋतुएँ क्रम-क्रम से अपना सौन्दर्य वैभव बिखेरती थीं। वनपादपों में आम्रवृक्षों की प्रधानता थी। सप्तपर्ण, कंकोल, सरल और सल्लकी के पेड़ों की बहुलता थी। उस वनखण्ड में हिरन चौकड़ी भरते रहते थे। मदमत्त हाथी झूमते चलते थे। पक्षियों में पपीहे, नीलकण्ठ और कोयलों की मनोमुग्धकर स्वर-माधुरी मुखरित रहती थी। उस जनपदीय नगर के निवासी जाड़े के दिनों में ठण्ड से सिकुड़ते शरीर में गरमाहट लाने के लिए जगह-जगह 'घूर' (अग्निपुंज) जलाकर उसके इर्द-गिर्द जमे रहते थे। महावीर स्वामी जब वाणिज्यग्राम नगर के अन्तर्भाग में पहुँचे, तब वहाँ आनन्द नाम के तपोनिरत श्रावक ने उनके दर्शन से केवलज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार, प्रस्तुत महावीर चरित में भी महावीर युग की वैशाली की धार्मिक, प्राकृतिक तथा जानपद जीवन की स्थिति का सुरम्य चित्र प्रतिबिम्बित हुआ है।

आचार्य विबुध श्रीधर (बारहवीं शती) द्वारा अपभ्रंश में निबद्ध 'वड्ढमाणचरिउ' से महावीर-युग की वैशाली के उदात्त रूप का दर्शन होता है। विदेह देश की तत्कालीन वैशाली के उपकण्ठ में अवस्थित कुण्डपुर नगर का कलावरेण्य चित्रण करते हुए अपभ्रंश कवि विबुध श्रीधर ने लिखा है:

णिवसइ विदेहु णामेण देसु। खयरामरेहिं सुहयर-पएसु।।

सुपसिद्धउ धम्मिय-लोय चारु। णिय-सयल-मणोहर कति-सारु।।

सिय-गोमंडल जणियाणुराय। सुणिसण्ण मय्यकिय मज्झ-भाय।।

जहि जण-मणरा विणिअडइ भाइ। सामन्न निसायर-मुत्ति णाई।।

निश्चय ही उपर्युक्त वर्णन से कुण्डपुर के आश्रमोपम बिम्ब का भव्यतम उद्भावन होता है। उक्त ग्रन्थकार द्वारा किये गये आगे के वर्णनों से कुण्डपुर के प्राकृतिक वैभव और स्थापत्य की उत्कृष्टता का रमणीय निदर्शन प्राप्त होता है: वह कुण्डपुर पद्मपूरित जलाशयों से सुशोभित था। वहाँ की कृषि सम्पदा स्मृहणीय थी। मणिरत्न-खचित, ध्वजमण्डित गगनस्पर्शी विमानों-प्रासादों, गम्भीर खाइयों और उन्नत परकोटों से विभूषित कुण्डपुर अतिशय विशाल प्रतीत होता था। वहाँ की कामिनियों के आभूषणों की छटा रात्रि में दीपकों की ज्योति को निष्प्रभ कर देती थी और उनके लावण्य-ललित मुखचन्द्र से चन्द्रमा भी मलिन पड़ जाता था। इस प्रकार प्रस्तुत 'वड्ढमाणचरिड' से भी स्पष्ट है कि महावीर के समय की वैशाली भारतवर्ष के तत्कालीन धन्यतम महानगरियों में अन्यतम थी।

यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि उक्त प्रकार के और भी अनेक धार्मिक-पौराणिक जैन ग्रन्थों में महावीर युग की वैशाली की वैभव दीप्ति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवरण मिलते हैं। तदनुसार, वैशाली स्थित कुण्डपुर नगर की चर्चा इन्द्रलोक में भी होती थी। वैशाली की भूमि उपवन, कानन, कुंजवन, नदी, सरोवर आदि की प्राकृतिक दिव्यता; भवन, प्राकार, प्राचीर, परिखा, ध्वज, तोरण आदि की वास्तुगत भव्यता तथा धन-धान्य, पशुधन आदि की अपारता के साथ ही बहत्तर कलाओं में निपुण रूपवार नागरिकों की धर्म-प्रभावना की प्रकर्षता आदि की दृष्टि से देवलोक की समता रखती थी, इसलिए वह तीर्थकर महावीर की जन्मभूमि के उपयुक्त थी।

जिन प्रभसूरि रचित 'विविध तीर्थकल्प' के शत्रुंजय तीर्थकल्प में कुण्डग्राम या कुण्डपुर की तीर्थोपमता को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि वहाँ की यात्रा करने से सौगुना फल प्राप्त होता है। मूलश्लोक इस प्रकार हैं:

अयोध्या-मिथिला-चम्पा-श्रावस्ती-हस्तिनापुरे।

कौशाम्बी-काशि-काकन्दी-काम्पिल्ये भद्रिलाभिधे॥

रत्नवाहे शौर्यपुरे कुण्डग्रामेऽप्यपापया।

चन्द्रानना-सिंहपुरे तथा राजगृहे पुरे॥

श्रीरैवतक-सम्मेत-वैभारा-ऽष्टपदाद्रिषु।

यात्रयास्मिंस्तेषु यात्राफलाच्छतगुणं फलम्॥

इससे स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि में वैशाली का एक महिमाशाली तीर्थ के रूप में अधिक मूल्य था। किन्तु बौद्ध वाङ्मय में वैशाली का राजनीतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी मूल्यांकन किया गया है और इस सम्बन्ध में पालि-साहित्य में विस्तृत विवरण भी उपलब्ध होता है। इससे सहज ही यह प्रतीत होता है, बुद्ध के एक धर्मनेता के रूप में वैशाली पहुंचने पर महावीर का विशुद्ध धार्मिक माहात्म्य या प्रभाव दिशान्तरित हो गया, साथ ही मगध (राजगृह) से आयातित राजनीति या कूटनीति के उपलेप के कारण वह भ्रान्त जनदृष्टि से अपक्रान्त भी हो गया। यही कारण है कि परवर्ती जैन ग्रन्थकारों ने अपने वर्णनों में वैशाली को मूल्य न देकर कुण्डपुर या क्षत्रिय कुण्डग्राम को अधिक प्रमुखता दी। ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती के युगान्तरकारी जैन प्राकृत-कथाकार आचार्य संघदासगणी

ने तो अपनी कूटस्थ कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में मगध, मिथिला और अंग की चम्पा का साग्रह वर्णन किया है, किन्तु वैशाली या कुण्डपुर या फिर लिच्छवि या वज्जिसंघ का यत्किंचित् उल्लेख भी नहीं किया है।

प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में इस बात की बार-बार चर्चा आई है कि वैशाली के महावीर-युग के वज्जिसंघ के लिच्छवि सदस्य इतने अनुशासित, निर्भय और पराक्रमी थे कि वे अपने शत्रुओं को तुच्छ समझते थे। वे नियमित रूप से महासभा में सम्मिलित होते, विचार-विमर्श करते तथा संघ-नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। वज्जिसंघ के सदस्यों को यह एकसूत्रता मगध-साम्राज्य के लिए ईर्ष्या का कारण थी, यह बात बुद्ध और उनके प्रधान शिष्य आनन्द के सुप्रसिद्ध पारस्परिक संलाप के माध्यम से भी स्पष्ट होती है।

ऐतिहासिक स्रोत से यह सूचना मिलती है कि महावीर युग की वैशाली के लिच्छवि उत्तर-पूर्व भारत की महाबलशाली, सुशिक्षित, सम्पन्न और कलाप्रेमी क्षत्रिय जाति के थे। तभी तो उन्होंने विदेह-क्षेत्र की ग्राम सुन्दरियों की कला-प्रतियोगिता के माध्यम से अम्बपाली को निर्वाचित कर उसे वैशाली की नगरवधू या राजनर्तकी के पद पर प्रतिष्ठित किया था और जब, मगध की सेना वैशाली पर चढ़ आई थी, तब युद्धोन्माद में आकर रणभूमि में सिंहनाद करने वाले सैनिकों में अम्बपाली ने ही सबसे आगे बढ़कर वज्जियों को शत्रु-संहार के लिए ललकारा था। संकेत मिलता है कि महावीर-कालीन वैशाली की नारियाँ केवल कला विलासिनी ही नहीं थीं, अपितु राष्ट्र रक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा देने में भी सबसे आगे रहती थी, साथ ही वे तपस्साधना के लिए भोग-विलास को पटान्त-लग्न तृण की तरह तुच्छ समझकर तिलांजलि दे देती थीं। इस सन्दर्भ में चम्पा से वैशाली में आकर अपने विशाल भिक्षुणी संघ के साथ धर्म-विहार करने वाली महावीर की धर्मशिष्या चन्दन बाला तथा वैशाली गणराज्य की अन्तिम अधिष्ठात्री कुमारदेवी के नाम अनुशंसनीय हैं।

भगवान महावीर की माता विदेह (वैशाली) की थीं इसलिए महावीर को वैदेही-पुत्र (वैशालीक) के रूप में सम्बोधित किया जाता था। इससे यह सहज ही अनुमेय है कि महावीर के समय विदेह लिच्छवि शासन के अन्तर्भुक्त था। अतएव आत्म प्रकाश भगवान महावीर के निर्वाण की वेला में विदेह के नवमल्लियों के साथ ही लिच्छवियों ने भी दीपोत्सव का आयोजन किया था।

प्राचीन इतिहास के अतिरिक्त पुरातन जैन साहित्य से इस बात का पता चलता है कि ईसा-पूर्व पाँचवीं-छठी शती, अर्थात् महावीर के समय में वैशाली में लिच्छवियों का राज्य था और वैशाली की सर्वतोमुखी समृद्धि परवान चढ़ी हुई थी। इतना ही नहीं, महावीर के समय वैशाली में लिच्छवियों ने ही संसार की अतिसभ्य शासन-व्यवस्था गणराज्य की, यानी गणतंत्र की स्थापना की थी, जिसमें वंश-परम्परा से कोई राजा नहीं होता था, वरन् जनता द्वारा चुना गया प्रतिनिधि ही राजा माना जाता था। अतएव, आज भी महावीर-युग की वैशाली के लिच्छवियों को ही गणतंत्रात्मक राज्य शासन का प्रथम प्रतिष्ठाता के रूप में स्मरण किया जाता है।

जैन संस्कृति

डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा*

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रसिद्ध रचना 'संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना में भारतवर्ष के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है- "संस्कृति है क्या? शब्दकोष उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है। एक दूसरी परिभाषा में कहा गया है कि 'संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण या विकास या उससे उत्पन्न अवस्था है।" यह मन, आचार अथवा रूढ़ियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि संस्कृति मानवीय आचार-विचार की परिष्कृति है, शुद्धिकरण है जो विश्व के सर्वोत्तम वचनों एवं कर्मों से परिचित होने से हो सकती है। साथ ही यह भी प्रकाशित होता है कि संस्कृति सभ्यता का आन्तरिक विकास है।

के. एम. मुंशी के अनुसार जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाने के उद्देश्य से हमारे रहन-सहन के पीछे जो मानसिक प्रकृति होती है उसे ही संस्कृति कहते हैं। मुंशी जी ने भी संस्कृति को जीवन की शुद्धि से सम्बद्ध माना है।

डॉ. भगवान दास के मत में मानसिक क्षेत्र में उन्नति की दृष्टि से की गई सभी सम्यक् कृतियाँ संस्कृति का अंग होती हैं। इसमें धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञान, कला, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ एवं प्रथाएँ समाहित होती हैं। इस परिभाषा में संस्कृति के विशाल क्षेत्र को प्रकाशित करने का प्रयास हुआ है।

पं. फूलचन्द्र शास्त्री ने संस्कृति शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है- "संस्कृति शब्द से सब सत्कार्य लिये जाते हैं जिनसे वहाँ की सभ्यता फूलती-फलती है। संस्कृति के मुख्य पहलू दो हैं - आचार और विचार, इसलिए जिस देश का दर्शन और चरित्र जितना अधिक उन्नत होता है वहाँ की संस्कृति उतनी ही अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुखी कैसे हो सकता है और विश्व में सब प्रकार की बुराइयों को दूर कर शान्ति का साम्राज्य कैसे स्थापित किया जा सकता है इस उदात्त भावना से प्रेरित होकर जिस आचार परम्परा और विचार परम्परा की नींव डाली जाती है उसे ही हम संस्कृति शब्द

* पूर्व आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

से पुकारते हैं। संस्कृति आत्मा है और सभ्यता उसका बाह्य रूप है²। इस परिभाषा में यह बताया गया है कि संस्कृति का सम्बन्ध मात्र वहीं से नहीं होता है जहाँ की वह संस्कृति कही जाती है, बल्कि यह सम्पूर्ण विश्व से सम्बंधित होती है। साथ ही यह भी कहा गया है कि संस्कृति में मानव के आचार और विचार दोनों ही समाहित होते हैं। विश्व प्रसिद्ध जैन सन्त एवं चिन्तक गणाधिपति तुलसीजी ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है-

“संस्कृति तो मानवीय संस्कारों का प्रवाह है, जो जीवन की अविच्छिन्न परम्परा को लिए बहता रहता है³”। अर्थात् संस्कृति एक प्रवाह है जिससे मानवीय संस्कार अबाध गति से प्रवाहित होते हैं।

पं. दलसुख मालवणिया ने भी संस्कृति को परिवर्तनशील मानते हुए कहा है- “संस्कृति का इतिहास देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि जबतक वह परिवर्तनशील प्रवाह के रूप में प्रगतिशील है तबतक वह संस्कृति नाम को सार्थक करती है। किन्तु जैसे ही प्रवाह की गति रुक जाती है, परिवर्तन रुक जाता है, प्रगति का अवरोध हो जाता है, वह संस्कृति नाम के योग्य नहीं रहती, बल्कि वह घातक रूढ़ियों का रूप धारण कर लेती है और रूढ़ियाँ मानव जाति को संस्कृत करने के बजाय और रोग ग्रस्त मानस बाली बना देती हैं। इसका मतलब है कि संस्कृति की सत्ता उसकी प्रगतिशीलता में ही निहित होती है।

संस्कृति की उत्पत्ति एवं विकास को बताते हुए डॉ. सम्पूर्णानन्द ने लिखा है-“संस्कृति का विकास ज्यामिति की सरल रेखा नहीं है। सैकड़ों वर्षों की प्रगति के बाद देशों और महाद्वीपों पर अन्धकार-सा छा जाता है। सारी बौद्धिक-उन्नति उड़ जाती है, अश्रद्धा, निरुत्साह, अन्धविश्वास प्रगति के सोते को बन्द सा कर देते हैं। परन्तु वह सब होते हुए भी संस्कृति का प्रदीप बुझता नहीं है। वह किसी न किसी कोने में टिमटिमाता रहता है और अनुकूल परिस्थिति आने पर फिर से उद्दीप्त हो उठता है⁴”।

इसका मतलब है कि संस्कृति कोई ऐसी चीज नहीं है जो शीघ्र उत्पन्न कर दी जाए और शीघ्र मिटा दी जाय। यह अन्तः शलिला के रूप में प्रवाहित होती रहती है। यह उस समय भी समाप्त नहीं होती है जब इसे समाप्त मान लिया जाता है।

भारतीय चिन्तकों के द्वारा दी गई संस्कृति की परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि “सम्पूर्ण मानवता के विकास एवं विश्व के कल्याण के लिए जो भी आचार और विचार किये जाते हैं, वे संस्कृति हैं।”

संस्कृति

पाश्चात्य जगत में संस्कृति के लिए कल्चर (culture) शब्द व्यवहृत होता है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग ब्रिटिश दार्शनिक फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon) ने किया था। जर्मनी में कल्चर शब्द प्रथम प्रयोग करने वाले हर्डर (Herder) हो गए हैं। ब्रिटेन में कल्चर को हार्टीकल्चर (Horticulture) तथा जर्मनी में एग्रीकल्चर (agriculture) से सम्बद्ध देखा जाता है। क्योंकि ब्रिटिश परम्परा में मानवीय विकास की तुलना भूमि और फूल के विकास से तथा जर्मन परम्परा में विकसित फल से की गई है।

जर्मन दार्शनिक कान्ट (Kant) तथा फिश्टे (Fichte) ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि स्वातंत्र्य ही इसका मूल तत्व है। महान् लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किए गए प्रयोग को संस्कृति कहते हैं⁶।

राबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमें वे सभी चीजें समाहित होती हैं जिनपर व्यक्ति विचार करता है, काम करता है और समाज के सदस्य होने के नाते जिन्हें अपने पास रखता है⁷। अर्थात् संस्कृति एक वह सम्पूर्णता है जिसमें व्यक्ति के आचार-विचार समाहित होते हैं।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर तथा पेज (Macaiwer and Page) के अनुसार, संस्कृति व्यक्ति के रहने, चिन्तन करने, दैनिक कार्य, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन तथा आनन्द उसकी प्रकृति की अभिव्यक्ति है⁸।

पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने पर संस्कृति के विषय में निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती हैं-

- (क) संस्कृति एक सम्पूर्णता है जिसमें मानव जीवन के उत्कर्ष से सम्बंधित सभी आचार-विचार, सामग्रियां समावेशित रहती हैं।
- (ख) संस्कृति मानवीय प्रकृति की अभिव्यक्ति है।
- (ग) संस्कृति प्रयोग, प्रयास एवं साधन हैं जिनसे मानव जीवन परिष्कृत होता है।

संस्कृति और सभ्यता (Culture and Civilization)

जब भी संस्कृति की बात होती है तब स्वभावतः सभ्यता भी सामने आ जाती है क्योंकि इन दोनों के बीच बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। कभी तो कुछ लोग इन दोनों को समानार्थी मानकर एक जैसा ही इन दोनों का प्रयोग करते हैं। लेकिन 17वीं एवं 18वीं शताब्दियों के विद्वानों ने इन्हें अलग-अलग अर्थ देने का प्रयास किया है। उन लोगों ने ऐसा माना है कि शिष्टाचार और मस्तिष्क के प्रशिक्षण से संस्कृति सम्बंधित है तथा अर्थ, कला एवं विज्ञान से सभ्यता सम्बंधित है⁹।

सभ्यता शब्द 'सभा' से सम्बंधित है। जो लोग नागरिक तथा राजनीतिक सभा के सदस्य होते हैं उन्हें सभ्य कहा जाता है। सभ्य से 'सभ्यता' शब्द बना है। इसके लिए अंग्रेजी में 'सिविलाइजेशन' (Civilization) शब्द प्रयोग किया जाता है। सामन्तशाही युग और अन्धकार युग की अवस्था से अपने को उत्कृष्ट एवं भिन्न बताने के लिए फ्रांस के तर्कवादी लोगों ने अपने लिए सर्वप्रथम इस शब्द का व्यवहार किया था। क्योंकि उन लोगों को अपनी बुद्धि पर गर्व था। वे अपने को सभ्य (Civilized) मानते थे, क्योंकि वे बुद्धिमान थे, तर्ककुशल थे। अपने से पहले वालों को वे अकुशल और असभ्य मानते थे।

मानव अपने प्रारम्भिक जीवन से प्राकृतिक विपदाओं से अपनी सुरक्षा के लिए संघर्ष करता आ रहा है। उसने सर्दी-गर्मी से बचने के लिए मकान और वस्त्र बनाए, भोजन के लिए खेती शुरू की और अन्न उपजाए, रोगादि से बचने के लिए औषधियों की खोज की। आवागमन के लिए साइकिल, मोटर, रेल, जहाज बनाए, शत्रुओं से रक्षा के लिए

अस्त्र-शस्त्र बनाए तथा दूर संचार की भी व्यवस्था की। ये सभी सभ्यता के रूप हैं। मानव की आवश्यकताएं बढ़ती गईं और उनकी पूर्ति करके वह सभ्य बना और जैसे-जैसे वह सभ्य बना उसकी आवश्यकताएं भी बढ़ती गईं। इस तरह मानव का बाहरी जीवन विकसित हुआ एवं बाहरी के विकास के साथ-साथ आन्तरिक जीवन भी उत्कृष्टता को प्राप्त करता गया। मानव जीवन का बाह्य पक्ष भौतिक है, शारीरिक है, जबकि आन्तरिक पक्ष आध्यात्मिक है, आत्मिक है।

अब हम संक्षिप्त में कह सकते हैं कि मानव जीवन का बाह्य पक्ष जो शारीरिक है तथा भौतिक है, सभ्यता है और आन्तरिक पक्ष जो आत्मिक है, आध्यात्मिक है, संस्कृति है। किन्तु इन दोनों को बिल्कुल अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता है। क्योंकि ये दोनों एक-दूसरी की सहयोगिनी हैं। नेहरूजी ने तो यहाँ तक कहा है कि सभ्यता का भीतर से उठना संस्कृति है।

विश्व की प्राचीन संस्कृतियाँ

विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं-

- (1) प्राचीन मिश्र की संस्कृति
- (2) प्राचीन बैबिलोनिया की संस्कृति
- (3) प्राचीन आसीरिया की संस्कृति
- (4) प्राचीन यूनान की संस्कृति
- (5) प्राचीन रोम की संस्कृति
- (6) प्राचीन चीन की संस्कृति
- (7) प्राचीन भारत की संस्कृति

प्राचीन भारतीय संस्कृति

विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियों एवं सभ्यताओं की तरह भारत की संस्कृति तथा सभ्यता का श्रीगणेश नदी की घाटी में ही हुआ। सिन्धु नदी की घाटी में भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ लेकिन इसके विकास को देखते हुए इसे कई रूपों में देखा जाता है। यहाँ बाहर से विभिन्न लोग अपनी-अपनी संस्कृतियों के साथ आते गए और स्थापित होते गए। अतः भारतीय संस्कृति के प्रगति पथ पर कभी संघर्ष तो कभी समन्वय देखे जाते हैं। साथ ही विभिन्न स्तरों पर इसे अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया गया है जैसे-

- (1) सिन्धु घाटी की संस्कृति एवं सभ्यता
- (2) ऋग्वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता
- (3) उत्तर वैदिक काल की संस्कृति एवं सभ्यता
- (4) ई. पूर्व छठी शताब्दी की संस्कृति एवं सभ्यता

इसमें कोई शक नहीं कि अध्ययन की दृष्टि से ये नाम महत्वपूर्ण हैं किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति इनके बीच विभाजित है। इन सभी के मिले हुए रूप की समन्वित स्थिति को भारतीय संस्कृति नाम दिया गया है।

भारतीय संस्कृति समन्वयवादी तथा अनेकान्तवादी 'एकता में अनेकता तथा

अनेकता में एकता', यह उक्ति भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत ही प्रसिद्ध है, क्योंकि शत-प्रतिशत यह इस पर लागू होती है। इसकी समन्वय वादिता में इसकी एकता तथा अनेकान्त वादिता में अनेकता समाहित है। दिनकर जी ने अपनी रचना 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है-

“सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा, ये सब एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है जिसके अधीन यह देश एक हुआ और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो अपने पर भी सन्देह करने की निष्पेक्षता रखता है अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिए एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और गाँधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्त का उन्मुक्त अध्याय था¹⁰।

यदि हम भारतीय संस्कृति के लक्षणों की ओर ध्यान दें तो स्पष्टतः दिनकर जी के द्वारा इंगित इसकी विलक्षणता हमारे सामने आ जाएगी।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

(1) प्राचीन आधार, (2) स्थायित्व, (3) सहिष्णुता, (4) आत्मसात करने की समता, (5) समन्वयवादी दृष्टि, (6) धार्मिकता एवं (7) व्यापक दृष्टि।

(1) प्राचीन आधार

भारतीय संस्कृति का इतिहास सहस्रों वर्षों का है। विश्व के अनेक देश जब असभ्य और अशिक्षित थे तभी भारतवर्ष में धार्मिक राजनीतिक, आर्थिक विविध व्यवस्थाएँ स्थापित हो चुकी थी। सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल में भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। किन्तु वैदिक काल जिसमें आर्य संस्कृति प्रकाशित हुई, से पहले भी भारत में सिन्धुघाटी सभ्यता थी। प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी का समाज बहुत ही सभ्य एवं संस्कृत था। इस तरह भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ सिन्धु घाटी सभ्यता से हुआ, ऐसा माना जाता है। आर्यों ने भारत में आकर अपना वर्चस्व जमाया, किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता कि आर्यों के आगमन से ही भारतीय संस्कृति शुरू होती है। यदि उनके यहाँ आने के पूर्व यहाँ कोई संस्कृति नहीं होती, कोई समाज नहीं होता तो फिर उन्हें विकट संघर्ष करने की क्या आवश्यकता होती। इतिहासकारों ने यह प्रमाणित किया है कि आर्यों को अपने को भारतवर्ष में स्थापित करने के लिए वर्षों संघर्ष करना पड़ा था। इससे यह निःसन्देह ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति का आधार अति प्राचीन है।

(2) स्थायित्व

भारतीय संस्कृति का स्थायित्व अपने आप में इसकी प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक इसकी मूलभूत स्थापनाएँ एक जैसी हैं। विभिन्न समयों में भारतवर्ष पर विदेशियों ने मात्र आक्रमण ही नहीं किया बल्कि यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति को मिटाने का भी प्रयास किया। परन्तु वे इसमें सफल नहीं हुए और प्राचीन काल से आजतक इस संस्कृति में स्थायित्व बना हुआ है, एकता सुदृढ़ता के साथ करकरार है। "छठी सदी ई. पू. से लेकर बारहवीं सदी तक विभिन्न विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया, अपनी शक्ति और क्रूरता के बल पर स्थायी संगठनों को तोड़ने का सबल उपक्रम भी किया। इनमें पारसी, यूनानी, यूनानी-बाख्त्री, शक, पहलव, ह्यूण और मुसलमान जैसी विदेशी जातियाँ प्रमुख हैं, जिन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित किया तथा सदियों तक शासन किया। इन विदेशी आक्रामक जातियों के कारण हिन्दू सामाजिक संस्थाओं को अनेक बार धक्के लगे, किन्तु उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपना स्थायित्व बनाए रखा। विभिन्न शताब्दियों में होने वाले परिवर्तन और परिवर्द्धन हिन्दू संस्कृति के अंग बन गए, किन्तु भारतीय सामाजिक संस्थाओं का आधार तत्व वह बना रहा जो वैदिक युग में था।"

(3) सहिष्णुता

भारतवर्ष पर आक्रमण करने वालों ने यहाँ के लोगों के साथ क्रूरता एवं अमानवीयता के व्यवहार किए, इन्हें मिटाने का प्रयास किया। किन्तु यहाँ वालों ने हमेशा ही अपनी सहिष्णुता एवं सदाशयता का परिचय दिया। क्योंकि यहाँ के ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं एवं आचार्यों ने लोगों को शान्ति और प्रेम का पाठ पढ़ाया है। श्री कृष्ण ने गीता में निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देकर कर्त्तापन के व्यर्थ अभिमान से अपने को बचाने की बात कही है। जैनाचार्यों ने ईरिया पथिक कर्म का उपदेश दिया है जो निष्काम कर्म का ही जैन परम्परागत नाम है। क्योंकि सहिष्णुता के लिए अभिमान त्याग आवश्यक होता है। गीता, जैनागम, त्रिपिटक ने भारतवासियों को अहिंसा मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है। अहिंसक वह होता है जो हिंसा करने वालों के साथ भी प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है।

(4) आत्मसात् करने की क्षमता

भारतीय संस्कृति में आत्मसात् करने की क्षमता अत्यन्त प्रबल है। ऐसी ग्राह्यशक्ति अन्य संस्कृतियों में नहीं है। विश्व की अन्य संस्कृतियाँ अपने को तुरन्त अलग कर लेती हैं जब कोई भिन्न आदर्श और व्यवहार उनके सामने आते हैं। पूर्व वैदिक युग से लेकर बारहवीं सदी तक देश में होने वाले सभी परिवर्तनों को यहाँ की संस्कृति में समावेशित पाया जाता है। भारत में जो भी आए भारतवासियों ने उन्हें अपने में मिला लिया। इस महानशक्ति को गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी रचना में बहुत ही उदारता एवं विनम्रता पूर्वक स्वीकार किया है²¹। दिनकर जी ने टैगोर की पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार किया है-

"आशय इसका यह है कि भारत देश महामानवता का पारावार है। ओ मेरे हृदय! इस पवित्रतीर्थ में श्रद्धा से अपनी आँखें खोलो। किसी को भी ज्ञान नहीं है कि किसके

आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ दुबारि वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आयीं और इस महा समुद्र में मिलकर खो गयीं। यहाँ आर्य हैं, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्रविड़ और चीनवंश के लोग भी हैं। शक्, ह्यून, पाठान और मोगल, न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आये और सबके सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गये। समय-समय पर जो लोग रज की धारा बहाते हुए उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों को लांघकर इस देश में आये थे, उनमें से किसी का भी अलग अस्तित्व नहीं है। वे सब मेरे भीतर विराजमान हैं। मुझसे कोई भी दूर नहीं है। मेरे रूप में सबका सुर ध्वनित हो रहा है¹³।

(5) समन्वयवादी

भारतवर्ष में विश्व के विभिन्न भागों से अनेक जाति, धर्म एवं प्रथा के लोग आए और यहाँ की उदारता एवं सदाशयता ने उन लोगों को अपने में समाहित कर लिया। वे सबके सब समन्वित हो गए जिससे एक उन्मुक्त विशाल संस्कृति का रूप खड़ा हुआ जो आज की भारतीय संस्कृति है। “यह आग्रह बिल्कुल निस्सार है कि हिन्दुओं का सारा धर्म और सारी संस्कृति वेदों से निकली है। यह अभिमान व्यर्थ है कि जो जातियाँ आज वनों में रहती हैं अथवा जो सवर्ण समाज के जूतों के पास बैठी हुई हैं, उनके बायें-दायें से आयों ने कोई भी ज्ञान अथवा धर्म का कोई उपकरण उधार नहीं लिया। आयों के आने के पूर्व भारत असभ्य था तथा धर्म और सभ्यता यहाँ आयों ने फैलायी यह भी मिथ्या अहंकार है, क्योंकि सभ्यता में द्रविड़ जाति के लोग आयों से बढ़े-चढ़े थे और शरीर से हारकर भी, संस्कारों के द्वारा उन्होंने आयों को प्रभावित किया। जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वह आदि से अन्त तक न तो आयों की रचना है और न द्रविड़ों की, प्रत्युत उसके भीतर अनेक जातियों के अंशदान हैं¹⁴।

(6) धार्मिकता

भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है। यहाँ के लोग धर्मभीरु होना पसन्द करते हैं। यहाँ का धर्म मात्र सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसमें बाहरी व्यापकता एवं आन्तरिक गहनता भी देखी जाती है। धर्म भारतीय जीवन की बहुत बड़ी कसौटी है। धर्मपथ पर चलना, धर्माचरण के माध्यम से जीवन व्यतीत करना, धर्म पालन के लिए जीवन तक का बलिदान कर देना यहाँ के लोगों की विशेषता है। भारतीय जीवन के सभी कर्म धर्म से ही नियंत्रित होते हैं। धर्मात्मा ही महात्मा होता है और महात्मा ही अपनी साधना के बल पर परमात्मा बन जाता है। भारतीय धर्मदृष्टि भारत वासियों को संकुचित भावना से ऊपर उठकर लोक-कल्याण की ओर प्रेरित करती है। अतः इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है।

(7) व्यापक दृष्टि

भारतीय संस्कृति की व्यापक दृष्टि ने न केवल बाहरी आगन्तुकों एवं आक्रमणकारियों को ही सम्मान एवं स्नेह दिया है, बल्कि मानव जीवन के दो पक्षों- स्त्री तथा पुरुष को भी समानता के स्तर पर लाने का प्रयास किया है। इस संस्कृति में

‘अर्धनारीश्वर’ एवं ‘अर्धांगिनी’ की मान्यताएं स्थापित हैं। यद्यपि कहीं-कहीं कुछ विचार ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे नारी जाति की अवहेलना का बोध होता है, परन्तु नारी को सामान्य सम्मान देने के साथ ही उसे पूजने की बात भी बलपूर्वक कही गई है। मनु ने कहा है कि जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवत्व स्थापित होता है। जिस कुल में नारी की पूजा नहीं होती है वहाँ देवता अप्रसन्न होते हैं और सभी कार्यों में असफलता ही मिलती है। कुल में स्त्रियाँ जब कष्ट पाती हैं तब कुल का नाश होता है और कुल की स्त्रियों के प्रसन्न रहने से कुल का विकास होता है। अतः अपने कुल का कल्याण चाहने वाला व्यक्ति हमेशा नारियों का सत्कार करता है¹⁵।

भारतीय संस्कृति की जैन परम्परा में जीव पर्यन्त के सुख-दुःख पर विचार किया गया है। बौद्ध परम्परा की महायान शाखा निर्वाण को तब तक पूरा नहीं मानती है जबतक सबके सब दुःख से मुक्त नहीं हो जाते हैं। ये सभी भारतीय संस्कृति की व्यापक दृष्टि के ही परिचायक हैं।

भारतीय संस्कृति की शाखाएँ

प्रधानतः भारतीय संस्कृति की दो शाखाएँ हैं-

1. वैदिक परम्परा

वैदिक परम्परा वेदों पर आधारित है। वेदों पर आधारित होने के कारण ही इसका नामकरण वैदिक परम्परा हुआ है। वेद चार हैं। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। वेदों की भाषा संस्कृत है। वैदिक परम्परा ईश्वरवादी तथा यज्ञवादी है। इस परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थ तथा ब्राह्मणवर्ण की प्रधानता होने के कारण इसे ब्राह्मण परम्परा भी कहते हैं। इसे मानने वाले अपने को मूलतः आर्य मानते हैं। अतः इस परम्परा को आर्य परम्परा के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं। इसे आजकल हिन्दू परम्परा के नाम से भी जानते हैं। क्योंकि मुसलमानों के आगमन के बाद इसे इस्लाम परम्परा से भिन्न बताने के लिए हिन्दू परम्परा कहा गया। एक मान्यता यह भी है कि भारत में सिन्धुघाटी सभ्यता सबसे प्राचीन मानी जाती है। उसी से सम्बोधित होने के कारण हिन्दू शब्द बना। सिन्धु शब्द समय के प्रवाह में ‘इन्दु’ बना और इन्दु से ‘हिन्दू’ बन गया। अब हिन्दू एक प्रचलित शब्द है और यह वैदिक परम्परा के लिए व्यवहार में आता है।

2. श्रमण परम्परा

प्राचीनकाल से श्रमण परम्परा भारतीय संस्कृति की स्वतंत्र शाखा के रूप में विराजमान है।

शोचयन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।

न शोचयन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥57॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छाद नाशनैः।

भूतिकामैरैरित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥59॥ - मनुस्मृति, अध्याय-3

श्रमण परम्परा में क्षत्रियों को प्रधानता प्राप्त है। जिस तरह वैदिक परम्परा में ब्राह्मणों की प्रधानता के कारण उसे ब्राह्मण परम्परा कहते हैं ठीक उसी तरह श्रमण परम्परा

में क्षत्रियों की प्रधानता होने से इसे क्षत्रिय परम्परा कह सकते हैं। साथ ही यदि वैदिक परम्परा को आर्य परम्परा कहते हैं तो वैदिक परम्परा से पृथक् होने के कारण इसे अनार्य परम्परा कहना भी गलत नहीं होगा। श्रमण परम्परा योगवादी तथा अनीश्वरवादी है।

श्रमण परम्परा की भी मुख्यतः दो शाखाएँ हैं—

(क) **जैन परम्परा**— 'जिन' के अनुयायी को जैन कहते हैं। 'जिन' का अर्थ होता है 'जयी'। जो काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है वह 'जिन' होता है। इस परम्परा में भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हो गए हैं। भगवान महावीर तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध ई. पू. छठी शताब्दी में हुए। जैन परम्परा के अपने आधार ग्रन्थ हैं जिन्हें जैनागम कहते हैं। जैनागम की भाषा प्राकृत है। जैन परम्परा कब से चली आ रही है इसे निश्चित रूप से बताना अत्यन्त कठिन है लेकिन जैन धर्मावलम्बी भगवान ऋषभदेव को जैन परम्परा का संस्थापक मानते हैं। इतिहास अबतक ऋषभदेव तक नहीं पहुँच पाया है।

(ख) **बौद्ध परम्परा**— बौद्ध परम्परा के संस्थापक भगवान बुद्ध हो गए हैं। उनकी वाणी त्रिपिटकों में संकलित है जो बौद्ध परम्परा के आधार हैं। त्रिपिटकों की भाषा पालि है। **श्रमण शब्द का अर्थ**

सामान्यतः श्रमण शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ तथा तीन रूप बताए जाते हैं, जो प्रसिद्ध हैं। तीन रूपों में तीन अर्थ भी हैं किन्तु उनमें कोई विरोध नहीं है।

(1) शमण

यह माना जाता है कि 'शमण' का बदला हुआ रूप 'श्रमण' है। 'शमण' शब्द की व्युत्पत्ति 'शम' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है वश में करना, दबाना, अधिकार में लाना। इससे यह अर्थ लगाया जाता है कि 'शमण' या 'श्रमण' वह है जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, जिसने काम, क्रोध पर नियंत्रण पा लिया है।

(2) 'समण'

'समण' से बदलकर 'श्रमण' शब्द के बनने की सम्भावना को भी विद्वानों ने स्वीकार किया है। 'समण' की व्युत्पत्ति 'सम' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है—समानता। इस प्रकार 'समण' या 'श्रमण' वह है जो समता में विश्वास करता है जो समता के मार्ग पर चलता है।

(ग) श्रमण

'श्रमण' शब्द 'श्रम' धातु से बना है। 'श्रम' से अर्थ होता है— 'श्रम करना' 'श्रम' कई तरह से किए जाते हैं। मजदूर सिर पर ईंट-पत्थर उठाता है, कुली सिर पर सामान ढोता है, विद्यार्थी परीक्षा के समय दिन-रात परिश्रम करता है। क्या इन सबको श्रमण कहेंगे? नहीं, यहाँ श्रम करने के अर्थ में साधना रूपी श्रम आता है जो सन्त, महात्मा करते हैं। अतः श्रमण वह है जो साधना रूपी श्रम करता है। साधना एक बहुत ही कठिन श्रम है। साधक खास तौर से हठयोगी जो साधना करते हैं, वह तो स्पष्टतः सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव लगता है। 'जलझप' की स्थिति में साधक किसी नदी या तालाब के किनारे

जल के बीच बैठने की व्यवस्था करके जाड़ा के दिन में साधना करता है जबकि सामान्य लोग ठंड से ठिठुरते रहते हैं। इसी प्रकार 'अग्नि झप' की स्थिति में वैसाख, जेठ की चिलचिलाती धूप में अपने चारों तरफ आग जलाकर बीच में योगी साधना करता है। यह भी कितना कठिन है! इस तरह आध्यात्मिक साधना सामान्य शारीरिक साधना से ज्यादा मुश्किल होती है जैन परम्परा में दिगम्बर साधु जाड़ा, गर्मी हमेशा ही बिना वस्त्र के रहते हैं। ये जो साधकों के द्वारा श्रम किए जाते हैं वे ही श्रम करने वाले श्रमण होते हैं।

यदि हम शमण, समण तथा श्रमण तीनों के ही अर्थों को एक साथ कर दें तो भी कोई विरोध नहीं होता है। अर्थात् ऐसा भी हम कह सकते हैं- "जो इन्द्रियों को वश में कर लेता है, समता में विश्वास करता है तथा साधना रूपी श्रम करता है वह श्रमण है।

उपर्युक्त अर्थों को देखते हुए ही श्रमण या समण को दशवैकालिक-निर्युक्ति में निम्न प्रकारेण परिभाषित किया गया है- जो यह समझता है कि जिस प्रकार उसे कष्ट होता है और वह कष्ट भोगना नहीं चाहता है उसी तरह अन्य सभी जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं होता है और ऐसा विचार करके वह किसी प्राणी का हनन न तो स्वयं करता है और न किसी दूसरे से ही हनन करवाता है वही समण होता है। उसकी समता-धारणा ही उसे समण बनाती है¹⁶।

जो व्यक्ति न किसी से राग करता है और न ही किसी के प्रति अपने मन में द्वेष पालता है, बल्कि अपने मन में सदा समता के भाव को संजोए हुए रहता है, वहीं समण होता है¹⁷।

समण वह होता है जो पुरस्कार स्वरूप फूल को पाने के बाद प्रसन्न नहीं होता है और न अपमान रूपी हलाहल के सामने आने पर दुःखी होता है। अर्थात् जो मान-अपमान से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता है और समता की स्थिति में अपने को सुदृढ़ रखता है¹⁸।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि मात्र सिर मुड़ा लेने से ही कोई समण नहीं हो जाता है- ज्ञान से कोई व्यक्ति मुनि होता है और तप करने से तपस्वी होता है¹⁹। समण तो समता का नाम है। समता के अतिरिक्त समण की अन्य विशेषताएं कौन-कौन सी होती हैं उन्हें दशवैकालिक निर्युक्ति में ही स्पष्टतः प्रस्तुत किया गया है²⁰।

- (क) समण के जीवन में मृदुता उस तरह समावेशित होती है जिस तरह सांप के शरीर में कोमलता वास करती है।
- (ख) उसके जीवन में पहाड़ की स्थिरता की तरह स्थिरता होती है।
- (ग) अग्नि के समान समण का जीवन प्रज्वलित होता है, प्रकाशित होता है।
- (घ) समुद्र में जिस तरह गम्भीरता होती है ठीक उसी तरह समण का जीवन गम्भीरतामय होता है।
- (ङ) समण में आकाश के समान विशालता होती है।
- (च) वृक्ष दूसरों को आश्रय देता है, उसी तरह समण भी आश्रयदाता होता है।

- (छ) उसकी वृत्ति मधुकर वाली होती है।
 (ज) समण में हरिण की सरलता होती है।
 (झ) भूमि जिस तरह सबको क्षमा प्रदान करने वाली होती है, उसी तरह समण क्षमाशील होता है।
 (ञ) कमल की तरह समण निर्लेप होता है। पानी में रहकर भी कमल उससे प्रभावित नहीं होता है उसी तरह संसार में रहते हुए भी समण मोह-ममता के बशीभूत नहीं होता है।
 (ट) समण में सूर्य की तरह तेज होता है।
 (ठ) वह अबाधगति से विचरण करता है जिस तरह हवा अप्रतिहत रूप में विहार करती है।
- श्रमण शब्द का एक नया अर्थ**

प्रो. विश्वम्भर शरण पाठक के अनुसार “ग्रीक” ‘टेलोस’ (Telos) तथा वैदिक ‘चरण’ की तरह श्रमण परम्परा एक भ्रमणकारी परम्परा थी। भारतीय विश्वकोश के आधार पर ‘श्रमण’ शब्द का विवेचन उन्होंने इस प्रकार किया है—
 क्लेम-क्रम-श्रम-पाद-प्रक्षेप। श्रमण-भ्रमण करने वाले थे। शतपथ ब्राह्मण में ऐसे बहुत से उल्लेख मिलते हैं जिनमें श्रम और चर मौलिक रूप में सम्बंधित ज्ञात होते हैं जैसे—

श्राम्यन्तश्चैरुह (1.2.5.7)

ऐतरेय ब्राह्मण 8.15 में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं

अस्य सर्वे पाप्मानह।

श्रमेण प्रपथे हताह।

उसके सभी पाप पथ पर भ्रमण करने से समाप्त हो गए”।

श्रमण शब्द का भ्रमणकारी अर्थ लगाना एक नयी बात अवश्य है परन्तु इसकी यथार्थता इससे भी प्रमाणित होती है कि आज भी श्रमण परम्परा में विहार या भ्रमण को महत्व प्राप्त है। जैन साधु साध्वी के लिए सिर्फ वर्षाकाल के चार माहों (अषाढ माह की पूर्णिमा से कार्तिक माह की पूर्णिमा तक) में एक स्थान पर स्थिर रहने का विधान किया गया है। वर्ष के अन्य आठ माहों में उन्हें विहार ही करना चाहिए। भगवान बुद्ध के विषय में कहा जाता है कि जब उनके शिष्यों की संख्या 60 तक पहुँच गई तब उन्होंने उन लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा—

“चरथ भिक्खवे चारि के बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय”

अर्थात् हे भिक्षुओं! विचरण करो, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए।

सम्भवतः बिहार राज्य, जो श्रमण परम्परा का उद्गम स्थान है, का ‘विहार’ नामकरण इसीलिए हुआ होगा कि वहाँ पर जैनमुनि तथा बौद्ध भिक्षु सब जगह विचरण करते हुए दिखाई पड़ते रहे होंगे।

जैन संस्कृति के लक्षण

श्रमण संस्कृति की दो प्रमुख धाराएँ हैं- जैन तथा बौद्ध, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। चूँकि प्रतिपाद्य विषय जैन संस्कृति है अतः यहाँ उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है। जैन संस्कृति के निम्नलिखित विविध लक्षणों को जानने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनपर विभिन्न सम्बंधित दृष्टियों से विचार किया जाए, क्योंकि सभी लक्षणों को मात्र एक ही दृष्टि के माध्यम से नहीं जा सकता है।

1. सापेक्षतावादी

दार्शनिक दृष्टि से जैन संस्कृति सापेक्षतावादी है जिसकी अभिव्यक्ति अनेकान्तवाद, स्याद्वाद तथा अहिंसावाद के रूप में हुई है। दर्शन के क्षेत्र में परम तत्व पर विचार किया जाता है। जैन चिंतकों के अनुसार परम तत्त्व को कोई सामान्य व्यक्ति निरपेक्षतः नहीं जान सकता है, क्योंकि उसके अनंत लक्षण होते हैं। जो भी व्यक्ति उसे जानता है अपनी दृष्टि से जानता है, अपनी अपेक्षा से जानता है। अनेकान्तवाद को स्याद्वाद के माध्यम से व्यक्त किया जाता है और उसका व्यावहारिक रूप अहिंसावाद के पालन में देखा जाता है।

2. समन्वयवादी

सापेक्षता के आधार पर ही जैन दर्शन ने सामान्य-विशेषवाद तथा नित्यानित्यवाद का प्रतिपादन किया है, जिससे समान्यतया नित्यता को मानने वाले अद्वैत वेदान्त तथा विशेष और अनित्य को मानने वाले बौद्ध दर्शन में समन्वय होता है।

3. अनीश्वरवादी

धार्मिक दृष्टि से जैन संस्कृति अनीश्वरवादी है। ईश्वरवाद में ईश्वर ही परम तत्व होता है, जो सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता होता है। विश्व में जो कुछ होता है, वह ईश्वर की इच्छा से होता है। आवश्यकतानुसार अपनी सृष्टि की व्यवस्था में सुधार लाने के लिए ईश्वर अवतरित भी होता है। जैन धर्म न तो ईश्वर की संस्कृति में विश्वास करता है और न अवतारवाद में ही। जैन परम्परा में सबकुछ कर्मानुसार होता है। चूँकि विश्व अनादि और अनन्त है, इसलिए इसे ईश्वर जैसे सृष्टिकर्ता की आवश्यकता नहीं होती है।

4. स्वावलम्बनवादी

आलम्बन की दृष्टि से जैन संस्कृति स्वावलम्बनवादी है। क्योंकि ईश्वर को मानने वाला परावलम्बी हो जाता है। वह पूर्णतः ईश्वर पर आधारित होता है। किन्तु ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने के कारण जैन संस्कृति स्वावलम्बी है। स्वावलम्बी व्यक्ति तब होता है, जब अपनी शक्ति में विश्वास करता है। जैन परम्परावादी मानवीय शक्ति में विश्वास करता है।

5. मानवतावादी

मानव अपनी साधना के बदैलत लौकिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों को अर्जित कर सकता है। इसलिए जैन मतावलम्बी मानवतावादी होते हैं, वे मानव शक्ति को अपनाकर जीवन का विकास करते हैं।

6. समानतावादी

सामाजिक दृष्टि से जैन संस्कृति समानतावादी है। क्योंकि इसमें मानव समाज के बीच किसी प्रकार का स्तरीकरण नहीं पाया जाता है। वैदिक परम्परा में समाज को चार वर्गों में विभाजित किया गया है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इनमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ तथा शूद्र सर्वनिकृष्ट माने जाते हैं। ऐसी बात जैन समाज में नहीं है। जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा समझा जाता है। सुकर्म करने वाला श्रेष्ठ होता है तथा कुकर्म करने वाला निकृष्ट होता है।

7. अपरिग्रहवादी

आर्थिक दृष्टि से जैन संस्कृति अपरिग्रहवादी है। अपरिग्रह जैन मत के पंच महाव्रतों में से एक है, जो यह सिखाता है कि व्यक्ति को उतना ही संग्रह करना चाहिए जो जीवन यापन के लिए अनिवार्य हो। अनिवार्यता से अधिक संग्रह करने वाला चोरी करता है, बेईमानी करता है, जो दूसरों के लिए दुःखदायी होता है। दूसरों को कष्ट पहुँचना हिंसा है। अतः जैनसंस्कृति में यह माना गया है अपरिग्रह का पालन ही आर्थिक व्यवस्था के लिए समुचित मार्ग है। अपरिग्रह से मात्र आर्थिक व्यवस्था ही कल्याणकारी नहीं बनती है बल्कि अहिंसा का भी पालन होता है। अपरिग्रह के बिना किसी भी हालत में अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है।

8. समाजवादी

राजनीतिक दृष्टि से विचार करने पर जैन संस्कृति को समाजवाद के क्षेत्र में रख सकते हैं। यद्यपि जितने भी जैन तीर्थंकर हो गए हैं सबके सब क्षत्रिय थे और राजकुमार भी, जो राजतंत्र की ओर संकेत करता है, किन्तु जन्म से वे लोग भले ही राजकुमार थे, कर्म से त्यागी, तपस्वी और समाज उद्धारक थे। उनलोगों ने राज सुख का त्याग करके समाज कल्याण को अपने जीवन का परम उद्देश्य बनाया। उनलोगों ने प्राणीमात्र में समानता लाने का प्रयास किया। अतः कहा जा सकता है कि जैन संस्कृति की समाजवादी उदारता में मात्र मानव ही नहीं बल्कि अन्य सभी प्राणी भी आ जाते हैं। समानता का भाव जो समाजवाद का आधार माना जाता है, जो सुदृढ़ता जैन चिन्तन में प्राप्त है, वह अन्यत्र नहीं है। खास तौर से मानवीय समाजवाद की रीढ़ अहिंसा तो भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध को ही देन है। अहिंसा को अपनाकर ही आचार्य नरेन्द्र देव ने आदर्शवादी समाजवाद से मानवीय समाजवाद को पृथक् स्थान दिलाया है।

9. अहिंसावादी

आचार की दृष्टि से जैन संस्कृति अहिंसावादी है। अहिंसा की विवेचना जिस सूक्ष्मता के साथ जैन आचार्यों ने की है उस तरह अन्य परम्पराओं में दुर्लभ है। इसमें सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को अहिंसा के पोषक तत्वों के रूप में ही स्वीकारा गया है। इसमें यह माना गया है कि अहिंसा के बिना न तो किसी विचार में शुद्धि आती है और न कोई आचार ही सदाचार की श्रेणी में आता है। अहिंसा जीवनी शक्ति है। इससे मानव जीवन को ही नहीं बल्कि समस्त जीवनी प्रक्रिया को बल मिलता है। अहिंसा के बिना

समुचित जीवन की कल्पना तक नहीं की जा सकती है।

10. शान्तिवादी

वैश्विकदृष्टि से जैन संस्कृति शान्तिवादी है। आज का विश्व उग्रवाद और आतंकवाद के कारण अशान्त है। सब जगह हिंसा ही हिंसा व्याप्त है। कहीं धार्मिक मदान्धता से लोग त्रस्त हैं तो कहीं पर आर्थिक विषमता ने हलचल मचा रखा है। विकसित राष्ट्र ध्वंसकारी, प्रलयकारी अस्त्र-शस्त्र बनाने और बेचने में व्यस्त हैं और विकासशील राष्ट्र आपसी द्वेष के कारण अपनी-अपनी सुरक्षा तथा दूसरों पर आक्रमण करने की दृष्टि से अपनी सारी आर्थिक क्षमता को विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों को खरीदने में लगा रहे हैं। मानव जीवन की सुख-सुविधाएं अवहेलित हैं। लड़ो और मरो सिद्धांत प्रभावी है। विश्व अशान्त है। विज्ञान जितना ही आगे बढ़ता जा रहा है मानव जीवन उतना ही खतरों से लिपटता जा रहा है। ऐसी स्थिति में जैन संस्कृति या जैन संस्कृति के शान्ति वाहक विविध सदोपदेश ही प्रासंगिक हैं, जो विश्व को शान्ति प्रदान कर सकते हैं।

11. पर्यावरणवादी

जीव-जीवन सुरक्षा की दृष्टि से जैन संस्कृति पर्यावरणवादी है। आज तक मानव अपने को सभ्य बनाने की दृष्टि से अन्य जीव जन्तुओं, वनस्पति एवं वनों से अपने को दूर रखने में गर्व का अनुभव करता रहा है। किन्तु वैज्ञानिक खोजों तथा प्राकृतिक सम्पदाओं के विनष्ट हो जाने के बाद वह स्वयं अपने को मौत की ओर बढ़ता हुआ पा रहा है तो उसे अपनी सुरक्षा की बात सामने आ रही है। वह समझ रहा है कि जिन्हें वह अनुपयोगी समझकर नष्ट करता जा रहा है वे ही उसकी जीवनीशक्ति के सम्बद्धक हैं। विज्ञान से तो उसने यह जान लिया कि उसके जीवित रहने के लिए ऑक्सिजन आवश्यक है किन्तु ऑक्सिजन ईट-पत्थर से तो प्राप्त नहीं हो सकता, कल कारखानों में तो ऑक्सिजन पैदा नहीं किया जा सकता है। वह तो पेड़-पौधों से ही मिलता है। अतः पेड़-पौधों को नष्ट करके मानव स्वयं अपने को नष्ट कर रहा है। ऐसी स्थिति में पर्यावरण की सुरक्षा करके ही मानव अपने को सुरक्षित रख सकता है। पर्यावरण की सुरक्षा पर प्राचीन काल से जैन संस्कृति में विचार होता आ रहा है। जैन संस्कृति में वनस्पतिओं को भी एकेन्द्रिय जीव माना जाता है और उनकी जीवन-रक्षा का यथासम्भव प्रयास किया जाता है। अतएव जैन संस्कृति को पर्यावरणवादी मानना उचित ही है।

जैन संस्कृति का उद्भव एवं विकास

किसी भी संस्कृति या समाज की उत्पत्ति को बताने का मतबल होता है उसके इतिहास का विवेचन करना। किन्तु इतिहास प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर किये गये अनुमान के सिवाय कुछ और नहीं होता है। खोजों के आधार पर नए साक्ष्य आते रहते हैं जिससे पुराने साक्ष्य कभी-कभी महत्वहीन हो जाते हैं और नए अनुमान को प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इतिहास बदलना रहता है और निश्चितता का अभाव परिलक्षित होता है। श्रमण संस्कृति या जैन संस्कृति के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात सामने आती है। इसकी उत्पत्ति के विषय में भी कोई एक मत नहीं बल्कि कई मत दिखाई पड़ते हैं, जिससे यह

बताना मुश्किल हो जाता है कि जैन संस्कृति की उत्पत्ति कब हुई। किन्तु उन विभिन्न मतों को तो यहां देखा ही जा सकता है, जिन्होंने इसकी उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। वे सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

- (1) आर्य-अनार्यवादी सिद्धान्त (The Arya-Arnaya Based Theory)
- (2) यज्ञ-योगवादी सिद्धान्त (The Yajna-Yoga Based Theory)
- (3) प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त (The Reaction Theory)
- (4) सुधारवादी सिद्धान्त (The Reformative Theory)
- (5) सह अस्तित्ववादी सिद्धान्त

1. आर्य-अनार्यवादी सिद्धान्त

यह सिद्धान्त मानता है कि मध्य एशिया से आर्य लोग भारतवर्ष में आए और उन लोगों ने वैदिक संस्कृति की स्थापना की। उनके आने से पूर्व भी भारत में एक संस्कृति थी जिसे आर्य लोगों ने अपना विरोधी मानकर अनार्य कहा यानी जो आर्य नहीं थे। द्वेषवश आर्य लोगों ने उनलोगों को असभ्य और अविकसित घोषित किया किन्तु वास्तव में युधाकथित अनार्य लोगों की एक अपनी उन्नत परम्परा थी और वे नगरों में रहते थे। चूंकि आर्य और अनार्य लोगों के बीच सैद्धान्तिक विरोध था और आज भी वैदिक परम्परा तथा श्रमण परम्परा में सैद्धान्तिक विरोध देखा जाता है इसलिए ऐसा अनुमान किया जाता है कि श्रमण परम्परा का सम्बन्ध उस आर्यतर परम्परा से है जो आर्यों के यहाँ आने के पहले से विराजमान थी और आर्यों ने जिन्हें अनार्य कहा। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं। डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने अपने लेख “आर्यों से पहले की संस्कृति” में लिखा है-

“आर्यों के बाहर से आने की घटना कोई कल्पित नहीं है तथा उसका उल्लेख भी वेदों तक ही सीमित नहीं है। वह ऐसी घटना है जिसकी ध्वनि बाद के साहित्य में भी मिलती है; संस्कृत पुराणों में असुरों की उन्नत भौतिक सभ्यता तथा बड़े-बड़े प्रासाद और नगर बनाने की कला का उल्लेख है। ब्राह्मण, उपनिषद् और महाभारत आदि परवर्ती साहित्य में इन असुरों की अनेक जातियों का उल्लेख है, जैसे कालेय, नाग आदि। ये सारे भारत में फैले हुए थे। इनके अनेक स्थानों पर बड़े-बड़े किले थे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मण्डप इसी असुर जाति के मय नामक व्यक्ति ने बनाया था। महाभारत और पुराणों में ब्राह्मण, क्षत्रियों के साथ अनार्य नाग और दासों की शादी के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ये शान्तिप्रिय, उन्नतिशील तथा व्यापारी थे। अपने उपायों से ये भौतिक सभ्यता में बढ़े-चढ़े थे²¹।

डॉ. चौधरी ने अपने मत के समर्थन में डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के विचार को भी प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है-

“आज की नूतन सामग्री और नवीन उद्धार कार्य बतलाते हैं कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में न केवल आर्यों का श्रेय है बल्कि उनसे पहले रहने वाले अनार्यों का भी है। अनार्यों का इस सभ्यता के निर्माण में बहुत बड़ा हिस्सा है। अनार्यों के पास आर्यों से बहुत बढ़ी-चढ़ी भौतिक सभ्यता थी। जब आर्य बेघर-बार लुटेरे थे तब अनार्य बड़े-बड़े

नगरों में रहते थे। भारतीय धर्म और संस्कृति की अनेक परम्पराएं, रीतिरिवाज, प्राचीन पुराण और इतिहास अनार्यों ने आर्य भाषा में अनुदित किए हैं क्योंकि आर्य भाषा ऐसी थी जो सर्वत्र छा गई थी तथापि उसकी शुद्धि कायम नहीं रह सकी, क्योंकि उसमें अनेक अनार्य शब्द मिल गये'²²।

आज भी श्रमण संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है और इसके निर्माण में आर्य संस्कृति के साथ ही उस आर्येतर या अनार्य संस्कृति का भी बराबरी का हाथ है जो भारतवर्ष में आर्यों के आने के पहले से चल रही थी। अतः डॉ. चौधरी यह बताना चाहते हैं कि श्रमण संस्कृति उस अनार्य संस्कृति का ही रूप है जो आर्य संस्कृति का पूर्वगामी है। इनके मत के समर्थन में दो बातें साफ दिखाई पड़ती हैं।

(क) अनार्य संस्कृति का भारतीय संस्कृति के निर्माण में हाथ होना।

(ख) आज की भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में श्रमण संस्कृति का पाया जाना।

किन्तु यहाँ समस्याएं उठ खड़ी होती हैं-

(1) क्या अनार्य शब्द समय के प्रवाह में 'श्रमण' शब्द बन गया है? लेकिन अनार्य का बदला हुआ रूप 'श्रमण' हो जाए ऐसा आश्चर्यजनक लगता है। यदि 'अनार्य' का ही बदला हुआ रूप 'श्रमण' होता तो दोनों की शाब्दिक संरचनाओं में कुछ न कुछ समानता होती, जो इन दोनों के बीच नहीं है।

(2) क्या आर्यों से पहले भारत में पाई जाने वाली संस्कृति का नाम प्रारम्भ से ही 'श्रमण' था, परन्तु आर्यों ने अपने से उसकी भिन्नता दर्शाने के लिए 'अनार्य' नामकरण कर दिया। क्योंकि अनार्य और कुछ अर्थ हो या न हो लेकिन 'आर्य से भिन्न' अर्थ तो हो ही सकता है। *

भिक्षु जगदीश काश्यप ने तो स्पष्ट घोषित किया है- "सच बात तो यह है कि भारतवर्ष की मौलिक तथा आदिम संस्कृति श्रमण संस्कृति ही रही। आगे चलकर जब आर्यों का प्रवेश भारतवर्ष में हुआ तब यहाँ वैदिक संस्कृति की परम्परा की स्थापना हुई। श्रमण संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति दोनों के परस्पर मिश्रण तथा आदान-प्रदान से हमारे देश की जो संस्कृति बनी, उसे हम हिन्दू संस्कृति कहते हैं'²³।

डॉ. चौधरी के विचार में अस्पष्ट ढंग से तथा डॉ. चटर्जी और भिक्षु काश्यप के कथन में स्पष्ट ढंग से यह बताया गया है कि श्रमण संस्कृति, वैदिक संस्कृति या आर्य संस्कृति के पहले से है। किन्तु कितना पहले से है तथा कब इसकी उत्पत्ति हुई यह नहीं कहा गया है। इससे श्रमण संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति का पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात होता है।

(2) यज्ञ-योगवादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार वैदिक परम्परा यज्ञ प्रधान है तथा श्रमण परम्परा योग प्रधान। यौगिक प्रथा का संकेत सिन्धु घाटी सभ्यता में मिलता है। इसलिए श्रमण संस्कृति या जैन संस्कृति का सम्बन्ध सिन्धु घाटी सभ्यता से है और इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रमण संस्कृति की प्राचीनता उतनी है जितनी सिन्धु घाटी सभ्यता की प्राचीनता है।

सिन्धु घाटी की संस्कृति एवं सभ्यता- “भारत की इस प्राचीनतम सभ्यता का ज्ञान सर्व प्रथम सन् 1922 ई. में खनन-कार्य के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ। जमीन के भीतर से इस सभ्यता के अवशेषों को खोद निकालने का श्रेय डॉ. राखालदास बनर्जी तथा राय बहादुर श्री दयाराम साहनी को है। सिन्धु में कुछ बौद्ध अवशेषों की खुदाई के दौरान डॉ. बनर्जी को चित्रलिपि में कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण लेख मिले, जिनके कारण हड़प्पा और मोहनजोदरो में बहुत बड़े पैमाने पर खुदाई की गई, इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी सभ्यता का ज्ञान हुआ”²⁴।

सैधव सभ्यता अथवा सिन्धु घाटी सभ्यता से सम्बंधित प्राप्त सामानों से अनुमान लगाया जाता है कि उसका प्रारम्भ ईसा से 5 हजार वर्ष पहले तथा विनाश ईसा से 2750 वर्ष पहले हुआ होगा। डॉ. राजबली पाण्डेय ने सिन्धु घाटी सभ्यता का समय ई. पूर्व 4000 वर्ष माना है। डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार उस सभ्यता का काल ई. पूर्व 3250 वर्ष से ई. पू. 2750 वर्ष हो सकता है।

शिव पूजा सिन्धु घाटी में होती थी, उसके प्रमाण वहाँ के भग्नावशेषों से प्राप्त हुए हैं। एक मुद्रा पर अंकित चित्र को देखने से ऐसा लगता है कि जिस रूप में आज शिव की पूजा होती है करीब-करीब वही रूप सिन्धु घाटी सभ्यता के लोगों के द्वारा भी पूजित था। प्राप्त चित्र में एक योगी योगासन लगाए बैठा है, उसके आस-पास पशु हैं, जो इस प्रकार हैं- दाहिनी ओर हाथी और सिंह, बाईं ओर गैंडा और भैंसा एवं सामने एक हिरण है। उस योगी के सिर पर कुछ लिखा भी है जो अस्पष्ट है। उसके अतिरिक्त एक योगी को सर्पों के साथ दिखाया गया है। ब्राह्मण मत के अनुसार ये सभी शिव उपासना की पुष्टि करते हैं, किन्तु श्रमण मत में वे मात्र योगियों के चित्र हैं। जैन मतावलम्बियों के अनुसार चूँकि वैदिक परम्परा यज्ञ प्रधान है तथा जैन संस्कृति योग प्रधान है। इसलिए जैन संस्कृति का सम्बन्ध ही उन चित्रों से बनता है और इस तरह जैन संस्कृति तथा सिन्धु घाटी सभ्यता में निकटता का सम्बन्ध है।

यद्यपि शिव की पूजा वैदिक संस्कृति में होती है परन्तु शिव की अधिक बातें श्रमण परम्परा से मिलती है जैसे-

(1) साधनामय जीवन- शिव का जीवन साधनामय देखा जाता है। वे सदा कैलाश की हिमाच्छादित चोटी पर साधनारत रहते हैं। उनके शरीर पर पूरा वस्त्र भी नहीं होता है। मृगछाल धारण करने के बावजूद भी वे अर्धनग्नावस्था में रहते हैं। उनका खान-पान भी विचित्र है। वे भांग, धतूर आदि ग्रहण करते हैं। शिव को कभी किसी ने मेवा-मिष्ठान खाते हुए तथा सुरापान करते हुए देखा नहीं और न ऐसी कोई चर्चा ही मिलती है। वे भूत, पिशाच आदि के साथ रहते हैं, इसलिए विद्वानों ने उन्हें अनायों का देवता भी कहा है। क्योंकि आर्यों की दृष्टि में शिव उस तरह नहीं पाए जाते हैं, जिस तरह वैदिक देवता होते हैं। वैदिक देवता स्वर्ग में रहते हैं, उनका जीवन स्वर्गिक सुख से ओत-प्रोत रहता है। वे सुरापान करते हैं तथा विभिन्न प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण धारण करते हैं। देवों के अधिपति इन्द्र को हमेशा यह चिन्ता बनी रहती है कि कहीं उनसे स्वर्ग का सुख न छिन जाए। इस प्रकार

कहा जा सकता है कि शिव का जीवन योगवादी है जबकि वैदिक देवों का जीवन भोगवादी है।

(2) समता- शिव समतावादी हैं। उनके यहाँ पशु तथा अन्य जीव-जन्तुओं को स्नेह प्राप्त होता है। जिन भयावह जीवों से लोग डरकर अलग रहना पसन्द करते हैं वे सभी उनके आस-पास होते हैं। सर्प तो शिव के शरीर से लिपटा रहता है। मानव ही नहीं पशु-पक्षियों के आश्रयदाता होने के कारण उन्हें पशुपति नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

(3) समन्वयवादिता- शिव के परिवार में एक विचित्र समन्वयवादिता देखी जाती है। उनके साथ वृषभ, सिंह, मोर, सर्प, चूहा सभी मिल-जुलकर रहते हैं। कोई किसी का घात नहीं करता है, यद्यपि सामान्यतः ये सभी एक-दूसरे के विरोधी माने गये हैं।

ये सभी बातें-साधना, समता, समन्वयवादिता जैन संस्कृति में देखी जाती है जो शिव और जैन संस्कृति को बहुत नजदीक ला देती है। यदि उन्हें अनार्य का देवता मान लिया जाता है तब तो जैन संस्कृति और शिव का सम्बन्ध और अधिक सुदृढ़ हो जाता है। इस तरह शिव के रूप में या एक सामान्य योगी के रूप में पाया जाने वाला चित्र जैन संस्कृति को सिन्धुघाटी सभ्यता से मिला होता है और इस योगवादी आधार को मानने वाले यह स्वीकार करते हैं कि जैन संस्कृति की प्राचीनतम सिन्धुघाटी सभ्यता की प्राचीनता से मिलती-जुलती है।

(3) प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त

यह सिद्धान्त मानता है कि ब्राह्मणवाद या वैदिक विधि विधानों से समाज जब त्रस्त हो गया तब उससे त्राण जाने के लिए प्रतिक्रिया स्वरूप एक नई चिन्तनधारा का जन्म हुआ जो श्रमण परम्परा के नाम से जाना गया। यह वस्तुवादी उत्तेजक विचार (श्रमण-सिद्धान्त)* बहुत से विद्वानों के द्वारा उल्लिखित है किन्तु इसकी उत्पत्ति तथा महत्त्व को विभिन्न रूपों में विश्लेषित किया गया है। सामान्य धारणा यही है कि यह उत्तेजक विचार वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रस्तुत हुआ²⁷। जैन संस्कृति में यज्ञ एवं यज्ञवादी हिंसा का विरोध देखा जाता है। वर्ण व्यवस्था भी इस परम्परा में मान्य नहीं है। ब्राह्मणवाद में ब्राह्मणों को समाज से सभी सुविधाओं को प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है जिसे वे आज भी भुना रहे हैं लेकिन सामाजिक-सुविधा के बदले समाज कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना भी उनका कर्तव्य है जिसे उस लोगों ने छोड़ रखा है। अतः समाज में प्रतिक्रिया का होना तो स्वाभाविक है। किन्तु प्रतिक्रिया कब हुई? प्रतिक्रिया क्या भगवान महावीर के समय में हुई, क्या ऋषभदेव के समय में हुई या उनसे भी पहले हुई इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं होती है। महावीर के समय में जैन संस्कृति का सबसे ज्यादा विकास हुआ, इसलिए कहा जा सकता है कि ब्राह्मणवाद के विरोध में सबसे ज्यादा प्रतिक्रिया ई. पूर्व छठी शताब्दि में हुई। किन्तु प्रतिक्रिया का प्रारम्भ तो उसे नहीं मान सकते क्योंकि भगवान महावीर तो 24वें तीर्थंकर हो गए हैं।

यदि ऋषभदेव को जैन संस्कृति का जन्मदाता मानते हैं तो कह सकते हैं कि उनके समय में ही ब्राह्मणवाद के विरोध में सामाजिक प्रतिक्रिया हुई। लेकिन यदि श्रमण

परम्परा को ऋषभदेव से भी पहले का मानते हैं तब यह भी मानना होगा कि प्रतिक्रिया ऋषभदेव से पहले हुई और जैन संस्कृति का श्रीगणेश हुआ।

यह सिद्धान्त वैदिक चिन्तन के विरोध में था जबकि उत्तर-पश्चिम में वैदिक विचार तथा इसके बीच सन्धि का रूप था। जैन तथा बौद्ध साहित्य में इसका पहला रूप मिलता है तथा गीता आदि वैदिक साहित्य इसका दूसरा रूप दिखाई पड़ता है। रागड़े तथा बेलवलकर के अनुसार उपनिषदों में उन धर्म विरोधी चिन्तकों के होने के प्रमाण मिलते हैं जो वैदिक परम्परा के विरोधी थे। मैं (डॉ. पाण्डेय) ने स्वयं माना है कि वैदिक परम्परा में यति और मुनि के सन्दर्भों को देखते हुए धर्म विरोधिता को और पहले भी देखा जा सकता है। मैंने यह भी तर्क किया है कि धर्म विरोधिता कर्म तथा पुनर्जन्म सिद्धान्तों के साथ ही सन्यासवाद तथा योग में भी मिलती है। इस रूप में यह धर्म विरोधी धारा (श्रमण धारा) को सिन्धु सभ्यता में पायी जा सकती है। किन्तु यह तबतक मात्र एक सम्भावना है जबतक कि सिन्धु लिपि को जान नहीं लिया जाता है²⁵।

डॉ. मोहनलाल मेहता ने अपनी रचना जैन संस्कृति (Jaina Culture) में सुदृढ़ता के साथ यह प्रतिपादित किया है कि जैन संस्कृति का स्रोत सिन्धु सभ्यता में पाया जाता है। उन्होंने लिखा है कि सिन्धु सभ्यता वैदिक युग की आर्य संस्कृति से बिल्कुल भिन्न है। सिन्धु तथा वैदिक संस्कृतियों की तुलना से यह ज्ञात होता है कि दोनों असम्बन्धित थे। वैदिक धर्म प्रतिमावादी नहीं है जब मोहनजोड़रो तथा हड़प्पा में प्रत्येक जगह प्रतिमावाद के संकेत मिलते हैं। मोहनजोदारो के घरों में प्रायः अग्निवेद का अभाव पाया जाता है। मोहनजोदारो में अनेक नग्न चित्र पाए गए हैं जिनके व्यक्तित्व से ऐसा लगता है कि वे योगियों के सिवा और किसी के चित्र नहीं है। प्रतिमावाद तथा नग्नता जैन संस्कृति के मुख्य दो लक्षण हैं। मोहनजोदारो में प्राप्त नग्न चित्र स्पष्टतः संकेत करते हैं कि सिन्धु सभ्यता के लोग सिर्फ योग-साधना ही नहीं करते थे बल्कि योगियों की पूजा भी करते थे। सिन्धु सिक्कों पर खुदे हुए देव-चित्रों में से खड़े देवचित्र से कायोत्सर्ग आसन का बोध होता है। यह योगासन या साधना विलक्षणतः जैनासन है। अर्थात् जैन संस्कृति का स्रोत सिन्धु सभ्यता में प्रमाणित होता है²⁶।

(4) सुधारवादी सिद्धान्त- (The Reformation Theory) श्रमण संस्कृति के विषय में एक सुधारवादी सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है जो यह मानता है कि जैन तथा बौद्ध धर्मों को वैदिक धर्म अथवा हिन्दूधर्म के दोषों को दूर करके उसमें सुधार लाने वाला प्रतिपादित किया गया है। इस सम्बन्ध में “नगेन्द्र नाथ घोष ने लिखा है कि छठी शताब्दी पूर्व दो धार्मिक आन्दोलनों के लिए प्रसिद्ध है। इसमें जैनधर्म तथा बौद्धधर्म हिन्दू धर्म के सुधारक के रूप में उत्पन्न हुए, लुथर और कालविन की तरह महावीर और गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म में प्रचलित बुराइयों के विरोध में आवाज बुलन्द की। अतः जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म उसी प्रकार विरोधी अथवा सुधारवादी हिन्दू धर्म (Protestant Hinduism) कहे जा सकते हैं जिस प्रकार सुधारवादी लुथरवादी (Lutherianism) तथा कालविनवाद (Calvinism) को विरोधी ईसाई धर्म (Pertestant Christianity) कहते हैं²⁸।

प्रतिक्रियावाद तथा सुधारवाद में कुछ भिन्नताएं देखी जा सकती हैं प्रतिक्रियावाद तथा सुधारवाद दोनों में ही विरोध की बातें होती हैं किन्तु जिस स्तर पर विरोध प्रतिक्रियावाद में देखा जाता है उसी स्तर पर विरोध सुधारवाद में नहीं होता है। सुधारवाद के विरोध में भी एक सहानुभूति सन्निहित होती है। सुधारवाद में अलगाव नहीं होता जो प्रतिक्रियावाद में होता है। इसीलिए जैन तथा बौद्ध धर्मों के लिए सुधारवादी हिन्दू धर्म नाम आया है²⁹।

(5) सह-अस्तित्ववादी सिद्धान्त- (The Theory of Co-Existence) आज के इतिहासकार यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि आर्य लोग भारतवर्ष में मध्य एशिया से आए और यहाँ के रहने वालों को पराजित करके अपनी परम्परा स्थापित की तथा यहाँ के मूल वासियों को अनार्य संज्ञा से सम्बोधित किया। अतः आर्य-अनार्य के आधार पर पहले से मान्य किसी सिद्धान्त को ये नहीं मानते। आज का इतिहास मानता है कि यहाँ पर आदि काल से ही दो धाराएं प्रवाहित हो रही हैं। डॉ. वी. एस. पाठक³⁰ के शब्दों में-

“आदिम आर्यों में संचरण-शील युग से ही दो भिन्न परम्परयें विकसित हुईं- एक चरण की और दूसरी श्रमण की। वैदिक चरण के समान ही श्रमण था। यदि चरण संचरणशीलता का अभिधान है तो श्रमण भी (क्रम < श्रम = पाद प्रक्षेप)। देवेन्द्र मुनि ने भी इसका समर्थन किया है कि श्रमण साधु सदा भ्रमण करते रहते हैं लिखा है- “श्रमण-संस्कृति सन्त आदिकाल से ही घुमवकड़ रहा है। घूमना उसके जीवन की प्रधान के चर्या रही है। वह पूर्व (अथर्ववेद 15/1/2/1), पश्चिम (अथर्ववेद 15/1/2/15), उत्तर (अथर्ववेद) और दक्षिण आदि सभी दिशाओं में अप्रतिबद्ध रूप में विहार करता है। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर उसे अप्रतिबद्ध विहारी कहा गया है। वर्षावास के समय को छोड़कर शेष आठ माह तक वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर विचरता रहता है। भ्रमण करना उसके लिए प्रशस्त माना गया है। यहाँ समझने की बात यह है कि आदिम आर्य कौन थे? अथवा प्राक्-ऋग्वेदीय आर्य कौन थे? आदिम आर्य कहीं से आए नहीं बल्कि भारतवर्ष में ही थे और इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत था। ये भारतवर्ष से बाहर भी कई देशों में बसे थे। यह ‘आर्य’ शब्द भारत्योरोपीय (Indo-European) शब्द भण्डार का शब्द है। इसे वैदिक परम्परा की सीमा में बांधा नहीं जा सकता है बल्कि इसे वैदिक संस्कृति से भिन्न मानना ही श्रेयस्कर है। अतः आर्य-अनार्य मान्यता से भिन्न डॉ. पाठक ने श्रमण का इतिहास बताया है। उन्होंने लिखा है-

“विविध साक्ष्यों के आधार पर श्रमण संस्कृति की प्राचीनता ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दि के करीब स्थिर की और उसके विकास के विभिन्न स्तरों का उपन्यास किया। आजीवक, जैन और बौद्ध धर्म इसी पुरातन श्रमण संस्कृति का षष्ठ शती में अभिव्यक्त उत्थान है”³¹।

पुनः डॉ. पाठक ने ऋग्वेदीय युग के पहले की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि इस युग से पहले यानी आदि युग में भारतवर्ष में आर्य संस्कृति थी जिसके अन्तर्गत अनेक उपसंस्कृतियाँ थी। श्रमण तो थे ही उनके अतिरिक्त मुनि, यति, ब्राह्मण,

परिव्राजक आदि थे जिनकी अपनी विशेषताएं थीं। डॉ. पाठक का यह विचार सामान्यतः पाए जाने वाले मतों से भिन्न है। 'मुनि' शब्द प्रायः श्रमण तथा वैदिक परम्पराओं में मान्य है। 'परिव्राजक' बौद्ध परम्परा में व्यवहृत होता है। 'व्रात्य' तथा 'यति' शब्दों को जैन विद्वान् जैन परम्परा का मानते हैं। किन्तु डॉ. पाठक ने लिखा है-

“मुनि प्राग्वेदीय आर्य शब्द और जीवन पद्धति है। यति भी प्राग्वेदीय थे उनका उत्स भारतेरानी काल तक जाता है। पालि-प्राकृत साहित्य के खत्तिय ऋग्वेदीय वर्ण व्यवस्था के क्षत्रिय के समकक्ष नहीं थे किन्तु प्राचीन क्षम-क्षग्र-क्षायथ्य परम्परा की परिणति थे। समण-ब्राह्मण युग में प्रयुक्त ब्राह्मण भी ब्राह्मण वर्ण से भिन्न था”³²।

यदि सह-अस्तित्ववादी सिद्धान्त के अनुसार, यह मान लिया जाता है कि आदिकाल से श्रमण और वैदिक परम्पराएं स्वतंत्र रूप से साथ-साथ चली आ रही हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि परिस्थितिवश इन दोनों के बीच मात्र विरोध ही नहीं बल्कि वैचारिक एवं व्यावहारिक आदान-प्रदान तथा आपसी सहयोग का भी होना स्वाभाविक है। इस तथ्य को समझने के लिए इन दोनों से सम्बन्धित उन पारिभाषिक शब्दों को विश्लेषित करना भी आवश्यक है जो अपने आपमें महत्वपूर्ण हैं-

मुनि- मुनि शब्द के दो अर्थ बताए गए हैं³³-

(क) मौन व्रत धारी (अमरकोष 242)

(ख) अतीन्द्रियार्थदर्शी (ऋ. 10.136.2. पर सायण)

जैन परम्परा में साधु लोगों को मुनि कहकर सम्बोधित किया जाता है। वैदिक परम्परा में भी ऋषि, मुनि शब्द बहुत ही प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से कोई भी परम्परा यदि यह दावा करती है कि मुनि शब्द मात्र उसी का है तो ऐसा मानना सही नहीं है। साधना के लिए मौन धारण करना, मौन व्रत का पालन करना तो आवश्यक माना जाता है। अतः किसी परम्परा का साधु या साधक ऐसा कर सकता है। यद्यपि जैन परम्परा साधना प्रधान है किन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि वैदिक परम्परा में साधना का बिल्कुल अभाव है।

‘अतीन्द्रियार्थदर्शी’ अर्थात् ज्ञानी यह अर्थ भी बताता है कि मुनि दोनों ही परम्परा में हो सकते हैं। ज्ञानी तो किसी भी परम्परा में होते हैं। ऐसी कौन सी परम्परा है कि जिसमें मात्र अज्ञानी ही होते हैं। अज्ञान समाप्त हो जाए और ज्ञान की प्राप्ति हो इसीलिए तो साधक साधना करता है। अतः तर्क संगत तो यही है कि मुनि शब्द जैन तथा वैदिक परम्परा दोनों का ही है।

व्रात्य- व्रात्य शब्द 'व्रत' से बना है। डॉक्टर हेवर के अनुसार व्रात्य वह है जो व्रतों के लिए दीक्षित हो चुका है। व्रात्य वह है जिसने आत्मानुशासन के उद्देश्य से इच्छा पूर्वक व्रत को अपना लिया है³⁴। देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने व्रत का मूल अर्थ बताते हुए कहा है कि यह एक धार्मिक संकल्प है। अतः इस संकल्प में जो साधु है, कुशल है वह व्रात्य है³⁵। डॉ. ग्रीफिथ के विचार में व्रात्य धार्मिक पुरुष माने गए हैं³⁶। मैकडोलन तथा कीथ के मत में व्रात्य व्रतों का पालन करते थे, वे अर्हन्तों के उपासक थे तथा प्राकृत उनकी भाषा थी।

उनके साधु क्षत्रिय तथा ब्राह्मण थे³⁷। ब्राह्मणों में ब्राह्मण संज्ञा उनके लिए उपयुक्त कही गई है जो पूर्ण ब्रह्मचारी है³⁸। इन्हीं अर्थों में ब्राह्मण परम्परा को श्रमण परम्परा कहा गया है और ऋषभदेव को ब्राह्मण कहा गया है। ब्राह्मण जैन संत थे और व्रत जैनाचार की ही चीज है इसका समर्थन दिनकरजी के शब्दों में मिलता है-

“हिन्दुत्व और जैनधर्म आपस में घुल-मिल कर इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं”³⁹।

वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों के दो अर्थ किए गए हैं। एक अर्थ में ब्राह्मणों को धृष्ट तथा आचारहीन कहा गया है किन्तु दूसरे अर्थ में उन्हें विद्वान एवं पुण्यशील कहा गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मणों की वह सन्तान जो उपनयन रहित है गुरुमंत्र से हीन है वह ब्राह्मण है⁴⁰। ताण्डय महाब्राह्मण के भाष्य में सायण ने भी ब्राह्मणों को आचारहीन घोषित किया है⁴¹। सम्भवतः इन्हीं निन्दनीय अर्थों से प्रभावित होकर आचार्य हेमचन्द्र ने भी अभिधानचिन्तामणि कोष में ब्राह्मणों को आचार तथा संस्कार से हीन माना है⁴²।

किन्तु अथर्ववेद में ब्राह्मणों के लिए विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील आदि विशेषण बताए गए हैं।

वातरशना मुनि

मुनि के लिए एक अन्य शब्द ‘वातरशन’ भी देखा जाता है। ‘मैकडोनेल और कीथ इसका ‘वातमेखला’ से यन्द अर्थात् नग्न अर्थ करते हैं⁴³। इसका दूसरा अर्थ है-प्राणवायु का नियमन करने वाले⁴⁴। ऋग्वेद में वातरशना मुनि की चर्चा पाई जाती है। उससे ज्ञात होता है कि वातरशना मुनि अतीन्द्रियार्थदर्शी होते हैं और मलधारण करते हैं। मल के कारण उनका शरीर पिंगलवर्ण का दिखाई पड़ता है। वे प्राणोपासना करते हैं। जब वे प्राणोपासना के समय वायु की गति को रोक देते हैं तो अपने तप के प्रकाश से प्रकाशित होकर देवता के समान हो जाते हैं। वे लौकिक व्यवहारों से ऊपर उठकर मौनेय की अनुभूति करते हैं। वे वायु में स्थित होकर कहते हैं- हे मर्त्यो! तुम सिर्फ हमारा शरीर देखते हो⁴⁵। वातरशना मुनि श्रमण परम्परा के थे। श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर यह जैन मान्यता है कि वातरशना परम्परा को विकसित करने के लिए भगवान विष्णु ने ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था⁴⁶। वातरशना मुनि के विषय में देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने लिखा है- “वातरशना मुनि वैदिक परम्परा के नहीं थे। क्योंकि वैदिक परम्परा में संन्यास और मुनि पद को पहले स्थान नहीं था। श्रमण शब्द का उल्लेख तैत्तरीयारण्यक और श्रीमद्भागवत के साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद् और रामायण में भी मिलता है। इण्डोग्रीक और इण्डो-सीथियन के समय भी जैन धर्म श्रमण धर्म के नाम से प्रचलित था। मेगास्थनीज ने अपनी भारत यात्रा के समय दो प्रकार के मुख्य दार्शनिकों का उल्लेख किया है। श्रमण और ब्राह्मण उस युग के मुख्य दार्शनिक थे। उस समय उन श्रमणों का बहुत आदर होता था⁴⁷।

अर्हन्

'अर्हन्' श्रमण परम्परा का बहुत ही प्रसिद्ध एवं प्रचलित शब्द है। इसका मूलरूप है- अरिहन्त। अरि+हन्त=अरिहन्त, अर्थात् जिसका कोई शत्रु नहीं है। अर्हन् तथा अर्हन् समानार्थी है। अर्हत् उन्हें कहते हैं जो राग द्वेष से ऊपर उठे हुए वीतरागी होते हैं। ऐसे लोग ही तीर्थंकर होते हैं। जो लोग अर्हन् या अर्हत के अनुयायी होते हैं उन्हें आर्हत कहते हैं। आर्हत लोग जैन तथा प्रधानतः क्षत्रिय होते हैं। आर्हतों की चर्चा वैदिक पुराणों में हुई है। विष्णु पुराण में आर्हतों के विषय में विशेष बातें मिलती हैं। उसके अनुसार आर्हत धर्म के मानने वाले असुर थे। किसी मायामोह नामक व्यक्ति ने असुरों को आर्हत धर्म में दीक्षित किया था। असुरों का विश्वास वेदों में नहीं था। वे यज्ञ तथा पशुबलि के भी विरोधी थे। श्राद्ध तथा कर्मकाण्ड को वे लोग नहीं मानते थे। वे लोग अहिंसा धर्म में आस्था रखने वाले थे। जैन दर्शन के प्रसिद्ध सिद्धान्त अनेकान्तवाद का निरूपण मायामोह के द्वारा ही हुआ था⁴⁸।

ऋषभदेव

ऋषभदेव जैन परम्परा में आदि तीर्थंकर माने गए हैं। वे अयोध्या के राजकुमार थे। उनके पिता का नाम नाभिराय तथा माता का नाम मरुदेवी था। भागवत पुराण के अनुसार भगवान् विष्णु ने वातरशना मुनियों के धर्म को स्थापित करने के लिए मरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था। जब उनका जन्म हुआ तो पंडितों ने भविष्यवाणी की कि यह राजकुमार अपनी परम्परा एवं धर्म से भिन्न किसी परम्परा एवं धर्म की स्थापना करेगा। उनके विषय में डॉ. पाठक ने लिखा है- "ऋषभदेव के चरित्र की त्रिपथगा शैव, वैष्णव और जैन पुराणों में मिलती है और उसमें यथेष्ट भिन्नता है। शैव पुराणों में ऋषभदेव के चरित्र पर पाशुपत योग का स्पष्ट प्रभाव है। वैष्णव पुराणों में विष्णु के विभवावतार रूप में ऋषभदेव पर भागवतीय प्रभाव परिलक्षित होता है, जबकि उन दोनों से यथेष्ट रूप में भिन्न जैन आदि पुराण में ऋषभदेव का चरित व्याख्यान है। भागवत के इस विवरण में विसंगतियाँ भी हैं- शतपुत्र उत्पन्न करने वाले गृह में विधर्म का अनुवर्तन करने वाले नरेश ऋषभदेव को वातरशन उर्ध्वमंत्री और श्रमण कहना सुसंगत तो नहीं। यह स्पष्टतः वैखानस आदि भागवतीय सम्प्रदाय के ढांचे में जैन आख्यान को प्रस्तुत करने का प्रयास दिखाई देता है।"⁴⁹

चौबीस तीर्थंकर- जैन संस्कृति में चौबीस तीर्थंकर यानी धर्म प्रवर्तक हो गए हैं- ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपाशर्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदत्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अर्नतनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतोनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पाशर्वनाथ, महावीर स्वामी जिनके प्रतीक चिन्ह क्रमशः इस प्रकार हैं - बैल, गज, अश्व, बन्दर, चकवा, कमल, नन्द्यावर्त, अर्द्धचन्द्र, स्वास्तिक, गैंडा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, हरिण, छाग, तगर, कुसुमा (मत्स्य), कलश, उत्पल (नीलकमल), शंख, सर्प, सिंह आदि।

जैन मतानुसार ऋषभदेव सिर्फ प्रथम तीर्थंकर ही नहीं थे बल्कि वे सभ्यता और संस्कृति के संस्थापक भी थे। उनसे पहले कोई सांस्कृतिक व्यवस्था नहीं थी। उन्होंने अंसि, मसि और कृषि की शिक्षा दी। अपने पुत्र भरत को उन्होंने 72 कलाओं की शिक्षा दी। आज का प्रसिद्ध भरतनाट्यम् ऋषभदेव के पुत्र के नाम से ही प्रसिद्ध है। ऋषभदेव ने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को लिपि की शिक्षा दी जो ब्राह्मी लिपि के नाम से जानी जाती है। अपनी छोटी पुत्री सुन्दरी को उन्होंने गणित की शिक्षा दी। इस प्रकार उन्होंने अपने समाज को सभ्य और संस्कृत बनाया। किन्तु ऐसा मान लेने पर यहाँ कई प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं।

1. जैन संस्कृति का उद्भव

जो लोग यह मान चुके हैं कि आर्य लोगों का भारतवर्ष में आना सही है। उनसे पहले यहाँ पर एक विकसित संस्कृति थी जिसे आर्यों ने अनार्य कहा और उस संस्कृति से ही श्रमण संस्कृति का प्रारम्भ हुआ यानी जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति या अन्य संस्कृति की पूर्वगामिनी है। उनके विचार गलत प्रमाणित हो जाएंगे।

2. आदियुग की दो सांस्कृतिक धाराएं- जो लोग यह नहीं मानते हैं कि यहाँ कोई आर्य आया बल्कि सही यह है आदिकाल से ही यहाँ दो धाराएं प्रवाहित हो रही हैं- चरण या वैदिक तथा श्रमण। उनके अनुसार भी यह कहा जा सकता है कि श्रमण परम्परा ऋषभदेव से पहले से आ रही है। यदि ऋषभदेव से ही संस्कृति शुरू हुई होती तो दो सांस्कृतिक परम्पराओं का आदियुग से ही साथ-साथ चलने की बात नहीं कही जाती।

3. अवतारवाद का प्रभाव- जैन परम्परा में अवतारवाद का खण्डन हुआ है। ईश्वरवाद में ईश्वर सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता होता है। विश्व में जो कुछ होता है वही उसका कर्ता होता है। यदि यह मान लिया जाता है कि ऋषभदेव से पूर्व कोई संस्कृति नहीं थी, उन्होंने ही सब तरह की शिक्षाएं दी और सारी व्यवस्था की तो उसे अवतारी चमत्कार के सिवा कुछ और नहीं कहा जा सकता है जो जैन चिन्तन के विरोध में होगा।

4. मानववाद का विरोध- जैन परम्परा मानववाद की समर्थक है। यह मानवी शक्ति में विश्वास करता है। मानवीशक्ति के माध्यम से जो कुछ होता है वह धीरे-धीरे होता है, विकास क्रम में होता है। इसमें ऐसा नहीं होता कि एक ही व्यक्ति सबकुछ कर डाले। किन्तु ऋषभदेव को तो सर्वकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह तर्कसंगत ज्ञात नहीं होता है।

5. अनेकान्तवाद का विरोध- जैन चिन्तन में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन हुआ है जिसके अनुसार एक तत्त्व नहीं बल्कि अनेक तत्त्वों को अपेक्षाकृत महत्व दिया गया है। किन्तु ऋषभदेव को ईश्वरवाद के ईश्वर की तरह सर्वकर्ता के रूप में प्रस्तुत करके एक तत्त्व को महत्व देने से अनेकान्तवाद का विरोध होता है।

6. स्वविरोध- जब एक ओर यह कहा जाता है कि ऋषभदेव राजकुमार थे और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि उनसे सभ्यता और संस्कृति शुरू होती है तो यहाँ वदतोव्याघात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि ऋषभदेव यदि राजकुमार थे, उनके माता-पिता

रानी-राजा थे तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उस समय कोई सभ्यता-संस्कृति नहीं थी। राज व्यवस्था का होना ही प्रमाणित करता है कि ऋषभदेव से पहले सभ्यता थी, संस्कृति थी।

ऋषभदेव जैन संस्कृति के उन्नायक

सामने आई विभिन्न समस्याओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैन संस्कृति ऋषभदेव के पहले से चली आ रही थी उन्होंने उसका विकास किया। चूंकि वे राजा थे इसलिए सभी ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में उन्हें प्राथमिकता दे दी गई है। वास्तव में उन्होंने अपने कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से जैन संस्कृति को आगे बढ़ाया, उसमें समयानुसार विविध सुधार किए। इसलिए उन्हें जैन संस्कृति का संस्थापक या जन्मदाता न मानकर उन्नायक मानना श्रेयस्कर है। वे प्रथम तीर्थंकर थे इसमें कोई शक नहीं। उन्होंने चार संघों की स्थापना की - श्रमण संघ, श्रमणी संघ, श्रावक संघ तथा श्राविका संघ। ऐसा तो सभी तीर्थंकरों ने किया है। तीर्थंकर शब्द से ही यह जाना जाता है। क्योंकि तीर्थ का अर्थ होता है संघ।

नेमिनाथ

नेमिनाथ को 22वें तीर्थंकर के रूप में जाना जाता है। उनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी है। वे सौर्यपुर के राजा समुद्रविजय के सुपुत्र तथा राजा अन्धकवृष्णि के सुपौत्र थे। द्वारका के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमति से उनकी सादी निश्चित की गई थी। किन्तु अपनी शादी के अवसर पर दिए जाने वाले भोज की तैयारी में कटने वाले पशु-पक्षियों के चीत्कार को सुनकर उनका दिल द्रवित हो गया और उन्होंने शादी से विमुख होकर रैवत (गिरनार) पर्वत पर श्रमणधर्म को अपना लिया। वहीं पर कठोर साधना के बाद उन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे तीर्थंकर बने।

नेमिनाथ के विषय एक जैन मान्यता है कि वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। इस सम्बन्ध में जैन विद्वानों का यह दावा है कि यदि कृष्ण की सत्ता को समाज स्वीकार करता है तो उसे नेमिनाथ की सत्ता को भी स्वीकार करना चाहिए। यह तर्क तो ठीक है किन्तु एक समस्या सामने आती है कि कृष्ण को द्वापर युग का माना जाता है जो ऐतिहासिक गणना से बहुत ही पहले की चीज है या यह भी कह सकते हैं कि वह ऐतिहासिक बोध से परे है। नेमिनाथ पार्श्वनाथ के पूर्वगामी थे। महावीर का समय ई. पूर्व छठी शती माना जाता है। पार्श्वनाथ महावीर से 250 वर्ष पहले हो गए हैं। अतः अनुमान किया जा सकता है कि नेमिनाथ पार्श्वनाथ से 250-300 वर्ष पहले हुए होंगे। इस हिसाब से नेमिनाथ का समय ई.पूर्व 10वीं, 11वीं शती हो सकता है जब कृष्ण का समय ऐतिहासिक गणना से परे है और नेमिनाथ का अनुमानित समय 10वीं, 11वीं शती ई.पू. है तो दोनों समकालीन और चचेरे भाई कैसे हो सकते हैं।

नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे अथवा नहीं यह कहना तो कठिन है। लेकिन एक तर्क सामने आता है जिसके द्वारा महाभारत काल में नेमिनाथ के होने की सम्भावना बढ़ जाती है। वह है महाभारत में अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन। गीता जो महाभारत,

महाकाव्य का एक हिस्सा है, में कुरुक्षेत्र जो युद्ध क्षेत्र है को धर्मक्षेत्र कहा गया है⁵⁰। साथ ही कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया यह कहकर कि तुम क्षत्रिय हो और युद्ध करना ही तुम्हारा धर्म है। इन सब से पहले ही दुर्योधन ने कृष्ण के यह आग्रह करने पर कि सिर्फ पांच गांव ही पाण्डवों को दे दो ताकि आपस का द्वेषभाव समाप्त हो जाए, कहा कि हे केशव बिना युद्ध के मैं सूई के अग्रभाग के बराबर भी उन लोगों को कुछ देने वाला नहीं हूँ। उस विषम स्थिति में, युद्ध समाप्त हो जाने के बाद शान्ति और अहिंसा की बात सामने आती है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है- “अहिंसा स्वतः एक पूर्ण धर्म है और हिंसा एक अधर्म।”⁵¹

यह एक बहुत बड़ा चमत्कार जान पड़ता है। युद्ध और द्वेष के हिंसात्मक भाव से ओत-प्रोत लोगों के मन में अहिंसा का भाव जग जाना किसी चमत्कार से कम नहीं है। किन्तु ऐसा हुआ कैसे? यह विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से उस समय कोई अहिंसावादी महापुरुष रहा होगा जिसने हिंसावादी युद्ध में मारने और मरमितने वाले लोगों की दृष्टि में अहिंसा की दिव्य ज्योति भर दी और वे लोग शान्ति तथा अहिंसा के पक्षधर बन गए। वह महापुरुष नेमिनाथ ही रहें होंगे, ऐसा अनुमान करना कोई गलत नहीं होगा। क्योंकि नेमिनाथ की जीवनचर्या में यह बताया गया है कि उनकी साधना-प्रक्रिया का प्रारम्भ अहिंसा को अपनाकर ही होता है।

अतः कालगणना के आधार पर चाहे जो भी निर्णय किया जाए लेकिन महाभारत के अन्त में अहिंसा का प्रतिपादन और नेमिनाथ का अहिंसामय जीवन महाभारतकाल में उनके होने की सम्भावना को सुदृढ़ करता है और यदि यह मान लिया जाता है तो ऐसा मानने में भी संकोच नहीं होना चाहिए कि वे कृष्ण के चचेरे भाई रहे होंगे।

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ जैन परम्परा में 23वें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका समय ई. पूर्व 9वीं शती माना जाता है क्योंकि वे महावीर से 250 वर्ष पहले हुए थे और महावीर का समय ई. पूर्व छठी शती माना जाता है। वे काशी के राजा अश्वसेन तथा रानी वामा के सुपुत्र थे। उन्होंने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया। मात्र 83 दिनों की कठिन तपस्या के फलस्वरूप उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हुई, 70 वर्षों तक उन्होंने अपने ज्ञान-प्रकाश से समाज को आलोकित किया और 100 वर्षों की आयु में उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ। उनके द्वारा प्रतिपादित उपदेशों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह सिर्फ चार व्रतों को ही बताया गया है। इस सम्बन्ध में जैन विद्वानों का मत है कि ब्रह्मचर्य उनके अंतिम व्रत अपरिग्रह में ही सन्निहित था। एक अन्य धारणा यह भी है कि उनके समय में लोग बहुत ही संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले थे। अतएव उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझी। किन्तु महावीर के प्रादुर्भाव तक 250 वर्ष व्यतीत हो चुके और लोग धीरे-धीरे अपने पर संयम रखने में कमजोर हो गए। अतः महावीर को पंचमहाव्रतों, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के उपदेश देने पड़े। पार्श्वनाथ के शिष्य केशी हुए जिनकी भेंट महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रमुनि गौतम से श्रावस्ती नगर में हुई थी।

आज भी वर्तमान वाराणसी के भेलूपुर में पार्श्वनाथ का जन्म स्थान यहाँ के दर्शनीय स्थानों में से एक है। वैदिक परम्परा के लोग वाराणसी को बाबा विश्वनाथ की नगरी कहते हैं तो जैन मतावलम्बी इसे भगवान पार्श्वनाथ की नगरी मानते हैं।

महावीर

महावीर चौबीसवें तीर्थंकर तथा कालचक्र के अनुसार इस युग के अंतिम तीर्थंकर हो गए हैं। तीर्थंकर में महावीर का नाम सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है। इस कारण जैन संस्कृति या जैन धर्म के विषय में साधारण ज्ञान रखने वाले बहुत से लोग उन्हें ही जैन परम्परा का प्रवर्तक मानते हैं किन्तु बात ऐसी नहीं है। वे तो जैन परम्परा के मात्र उन्नायक थे।

श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार महावीर को विक्रमशती के प्रारम्भ से 470 वर्ष पहले मोक्ष प्राप्त हुआ था। दिगम्बर जैन परम्परा के मत में महावीर को मोक्ष की प्राप्ति शकशती के प्रारम्भ से 605 वर्ष पहले हुई थी। किसी भी हिसाब से उनका समय 577 ई. पूर्व निर्धारित होता है और चूँकि उन्होंने 72 वर्ष की आयु में मोक्ष प्राप्त किया इसलिए उनके जन्म का समय 599 ई. पूर्व माना जा सकता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे बुद्ध से कुछ वरिष्ठ थे, क्योंकि बुद्ध का समय ई. पूर्व 567 से 487 का माना जाता है²²। इस प्रकार महावीर तथा बुद्ध दोनों का ही प्रादुर्भाव ई. पूर्व छठी शती में हुआ। विकास की दृष्टि से ई. पूर्व छठी शती को श्रमण संस्कृति का स्वर्गयुग माना जाता है।

महावीर वैशाली के कुण्डपुर या कुण्डग्राम के क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ तथा रानी त्रिशला के सुपुत्र थे। वे तीन नामों से जाने जाते हैं-

- (1) वर्धमान- जब महावीर अपनी माता त्रिशला के गर्भ में थे तभी से पारिवारिक सम्पत्ति- सोना, चाँदी, रत्न आदि धन-धान्य की वृद्धि होने लगी। इसलिए उन्हें वर्धमान संज्ञा से सम्बोधित किया गया।
- (2) श्रमण- वे लगातार तपस्या में प्रसन्नतापूर्वक लगे रहे अतः उन्हें लोगों ने श्रमण कहा।
- (3) महावीर- उन्होंने सभी भय एवं आतंकों का सामना किया तथा सभी कठिनाइयों एवं कष्टों को सहा। अतः वे महावीर नाम से घोषित किए गए।

महावीर ने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया। साधुजीवन में उन्होंने सिर्फ एक वर्ष तक वस्त्र धारण किया। उसके बाद उन्होंने वस्त्र का भी त्याग कर दिया और दिगम्बर या नग्न बन गए। राजगृह के पास नालन्दा में एक जुलाहा के घर पर उन्होंने अपना दूसरा वर्षावास बिताया, जहाँ गोशाल से उनकी मुलाकात हुई। गोशाल की प्रार्थना करने पर महावीर ने उसे अपना शिष्य बनाया। कुछ दिनों तक दोनों साथ रहे। सिद्धार्थपुर में गोशाल ने एक तिल का पौधा उखाड़कर फेंक दिया जिसके विषय में महावीर ने फली देने की भविष्यवाणी की थी। गोशाल ने समझा कि महावीर की भविष्यवाणी गलत प्रमाणित हो गई किन्तु सौभाग्यवश वर्षा हुई जिससे तिल का पौधा पुनः मिट्टी में लगकर हरा हो गया और कुछ दिनों के बाद उसमें फली भी लग गई। यह देखकर गोशाल ने ऐसा मत व्यक्त किया कि प्रत्येक चीज पूर्वनिर्धारित है और हर प्राणी में पुनर्जीवन धारण करने की क्षमता है। किन्तु महावीर उसके विचार से सहमत नहीं हुए। फलस्वरूप वह उनसे अलग हो गया

और 'आजीवक' नाम का एक अपना संघ स्थापित किया³³।

महावीर लाढ़ प्रदेश में गए जो आज के पश्चिम बंगाल में है। उसके वज्रभूमि तथा शुभ्रभूमि क्षेत्रों में उन्हें नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़े। फिर उन्होंने वहाँ पर अपना 9वां वर्षाकाल बिताया। बारह वर्षों तक कठिन साधना करने के बाद 13वें वर्ष की वैशाख पूर्णिमा के दिन उन्हें ऋजुपालिका नदी के किनारे, जूमभिकग्राम नगर के बाहर, श्यामाक कृषिक्षेत्र में एक शाल वृक्ष के नीचे सर्वज्ञता की उपलब्धि हुई। उन्होंने अर्धमागधी में पंचमहाव्रतों का उपदेश दिया। महावीर ने अपने जीवन के अंतिम तीस वर्षों को एक सर्वज्ञ तीर्थंकर के रूप में बिताया। उनका अंतिम वर्षावास पावापुरी में हुआ जहाँ कार्तिक माह की अमावस्या के दिन उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया³⁴।

महावीर एक उत्तम संघ के प्रधान थे जिसमें 14000 साधु, 36000 साध्वियाँ, 159000 श्रावक तथा 318000 श्राविकाएँ थीं। इन्हें ही जैन में चार या चार तीर्थ कहते हैं जिनके संस्थापक को तीर्थंकर कहते हैं। उनमें तीन स्तर के लोग थे³⁵-

(क) श्रमण-श्रमणी या साधु-साध्वी जैसे इन्द्रभूति गौतम, चन्दना आदि।

(ख) श्रावक-श्राविका या गृहस्थ पुरुष-महिला जैसे संख, सुलशा आदि।

(ग) समर्थक-जैसे श्रेणिक (बिम्बिसार), कुणिक (अजातशत्रु), प्रद्योत, उदायन, चेलना आदि।

महावीर के पश्चात्

तीसरी शती ई. पूर्व महावीर के बाद जिन जैन संतों के नाम प्रसिद्ध हैं, वे हैं- इन्द्रभूति-गौतम, सुधर्मन, जम्बू, भद्रबाहु तथा स्थूलभद्र। इन्द्रभूति गौतम तथा सुधर्मन तो महावीर के गणधर ही थे जो उनके बाद भी जीवित रहे। सुधर्मन को भी महावीर के मोक्ष प्राप्त होने के 20 वर्ष के बाद मोक्ष प्राप्त हुआ। सुधर्मन से पहले इन्द्रभूति मोक्ष प्राप्त कर चुके थे। जम्बूस्वामि उनके शिष्य थे जिन्हें महावीर की मुक्ति के 64 वर्षों के बाद मुक्ति मिली। सुधर्मन की छोटी पीढ़ी में भद्रबाहु का नाम आया है जिनका समय ई. पूर्व तीसरी शती माना जाता है। वे अन्तिम श्रुतकेवली थे। महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष बाद उनकी मृत्यु हुई। स्थूलभद्र को सभी शास्त्रों का ज्ञान था, सिर्फ दृष्टिवाद के चार पूर्वों को छोड़कर। ऐसा माना जाता है कि नेपाल में उन्होंने भद्रबाहु से पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया था जिनमें से 10 के अर्थ तो वे सीख पाए लेकिन चार के अर्थ नहीं जान पाए। उनके बाद से शास्त्रों की क्षति होने लगी। दिगम्बर विद्वानों के अनुसार सभी प्राचीन शास्त्रों का लोप हो गया किन्तु श्वेताम्बर विद्वानों की दृष्टि में अब भी अनेक प्राचीन शास्त्र हैं। श्वेताम्बर मत में भद्रबाहु बहुत दिनों तक नेपाल में ही साधनारत रहे जिसके कारण स्थूलभद्र आदि जैन संत उनसे शास्त्र ज्ञान अर्जित करने के लिए नेपाल गए। किन्तु दिगम्बर मत में भद्रबाहु अन्य साधुओं के साथ दक्षिण भारत लौट आए। वे ही चन्द्रगुप्त के शासन-काल यानी 322 से 298 ई. पूर्व में जैन मन्दिर एवं संघ के प्रधान थे³⁶।

ई. पूर्व द्वितीय शती सुहस्ति, सम्प्रति तथा खारवेल

ई. पूर्व दूसरी शती में राजा सुहस्तिन, सम्प्रति तथा खारवेल हुए जिन लोगों ने

जैन संस्कृति के विकास के लिए यथा सम्भव प्रयास किए। सम्प्रति को जैन परम्परा के प्रति अति उत्साह था। उन्होंने सम्पूर्ण देश में जैन मन्दिर बनवाए तथा जैन साधुओं को अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए विभिन्न स्थानों पर भेजा। उन्होंने अपनी राजधानी उज्जैन में एक जैन मेला लगवाया था जिसमें प्रदर्शित भक्तिभाव को देखकर राजा सुहस्ति जो स्थूलभद्र के शिष्य थे तथा जिन्होंने सम्प्रति पर विजय भी प्राप्त की थी, अत्यन्त प्रभावित हुए। उसके परिणाम स्वरूप सुहस्तिन ने भी जैन संस्कृति के विकास के लिए विभिन्न कार्य किए। उसी समय राजा खारवेल के होने की जानकारी होती है। उदयगिरि की गुफा से प्राप्त ई. पूर्व 2सरी शती के एक लेखन से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार उन्होंने पत्थरों से निवास स्थानों की संरचना करवाई और जैन भक्तों को भारी मात्रा में उपहार दिए। खण्डगिरि, उदयगिरि तथा नीलगिरि जो उड़िसा में हैं, जैनगुफाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। आज का हाथीगुम्फा भी जैन गुफा है। इन गुफाओं के विकास में खारवेल का बहुत बड़ा हाथ माना जाता है।

कालकाचार्य तथा गर्धभिल्ल

ई. पूर्व प्रथम शती में उज्जैन के राजा गर्धभिल्ल हुए जिनका जैन मुनि कालकाचार्य से मतभेद था। कालकाचार्य की बहन सरस्वती का उन्होंने अपहरण कर लिया था और कालकाचार्य के आग्रह करने पर भी उसे नहीं छोड़ा। तब कालकाचार्य ने सिन्धु की ओर प्रस्थान किया और शकों को उज्जैन पर चढ़ाई करने के लिए उकसाया। फलस्वरूप शकों ने उज्जैन पर चढ़ाई की और गर्धभिल्ल को हराकर उसे अपने अधीन कर लिया। किन्तु गर्धभिल्ल के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य ने शकों को अपने राज्य से बाहर कर दिया। बाद में एक जैन सन्त से ही प्रभावित होकर उसने जैन संस्कृति के विकास के लिए काम किया⁷¹।

कंकाली टीला

मथुरा के कंकाली टीला पर जैन स्तूप के भी अवशेष में दूसरी शती का एक लेख मिला है जिससे जैन संस्कृति के विषय में बहुत सी बातें जानी जाती हैं, जैसे- 24 तीर्थंकर जैनधर्म में नारी-प्रभाव, दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि⁷²।

हेमचन्द्राचार्य और कुमारपाल

सन् 1094-1143 तक गुजरात के राजा सिद्धराज जय सिंह हुए जिन्होंने स्वयं शिव भक्त होते हुए भी आचार्य हेमचन्द्र को अपने दरबार के एक सम्मानित सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य हेमचन्द्र ने राजा सिद्धराज जय सिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल जिनका समय सन् 1143-1173 था, को अपने प्रभाव से जैनधर्मावलम्बी बना दिया। कुमारपाल ने गुजरात को एक जैन राज्य बनाने का प्रयास किया, साथ ही हेमचन्द्र ने सुविधा पाकर जैन ज्ञान-विज्ञान को और सुदृढ़ बनाया जिससे उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' की उपाधि से सम्मानित किया गया।

दिगम्बर-श्वेताम्बर

महावीर के संघ में दोनों ही तरह के साधु रहते थे। अचेलक जो वस्त्र धारण नहीं

करते थे तथा सचेतक जो श्वेत वस्त्र धारण करते थे। वे बाद में क्रमशः दिगम्बर तथा श्वेताम्बर नाम से जाने गए और धीरे-धीरे वे जैन संस्कृति की दो शाखाओं के रूप में विकसित हुए। भिन्न शाखाओं के रूप में स्थापित होने के कारण दोनों में कई सैद्धान्तिक भेद भी देखे जाते हैं^{११}।

श्रमण संस्कृतिक अवनत काल

यदि ई. पूर्व छठी शताब्दी को श्रमण संस्कृति का स्वर्णयुग कहते हैं तो सन् ४वीं सदी को जैन संस्कृति का अन्धकार युग माना जा सकता है। इसी समय शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने वैदिक संस्कृति की जड़ को अत्यन्त सुदृढ़ बना दिया। उन्होंने भारतवर्ष में चहुँदिस वैदिक पीठ स्थापित किये और उपनिषदों की व्याख्या की। उन्होंने औपनिषदिक ब्रह्मवाद को फिर से अपने ढंग से प्रस्तुत किया जिसका प्रभाव समाज पर पड़ा। भारतीय समाज पर सैद्धान्तिक रूप में वैदिक प्रभाव पड़ना जैन संस्कृति के लिए उतना घातक नहीं हुआ जितना कि विविध कुभावनाओं के जागृत हो जाने से श्रमण संस्कृति के प्रति अवहेलना का भाव उत्पन्न होना घातक बन गया। श्रमण संस्कृति के पारिभाषिक शब्दों के निकृष्ट अर्थ निरूपित किए गए तथा समाज में उनके गलत व्यवहार भी होने लगे, जैसे-

लुन्चा-लुच्चा

जैन साधु अपने सिर के बालों को स्वयं उखाड़ते हैं जिसे लोंच कहते हैं। लोंचना तथा नोंचना समानार्थी हैं जो साधु अपने बालों को लोंचन करता है या उन्हें उखाड़ता है उसे लुंचा कहा जाता है। लुंचा लोगों से वैदिक परम्परा का सैद्धान्तिक विरोध था। इसलिए उनके प्रति यह धारणा बनी कि वे धर्म विरोधी या अधर्मी या नास्तिक होते हैं। जो अधर्मी है वह समाज के अनुकूल नहीं है और जो समाज के अनुकूल नहीं है वह शैतान है, झूठ बोलने वाला है, अनाचारी है। अतः लुंचा शब्द अनाचारियों के लिए व्यवहृत होने लगा और वही धीरे-धीरे 'लुच्चा' बन गया जो सामान्य बोल-चाल की भाषा में प्रचलित है।

श्रावगी-कुत्ता

जैन संस्कृति में गृहस्थ के लिए 'श्रावक' शब्द निर्धारित है। श्रावक का ही बदला हुआ रूप श्रावगी (श्रावक-श्रावग-श्रावगी) है। किन्तु दक्षिण बिहार में श्रावगी शब्द कुत्ता के लिए व्यवहार में आने लगा।

बुद्ध-बुद्ध

भगवान बुद्ध को बुद्ध तब कहा गया जब उन्हें बोध गया में महाज्ञान की प्राप्ति हुई। वे महाज्ञानी थे। किन्तु उनका विचार वैदिक परम्परा या ब्राह्मण परम्परा का विरोधी था। अतः उन्हें धर्म विरोधी और नास्तिक माना गया। जो धर्म विरोधी है, जिसे धर्म का ज्ञान नहीं वह अज्ञानी है। अतः बुद्ध तथा उनके अनुयायियों को अज्ञानी घोषित किया गया। इस प्रकार अज्ञानी के लिए बुद्ध शब्द व्यवहार होने लगा और धीरे-धीरे समय के प्रवाह में 'बुद्धू' कह दिया जाता है।

इतना ही नहीं बल्कि यह भी कहा गया- “यदि पागल हाथी भी खदेड़ रहा हो तो भी किसी जैन मंदिर में नहीं जाना चाहिए”।

अर्थात् जैन मन्दिर में जाना किसी पागल हाथी से भी ज्यादा खतरनाक है। परिणाम स्वरूप त्रस्त होकर श्रमण परम्परा वालों को अपने मूल स्थान को छोड़कर यहाँ-वहाँ भागना पड़ा। बिहार तथा पूरबी उत्तर प्रदेश श्रमण परम्परा का मूल स्थान है लेकिन आज कोई भी जैन या बौद्ध ऐसा नहीं मिलेगा जो कहे कि वह बिहार या उत्तर प्रदेश का मूलवासी है। बौद्ध धर्म में जाने-आने या सवारी पर चढ़ने की कोई पाबन्दी नहीं है अतः वे लोग भारतवर्ष को छोड़कर जापान, चीन, थाईलैंड आदि देशों में चले गए। जैन धर्म में साधु पदगामी होते हैं, वे किसी सवारी पर नहीं चढ़ सकते। जैनों के लिए देश से बाहर जाना असम्भव था। अतः वे लोग अपनी सुरक्षा की दृष्टि से पश्चिम के रेगिस्तानों में तथा दक्षिण के जंगलों में चले गए।

उसके बाद भी जैनों को छोड़ा नहीं गया। श्रमण संस्कृति या जैन-बौद्ध संस्कृति क्षत्रिय संस्कृति है क्योंकि इसमें क्षत्रियों की प्रधानता है। परन्तु उन्हें निम्नस्तरीय बनाने के लिए वैश्य घोषित किया गया। इसके लिए ब्राह्मण वादियों ने तर्क यह दिया कि क्षत्रियों का धर्म युद्ध करना है। यदि उन लोगों ने युद्ध को हिंसात्मक समझकर, अहिंसा मार्ग को अपनाने के लिए व्यापार आदि करना शुरू कर दिया तो वे वैश्य हो गए। क्योंकि वर्ण व्यवस्था के अनुसार कृषि और व्यापार, वैश्यों के धर्म या कर्म है। चूँकि जैनों की संख्या कम थी, अतः परिस्थितिबश उन लोगों ने अपने को वैश्य मान लिया। यद्यपि श्रमण परम्परा में न तो वर्ण व्यवस्था है और न कोई जाति व्यवस्था ही।

श्रमण संस्कृति एक क्षत्रिय संस्कृति

‘श्रमण परम्परा मुख्यतः क्षत्रियों की और वैदिक परम्परा ब्राह्मणों की है’⁶⁰।

वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण ग्रन्थ एवं ब्राह्मण वर्ण की प्रधानता होने के कारण उसे ब्राह्मण परम्परा कहते हैं। उसी तरह श्रमण परम्परा में क्षत्रियों की प्रधानता होने से उसे क्षत्रिय परम्परा कहा जा सकता है। श्रमण परम्परा के क्षत्रिय प्रधान होने के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं-

1. चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय

जैन संस्कृति या जैन धर्म में 24 तीर्थंकर हो गए हैं वे सबके सब क्षत्रिय राजकुमार थे। सबने क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था। इतना ही नहीं बल्कि यह भी माना जाता है आगे जो 24 तीर्थंकर होंगे वे भी क्षत्रिय होंगे। गौतम बुद्ध जिन्हें बौद्ध धर्म का प्रतिष्ठापक माना जाता है, भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे।

2. महावीर के जन्म से सम्बंधित गर्भ परिवर्तन

जैन परम्परा यह मानती है कि रानी त्रिशला जिनके गर्भ से वर्धमान का जन्म हुआ, वास्तव में उन्हें अपने गर्भ में धारण नहीं किया था। उन्हें तो ब्राह्मणी महिला देवनन्दा ने अपने गर्भ में धारण किया था। किन्तु शासक या नियंत्रक इन्द्र को यह गलत जान पड़ा। तब उन्होंने हरिपोगमसी को गर्भ परिवर्तन के लिए आदेश दिया तथा स्वप्न में देवनन्दा को

यह बोध कराया गया कि क्षत्रिय सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला ने उसका गर्भ ले लिया है⁶¹। इसके समर्थन में लाला हरजस राय जैन ने जैन वारामासा की निम्नलिखित पंक्ति प्रस्तुत की है-

.... हरणगमेसी सुर ने आकर त्रिशला के उर दीना उससे छीना⁶²।

यह कथा बताती है कि जैन परम्परा में यह अत्यन्त ही सुदृढ़ धारणा है कि किसी भी हालत में तीर्थंकर का जन्म किसी ब्राह्मण कुल में नहीं हो सकता है। यद्यपि यह एक धार्मिक कथा है, आस्था है लेकिन इससे इस विचार भी कट्टरता की पुष्टि होती है कि जैन तीर्थंकर को क्षत्रिय ही होना चाहिए।

3. जैनों की क्षत्रिय उपाधियाँ

जैन लोगों की ऐसी बहुत-सी उपाधियाँ देखी जाती हैं जो क्षत्रियों की होती हैं, जैसे नाहर, सिसोदिया, सोलंकी आदि ये सभी क्षत्रियों के प्रकारों में से हैं। इससे लगता है ये लोग मूलतः क्षत्रिय हैं बाद में धर्म परिवर्तन कर लिया है। क्षत्रियों की 'सिंह' उपाधि भी जैन लोगों के नाम के साथ देखी जाती है जैसे धनराज सिंह जैन, जसवन्त सिंह जैन आदि। कुछ लोग सिंह ही नहीं बल्कि अपने नाम के पहले 'कुंवर' भी लिखते हैं जो 'कुमार' का बदला हुआ रूप है और क्षत्रिय राजकुमारों के नाम के साथ व्यवहार किया जाता रहा है। वाराणसी में ही एक मूर्तिपूजक प्रतिष्ठित जैन हैं जिनका नाम कुंवर विजयानन्द सिंह है। इससे स्पष्ट होता है जैन संस्कृति मूलतः क्षत्रिय संस्कृति है।

4. वैवाहिक प्रक्रिया

राजस्थान में जैन लोगों में आज भी वैवाहिक प्रक्रिया क्षत्रिय-पद्धति से होती है। दूल्हा पाग बांधकर बगल में तलवार लटकाए हुए घोड़ा पर सवार होकर शादी के लिए प्रस्थान करता है। जब वह कन्या पक्ष के दरवाजे पर पहुंचता है तब बाहरी द्वार पर बंधा हुआ तोरण वह तलवार से काटकर भीतर प्रवेश करता है। यह विधि भी बताती है कि जैन लोग जिन्हें आज वैश्य माना जाता है मूलतः क्षत्रिय हैं जिसकी वजह से उनके बहुत से क्रिया-कलाप वे ही हैं जो क्षत्रियों के होते हैं।

5. राज-प्रधान से धर्म-प्रधान

जैन चिन्तक मानते हैं कि जैन संस्कृति अति प्राचीन है। डॉ. पाठक जैसे विद्वान मानते हैं कि आदिकाल से ही भारतवर्ष में दो धाराएं प्रवाहित हो रही हैं - चरण (वैदिक) तथा श्रमण। कुछ लोग यह मानते हैं कि श्रमण परम्परा वैदिक परम्परा की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई। प्रतिक्रिया के रूप में श्रमण संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ज्यादा लोग यह मानने वाले हैं कि श्रमण संस्कृति प्राचीन है और बहुत पहले से स्वतंत्र रूप से चली आ रही है। परन्तु वैदिक संस्कृति के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया को भी गलत नहीं कहा जा सकता है। यज्ञ तथा ईश्वरवाद के विरोध में प्रतिक्रिया तो हुई थी। जब यह प्रतिक्रिया हुई तब ब्राह्मणवाद के समर्थक ब्राह्मणों से शेष तीन वर्णों के लोग अलग हो गए। उन तीन में क्षत्रिय पहले से शासन और सुरक्षा करने वाले थे यानी राज प्रधान थे ही इसलिए वे लोग धर्म प्रधान भी बन गए। क्योंकि अन्य

दो वर्णों की तुलना में वे अधिक सूझ-बूझ वाले थे। अतः ब्राह्मणवाद में या ब्राह्मण परम्परा में ब्राह्मण प्रमुख थे ही श्रमण परम्परा में क्षत्रिय प्रमुख बन गए।

श्रमण संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति में भेदाभेद

श्रमण संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति दोनों ही भारतीय संस्कृति के अंग हैं। चूँकि ये दोनों एक ही संस्कृति में अंगीभूत हैं इसलिए इन्हें बिल्कुल विरोधी तो नहीं कहा जा सकता है। किन्तु दोनों स्वतंत्र रूप से भारतवर्ष में प्रवाहित होती आ रही हैं, इसलिए दोनों को एक मान लिया जाए, ऐसा भी नहीं हो सकता है। तब स्थिति भेदाभेद की बनती है। किसी एक दृष्टि से यदि उनमें भेद दिखाई देता है तो किसी अन्य दृष्टि से अभेद परिलक्षित होता है। इस बात को समझने के लिए हम यहाँ दो बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

1. प्रवृत्ति-निवृत्ति

सामान्य तौर से यह माना गया है कि वैदिक परम्परा प्रवृत्ति मार्गी है तथा श्रमण परम्परा निवृत्ति मार्गी। वैदिक परम्परा में यज्ञादि के अनुष्ठान के फलस्वरूप संतान, यश तथा धन सम्पदा की कामना की जाती है जिसे प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है और वैदिक परम्परा को प्रवृत्ति मार्गी मान लिया जाता है। श्रमण परम्परा में व्रत, योग, साधना, त्याग, तपस्या पर बल दिया जाता है जिससे उसे निवृत्ति मार्गी कहते हैं। इस आधार पर दोनों परम्परा के बीच भेद समझा जाता है। किन्तु इसी तथ्य पर यदि दूसरी दृष्टि से विचार करेंगे तो दोनों में अभेद नजर आएगा।

किसी भी परम्परा में दो प्रधानतः वर्ग होते हैं- (क) त्यागी, संन्यासी जिसमें ऋषिमुनि, श्रमण, साधु-साध्वी होते हैं तथा (ख) गृहस्थ जिन्हें श्रावक-श्राविका कहते हैं। परम्परा कोई भी हो यदि उसमें कोई साधु है, साध्वी है, मुनि, ऋषि है तो उसका जीवन निवृत्तिपरक होगा। क्योंकि प्रवृत्ति मार्ग पर चलकर कोई व्यक्ति साधु, मुनि, ऋषि, संन्यासी नहीं हो सकता है। यज्ञ करके उसके फलस्वरूप संतान, यश, धन-धान्य आदि की प्राप्ति तो कोई गृहस्थ ही करता है, त्यागी-तपस्वी, ऋषि, मुनि नहीं। धर्मात्मा या महात्मा होने के लिए तो निवृत्ति अनिवार्य है। इसी तरह यदि कोई गृहस्थ है, श्रावक है, श्राविका है, पारिवारिक जीवन या सांसारिक जीवन जी रहा है तो उसके जीवन में प्रवृत्ति होगी ही। बिना प्रवृत्ति को अपनाए हुए कोई गृहस्थ नहीं बन सकता है। अर्थात् गृहस्थ के लिए प्रवृत्ति अनिवार्य है। किसी भी परम्परा में न तो मात्र संन्यासी या श्रमण होते हैं और न मात्र गृहस्थ या श्रावक। इसलिए संन्यासी श्रमण की दृष्टि से कोई भी परम्परा निवृत्ति मार्गी हो सकती है और गृहस्थ या श्रावक की दृष्टि से प्रवृत्ति मार्गी। चूँकि श्रमण तथा वैदिक दोनों ही संस्कृतियों में साधु, संन्यासी, मुनि हैं तथा गृहस्थ, श्रावक आदि भी। इसलिए दोनों ही निवृत्तिपरक तथा प्रवृत्तिपरक हैं।

2. श्रमण-ब्राह्मण

वैदिक परम्परा को ब्राह्मण परम्परा कहते हैं तथा जैन-बौद्ध परम्पराओं के लिए श्रमण-परम्परा नाम आता है। दोनों के दो नाम हैं और उन नामों से दोनों में भेद दर्शाया जाता है। किन्तु एक शब्द है- समण-ब्राह्मण। इसके सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख

मिलते हैं। यदि समण-ब्राह्मण को सही ढंग से समझने का प्रयास किया जाए तो दोनों ही परम्पराओं में अभेद ज्ञान होगा। 'समण-ब्राह्मण' के विषय में डॉ. पाठक ने लिखा है कि इसमें जो ब्राह्मण शब्द है वह वर्ण व्यवस्था में मान्य ब्राह्मण शब्द नहीं है बल्कि उससे भिन्न है। किन्तु मैं जैसा समझता हूँ यदि समण-ब्राह्मण के ब्राह्मण शब्द को वर्ण व्यवस्था का ब्राह्मण भी मान लिया जाए तो भी दोनों के बीच सामंजस्यता देखी जा सकती है।

समण-ब्राह्मण या श्रमण-ब्राह्मण कौन थे इस तथ्य को जानने के लिए इसका अर्थ जानना आवश्यक है। समण-ब्राह्मण के निम्नलिखित दो अर्थ हो सकते हैं-

(1) समण या श्रमण जिसने आत्मबोध कर लिया है वह ब्राह्मण हो गया। क्योंकि जिसे आत्मबोध हो गया उसे परमात्म बोध भी हो गया। क्योंकि वैदिक परम्परा में आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं माना जाता है। आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म सब एक ही तत्त्व के विविध नाम या विविध रूप हैं। जो ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण होता है- 'ब्रह्मं जानाति इति ब्राह्मणः', इस प्रकार आत्म ज्ञानी समण ब्रह्मज्ञानी हो जाता है और वह ब्राह्मण हो जाता है। उसे समण-ब्राह्मण कहा जा सकता है।

(2) यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण है, ब्राह्मण परम्परा में है। किन्तु यज्ञादि अनुष्ठानों में होने वाली बलि-प्रथा का वह विरोध करता है और अहिंसादि व्रतों को अपनाकर साधना पूर्ण जीवन व्यतीत करता है तो ब्राह्मण होते हुए भी वह समण है। अतः 'समण-ब्राह्मण' शब्द श्रमण परम्परा तथा वैदिक परम्परा के अभेद का परिचायक है।

पाद टिप्पणी:

1. संस्कृति के चार अध्याय, प्रस्तावना, पृ. 5.
2. श्रमण, अंक 8, पृ. 33, वर्ष 1950.
3. एक बूंद एक सागर, भाग 4, सं. कुसुम प्रज्ञा, पृ. 1422.
4. श्रमण, अंक 3, पृ. 11, वर्ष 1950
5. विश्व संस्कृति का विकास, कालीदास कपूर, परिचय, पृ. क.
6. Kant, *Critique of Pure reason*, Eng. Tran. Max Mullar, p. 730.
7. Culture is the complex whole that consists of everything we think and do have a member of society Robert Bierstedt, *The Social Order*, p. 829
8. Culture is the expression of our nature in our modes I living and I thinking, in our everyday intercourse in art, in literature, in reliagion, in recreation and in enjoyment, *Society*, Macdver and Page.
9. समाजशास्त्र, जी. के. अग्रवाल, पृ.299
10. संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.11
11. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ. जयशंकर मिश्र, पृ.15-16

12. "हे मोर चित, पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे,
 एई भारतेर महामानवेर, सागर-तीरे,
 केह न जाने, कार आह्वाने, कत मानुषेर धारा
 दुर्बार स्रोते एलो कोथा हते, समुद्र हलो हारा।
 हेधाय आर्य, हेथा अनार्य, हेधाय द्रविड-चीन,
 शक-हूण-दल, पाठान, मोगल एक देहे होलो लीन,
 रणधारा बाहि, जयगानगाहि, उन्माद कलरवे
 भेदि मरू-प्रथ, गिरि-पर्वत यारा एसे छिलो सबे।
 तारा मोर माझे सवाई विराजे के हो नहे-नहे दूर,
 आभार शोणिते रयेथे ध्वनित तारि विचित्र सूर।" - भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, पृ.3
13. वही।
14. वही, पृ.4-5
15. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
 यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया॥56॥
 शोचयन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
 न शोचयन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥57॥
 तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
 भूतिकामैर्नैरित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥59॥ - मनुस्मृति, अध्याय-3
16. जह मम न पियं दुक्खं एमेव सव्वजीवाणं।
 न हणइ न हणावेइ य समणई तेन समणो॥ - दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा-154
17. नत्थि य सि कोई वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
 एएण होई समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥ - वही, गाथा-155
18. सो समणो जई सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
 समणे य जणे य समो य माणावमाणेसु॥ - वही, गाथा-156
19. न वि मुण्डिण समणो द. नि. गाथा-157
20. उरगगिरिजलण सागर नहयलतरुणगण समो जो होइ।
 एएण भमर गिरधरणिजलरुहरविपवण समो जओ समणो॥ द.नि. - गाथा - 157.
21. श्रमण, अंक 8, पृ.15, वर्ष 1950 .
22. वही, पृ.16
23. वही, अंक1, पृ.20, वर्ष 1949
24. विश्व की प्राचीन सभ्यता का इतिहास, डॉ. सुशील माधव पाठक, पृ.552
25. "The doctrine of Karman constituted the essential doctrine of the Sramanas and its impact created an unprecedented ferment in the thought world of the sixth century B.C. in India I had also argued that the essence of this heterodoxy insisted in the doctrine of Karman and rebirth as also in the practice of asceticism and Yoga. In this since this heterodox stream could perhaps be traced back to the Indus civilization. While this is undoubtedly

- speculative it does not remain possibility which could only be confirmed of and when the Indus script could be deciphered Sraman tradition. It ... contribution to Indian culture p.2.
26. *Jaina Culture*, Dr. M.L. Mehta, p. 6-7
 27. "The phenomenal thought format has been noted by many scholars but its genesis and significance have been explained in many different ways. The commonest assumption has been that this thought format was a reaction to the Vedic ritualism"
 28. जैनधर्म की प्राचीनता, डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा; श्रमण, 1969, अंक6, पृ.22, वर्ष-20; *Early History of India*, N.N. Ghose, p.44.
 29. पुरोवाक्, पृ.6
 30. श्रमण, 1970, अंक 12, पृ.6.
 31. वही,
 32. वही, पृ.7
 33. वही,
 34. Vratya as initiated in vratas. Hence vratya means a person who has voluntarily accepted the moral code of vows for his own spiritual discipline. Dr. Hebar उद्धृत, श्रमण संस्कृति की प्राचीनता, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्रमण-1969, अंक 12, पृ.5
 35. वियते यद् तद् व्रतम्, व्रते साधु कुशले वा इति व्रात्यः। श्रमण 1969 अंक 12, पृ.7
 36. वही, पृ.6
 37. वही, पृ.7, वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द 1958, पृ.343-मैक्डॉलन और कीथ।
 38. वही, पृ.7
 39. संस्कृति के चार अध्याय, पृ.125
 40. द्विजातया सर्ववर्णासु, जनयन्त्यव्रतास्तु यान्।
तान्सावित्री परिभ्रष्टान्ब्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥ - मनुस्मृति 10/20
 41. ब्रात्यान् ब्रात्यतां आचारहीनतां प्राप्य प्रवसन्ता प्रवासं कुर्वत। - ताण्डयमहाब्राह्मणसायणभाष्य।
 42. ब्रात्या संस्कारवर्जितः / व्रते साधुः कालो ब्रात्यः / तत्र भवो ब्रात्यः प्रायश्चित्तार्हः, संस्कारोऽत्र उपनयनं तेन वर्जितः/ अभिधानचिन्तामणि कोष-3/518
 43. पुरोवाक्, पृ.10
 44. वही, पृ.11
 45. मुनयो वातऽरशना पिशांगा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिम्यन्ति यद्देवसो अविक्षतः॥
उन्मादिता मौनयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥ - ऋग्वेद
उद्धृत श्रमण 1970 अंक-12, पृ.7
 46. श्रमण-1970, अंक-12, पृ.7

47. वही, पृ.8
48. विष्णुपुराण-3/18/12; 3/18/13, 14; 3/18/25; 3/18/8-11 उद्धृत-श्रमण 1970, अंक12, पृ.10
49. पुरोवाक् पृ.7
50. "धमेक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे समवेता युयुत्सव" - श्रीमद्भगवद्गीता, श्लोक-1, अध्याय-1
51. अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तवाहितः ॥20॥ अध्याय-272, शान्तिपर्व, महाभारत, उद्धृत जैनधर्म में अहिंसा, डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा, पृ.30
52. According to the tradition of the Svetambara Jainas the liberation took place 470 years before the beginning of the vikrama Era. The tradition of the Digambara Jaina maintains that Lord Mahavira attained liberation 605 years before the beginning of the Saka Era. By either mode of calculation the date comes to 527 B.C. since the Lord attained emancipation of the age of 72, his birth must have been around 599 B.C. this makes Mahavira a slightly older contemporary of Buddha who probably lived about 567-487 B.C. - *Jaina culture*, Dr. Mohan Lal Mehta, p. 10
53. वही, पृ.14
54. वही, पृ.14-15
55. Lord Mahavira was the head of an excellent community of 14000 monks, 36000 nuns, 159000 male votaries and 318000 females' votaries. The four groups designated as monks, nuns, laymen and laywomen constitute the four fold order of Jainism. - *Jaina Culture*, p. 15.
56. वही, पृ.16-17
57. वही, पृ.18
58. वही, पृ.19
59. वही, पृ.19
60. भारतीय संस्कृति बुद्ध और महावीर, मुनि नथमल, गुरुदेव स्मृति ग्रन्थ, पृ. 160.
61. Jain Culture, Dr. Mohanlal Mehta, p.4.
62. वारामासा, जैन भजनमाला, पंडित सोहनलाल, जैनसभा, अमृतसर, वि.स. 1959.

तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण स्थल

डॉ. रमेशचन्द्र जैन*

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण स्थल के विषय में तिलोयपण्णत्ती में निम्नलिखित गाथा प्राप्त होती है-

माघस्स किण्ह चोद्दसि-पुव्वण्हे णियय जम्म णक्खत्ते।

अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओ मोक्खं॥1196

ऋषभदेव माघकृष्ण चतुर्दशी के पूर्वाह्न में अपने जन्म (उत्तराषाढा) नक्षत्र के रहते अष्टापद (कैलाश पर्वत) से दस हजार मुनिराजों के साथ मोक्ष गए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने निर्वाणभक्ति में लिखा है-

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्ज जिणणाहो।

उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो॥ निर्वाण भक्ति-1

अष्टापद पर ऋषभनाथ, चम्पापुर में वासुपूज्य जिनेन्द्र, ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथ और पावापुर में महावीर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए।

यहाँ यह भी कहा गया है-

णायकुमार मुणिंदो बालिमहाबालि चैव अज्झेया।

अट्ठावयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥ निर्वाणभक्ति-15

नागकुमार मुनिराज, बाली और महाबाली अष्टापद पर्वत के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में कहा है - मुनिगण और देवों के समूह से पूजित चरणों के धारक श्री वृषभजिनेन्द्र संसार रूपी सागर के जल से पार करने में समर्थ रत्नत्रय रूप भावतीर्थ का प्रवर्तन कर कल्पान्तकाल तक स्थिर रहने वाले तथा त्रिभुवन जनहितकारी क्षेत्र तीर्थ को प्रवर्तन के लिए स्वभाववश (इच्छा के बिना ही) कैलाश पर्वत पर उस तरह आरूढ़ हो गए, जिस तरह कि देदीप्यमान प्रभा का धारक वृष का सूर्य निषधाचल पर आरूढ़ होता है। स्फटिक मणि की शिलाओं के समूह से रमणीय उस कैलाश पर्वत पर आरूढ़ होकर भगवान ने एक हजार राजाओं के साथ योग निरोध किया और अन्त में चार अघातिया कर्मों का अन्तकर निर्मल मालाओं के धारक देवों से पूजित हो अनन्त सुख के स्थलभूत मोक्ष स्थान को प्राप्त किया।

* जैन मन्दिर के पास, बिजनौर, उ.प्र.

चक्रवर्ती भरत ने भी कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया²। चक्रवर्ती सागर के साठ हजार पुत्र किसी समय कैलाश पर्वत पर गए। वहाँ आठ पादस्थान बनाकर दण्डरत्न से भूमि खोदने लगे, परन्तु इस क्रिया से कुपित होकर नागराज ने उन सबको भस्म कर दिया³।

पद्मपुराण में कहा गया है-

अथासौ लोकमुत्तीर्य प्रभूतं भवसागरात्।

कैलाशशिखरे प्राप निर्वृत्तिं नाभिनन्दनः॥१४-१३०।

भगवान् ऋषभदेव संसार सागर से अनेक प्राणियों का उद्धारकर कैलाश पर्वत के शिखर से मोक्ष को प्राप्त हुए।

कैलाश पर्वत ही अष्टापद पर्वत है; क्योंकि पद्मपुराण के द्वितीय पर्व में इसे अष्टापद नाम से अभिहित किया है-

महिम्ना सर्वसाकाशं संछाहोव व्यवस्थिते।

पर्वतेऽष्टापदे रम्ये भगवानिव नाभिजः ॥२-१०८

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त रमणीय अष्टापद पर भगवान् वृषभदेव विराजमान हुए थे, उसी प्रकार उक्त विपुलाचल पर भगवान् वर्द्धमान जिनेन्द्र विराजमान हुए।

एक बार कैलाश पर्वत पर बालि मुनि के तप के प्रभाव से अपना विमान रुका हुआ जानकर रावण कुपित हुआ और विद्याओं की सहायता से उसे समुद्र में फेंकने के लिए तत्पर हो गया। उस पर्वत पर चक्रवर्ती भरत ने नाना प्रकार के सर्वरत्नमयी ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाए थे। भक्ति से भरे सुर और असुर प्रतिदिन इनकी पूजा करते थे। इस पर्वत के विचलित होने से ये जिन मन्दिर नष्ट न हो जायें ऐसा विचार कर शुभ ध्यान के निकट ही जिनकी चेतना थी, ऐसे मुनिराज बलि ने पर्वत के मस्तक को अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया। ऐसा होने पर रावण पर्वत के भार से दबने लगा। उस समय चूँकि उसने सर्व प्रयत्न से चिल्लाकर समस्त संसार को शब्दायमान कर दिया था, इसलिए वह पीछे चलकर सर्वत्र प्रचलित 'रावण' इस नाम को प्राप्त हुआ⁴।

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाण भक्ति में लिखा है-

कैलाशशैलशिखरे परिनिर्वृतोऽसौ शैलेषिभावमुपपद्य वृषो महात्मा॥२०॥

शैलेषी भाव को प्राप्त होकर महात्मा वृषभदेव कैलाश पर्वत के शिखर से मुक्त हुए।

पद्मपुराण के १४वें पर्व में कहा गया है-

ततो भर्तामया सार्धमुद्युक्तचैत्यवन्दने।

जिनेन्द्रातिशयस्थानेष्वत्यन्तविभक्तान्वितः।

अगदीत् प्रथमं सीते गत्वाष्टापदपर्वतम्।

ऋषभं भुवनानन्दं प्रणस्यावः कृतार्चनैः॥

अर्थात् अनन्तर भर्ता मेरे साथ अत्यन्त वैभव से युक्त होकर जिनेन्द्र भगवान के अतिशय स्थानों में चैत्यवन्दन के लिए उद्यत हुए तथा कहा कि सर्वप्रथम हम अष्टापद पर्वत पर जाकर भुवन को आनन्द देने वाले ऋषभ की अर्चना कर प्रणाम करें।

वरांगचरित के 21वें सर्ग में कहा गया है-

कैलाशशैले वृषभे महात्मा चम्पापुरे चैव हि वासुपूज्यः।

दशार्हनाथः पुनरुर्जयन्ते पावापुरे श्रीजिनवर्द्धमानः ॥ वरांगचरित-21/91

कैलाश पर्वत पर महात्मा वृषभ, चम्पापुर पर वासुपूज्य, गिरनार पर नेमिनाथ तथा पावापुर में श्रीजिनवर्द्धमान मोक्ष गए।

उत्तर पुराण के अनुसार इस कैलाश पर्वत पर भरत चक्रवर्ती ने महारत्नों से अरहन्त देव के चौबीस मन्दिर बनवाए थे। सगर चक्रवर्ती ने अपने पुत्रों को आदेश दिया था कि तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को उन मन्दिरों की परिखा बना दो। उन राजपुत्रों ने भी पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न से वह काम शीघ्र ही कर दिया।

जब सगर के प्रपौत्र भगीरथ ने सगर तथा उसके पुत्रों का सम्मेलन शिखर से निर्वाण गमन सुना तो उसका मन निर्वेद से भर गया। उसने वरदत्त के लिए अपनी राज्य श्री सौंपकर कैलाश पर्वत पर शिवगुप्त नामक महामुनि से दीक्षा ले ली तथा गंगा नदी के तट पर प्रतिमायोग धारण कर लिया। इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से महामुनि भगीरथ के चरणों का अभिषेक किया, जिसका प्रवाह गंगा में जाकर मिल गया। उसी समय से गंगा नदी भी इस लोक में तीर्थरूपता को प्राप्त हुई।

1180 से 1240 ई. के मदन कीर्ति ने शासन चतुस्त्रिंशिका में कहा है-

कैलाशे जिनबिम्बमुत्तमधमत-सौवर्णवर्णसुराः।

वन्द्यन्तेऽद्य दिगम्बरं तद्मल दिग्वाससां शासनम्॥।

कैलाश पर्वत पर देव लोग चमकते हुए जिनबिम्बों की वन्दना करते हैं वह निर्मल दिगम्बर शासन आज भी वन्दनीय है।

प्राकृत निर्वाणकाण्ड में कहा गया है-

अट्टावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।

उज्जन्ते नेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो॥

अर्थात् अष्टापद से जिननाथ ऋषभ, चम्पा से वासुपूज्य, गिरनार से नेमिजिन तथा पावापुर से महावीर निर्वृत्त हुए।

बारहवीं सदी के बाद के उदयकीर्ति ने अपनी अपभ्रंश रचना तीर्थवन्दना में कहा है-

कइलाससिहरि सिरिरिसहणाहु जो सिद्धउ पयडमि धम्मलाहु।

पुणु चंपणयरि जिणवासुपुज्जु निव्वाणपत्त छंडेवि रज्जु॥

अर्थात् कर्म रूपी रज्जु त्यागकर ऋषभनाथने कैलाश पर्वत से, तथा वासुपूज्यने चम्पापुर से निर्वाण प्राप्त किया।

बोधप्राप्त की टीका में श्रुतसागर ने तीर्थकर के पञ्चकल्याणक स्थानों में कैलाशाष्टापद को गिनाया है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के गुणकीर्ति ने अपनी मराठी तीर्थवन्दना में कहा है-

कविलास पर्वति श्री युगादिदेव आदीश्वरु सिद्ध जाले।

मेघराज ने गुजराती तीर्थवन्दना में कैलाशपर्वत का स्मरण किया है-

कइलास आदिजिनंद वासपुज्ज चंपापुरीए।

सिद्धवीरजिनंद नगर कहु पावापुरीए ॥2॥

सोलहवीं सदी के मध्य होने वाले सुमतिसागर ने जम्बूद्वीप जयमाल में अष्टापद का उल्लेख किया है-

अष्टापद संभेदगिरि चंपापुरि पावापुरि महामुनि जिन कहिया। केवलज्ञान सुचंद्र प्रकाशे जे लहिया।

इसी प्रकार ज्ञानसागर, जयसागर, चिमणा पंडित, मेरुचन्द्र, राघव, पंडित दिलसुख, कवीन्द्र सेवक आदि ने कैलाश पर्वत या अष्टापद का उल्लेख किया है।

नागकुमार, व्याल, महाव्याल आदि का निर्वाण यहीं हुआ। भैया भगवतीदास ने निर्वाण काण्ड में कहा है-

व्याल महाव्याल मुनि दोय नागकुमार मिले त्रय होय।

श्री अष्टापद मुक्ति मझार ते वन्दों नित सुरत सँभार॥

वर्तमान में कैलाश पर्वत की केवल प्रदक्षिणा ही की जा सकती है। उसपर चढ़ना सम्भव नहीं, क्योंकि आठों दिशाओं में इसके तट काटे हुए से कोई दो हजार फीट ऊँचे हैं। इस पर्वत के समीप सुप्रसिद्ध मान सरोवर तथा रावण हृद नामक विशाल झीले हैं।

कैलाश पर्वत से सम्बंधित अनेक संस्मरण जैन पुराणों में प्राप्त होते हैं। तृतीय काल के अन्त में नाभिराय के पुत्र भगवान ऋषभदेव विहार करते हुए अपनी इच्छा से पृथ्वी के मुकुटभूत कैलाश पर्वत पर आकर विराजमान हुए। वहाँ पर आसीन हुए उन भगवान ऋषभदेव की देवी ने भक्ति पूर्वक पूजा की तथा जुड़े हुए हाथों को मुकुट से लगाकर स्तुति की। उसी पर्वत पर त्रिजगद्गुरु भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, उससे हर्षित होकर इन्द्र ने वहाँ समवसरण की रचना करायी। महाराज भरत ने मनुष्य और देवों से पूजित उन जिनेन्द्रदेव की अर्थ से भरे हुए अनेक स्तोत्रों द्वारा पूजा की तथा विनय से नत होकर अपने योग्य स्थान पर बैठ गए। उन्होंने प्रश्न किया कि आपके समान और कितने सर्वज्ञ-तीर्थकर होंगे? मेरे समान कितने चक्रवर्ती होंगे? कितने नारायण, कितने बलभद्र और कितने उनके शत्रु प्रतिनारायण होंगे? उनका अतीत चरित्र कैसा था? वर्तमान में और भविष्य में कैसा होगा? वे सब किस नाम के धारक होंगे? किस-किस गोत्र में उत्पन्न होंगे? उनके सहोदर कौन-कौन होंगे? उनके क्या-क्या लक्षण होंगे? वे किस आकार के धारक होंगे? उनके क्या-क्या आभूषण और अस्त्र होंगे? उनकी आयु और शरीर का प्रमाण क्या होगा? एक-दूसरे में कितना अन्तर होगा? किस युग में कितने युगों के अंश होते हैं? एक युग

से दूसरे युग में कितना अन्तर होगा? युगों का परिवर्तन कितनी बार होता है? युग के कौन से भाग में मनु उत्पन्न होते हैं? वे क्या जानते हैं? एक मनु से दूसरे मनु के उत्पन्न होने तक कितना अन्तराल होता है? इसके सिवाय लोक का स्वरूप, काल का अवतरण, वंशों की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, क्षत्रिय आदि वर्गों की उत्पत्ति भी मैं सुनना चाहता हूँ। महाराज भरत ने जो कुछ पूछा था, उस सबके विषय में भगवान ने क्रमपूर्वक कहा।

एक बार राजर्षि भरत को एक साथ तीन समाचार मालूम हुए कि पूज्य पिता को केवलज्ञान हुआ है, अन्तःपुर में पुत्र का जन्म हुआ है और आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। भरत महाराज ने सोचा कि सबसे पहले धर्मकार्य ही करना चाहिए, क्योंकि वह कल्याणों को प्राप्त कराने वाला है। इसलिए जिनेन्द्र देव की सर्वप्रथम पूजन करना चाहिए। भरत ने सेना सहित जाकर भगवान की स्तुति की। अनन्तर तत्त्वों का स्वरूप पूछा। तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अतिशय गम्भीर वाणी द्वारा तत्त्वों का विस्तार के साथ विवेचन किया।

पुण्यास्रव कथाकोश में जयकुमार तथा सुलोचना से सम्बंधित कथा आई है, जो इस प्रकार है— किसी समय सौधर्म इन्द्र अपनी सभा में व्रत व शील के स्वरूप का निरूपण कर रहा था। उस समय रतिप्रभ नामक देव ने उससे पूछा कि हे देव! जम्बूद्वीप के भीतर स्थित भरत क्षेत्र में इस प्रकार निर्मल शील का परिपालन करने वाला कोई है या नहीं? उत्तर में इन्द्र ने कहा कि कुरुजांगल देश के भीतर स्थित हस्तिनापुर का अधिपति मेघेश्वर निर्मल शील का धारक है। उसकी पत्नी सुलोचना भी निर्मल शील का पालन करने वाली है। उस मेघेश्वर ने चूँकि पूर्वभव में विद्याओं को सिद्ध किया था, इसीलिए उसे एक विद्याधर युगल को देखकर जाति स्मरण हो जाने से वे सब विद्याओं प्राप्त हो गयीं। साथ ही उसकी पत्नी सुलोचना को भी वे विद्यार्थे प्राप्त हो गयीं हैं। इस समय उसने सुलोचना के साथ कैलाश पर्वत की वन्दना की। तत्पश्चात् उसने समवसरण से निकलकर एक स्थान में सुलोचना के साथ क्रीड़ा की। इस समय सुलोचना को विमान के भीतर नौद आ जाने से जयकुमार वन में क्रीड़ा करता हुआ एक रमणीय शिला को देखकर उसके ऊपर ध्यान से स्थित है। सुलोचना उठी तो वह भी जयकुमार को न देखकर कायोत्सर्ग में स्थित हो गई। रतिप्रेम देव ने देवियों को भेजकर जयकुमार को शील से भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया तथा स्वयं सुलोचना के चित्त को चलायमान करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सब सफल नहीं हुए। तब वह देव उन दोनों को एक साथ लेकर हस्तिनापुर गया। वहाँ उसने उन दोनों का गंगाजल से अभिषेक करके स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से पूजा की। तत्पश्चात् वह सम्यग्दृष्टि देव स्वर्गलोक वापिस चला गया^६।

पुण्यास्रव कथाकोश में नागकुमार की कथा आई है। उसमें कहा गया है कि प्रतापन्धर मुनि ने चौंसठ वर्ष तक तपश्चरण किया। उन्हें कैलाश पर्वत के ऊपर केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसी प्रकार व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य और अभेद्य भी केवलज्ञानी हुए। नागकुमार (प्रतापन्धर) केवली छयासठ वर्ष तक विहार करके उसी पर्वत से मुक्ति को प्राप्त हुए। व्यालादि भी मुक्ति को प्राप्त हुए। वह नागकुमार नेमि जिनेन्द्र के तीर्थ में उत्पन्न

हुआ था। उसका कुमारकाल 70 वर्ष, राज्यकाल 80 वर्ष, छद्मस्थकाल 64 वर्ष, और केवलिकाल 66 वर्ष प्रमाण था। इस प्रकार उसकी आयु एक हजार वर्ष प्रमाण थी।

पुण्यास्रव कथाकोश¹⁰ में सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों द्वारा कैलाश पर्वत के चारों ओर जल से परिपूर्ण खाई को दण्डरत्न से खोदने की कथा आई है। प्रभाचन्द्रकृत आराधना कथा प्रबंध में भी यह कथा है।

उत्तराध्ययन सूत्र की सुखबोधा टीका में लिखा है कि एक बार कोडिन्न, दिन्न और सेवाली तीनों तापस अपने अपने पांच-पांच सौ शिष्यों के साथ अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए आए। कोडिन्न एकान्तर तप करता और कन्दमूल खाता था। दिन्न बले तले की तपस्या करता और भूमि पर गिरे हुए पत्ते खाकर निर्वाह करता था। सेवाली तले-तले की तपस्या करता था और सेवाल खाकर जीवन निर्वाह करता था¹¹।

इससे स्पष्ट है कि कैलाश पर्वत तापसों का भी निवास था। मुनि नथमल ने 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' में चित्त सम्भूति प्रकरण के सन्दर्भ में एक कथा दी है- इसी भरत क्षेत्र के वैताद्वय पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिव मन्दिर नाम का नगर था। वहाँ ज्वलन सिंह नामक राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम विद्युत् शिखा था। उन दोनों की दो पुत्रियाँ थीं। उनके बड़े भाई का नाम नाद्योन्मत्त था। एक बार उनके पिता अग्निशिख मित्र के साथ गोष्ठी में बैठे थे। उन्होंने आकाश की ओर देखा। अनेक देव तथा असुर अष्टापद पर्व के अभिमुख जिनेन्द्र देव की वन्दनार्थ जा रहे थे। राजा भी अपने मित्र तथा बेटियों के साथ उसी ओर चल पड़ा। सब अष्टापद पर्वत पर पहुँचे। जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं की वन्दना की। सुगन्धित द्रव्यों से अर्चा की। तीन प्रदक्षिणा कर लौट रहे थे। उन्होंने देखा कि एक अशोक वृक्ष के नीचे दो मुनि खड़े हैं। वे चारणलब्धि सम्पन्न थे। हम उनके पास गए। वन्दना कर बैठ गए। उन्होंने धर्मकथा कही-

संसार असार है। शरीर विनाशशील है। जीवन शरदऋतु के बादलों की तरह है। यौवन विद्युत् के समान चंचल है। भोग किंपाक फल जैसे हैं। इन्द्रियजन्य सुख संसार के राग की तरह है। लक्ष्मी कुशाग्र पर टिके हुए पानी की बूंद की तरह चंचल है। दुःख सुलभ है, सुख दुर्लभ है, मृत्यु सर्वत्रगामी है। ऐसी स्थिति में प्राणी को मोह का बन्धन तोड़ना चाहिए। जिनेन्द्रप्रणीत धर्म में मन लगाना चाहिए¹²।

इससे स्पष्ट है कि अष्टापद पर ऋद्धिधारी जैनमुनि विहार किया करते थे।

श्री बाहुवली स्वामी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन आदिपुराण में उल्लेख करते हैं-

इत्थं स विश्वीद्विश्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः

कैलाशमचर्लं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः॥36/203

अर्थात् समस्त विश्व के पदार्थों को जानने वाले बाहुवली अपने वचनरूपी अमृत के द्वारा समस्त संसार को सन्तुष्ट करते हुए पूज्य पिता भगवान ऋषभदेव के सामीप्य से पवित्र हुए कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे।

अयोध्या नगरी के राजा त्रिदशजय की रानी इन्दुरेखा थी। उनके जितशत्रु नामक पुत्र था। जितशत्रु के साथ पौदनपुर नरेश व्यानन्द की पुत्री विजया का विवाह हुआ था। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ इन्हीं के कुलदीपक पुत्र थे। भगवान के पितामह त्रिदशजय ने मुनिदीक्षा ले ली और कैलाश पर्वत से मुक्त हुए¹³।

हरिषेण चक्रवर्ती का पुत्र हरिवाहन था। उसने कैलाश पर्वत पर दीक्षा ली और वहीं से निर्वाण प्राप्त किया¹⁴।

हरिवाहन दुद्धर बहु धरहु। मुनि हरिषेण अंगु तउ चरिउ।
घातिचउक्क कम्म खऊ कियउ। केवलणाण उदय तब हयऊ॥
निरु सचराचरु पेखिउ लोउ। पुणि तिणिजाय दियउ निरुजोउ॥
अन्त यालि संन्यास करेय। अट्ठसिद्धि गुणि हियऊ धरेउ॥
सुद्ध समाधि चेयविय पाण। निरुवम सुह पत्तउ निव्वाण॥

- कवि शंकरकृत हरिषेणचरित, 707-709, (रचनाकाल 1526)

विविध तीर्थकल्प में जिनप्रभसूरि ने 'अष्टापदकल्प' नामक कल्प की रचना की है। उसमें लिखा है-

-इन्द्र ने अष्टापद पर रत्नत्रय के प्रतीक तीन स्तूप बनाए।

-भरत चक्रवर्ती ने यहाँ चार सिंहनिषद्या बनवायीं, जिनमें सिद्ध प्रतिमायें विराजमान करायीं। उन्होंने यहाँ चौबीस तीर्थंकरों और निन्यानवे भाईयों के स्तूप भी बनवाए थे।

भगवान ऋषभदेव के मोक्ष जाने पर उनकी चिता देवों ने पूर्व दिशा में बनाई। भगवान के साथ जो मुनि मोक्ष गए थे, उनमें जो इक्ष्वाकुवंशी थे, उनकी चिता दक्षिण दिशा में तथा शेष मुनियों की चिता पश्चिम दिशा में बनाई गई। बाद में तीनों दिशाओं में चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूपों की रचना की।

अनेक जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि कैलाश पर भरत चक्रवर्ती तथा अन्य अनेक राजाओं ने रत्न प्रतिमायें स्थापित करायी थीं¹⁵। यथा-

कैलाशशखरे रम्ये यथा भरतचक्रिणा।

स्थापिताः प्रतिमा वर्ण्या जिनायतनपंक्तिषु॥

तथा सूर्यप्रभेणाऽपि। -हरिषेण कथाकोष - 56/5.

ये पर्वत पंचम काल में नष्ट हो गए, इस प्रकार की निश्चित सूचना भविष्यवाणी के रूप में प्राप्त होती है-

कैलाशे पर्वते सन्ति भवनानि जिनेशानां।

चतुर्विंशति संख्यानि कृतानि मणिकाञ्चनैः॥

सुरासुर नराधीशैर्वन्दितानि दिवानिशाम्।

यास्यन्ति दुःषमे काले नाशं तस्करादिभिः॥

-हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष- 119

अर्थात् कैलाश पर्वत पर मणि रत्नों के बने हुए तीर्थंकरों के चौबीस भवन हैं।

सुर, असुर और राजा लोग उनकी वन्दना करते रहते हैं। दुःषम (पंचम) काल में तस्कर आदि के द्वारा वे नष्ट हो जायेंगे।

नाभिराय के निर्वाण के विषय में श्रीमद्भागवत में महर्षि शुकदेव ने लिखा है-

“विदितानुरागमापौर प्रकृतिं जनपदो राजा नाभिराजत्मजं समयसेतु रक्षायामभिषिच्य सह मरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन भहिमानमवाप।”

अर्थात् जनता भगवान् ऋषभदेव को प्रेम करती थी और उनमें श्रद्धा रखती थी। यह देखकर राजा नाभिराय धर्म मर्यादा की रक्षा के लिए अपने पुत्र ऋषभदेव का राज्याभिषेक कर विशाल (बदरिकाश्रम) में मरुदेवी सहित प्रसन्न मन से घोर तप करते हुए यथाकाल जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुए।

जहाँ माता मरुदेवी ने तप किया था, वहाँ लोगों ने मन्दिर बनाकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की। यह मन्दिर माणा गांव के निकट है। सम्भवतः जिस स्थान पर बैठकर नाभिराय ने जीवन्मुक्ति प्राप्त की थी, उस स्थान पर उनके चरण स्थापित कर दिए गए। ये चरण बदरीनाथ मन्दिर के पीछे पर्वत पर बने हुए हैं। उनके निकट ही भगवान् ऋषभदेव का विशाल मन्दिर निर्मित है, जिसकी मूर्ति दिगम्बर जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की है⁶।

पद्मचरित से ज्ञात होता है कि अञ्जना और पवनञ्जय का विवाह मानसरोवर के समीप ही हुआ था। युद्ध के प्रसंग में वहाँ पड़ाव डालने पर उसने विवाह के समय सेवित स्थानों को गौर से देखा। अञ्जना की याद के कारण वे सब स्थान उसे नेत्रों के सामने आने पर शोक के कारण हो गए और मर्मभेद करने वालों के समान दुःसह हो उठे⁷।

पवनञ्जय ने विद्या के बल से एक ऐसा मनोहर महल बनाया था, जिसमें अनेक खण्ड थे तथा जिसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई अनुरूप थी। उस महल के ऊपर के खण्ड पर मित्र के साथ स्वच्छन्द वार्तालाप करता हुआ पवनञ्जय उत्कृष्ट आसन पर विराजमान था। युद्ध की वार्ता से उसका हर्ष बढ़ रहा था। पवनञ्जय झरोखों के मार्ग से किनारे के वृक्षों को तथा मन्द-मन्द वायु से हिलते हुए मानसरोवर को देख रहा था। भयंकर कड़ुए, मीन, नक, गर्वीले मगर तथा अनेक जल-जन्तु सरोवर में लहरें उत्पन्न कर रहे थे। धुले हुए स्फटिक के समान स्वच्छ तथा कमलों और नीलकमलों से सुशोभित उस सरोवर का जल हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और सारस पक्षियों से अत्यधिक सुशोभित हो रहा था। उसके मध्य में भ्रमरियों का उत्कृष्ट झंकार सुनाई देता था। उस सरोवर के किनारे पवनञ्जय ने एक चकवी देखी। वह चकवी अकेली होने के कारण अत्यन्त व्याकुल थी⁸। उसकी करुण दशा देखकर पवनञ्जय को अञ्जना की याद आई।

कैलाश की आकृति वर्तमान में ऐसे लिंगाकार की है, जो षोडश दल के कमल के मध्य खड़ा हो। इन षोडश दल वाले शिखरों में दो झुककर लम्बे हो गए हैं। इसी भाग से कैलाश का जल गौरीकुण्ड में गिरता है। कैलाश इन सब पर्वतों में ऊँचा है। उसका रंग कैसाटी के ठोस पत्थर जैसा है। बर्फ से ढके रहने के कारण यह रजत दिखाई देता है।

दूसरे शृंग लाल मटमैले पत्थर के हैं। मानसरोवर की ओर से इसकी चढ़ाई डेढ़ मील की है। यह बहुत कठिन है। कैलाश के शिखर के चारों ओर कोनों में ऐसी मंदिर आकृतियाँ स्वतः बनी हुई हैं, जैसे बहुत मन्दिरों के शिखर पर चारों ओर बनी होती हैं। तिब्बत की ओर से यह पर्वत ढलान वाला है। उधर तिब्बतियों के बहुत से मन्दिर बने हैं। तिब्बत के लोगों में कैलाश के प्रति बहुत श्रद्धा है। लिंग पूजा शब्द का प्रचलन तिब्बत से प्रारम्भ हुआ है। तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ क्षेत्र है^{११}।

सन्दर्भ :

1. इत्थं कृत्वा समर्थं भवजलधिजलोत्तारणे भावतीर्थं
कल्पान्तस्थाधि भूयस्त्रिभुवनहितकृत् क्षेत्रतीर्थं स कर्तुम्।
स्वाभाव्यादारुह श्रमणगणसुरव्रातसम्पूज्यपादः
कैलाशाख्यं महीघ्नं निषधमिववृषादित्य इद्धप्रभादयः॥
तस्मिन्नद्रौ जिनेन्द्रः स्फटिकमणिशिलाजालरम्ये निषण्णो
योगानां सन्निरोधं सह दशभिरथोयोगिनां यैः सहस्रैः।
कृत्वा कृत्वान्तमध्ये चतुरपरमहाकर्मभेदस्यशर्म
स्थानं स्थानं स सैद्धं समगमदमलस्रग्धराभ्यर्च्यमानः॥ 81 (हरविंशपुराण 12/80-81)
2. वही, 13/6.
3. वही, 13/28-29.
4. पद्मपुराण 9/104-153.
5. राजप्याज्ञापिता यूयं कैलाशे भरतेशिना। गृहाः कृताः महारत्नैः चतुर्विंशतिरहेताम्।
तेषां गङ्गां प्रकुर्विध्व परिखां परितो गिरिम्। अति तेऽपि तथा कुर्वन् दण्डरत्नेन सस्वरम्॥
- उत्तरपुराण - 48/107-108.
6. निर्वाणगमनं तेषां श्रुत्वा निर्विण्णमानसः।
वरदत्ताय दत्त्वात्मरज्यलक्ष्मीं भगीरथः॥
कैलाशपर्वते दीक्षां शिवगुप्तमहामुनेः।
आदायप्रतियोगधार्यभृत स्वर्धुनीतटे॥
सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धिपयोभिरभिषेचनात्।
क्रमयोस्तत प्रवाहस्य गङ्गायाः संगमे सति॥
तदा प्रभृति तीर्थत्वं गङ्गाप्यस्मिन्नुपागता।
कृत्वोत्कृष्टं तपो गङ्गातटेऽसौ निर्वृतिंगतः॥ - उत्तरपुराण - 48/138-141.
7. देखिये, डॉ. विद्याधर जोहारपुरका द्वारा सम्पादित तीर्थवन्दनसंग्रह। आदिपुराण प्रथम पर्व।
8. पुण्यास्रव कथाकोश, कथांक 26-27.
9. पुण्यास्रव कथाकोश, कथांक 34.
10. वही, कथांक 47.
11. सुखबोधा पत्र सं. 155.

12. मुनि मधमल, उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 297.
13. पं. बलभद्र जैन, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, प्रथम भाग, पृ. 86.
14. वही, पृ. 86.
15. वही, पृ. 86-87.
16. पं. बलभद्र जैन, वही, पृ. 91.
17. पद्मचरित 16/17-18.
18. वही, 16/101-107.
19. आचार्य जिनसेन कृत आदिनाथ परिशीलन, पृ. 273; श्रीरामजीत जैन एडवोकेट का लेख 'आदिपुराण में वर्णित क्षेत्र और उनकी वर्तमान स्थिति'।

जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकर

डॉ. शर्मिला जैन*

जैनधर्म भारतभूमि का प्राचीन धर्म है। यह धर्म आचरण पर विशेष बल देता है। आचरण के द्वारा संसारी आत्मा परमात्मा बन जाती है। जैनधर्म का आचार मार्ग अपनाकर जिन महापुरुषों ने तीर्थंकर पद पाया है, उनकी संख्या जैनधर्म में चौबीस मानी गई है। यहाँ उन चौबीस तीर्थंकरों का परिचय प्रस्तुत है-

(1) ऋषभदेव

भगवान ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्हें आद्य-प्रवर्तक या आदि तीर्थंकर भी कहा जाता है। इनके जन्म का समय "अवसर्पिणी-काल" है। ये "नाभिराज" "कुलकर" की धर्मपत्नी मरुदेवी की कुक्षि में आषाढ-कृष्णा-चतुर्दशी के दिन, उत्तराषाढ नक्षत्र में, चन्द्रयोग आने पर आये तथा नौ महीने साढ़े आठ दिन गर्भ में रहने के बाद, चैत्र-कृष्ण अष्टमी को आधी रात के समय पैदा हुए। इनकी जंघा पर वृषभ (बैल) का चिन्ह था, इसलिए इनका नाम ऋषभदेव रखा गया। जबकि अन्य स्थल पर, चिन्ह उरु-स्थल पर बताया गया है। नामकरण के अनेक उल्लेख हैं। ऋषभदेव एक वर्ष के हुए कि एक दिन राजा नाभि की गोद में बैठ वात्सल्य सुख दे रहे थे, तभी सौधमेन्द्र वहाँ आये। खाली हाथ आना उचित न समझकर एक इक्षुदण्ड सौधमेन्द्र हाथ में लेते आये थे। ऋषभदेव ने इन्द्र की भावना को समझ इक्षुदण्ड लेने के लिए हाथ बढ़ाया और उसे ग्रहण कर प्रसन्न हो गए, इसलिए देवेन्द्र ने उनके कुल का नाम, "इक्ष्वाकुवंश" रख दिया। उनके पूर्वज इक्षुरस पीते थे, अतः उनके "गोत्र" का नाम "काश्यप" पड़ा।

ऋषभदेव बड़े हुए। वे सर्वगुण सम्पन्न थे, अतः उनकी महत्ता के अनुसार उन्हें, प्रथम-जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, और प्रथम धर्मचक्रवर्ती कहा गया है; अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे, पढम केवलि, पढमतित्थयरे, पढमधम्मवर चक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

यही नहीं वरन् जैनाचार्य उन्हें योगविद्या का भी प्रणेता मानते हैं। पुरुषों की 72 कलाओं, स्त्रियों के 64 गुणों व 100 शिल्पों का श्रेय भी ऋषभदेव को ही है।

भागवत के पंचम-स्कन्ध में एक उपाख्यान् है, ऋषभदेव के बारे में कि, वे

* व्याख्याता, दर्शनशास्त्र, दानापुर डिग्री महिला महाविद्यालय, दानापुर (णटना), बिहार।

जम्बूद्वीप के प्रथम धर्मचक्रवर्ती सम्राट थे। इनके सौ पुत्र थे। समभाव तथा कुशलता से राज्य करने के बाद और कई यज्ञ करने के बाद, भगवान ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ और वीर पुत्र “भरत को राज्य सौंप कर, सर्वत्यागी-महायोगी बन गए थे। वे सर्वभूतों पर आत्मवत् दृष्टि रखते थे, और गगनपरिधान (नग्न) थे। उसके ज्येष्ठ पुत्र भरत, भारत के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे, इनके कुशलतापूर्वक शासन एवं नेतृत्व के कारण ही सम्राट भारत के नाम पर ही देश का नाम भारत पड़ा। ऋषभदेव, विष्णु के अवतार माने जाते हैं। ये 84, 00, 300 वर्ष तक जीवित रहे।

ऋषभदेव का भारतीय संस्कृति में विशिष्टतम स्थान है। इन्हें जैन-धर्म का संस्थापक माना जाता है।

(2) अजितनाथ

अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर थे। ये अयोध्या में राजा जितशत्रु की धर्मपत्नी महारानी विजया की कुक्षि से माघ शुक्ल अष्टमी के दिन रोहिणी नक्षत्र में पैदा हुए। विजय के उपलक्ष्य में इनका नाम “अजित” रखा गया। बड़े होने पर राज्यसत्ता प्राप्त कर भी अजितनाथ का मन ज्ञान-ध्यान की ओर था, अतः दीक्षा ग्रहण कर पौष शुक्ल एकादशी को उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। अन्ततः एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर एक मास के अनशनपूर्वक चैत्र शुक्ल पंचमी को मृगशिर-नक्षत्र में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। यही तीर्थंकर “अजितनाथ” का निर्वाण दिवस है।

(3) संभवनाथ

तीसरे तीर्थंकर “संभवनाथ” श्रावस्ती के राजा जितारी की धर्मपत्नी सैनादेवी की कुक्षि से मार्ग शु० 15 को पैदा हुए। इनके आविर्भावकाल में पर्याप्त साम्ब, मूंग आदि की पैदावार हुई, शस्यश्यामला धरती लहलहा उठी, अतः नामकरण “संभवनाथ” किया गया। यौवनावस्था में कुछ ही दिनों सांसारिक जीवन एवं राज्य का सुख प्राप्त कर ये दीक्षा की ओर उन्मुख हुए। अन्ततः 14 वर्ष की कठोर साधना के बाद संभवनाथ को “केवलज्ञान” प्राप्त हुआ। चैत्र शुक्ला-छठ को मृगशिर-नक्षत्र में इन्होंने सम्मेदशिखर पर मोक्ष प्राप्त किया।

(4) अभिनन्दननाथ

चौथे- तीर्थंकर अभिनन्दननाथ थे। इनका जन्म अयोध्या के राजा शंवर की धर्मपत्नी सिद्धार्थी की कुक्षि से माघ-शुक्ला-द्वितीया को पुष्य-नक्षत्र में हुआ। बालक के स्वागत में असीम उल्लास का वातावरण सर्वत्र बन गया। अतः इनका नामकरण “अभिनन्दननाथ” किया गया।

“भगवम्मि गभत्थे कुलं रुज्जं बागरं अभिणंदह त्रित्तेण जगणि जागाएहि वियारिरुण गुणनिप्फण्णं अभिणंदणोति णामं कयं”। युवावस्था में कुछ ही दिनों तक राज्य-सुख भोगकर ये “दीक्षा” की ओर उन्मुख हुए तथा कठोर साधना के बाद पौष-शुक्ला चतुर्दशी को “केवलज्ञान” की उपलब्धि की। अन्ततः वैशाख-शुक्ला अष्टमी को सम्मेदशिखर पर अभिनन्दननाथ ने निर्वाण प्राप्त किया।

(5) सुमतिनाथ

सुमतिनाथ पांचवें तीर्थंकर हुए। अयोध्या नरेश मेघ की रानी मंगलावती से वैशाख-शुक्ला अष्टमी को मध्यरात्रि को मघा-नक्षत्र में सुमतिनाथ का जन्म हुआ। युवावस्था में राज्य एवं सांसारिक सुख भोगकर इसमें कष्ट का अनुभव करने लगे, तब सुमतिनाथ ने दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। वैशाख-शुक्ला नवमी के दिन दीक्षा ग्रहण कर बीस (20) वर्ष तक तप के बाद, चैत्र शुक्ला एकादशी को “केवलज्ञान” की प्राप्ति हुई। तथा “चतुर्विध-संघ” की स्थापना कर तीर्थंकर कहलाए। अन्ततः चैत्र-शुक्ला नवमी को पुनर्वसु-नक्षत्र में चार अघाति कर्मों का क्षय कर, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो निर्वाण पद प्राप्त किया।

(6) पद्मप्रभ

छठे तीर्थंकर “पद्मप्रभ” कौशांबी नरेश की रानी सुसीमा की कुक्षि में 16 शुभ स्वप्नों के बाद आये तथा कार्तिक कृष्ण-द्वादशी को चित्रा नक्षत्र में पैदा हुए। गर्भकाल में इनकी माताश्री को पद्म-शैल्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था तथा पद्म के समान शरीर होने के कारण बालक का नाम पद्मप्रभ रखा गया:

“पद्मशय्या दोहदोऽस्मिन्, यन्मातुर्गर्भभवती।

पद्माभहेत्यक पदप्रभ इत्याहयत् पिता॥”

युवावस्था में वैवाहिक जीवन एवं राज्य सुख भोगने के बाद, इन्होंने दीक्षा ग्रहण की तथा साधना के पश्चात् “केवलज्ञान” प्राप्त कर “पद्मप्रभ” ने अन्ततः मोक्ष को प्राप्त किया।

(7) सुपार्श्वनाथ

सातवें तीर्थंकर, सुपार्श्वनाथ, वाराणसी-नरेश प्रतिष्ठसेन की रानी पृथ्वी से ज्येष्ठ-शुक्ला-द्वादशी को विशाखा-नक्षत्र में पैदा हुए। गर्भकाल में इनकी माताश्री के पार्श्व शोभन रहे, अतः इनका नामकरण “सुपार्श्वनाथ” किया गया:

“भगवन्मि य गुवभगए जणणी जाया सुपासत्ति तयो भगवओ सुपासन्तिणामं कयं।”⁵

यौवनावस्था में वैवाहिक एवं राज्य-सुख प्राप्त कर, सुपार्श्वनाथ दीक्षा की ओर उन्मुख हुए। जो ज्येष्ठ-शुक्ला-त्रयोदशी को पूर्ण हुई। कठोरतम साधना के पश्चात् फाल्गुण-शुक्ला षष्ठी को विशाखा-नक्षत्र में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अन्ततः सुपार्श्वनाथ फाल्गुन-कृष्ण-सप्तमी को सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त कर सिद्ध हो गये।

(8) चन्द्रप्रभ

आठवें तीर्थंकर “चन्द्रप्रभ” पौष-कृष्ण-एकादशी को चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा की कुक्षि से पैदा हुए। गर्भकाल में रानी को चन्द्रपान का दोहद हुआ था तथा चन्द्रप्रभा से सुन्दर बालक का नाम तदनुसार “चन्द्रप्रभ” रखा गया:

“गर्भस्थेऽस्मिन् माऽरासच्चन्द्रं पानाय दोहदः।

चन्द्राभश्वैष इत्याहच्चन्द्रप्रभममुं पिता॥”⁶

युवावस्था में वैवाहिक एवं राज्य सुख भोगने के बाद पौष-कृष्ण-सप्तमी को शुक्लध्यान के बल से ज्ञानधरणादि चार घातिया कर्मों का क्षय कर चन्द्रप्रभ ने "केवलज्ञान" और पूर्णता" की प्राप्ति की। अन्ततः चन्द्रप्रभ को "भाद्रपद-कृष्ण-सप्तमी को सम्मेदशिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ।

(9) सुविधिनाथ (कुसुमदन्त, पुष्पदन्त)

नवें तीर्थंकर "सुविधिनाथ" को काकन्दी-नरेश सुग्रीव की रानी रामादेवी ने 16 शुभ स्वप्नों के बाद मार्गशीर्ष कृष्ण-पंचमी को जन्म दिया। गर्भकाल में माँ को "पुष्प" का दोहद उत्पन्न हुआ तथा सब प्रकार से कुशलता रही, अतः नामकरण, "सुविधिनाथ" और "पुष्पदन्त" दोनों हुआ:

“कुशला सर्वविधिषु, गर्भस्थेऽस्मिन् जन्मभूत।
पुष्पदोहदतो दन्तोदुगमोऽस्यसमभादिति॥
सुविधिः पुष्पदन्तरचेत्यभिधानद्वयं विभोः।
महोत्सवेन चकाते, पितरो दिवसे शुभे॥”

युवावस्था में पाणिग्रहण एवं राज्यपद के बाद सुविधिनाथ ने दीक्षा ग्रहण की। साधनारत कार्तिक-शुक्ला-तृतीया को इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। "चतुर्विध-संघ" की स्थापना कर सुविधिनाथ भाव तीर्थंकर कहलाए। अन्ततः भाद्रपद-कृष्ण-नवमी को सम्मेदशिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ।

(10) शीतलनाथ

दसवें तीर्थंकर "शीतलनाथ", महिलपुर नरेश-दृढरथ की रानी नन्दादेवी की कुक्षि से 16 शुभ स्वप्नों के पश्चात् माघ कृष्ण द्वादशी को पैदा हुए। राजा दृढरथ ने बाल से शीतलता की अनुभूति कर तदनुसार "शीतलनाथ" नामकरण किया:

राज्ञः सन्सप्तमत्यंगं, नन्दास्पर्शनं शीत्यभूत।
गर्भस्थेऽस्मिज्जिति तस्य, नाम शीतल इत्यभूत॥⁸

पूर्व तीर्थंकरों के समान सांसारिक जीवन कुछ समय तक व्यतीत करने के बाद शीतलनाथ ने दीक्षा ग्रहण कर ली। शुक्लध्यान में पौष-कृष्ण-चतुर्दशी को "केवलज्ञान" प्राप्त कर अन्ततः वैशाख-कृष्ण-द्वितीया को निर्वाण को प्राप्त हुए।

(11) श्रेयांसनाथ

"श्रेयांसनाथ" ग्यारहवें तीर्थंकर थे। सिंहपुरी के राजा विष्णु की रानी विष्णुदेवी ने फाल्गुन-कृष्ण-द्वादशी को इन्हें जन्म दिया। बालक के जन्म से सबका श्रेयकल्याण हुआ। अतः इनका नामकरण "श्रेयांसनाथ" उसके अनुरूप ही किया गया:

“जिनस्य मातापितरावुत्सवेन महीयसा।
अभिधा श्रेयसि दिने, श्रेयांस इति चक्रतुः॥”

सांसारिकता से श्रेयांसनाथ को भी विराग हो गया। अतः श्रमण-दीक्षा, फाल्गुन-त्रयोदशी को ग्रहण कर साधना में लीन हो गए। "केवलज्ञान" की प्राप्ति के पश्चात् एक हजार

मुनियों के साथ शुक्लध्यान के अन्तिम चरण में अयोगी दशा को प्राप्त कर, श्रावण-शुक्ल-तृतीया को सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-एवं मुक्त हुए।

(12) वासुपूज्य

बारहवें तीर्थंकर “वासुपूज्य” को चम्पानगरी के राजा “वसुपूज्य” की रानी जयादेवी ने 16 शुभ स्वपनों के बाद फाल्गुन-कृष्ण-चतुदशी को जन्म दिया। पिताजी के अनुरूप इनका नामकरण किया गया। “वासुपूज्य” को कुछ आचार्य अविवाहित मानते हैं। फाल्गुन कृष्ण अमावस्या को दीक्षा ग्रहण कर साधना में निरत रहे, फिर माघ शुक्ला-द्वितीया को इन्होंने “केवलज्ञान” प्राप्त किया। अन्ततः आषाढ शुक्ला चतुदशी को “उत्तरा-भाद्रपद-नक्षत्र” में “चम्पा” सम्प्रति मन्दार पर्वत (चम्पा का उपवन) में तीर्थंकर वासुपूज्य ने निर्वाण प्राप्त किया।

(13) विमलनाथ

विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर हैं। कपिलपुर के राजा कृतवर्मा की रानी पूयामा ने माघ-शुक्ला तृतीया को इन्हें जन्म दिया। गर्भकाल में माताश्री के तन-मन की निर्मलता के कारण इनका नाम “विमलनाथ” रखा गया:

“गर्भस्थे जननी तस्मिन् विमलाभादजायत।

ततो विमल इत्याख्यां, तस्य चक्रे पिता स्वयम्॥”¹⁰

युवावस्था में वैवाहिक और राज्य-सुख भोगने के बाद विमलनाथ ने विरक्ति भाव से दीक्षा ग्रहण कर ली। सतत् साधना में तल्लीन रहते हुए पौष-शुक्ला-षष्ठी को “केवलज्ञान” प्राप्त कर चतुर्विध-संघ की स्थापना करके भाव-तीर्थंकर की गरिमा से मण्डित हुए। अन्ततः छः सौ (600) साधुओं के साथ समाधि लेकर आषाढ-कृष्ण-सप्तमी को विमलनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया।

(14) अनन्तनाथ

अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर हुए। ये अयोध्या नरेश सिंहसेन की धर्मपत्नी सुयशा की कुक्षि से वैशाख-कृष्ण-त्रयोदशी को पैदा हुए। गर्भावस्था में ही अद्भुत परिणाम के कारण इनका नाम “अनन्तनाथ” रखा गया:

“गर्भस्थेऽस्मिन् जितं विन्नानन्तं पशुबलं यतः।

ततश्चहेनन्तं जित्वाख्यां परमेशितुः॥”¹¹

“गणभत्थे य भगवम्मि पिठणा “अजन्तं” परवलं जियति तओ।

जथत्थं अणन्तहजिणो ति नामं कयं युवणगुरुणो॥”¹²

वैवाहिक-सुख और राज्य-सुख भोगने के पश्चात् अनन्तनाथ ने दीक्षा ग्रहण कर ली। सतत् साधना में लीन रहते हुए वैशाख-कृष्ण-चतुर्दशी को “केवलज्ञान” की उपलब्धि की। अनन्तनाथ चतुर्विध संघ की स्थापना करके भाव-तीर्थंकर कहलाए। अन्ततः एक हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन कर चैत्र-शुक्ला-पंचमी को सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हुए।

(15) धर्मनाथ

पन्द्रहवें तीर्थंकर “धर्मनाथ” को रत्नपुर के महाप्रतापी राजा भानु की रानी सुव्रता ने 16 शुभ स्वप्नों के पश्चात् माघ-शुक्ला-तृतीया को जन्म दिया। गर्भकाल में माताश्री धर्म-साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे, अतः तदनुसार बालक का नामकरण “धर्मनाथ” किया गया। सांसारिक बन्धनों में असीम-पीड़ा का अनुभव कर इन्होंने माघ-शुक्ल-त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण कर साधना का मार्ग अपनाया। अनेक परीषहों को सहन करते हुए पौष-शुक्ल-पूर्णिमा को घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति की। अन्ततः ज्येष्ठ शुक्ल-पंचमी को सम्मेशिखर से “धर्मनाथ” ने निर्वाण पद प्राप्त किया।

(16) शान्तिनाथ

“शान्तिनाथ” सोलहवें तीर्थंकर हुए। इनका जन्म हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की रानी अचिरा की कुक्षि से भाद्रपद-कृष्ण-सप्तमी को हुआ। इनके आविर्भाव से महामारी का भयंकर प्रकोप शान्त हुआ, तदनुसार ही बालक का नाम “शान्तिनाथ” रखा गया:

“गढभ्रथेण य भगवया सब्बदेसं संतीसमुप्पणा त्ति।

काऊण सन्सिंतिणां अस्मापितीहि कयं।।”¹³

अनेक राजकन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ,

“ततो सो जोव्वणं पत्तो पणुवीसवाससतृस्साणीकुमारकालं गमेई।”¹⁴

किन्तु वैभवशाली जीवन एवं राज्य को छोड़कर (त्याग कर) शान्तिनाथ, दीक्षा की ओर उन्मुख हुए। दीक्षा ग्रहण कर कठोर साधना करते हुए इन्होंने पौष-शुक्ल-नवमी को “केवलज्ञान” प्राप्त किया। अन्ततः ज्येष्ठ कृष्ण-त्रयोदशी को सम्मेशिखर पर “शान्तिनाथ” को निर्वाण लाभ मिला।

(17) कुंथुनाथ

सत्रहवें तीर्थंकर, “कुंथुनाथ”, हस्तिनापुर के राजा वसु की धर्मपत्नी श्रीदेवी की कुक्षि से श्रावण वदी नवमी को पैदा हुए। गर्भकाल में माताश्री ने कुंथु नाम के रत्नों की राशि देखी, अतः बालक का नाम “कुंथुनाथ” रखा गया। युवावस्था में विवाह एवं राज्य भोग करते हुए इन्होंने चक्रवर्ती पद प्राप्त किया किन्तु सांसारिक सुख में अरुचि उत्पन्न हो जाने से “कुंथुनाथ” ने वैशाख-कृष्ण-पंचमी को दीक्षा ग्रहण कर ली। सतत् साधना में निमग्न चैत्र-शुक्ला-तृतीया के दिन इन्होंने “केवलज्ञान” प्राप्त किया। यही नहीं वरन् “चतुर्विध-संघ” की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर कहलाए। अन्ततः वैशाख-कृष्ण-प्रतिपदा को कृतिका-नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर “प्रभु” सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हुए।

(18) अरनाथ

“अरनाथ” अठारहवें तीर्थंकर हुए। हस्तिनापुर-नरेश, सुदर्शन की रानी महादेवी ने 16 शुभ स्वप्नों के पश्चात् मृगशिर-शुक्ला-दशमी को रेवती-नक्षत्र में इस पुत्र रत्न को

जन्म दिया। गर्भकाल में माताश्री ने रत्नमय-चक्र के “अर” को देखा था, इसलिए तदनु रूप बालक का नाम “अरनाथ” रखा गया:

“पड्ढावियं से णाम सुमिणमि महारिहाइरदंसणत्तणेण अरो त्ति।”¹⁵

युवावस्था में सांसारिक सुखों को भोगते हुए “अरनाथ” को विरक्ति-भाव अनुभव हुआ, परिणामतः मार्गशीर्ष शुक्ल-एकादशी को इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। “केवलज्ञान” प्राप्त कर अन्ततः अरनाथ ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

(19) मल्लिनाथ

उन्नीसवें तीर्थंकर “मल्लिनाथ” को मिथिला नरेश, कुंभ की रानी प्रभावती ने मगशिर-शुक्ल-एकादशी को जन्म दिया। गर्भकाल में रानी को पुष्पशय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ, अतः तदनुसार “मल्ली” नामकरण किया गया:

“जम्हाणं अम्हे इमीए दारियाए माउएमल्लसमणिज्जरिव।

डोहले विणीते तं होउणं नामेण मल्ली।।”¹⁶

श्वेताम्बर, इन्हें स्त्री-रूप में मानकर जहां “मल्ली-भगवती” नाम से सम्बोधित करते हैं, वहीं दिगम्बर, पुरुष रूप में मानकर “मल्लिनाथ” कहते हैं। असीम त्याग, तप एवं साधनों से “केवलज्ञान” प्राप्त कर मल्लिनाथ तीर्थंकर की वरीयता से विभूषित हुए।

(20) मुनिसुव्रत

“मुनिसुव्रत” बीसवें तीर्थंकर हुए। इनका जन्म राजगृह नरेश “सुमित्र” की रानी यद्वावती की कुक्षि से ज्येष्ठ-कृष्ण-नवमी को हुआ। गर्भकाल में माताश्री की विशेष रुचि व्रतों के पालन में रही, अतः तदनुसार बालक का नामकरण किया गया:

“गब्भगए मायापिया य सुव्वता जाता।।”¹⁷

युवाकाल में विवाह और राज्य सुख में लिप्त न होकर “मुनिसुव्रत” दीक्षा की ओर उन्मुख हुए। दीक्षा लेने पश्चात् तप में लीन, मगशिर-कृष्ण-एकादशी को “केवलज्ञान” की उपलब्धि कर “अरिहन्त” कहलाए। अन्ततः एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ।

(21) नमिनाथ

‘नमिनाथ’ जैनधर्म के 21वें तीर्थंकर हुए हैं। इनका जन्म मिथिला के राजा विजय की महारानी वप्रा के गर्भ से श्रावण कृष्ण अष्टमी को हुआ था। संसार की असारता का अनुभव करके इन्होंने आषाढ़ कृष्ण नवमी को गृहत्याग कर जिनदीक्षा ग्रहण की। कठोर साधना के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशी को ‘केवलज्ञान’ प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हुए वैशाख कृष्ण दसवीं को नमिनाथ ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

(22) अरिष्टनेमि

बाईसवें तीर्थंकर “अरिष्टनेमि” को महाराजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी ने 16 शुभ स्वप्नों के बाद श्रावण-शुक्ला-पंचमी को जन्म दिया। गर्भकालीन प्रभाव के कारण

बालक का नामकरण “अरिष्टनेमि” किया गया;

“अरिष्टं अप्रशस्तं तदनेन नामित, नेमि सामान्य।

विसेसो रिट्ठरमणामर्हं नेमी, उप्ययमाणी सुविणेपेच्छति।।”²⁰

बचपन में ही इनकी विशिष्टताएं सबके आकर्षण का केन्द्र रही;

“तन्यन्मदं दशार्हाणां, भ्रातोश्च हलिकृष्णयोः।

अश्वितनेमिर्भगवान्, ववुद्ये तत्र च क्रमात्।।21।।

ज्यामांसोऽपि लघुभृग्रं-चिकीहुः स्वामिना समम्।

सर्वेऽपि भ्रातरः क्रीडा शैलोद्यानादि भूमिषु।।3।।”²¹

श्रीकृष्ण-काल की विविध घटनाओं से अरिष्टनेमि संबद्ध रहे। सांसारिकता से सुख की अनुभूति न करते हुए दीक्षा ग्रहण कर साधना में तल्लीन, इन्हें आश्विन-कृष्ण-अमावस्या को पूर्वाह्न काल में घातिया-कर्म नष्ट कर “केवलज्ञान” की प्राप्ति हुई। अन्ततः आषाढ शुक्ला-सप्तमी को उज्जयंतगिरि पर “अरिष्टनेमि” को निर्वाण प्राप्त हुआ। ये 1000 (एक हजार) वर्ष तक जीवित रहे। अरिष्टनेमि का प्राचीन-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। यही नहीं, वरन् इनकी ऐतिहासिक-स्थिति के विषय में भी विद्वान सहमत हैं।

(23) पार्श्वनाथ

“पार्श्वनाथ” तेइसर्वे तीर्थंकर हुए। इनका समय 8वीं शती ईसा पूर्व था। वे एक ऐतिहासिक-पुरुष थे। वाराणसी-नरेश-अश्वसेन की रानी वामादेवी ने 16 शुभ स्वप्नों के बाद पौष-कृष्ण-दशमी को इस पुत्र रत्न को जन्म दिया। गर्भकाल में मां ने पास में सरकते हुए सर्प को देखा था, जिससे कोई हानि नहीं हुई। तदनुसार बालक का नामकरण किया गया;

“गर्भस्थितेऽस्मिन्जननी, कृष्णानिश्च त्रिपार्श्वतः।

सर्पन्तं सर्पमद्राक्षीत, सद्यः पत्युः शर्षस च।।

स्मृत्वा तदेष गर्भस्य, प्रभाव इति निर्णयन्।

पार्श्व इत्यभिधां सूनोरश्वसेननृपोऽकरोत्।।”²²

उत्तरापुराण में बताया गया है कि इन्द्र ने बालक का नाम “पार्श्वनाथ” रखा;

“जन्माभिषेक कल्याणपूजा निर्वृत्यन्तरम्।

पार्श्वभिधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन्।।”²³

“पार्श्वनाथ” क्षत्रिय कुल के थे। बचपन से ही पार्श्वनाथ बड़े साहसी, दयालु व क्रियाशील थे। नागोद्धार इनकी उदारता का प्रतीक है। इस राजकुमार को जनता अत्यन्त प्यार करती थी। इनका विवाह कुशस्थल देश के सम्राट नरवर्मा की पुत्री प्रभावती के साथ हुआ। राजकुमार होते हुए भी सांसारिकता से विरक्ति-भाव उत्पन्न हुआ और इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। साधना में लीन पार्श्वनाथ अनेक उपद्रवों से भी अविचलित रहे, अतः धरणेन्द्र ने स्वयं आकर उन्हें पद्मासन व सप्तफणों के छत्र से अलंकृत किया। अन्ततः

कठोरतम साधना के पश्चात् चैत्र-कृष्ण-चतुर्थी के दिन इनको “केवलज्ञान” की उपलब्धि हुई। इसके बाद चतुर्विध-संघ की स्थापना कर पार्श्वनाथ ने “चातुर्याम धर्म” का उपदेश दिया;

“चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंच सिक्खाओ
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी।।”²⁴

अर्थात् पार्श्वनाथ ने “अहिंसा”, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार व्रतों पर बल दिया। 30 वर्ष तक गृहस्थावस्था 83 दिन छद्मस्था (समाधि की अवस्था), 83 दिन 70 वर्ष केवली अवस्था, इस प्रकार कुल 100 वर्ष की आयु व्यतीत कर महावीर से 250 वर्ष पूर्वी सम्मेदशिखर पर समाधिपूर्वक पार्श्वनाथ ने निर्वाण पद प्राप्त किया।

पार्श्वनाथ के अनुयायी 16,000 श्रमण थे, और आर्यदत्त उनमें सर्वश्रेष्ठ थे। उनके पास आठ गण और आठ गणघर थे। 38,000 भिक्षुणियों ने उनका अनुगमन किया था। 7,64,000 श्रावकों और 3,27,000 श्राविकाओं ने उनके बताए गए मार्ग को अपनाया।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि वे ऐतिहासिक पुरुष थे। डॉ. हर्मन याकोबी ने प्रबल प्रमाणों से इसको पुष्ट किया है;

"The parswa was a historical person, is now admitted by all a very probable"²⁵.

(24) महावीर

मानवता के उद्धारक, युग-निर्माता तथा पांच महाव्रतों के सम्बल से समाज को संवारने वाले चौबीसवें (अन्तिम) तीर्थंकर महावीर का जन्म, चैत्र-शुक्ल-त्रयोदशी सोमवार 599 ईसा पूर्व को लिच्छवी राजकुमारी त्रिशलारानी के गर्भ से हुआ।

“पार्श्वेशतीर्थसंताने पञ्चाशद्रविशतात्मके।

तद्-मन्तरवत्यत्युर्महावीरो च जात्यान्।।”²⁶

“पास जिणाओ य होई वीरजिणो,

अड्ढाइज्जसमेहि गमेहि चरिमो समुत्यनो।।”²⁷

वात्मजिणुप्पत्तीदो उत्पत्ती वड्ढमाणस्स।।”²⁸

विदेह जनपद में वैशाली नगर के समीप “कुण्डपुर” (कुण्डग्राम) है, जो आधुनिक बिहार के पटना से 55 किलोमीटर उत्तर वैशाली नामक स्थान के क्षत्रिय जातक राजा सिद्धार्थ की धर्मपत्नी त्रिशला रानी ने आषाढ़-शुक्ला-षष्ठी को ब्राह्ममूर्हत में सोलह-सुखकारी स्वप्न देखे, जो इस प्रकार है:-

हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, दो मालाएं, चन्द्रमा, सूर्य, दो मछलियां, जल से भरा हुआ स्वर्ण कलश, तालाब, समुद्र, सिंहासन, देवों का विमान, धरणेन्द्र का भवन, रत्नों का ढेर, निर्धूम अग्नि स्वप्न में देखी। रानी की नींद स्वप्न देखने के बाद खुल गई।

राजा सिद्धार्थ इस तथ्य को समझ कर आह्लादित हो उठे क्योंकि वे स्वयं निमित्तशास्त्र के वेत्ता थे;

“सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवर्षे विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः।”²⁹

रानी त्रिशला को शुभ फल के विषय में बताते हुए कहा कि तुम एक यशस्वी, ज्ञानी, जगत् के उद्धारक पुत्र की माता बनोगी। रानी इस शुभ समाचार से निहाल हो उठी।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह मान्यता है कि इन्हीं स्वप्नों को कुण्डपुर (ब्राह्मणकुण्ड) की देवानंदा ब्राह्मणी ने देखा था किन्तु गर्भ परिवर्तन के द्वारा 82 रात्रि पश्चात् यह अवसर त्रिशला को इन्द्र द्वारा प्रदान किया गया। हरिणेगमेषी ने गर्भाहरण कर 83वीं रात्रि में चौबीसवें तीर्थंकर को त्रिशला की कुक्षि में प्रतिष्ठित किया।

नौ मास, सात दिन, बारह घन्टे तक गर्भ में पालन करने के पश्चात् रानी त्रिशला ने चैत्र-शुक्ला-त्रयोदशी सोमवार 599 ई. पू. को आर्यमा योग में एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया;

“चैत्रसितपक्ष फाल्गुनि शशंकयोगदिने त्रयोदश्याम्।

यज्ञ स्वोव्वस्थषु ग्रहेषु सोम्येषु शुभलग्ने॥”³⁰

“दृष्टे ग्रहैरथ निजोत्वगतैः समग्रैः लग्ने यथा- पतितं कालमसूत राज्ञी।

चैत्रे जिनं सिततृतीयजया निशान्ते सोमान्दि- चन्द्रमसि-चोत्तरफाल्गुनिस्थे॥”³¹

सर्वगुण सम्पन्न बालक की वरीयता को परख सिद्धार्थ और त्रिशला ने अत्यधिक आह्लादित हो समृद्धि के सूचक “वर्द्धमान” नाम से उसे अलंकृत किया और अपने इस पुत्र के जन्म को अत्यन्त धूमधाम से मनाया था। “इस अवसर पर टैक्स माफ कर दिये गये, लोगों की सरकार द्वारा जब्त सम्पत्ति उन्हें लौटा दी गई। सिपाही किसी के घर जाकर उसे पकड़ नहीं सकते थे। कुछ समय के लिए व्यापार को रोक दिया गया। आवश्यक वस्तुएं सस्ती कर दी गई। सरकारी कर्ज और जुर्माने माफ कर दिए गए और कुण्डपुर के कैंदियों को इस अवसर पर छोड़ दिया गया।” “वर्द्धमान” के आगमन से ही सर्वत्र राज्य भर में समृद्धि उमड़ने लगी थी। पैदा होने पर यह वैभव और अधिक बढ़ता रहा। जनता इस तेजस्वी बालक को पाकर बेहद प्रसन्न थी। यही वही, वरन् वंश-कुल, नगर, राज्य सभी वर्द्धमान को प्राप्त कर धन्य हो गये, वर्द्धमान की वरीयता में सबका गौरव समा गया। तभी तो वैशाली, ज्ञातृवंश आदि से उन्हें सम्बद्ध किया गया;

“विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव च।

विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः॥”³²

“नाम नाएपुत्ते नामकुलचन्द्र, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे विदेह सूमाले तीसं वासाई विदेहंसि कट्टु॥”³³

राजपुत्रोचित वर्द्धमान का लालन-पालन होने लगा। उनकी छवि जहां सबका मन मोह लेती वहीं असाधारण प्रतिभा से भी लोग प्रभावित होते। सिद्धार्थ एवं त्रिशला अपना असीम स्नेह उड़ेल “वर्द्धमान” को संवारने लगे। सुघर-शरीर-अलंकारों से अलंकृत द्विगुणित हो उठा। राजपुत्र के उत्कृष्टतम आभूषणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

यथा:

“धृत्वा शेखर पट्टहारपदकं त्रैवेयकालम्बकम्।
केयूरांगदमध्यवन्धूरकटीसूत्रं व मुद्रान्वितम्॥
चिन्हत्कुण्डल-कर्णपूरममलं पाणिद्वये कंकणम्।
मन्जीरं कटकं पदे जिनपते: श्रीकन्धमुद्रांकितम्॥”³⁵

वर्द्धमान की प्रतिभा के अनुसार कलाचार्य के पास उन्हें विद्याध्ययन के लिए भेजा गया किन्तु, वे तो सभी विद्याओं के ज्ञाता थे। अपने “पूर्व जन्म” के संस्कारों की प्रबलता के कारण उन्हें विद्या-प्राप्ति में जरा भी परिश्रम नहीं करना पड़ा।

“वर्द्धमान” जब लगभग 8 वर्ष के थे, एक बार अपने साथियों के साथ प्रमद-वन में क्रीड़ा करने गये;

“पम्यवणासित्ति गृहोष्टाने॥”

यह खेल वृक्षों को लक्ष्य करके खेला जाता था;

“तरूप तेसु-रुक्खेसु जो पदमं विलयाति-जो पदमं ओलुभति सो वेडरावाणि वाहेत्ति॥”³⁶

जब वे अपने साथियों के साथ खेल रहे थे, तभी इन्द्र द्वारा प्रेरित संगमदेव उनकी परीक्षा करने आया;

“वट वृक्षमथेकदा महान्तं, सह डिभेराधिसव वर्द्धमानम्।

रयमाणमदीकय संगमाख्ये, विबुधस्त्रासयितु समाससाद॥”³⁷

सर्प के रूप में उसने वर्द्धमान को भयभीत करना चाहा। सब लड़के तो फुफकारते हुए सर्प को देखकर भाग गये, किन्तु वर्द्धमान जरा भी भयभीत नहीं हुए;

“वर्द्धमान के चलधर, कालधर व पदधर नाम के तीन साथी भी वहीं थे।”³⁸

बड़े साहस के साथ उन्होंने सर्प की पूंछ पकड़कर दूर फेंक दिया। अपनी पीठ पर बैठकर भी देव ने उन्हें डराना चाहा, किन्तु सफल नहीं हुआ। अन्ततः वर्द्धमान के साहस को परख देव ने उन्हें “महावीर” की महत्ता से अलंकृत किया। इन्द्र ने महावीर के साहस की सराहना की, तभी वे वर्द्धमान “महावीर” कहलाने लगे। इसी प्रकार वर्द्धमान की वरीयता को परख कर उन्हें अनेक नामों से सम्बोधित किया गया;

“सन्मतिर्महतिर्वीरो महावीरोऽन्त्य काश्यपः।

नाथान्वयो वर्द्धमानो व्यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥”³⁹

महावीर के साहस, पौरुष और प्रतिभा से सब लोग बेहद प्रभावित हुए। इतनी कम उम्र में वर्द्धमान ने जो कर दिखाया, वह अन्यत्र सम्भव नहीं। यहीं नहीं वरन् इसी अवस्था में सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि के अंकुर भी उनमें उभरने लगे;

“स्वायुराधन्त वर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्।

उदिताष्ट कषायाणां तीर्थेणां देश संयमः॥”⁴⁰

यौवन के प्रथम चरण पर ही वे चढ़े थे कि उनके विवाह के प्रस्ताव आने लगे।

पिताश्री सिद्धार्थ और माताश्री त्रिशला भी अति उत्सुक थे कि शीघ्रातिशीघ्र महावीर का विवाह कर दें। इसी समय कलिंग के बसन्तपुर के महासामन्त ने अपनी कन्या “यशोदा” का विवाह महावीर से करने का प्रस्ताव भेजा।

महावीर के विरक्त मनोदशा से सभी परिचित थे। मित्रों के माध्यम से उनके विचार जानने का प्रयत्न माता-पिता ने किया, किन्तु महावीर ने कहा, “मोहग्रस्त मित्रों? तुम्हारा ऐसा क्या आग्रह है, क्योंकि स्त्री आदि परिग्रह भव-भ्रमण का ही कारण है और “भोगे रोगभ्यम्” से कष्ट ही है। मेरे माताश्री पिताश्री को जीवित रहते हुए मेरे वियोग का दुःख न हो, इस हेतु से दीक्षा लेने को उत्सुक होता हुआ भी मैं दीक्षा नहीं ले रहा हूँ।”

सिद्धार्थ और त्रिशला को महावीर का मन्तव्य ज्ञात हो गया, किन्तु वे किसी भी रूप में महावीर को विवाहित देखना चाहते थे। अन्ततः माताश्री त्रिशला स्वयं महावीर के पास आईं। महावीर ने तुरन्त खड़े होकर अपनी माताश्री का आदर किया और कहने लगे- मैं स्वयं आ जाता, आप क्यों आईं। त्रिशला ने कहा-पुत्र! हम दोनों (माता-पिता) तुम्हें विवाहित देखना चाहते हैं, तभी हमें तृप्ति होगी। माताश्री की ममता परख महावीर ने विवाह की स्वीकृति दे दी, तथा कलिंग राजकुमारी “यशोदा” के साथ उनका पारिणग्रहण हो गया। महावीर एवं यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम उन्होंने “प्रियदर्शना” रखा।

“श्वेताम्बर-परम्परा” महावीर के वैवाहिक जीवन की पुष्टि कर एक पुत्री होने तक का उल्लेख करती है, जबकि “दिगम्बर-परम्परा” उन्हें अविवाहित मानती है।

दिगम्बर मतावलम्बी यह तथ्य पुष्ट करते हैं कि विवाह का प्रस्ताव आया अवश्य किन्तु महावीर ने अमान्य कर दिया। वह जीवनभर अविवाहित ही रहे। इस आजन्म-ब्रह्मचर्य की प्रामाणिकता के लिए दिगम्बर अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं;

“वासुपूज्यो महावीरो मल्लि पार्श्वो यदुत्तमः।

“कुमार” निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽचरे॥”⁴¹

“जेमी मल्ली वीरो कुमार कालमि वासुपुज्जो या

पासो विय गहिदलवो सेस जिणां रज्ज चरिमम्मि॥”

“वासुपूज्यस्तना मल्लि नमिः पार्श्वेऽथ सन्मतिः।

कुमाराः पंच निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयः परेः॥”

वास्तव में यह विषय बड़ा विवादास्पद है। महावीर के वैवाहिक जीवन की यथार्थता को आधुनिक-विद्वान साहित्य के अतल में “पैठकर उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं।

महावीर जन्म से ही बड़े दयालु थे। उन दिनों यज्ञों में निरीह पशुओं की हत्या देखकर महावीर का हृदय पिघल गया। यद्यपि वर्द्धमान-महावीर का प्रारम्भिक-जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उनकी प्रवृत्ति, सांसारिक जीवन की ओर नहीं थी। वह “प्रेय” मार्ग को छोड़कर “श्रेय” मार्ग की ओर जाना चाहते थे।

माताश्री एवं पिताश्री के जीवित रहने तक महावीर “प्रवज्या” न लेने का संकल्प

पहले ही कर चुके थे, अतः इसका उन्होंने पूर्ण पालन किया। उनके स्वर्गवासी होते ही ज्ञातुक लोगों का राजा अब सिद्धार्थ का ज्येष्ठ पुत्र “नन्दिवर्धन” बने। अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर महावीर ने अपने अग्रज “नन्दिवर्धन” से “प्रवज्या” लेने की इच्छा व्यक्त की, पर नन्दिवर्धन ने कहा- अभी माता-पिता के वियोगजन्य-दुःख को तो हम भूल ही नहीं पाये कि इसी बीच तुम भी प्रवज्या की बात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। अतः कुछ काल के लिए ठहरो, फिर प्रवज्या लेना, तबतक हम शोक रहित हो जाएंगे,

“अच्छह कंचिकालं, जाव अम्हे-विसोगाणि जाताणि।।”⁴²

इस समय महावीर की भरी जवानी की अवस्था अर्थात् 28 वर्ष की थी। अग्रज की बात उन्होंने स्वीकार कर दो वर्ष के लिए और घर पर रहना स्वीकार कर लिया। ये दो वर्ष उनकी साधना के ही रूप में व्यतीत हुए, क्योंकि विरक्तभाव से वे चिन्तन-मनन के साथ-ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते;

“अविसाहिए दुबेवासे सीतोदगममोचदाणिकखते,

अफासुगं आहारं पस्संतं य-अणाहारेतो अविसाहिए दुवेजासे,
सीतोदं-अमोन्याणिकसंतं।”⁴³

यही नहीं वरन् वे भूमि पर शयन करते हुए क्रोधादि पर संयम कर एकत्व-भाव से रहते थे।

अन्ततः 30 वर्ष के यौवनकाल में महावीर की “दीक्षा” का दिन निश्चित हुआ। राजा नन्दिवर्धन के नेतृत्व में 108 स्वर्ण, रौप्य आदि कलशों को बनवाकर बड़ी सजधज, हाथी-घोड़े एवं अपार जन-समूह के साथ “हेमन्त-ऋतु” के प्रथम मास मगशिर-कृष्ण-दशमी-तिथि को सुव्रत-दिवस, विजय मुहूर्त के चतुर्थ प्रहर में उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में “वीर-दीक्षा” का समारोह हुआ। इन्द्र ने स्वयं सब व्यवस्था संभाली। अपार जन-समूह के समक्ष वर्द्धमान ने प्रतिज्ञा की:

“सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं।”

अर्थात् अब मेरे लिए सभी पाप कर्म अकरणीय होंगे। यही नहीं वरन् पुनः कृत-संकल्प हुए कि:-

“करेमि समाइयं सव्वं साकज्जं जोगं पच्चक्खामि।”

आज से सम्पूर्ण सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूँ।

असीम वैभव-विलास एवं समृद्धि को लात मारकर कष्टों एवं विपत्तियों से जूझने के लिए तपस्वी-जीवन में अवतरित होते हुए, उन्हें देख देव, मनुष्य आदि सभी चकित रह गए, जबकि महावीर ने पुनः संकल्प किया कि-

आज से साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक मैं देह की ममता छोड़कर रहूँगा अर्थात् हम बीच में देव, मनुष्य या तिर्यक् जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग, कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक्-रूपेण सहन करूँगा।

तपस्या करते हुए महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् 72 वर्ष की आयु पूर्णकर पावापुर में निवृत्ति पा लिया।

सन्दर्भ-सूची

1. पद्मपुराण, 5/14
2. जम्बूदीप प्रज्ञप्ति 2/30
3. च. महापुरिस च., पृ.-75
4. वही, पृ.-83
5. वही, पृ.-86
6. श्लाका पु. च. में जन्मतिथि पौष कृष्ण 13 मानी गई है। (त्रि. घ. 3/6/49)
7. वि. उप. 7, सं. 49/50
8. श्वेताम्बर परम्परा में 14 स्वप्न मान्य हैं।
9. त्रि. श. पु. च. 4/1/86
10. त्रि. घ. 4/3/48
11. त्रि. घ. 4/4/47
12. च. महा पु. च., पृष्ठ-129
13. च. म. पु. च. पृ.-150
14. वसुदेव हिण्डी, दूसरा भाग, पृ.-340
15. च. पु. च., पृ.-153
16. शा. आ. 8, सू. 66
17. आव. चू., उत्त., पृ.-11
18. वही, पृ.-11
19. वही, पृ.-11
20. वही, पृ.-11
21. त्रि. श. पु. च. पर्व, 8, सर्ग 6
22. वही, पर्व, 9, सर्ग 3, श्लो. 45
23. उ. पु., पर्व 73, श्लोक 92
24. उत्तराध्ययनसूत्र, त्रयोविंशतिमध्ययनम्, नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका, पत्र-197.
25. S.B.E. Vol. XIV. Introduction, p-21.
26. उत्तरपुराण-27, पृ.-462
27. आ. नि. (मलय) गाथा 17, पृ.-241.
28. तिलोयपण्णत्ति यत्तिवृषभाचार्य, पृ.-578
29. निर्वाण भक्ति -4
30. वही, 5
31. वर्द्धमानचरित्र 17/58

32. सू. कृ. 2/3
33. क. सू. 11
34. आशाधर पूजापाठ - 15
35. ज्ञातृधर्मकथा, अभयदेव सूरी की टीका, 1/8/73.
36. आ. चू., भाग 1, पत्र 245
37. असग (वर्द्धमान चरित 7/96)
38. तीर्थकर वर्द्धमान, मुनि विद्यानन्द, पृ.-45
39. धनञ्जय नाममाला - 115
40. आ. गुणभद्र, च. पु. 6/35
41. पद्मपुराण 20/67
42. आ. ता. 2/15 भावना
43. आव. चूर्णि. पृ.-249.

सूरिमंत्र और उसकी महत्ता

प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सौरया*

1. जिन प्रतिमा का महत्व-

साक्षात् तीर्थंकर और केवली भगवतों के अभाव के बाद उनकी सानिध्यता की पूर्ति के लिये जिनबिम्ब की रचना का उपदेश हमारे परम्पराचार्यों ने किया। तीर्थंकर और केवली भगवान केवली अवस्था में स्वात्मलीन रहते हुये उनकी वीतराग मुस्कान और वीतराग मुद्रा कैसी थी? तद्रूप प्रतिमा का निर्माण करना और उसकी स्थापना नय-निक्षेप से मंत्रोच्चार पूर्वक संस्कार कर गुणों का रोपण करना पश्चात् प्रत्यक्ष आराध्य के रूप में स्थापित कर प्रतिमा को प्रत्यक्ष तीर्थंकर मानकर आराधना करने का विधान-पूर्व परम्पराचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया। मंत्र एक ऐसी शक्ति है जो जीव और अजीव द्रव्य को प्रभावित करती है। इसीलिए तीर्थंकर भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि रूप द्वादशांग वाणी के दशवें अंग में विद्यानुवाद का भी उपदेश है। जिसमें मंत्र रूप बीजाक्षरों का निर्माण, मंत्र रचना, मंत्र साधन विधि, आदि निरूपित किया गया है। मंत्र के द्वारा इच्छित कार्यों की साकारता प्राप्त होने से व्यक्ति की मंत्र के प्रति निरंतर महत्ता और आदर श्रद्धा बढ़ती गयी। आत्म कल्याण में भी मंत्र एक ऐसा साधन है जो साधक को साध्य की ओर ले जाता है तथा जो जीव के परिणामों में विशुद्धि, निर्मलता, एकाग्रता और कर्म निर्जरा में सहकारी बनता है।

2. जैन प्रतिमा की निर्माण विधि-

प्रतिमा विज्ञान में प्रतिमा निर्माण के अनेक रूपों का प्रतिपादन है। उनके माप और आकृतियों में भी विभिन्नतायें हैं। आर्त रूप, रौद्र रूप, वीर रूप, हास्य रूप, सौम्य वीतराग रूप, ध्यान मुद्रा, इनमें जैन प्रतिमा विज्ञान का पृथक् एवं उसके माप के निर्माण का पृथक् स्वरूप है। रूप वीतराग हो, ध्यान मुद्रा हो, वीतराग मुस्कान हो, वीतराग मुस्कान की एक विलक्षणता निर्मित है। आचार्यों ने जैन प्रतिमा के विषय में लिखा है- सरल, लम्बा, सुंदर संस्थान युक्त तरुण अवस्थाधारी नग्न यथाजात मुद्राधारी श्री वृक्ष लक्षण युक्त भूषित हृदयवाला जानुपर्यंत लम्बी भुजा सहित 108 भाग प्रमाण जिनेन्द्र बिम्ब, काँख मुख दाढ़ी के केश रहित बनाने का उल्लेख है। श्रेष्ठ धातु या पाषाण की प्रतिमा को बनाने का

* प्रधान सम्पादक, वीतरागवाणी मासिक, टीकमगढ़ (म.प्र.)।

उल्लेख है। जिस प्रमाण में जिनबिम्ब का निर्माण करना हो उस प्रमाण कागज में अर्द्ध रेखा करें। उसमें 108 भाग प्रमाण रेखायें करें। उसमें 2 भाग प्रमाण मुख, 4 भाग प्रमाण ग्रीवा, उससे 12 भाग प्रमाण हृदय, हृदय से नाभि तक 12 भाग प्रमाण, नाभि से लिंग का मूल भाग पर्यंत 12 भाग प्रमाण, लिंग के मूल भाग से गोड़ा तक 24 भाग प्रमाण जांघ करें। जांघ के अंत में 4 भाग प्रमाण गोंडा करें, गोंडा से टिकून्या 24 भाग प्रमाण पीड़ी बनायें, टिकून्या से पादमूल पर्यंत 4 भाग पर्यंत एड़ी करें। इस प्रकार 108 भागों में सम्पूर्ण शरीर की रचना 9 विभागों में बनायें। यह विभाग मस्तक के केशों से लेकर चरण तल पर्यंत हैं। मस्तक के ऊपर गोलाई केश से युक्त शोभनीक करें। चरण तल के नीचे आसन रूप चौकी बनाना चाहिए।

3. जीव तथा प्रतिमा का संस्कार और उसका प्रभाव

जिनेन्द्र प्रतिमा को मंत्राच्चार पूर्वक सविधि संस्कार करने से अजीव द्रव्य भी इतना प्रभावी और सातिशय बन जाता है। जिसकी सानिध्यता से जीव द्रव्य भी अपना उपकार करने में पूर्ण सक्षम हो जाता है। प्रतिमा दर्शन से स्वात्म परिणामों में विशुद्धि एवं संसार की असारता का बोध जीव को होता है उसी हेतु की साकारता के लिये तीर्थकर के काल में भी पूर्ववर्ती तीर्थकर की प्रतिकृति रूप प्रतिमायें निर्मित कर मंत्रोच्चार पूर्वक उनका संस्कार किया जाता रहा है। वास्तु सर्वेक्षण से प्राप्त प्रतीक इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति के जीवन की शुभ और अशुभ प्रवृत्ति उसके संस्कारों के अधीन हैं। जिनमें से कुछ वह पूर्वभव से अपने साथ लाता है और कुछ इसी भव में संगति और शिक्षा आदि के प्रभाव से उत्पन्न करता है। इसीलिये गर्भ में आने के पूर्व से ही बालक में विशुद्धि संस्कार उत्पन्न करने के लिए संस्कार क्रिया का भी विधान बताया गया है।

गर्भावतरण से लेकर निर्वाण पर्यंत यथावसर श्रावक को जिनेन्द्र पूजन एवं मंत्र संस्कार सहित 53 प्रकार की क्रियाओं का वर्णन शास्त्रों में प्रतिपादित है। इन क्रियाओं की सम्पन्नता से बालक के संस्कार उत्तरोत्तर विशुद्धि होते हुए अर्हत दशा तक पहुँचकर निर्वाण सम्पत्ति प्राप्त करने की पात्रता पा लेता है। सिद्धिविनिश्चय ग्रंथ के प्रथम अध्याय में लिखा है-

“वस्तुस्वभावोयं यत् संस्कारः स्मृतिबीजमादधीत्” अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही संस्कार है जिसको स्मृति का बीज माना गया है। पंचास्तिकाय ग्रंथ की तात्पर्य वृत्ति में पृष्ठ 251 पर लिखा है - जो निज परम आत्मा में शुद्ध संस्कार करता है वह आत्मसंस्कार है। आत्म संस्कार ही जीव की कर्म श्रृंखला को निर्मूल करने में साधक है और यही उसकी चरमोपलब्धि है।

श्री वट्टकेर आचार्य प्रणीत मूलाचार ग्रंथ में पृष्ठ 286 पर लिखा है कि पठित ज्ञान के संस्कार जीव के साथ जाते हैं। विनय से पढ़ा हुआ शास्त्र किसी समय प्रभाव से विस्मृत हो जाय तो भी वह अन्य जन्म में स्मरण हो जाता है। संस्कार रहता है और क्रम से केवलज्ञान

को प्राप्त कराता है। अतः जीव के कल्याण में संस्कार का ही सर्वोपरि महत्त्व है।

धवला ग्रंथ पुस्तक 1 खण्ड 4 पृष्ठ 82 में भगवंत पुष्पदंत भूतबली स्वामी ने लिखा है कि चार प्रकार की प्रज्ञाओं में जन्मान्तर में चार प्रकार की निर्मल बुद्धि के बल से विनय पूर्वक 12 अंगों का अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्य में उत्पन्न होने पर इस भव में पढ़ने सुनने व पूछने आदि के व्यापार से रहित जीव की प्रज्ञा औत्पात्तिकी कहलाती है।

तत्त्वार्थसार ग्रंथ में जीवाधिकार पृष्ठ 45 में धवला की उपर्युक्त वर्णित कथनी की पुष्टि करते हुए आचार्य भगवन लिखते हैं “नरकादि भवों में जहाँ उपदेश का अभाव है वहाँ पूर्व भव में धारण किए हुए तत्त्वार्थ ज्ञान के संस्कार के बल से सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होती है।” इसी प्रकार आचार्यकल्प टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के पृष्ठ 283 पर लिखते हैं कि इस भव में अभ्यास कर अगली पर्याय तिर्यच आदि में भी जाय तो वहाँ संस्कार के बल से देव शास्त्र गुरु के बिना भी सम्यक्त्व हो जाय।

“स्वाध्याय एव तपः” की बात पूर्व से ही हमारे आगम आचार्य भव्यों को सम्बोधते आए हैं। स्वाध्याय का संस्कार केवलज्ञान होने तक सहकारी होता है। लोक में जीव के आत्महित में यह सर्वोपरि है। द्रव्यसंग्रह ग्रंथ की टीका में पृष्ठ 159/160 पर लिखा है कि सम्यक्दृष्टि शुद्धात्म भावना भाने में असमर्थ होता है। तब वह परम भक्ति करता है पश्चात् विदेहों में जाकर समवशरण को देखता है पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट भेदज्ञान के संस्कार के बल से मोह नहीं करता और दीक्षा धारण कर मोक्ष पाता है। जैनागम ग्रंथों में वर्णित इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि मनुष्य भव के सम्यक् संस्कार एवं स्वाध्याय उसे मोक्ष तक पहुंचने में पूर्ण सहकारी हैं। यह कथन जीव द्रव्य के संस्कारों का है।

प्रतिमा प्रतिष्ठा निर्देश

पंचसंग्रह ग्रंथ में धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा, प्रतिष्ठा इन सभी को एकाथ वाची कहा गया है जिनमें विनाश बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।

प्रतिमा प्रतिष्ठा का विधान सर्व प्रथम आचार्य नेमिचन्द्र देव ने अपने प्रतिष्ठातिलक नामा ग्रंथ में किया है। आचार्य नेमिचन्द्र देव के गुरु आचार्य अभयचन्द्र और आचार्य विजय कीर्ति थे इनके प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ का प्रचार दक्षिण भारत में व्यापकता के साथ है। यह ग्रंथ विक्रम सम्वत् 950 से 1020 के मध्य रचा गया है। आचार्य नेमिचन्द्रदेव के शिष्य आचार्य वसुनन्दि हुए इन्होंने प्राकृत भाषा में उपासकाध्ययन श्रावकाचार नाम ग्रंथ की रचना की उसी के अन्तर्गत प्रतिष्ठा विधान का वर्णन सौक्षिप्त रूप में संस्कृत भाषा में किया जो महत्वपूर्ण है। पश्चात् आचार्य इन्द्रनन्दि महाराज ने विक्रमसम्वत् 10/11 वीं शताब्दी में अपने प्रतिष्ठा ग्रंथ में प्रतिमा प्रतिष्ठा, वेदी प्रतिष्ठा और शुद्धि विधान का वर्णन किया है। लगभग इसी समय सम्वत् 1042-1053 में आचार्य श्री वसुविन्दु अपरनाम जयसेनाचार्य जी ने एक स्वतंत्र प्रतिष्ठा ग्रंथ की रचना की, जिसमें 926 श्लोक हैं। प्रतिमा प्रतिष्ठा का यह प्रमाणिक ग्रंथ माना जाता है। श्री जयसेन स्वामी भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। कहा जाता है

कि इस प्रतिष्ठा ग्रंथ की रचना मात्र 2 दिन में ही की थी इस प्रतिष्ठा ग्रंथ का प्रचार उत्तर भारत में है। वि. सं. 1292-1333 के मध्य आचार्य ब्रह्मदेव हुए इन्होंने प्रतिष्ठा तिलक नामक ग्रंथ की रचना की जो शुद्ध संस्कृत भाषा में है। और प्रतिष्ठा का एक विशिष्ट हृदयग्राही वर्णन इसमें लिखा है। इसी समय वि. सं. 1173-1243 में आचार्य कल्प पं. आशाधर जी प्रणीत प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रंथ प्रकाश में आया। समय और काल की परिस्थिति के अनुसार इस प्रतिष्ठा ग्रंथ में अनेक देवी देवताओं की उपासना का प्रसंग आया है। इसी समय वि. सं. 1200 में नरेन्द्रसेनाचार्य हुए इन्होंने 'प्रतिष्ठादीपक' नामक ग्रंथ की रचना की। यह जयसेन आचार्य के वंशज थे। प्रस्तुत ग्रंथ में मात्र 350 श्लोक हैं। मूर्ति मंदिर निर्माण में तिथि नक्षत्र योग आदि का अच्छा वर्णन किया है। ग्रंथ में स्थाप्य, स्थापक और स्थापना का वर्णन है। इसके अलावा आचार्य हस्तिमल्ल जी द्वारा रचित जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय, वि. सं. 1376 आचार्य माघनंदि कृत प्रतिष्ठाकल्प, आचार्य कुमुदचन्द्राचार्य द्वारा प्रणीत जिनसंहिता, वि. सं. 1292/1333 में आचार्य ब्रह्मदेव रचित प्रतिष्ठा-सारोद्धार, आचार्य अकलंक भट्टारक के प्रतिष्ठा कल्प ग्रंथ एवं राजकीर्ति भट्टारक प्रणीत प्रतिष्ठादर्श ग्रंथ भी देखने में आए जो संक्षिप्त और सामान्यतः प्रतिष्ठा प्रकरण की साकारता में लिखित परम्परागत निर्देशों से युक्त हैं।

इन वर्णित सभी आचार्यों ने प्रतिष्ठा और उसकी रचना संस्कार शुद्धि के जो निर्देश मंत्र और आराधन विधियाँ वर्णित की हैं, उनसे प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा की पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है।

प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि प्रतिष्ठा सर्वांग सुन्दर और शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध से तात्पर्य यदि पाषाण की प्रतिष्ठा है तो एक ही पत्थर में जिसमें कहीं जोड़ न हो, पत्थर में चटक, दरार, भद्ररंगता, दाग-धब्बे न हो। साथ ही वीतराग मुद्रा में स्वात्म सुख की जो मुस्कान होती है उसकी झलक मुख मुद्रा पर होना आवश्यक है। इसी को वीतराग मुस्कान कहते हैं। मुस्कान के दो रूप होते हैं एक इन्द्रियजन्य सुख में जो मुस्कान आती है उसमें ओंठों का फैलना खुलना या ऊपर उठना होता है। लेकिन आत्मोपलब्धि या आत्मगुणों के अभ्युदय में जो अन्तर में आत्म आनंद की अनुभूति होती है उसकी आभा समग्र मुखमण्डल पर व्याप्त होती है। ऐसी मुख मुद्रा के साथ प्रतिष्ठा की दो अवस्थाएं होती हैं। प्रथम पद्मासन और दूसरी खड्गासन। ऊपर वर्णित नाप अनुसार निर्मित प्रतिष्ठा की प्रतिष्ठा करना चाहिए।

प्रतिष्ठा की संस्कार शुद्धि

प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठा तथा संस्कार शुद्धि के लिए निर्मित वेदी के ईशान कोण में स्थापित करना चाहिए। और 6 प्रकार की शुद्धि का विधान हमारे आचार्यों ने प्रतिपादित किया है: उसे सविधि सम्पन्न करें-

1. आकार प्रोक्षण विधि- सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा तीर्थ मिट्टी से प्रतिष्ठा पर लेप करना।

2. शुद्धि प्रोक्षण विधि- सर्वोषधियों तथा सुगंधित द्रव्यों से युक्त जल से प्रतिमा को शुद्ध करना।
3. गुणारोपण विधि- तोर्थकर के गुणों का संकल्प करना।
4. मंत्र न्यास-प्रतिमा के विभिन्न अंगों पर चंदन केशर से बीजाक्षरों का लिखना। आचार्यों ने 15 स्थानों पर बीजाक्षर लिखने का निर्देश किया, लेकिन पं. आशाधर जी ने प्रतिमा में 49 स्थानों पर वर्ण बीजाक्षरों के लिखने का उल्लेख किया है।
5. मुखपट विधि- कंकड़ बंधन, काण्डक स्थापन नैवेद्य, दीप, धूप, फल, यव, पंचवर्ण, इशु, वलिवर्तिका, स्वर्णकलश, पुष्पांजलि, मुखोद्घाटन, नेत्रोन्मीलन की क्रिया मंत्रोच्चार पूर्वक करने का विधान दिया गया है। इसके बाद पंचकल्याणक रोपण की क्रिया को सम्पन्न करते हुए कर्त्रन्वयादि की सप्त क्रियाएं करने के बाद केवलज्ञान प्रगट होता है। गर्भाधान आदि 16 क्रियाओं के संस्कार के लिए प्रत्येक विधि में पृथक्-पृथक् यंत्राभिषेक पूजन एवं तद्रूप विविध मंत्र पाठों का जाप प्रतिमा के समक्ष आवश्यक है। दीक्षा संस्कार के पूर्व दीक्षान्वय की 48 क्रियाएं प्रतिमा में संस्कारित करना चाहिए।

सूरिमंत्र विधान

प्रतिमा में सूरि मंत्र देने का विधान पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत प्रतिष्ठा ग्रंथों में कहीं भी नहीं दिया है। सूरि मंत्र क्या है? कैसा है? प्रतिमा में कैसे सूरिमंत्र देना चाहिए। इसका क्या विधि-विधान है? ऐसी जानकारी किसी पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथ में देखने में नहीं आई। दक्षिण भारत में तो आज भी प्रतिमा में सूरि मंत्र देने की परम्परा नहीं है। सूरि मंत्र देने का प्रथम संकेत वि. सं. 1042-1053 में आचार्य जयसेन ने अपने प्रतिष्ठा ग्रंथ में दिया है। “अथ सूरि मंत्र” ऐसा लिखकर आगे जो मंत्र लिखा है वह यह है-

ॐ ह्रीं णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं चत्तारि मंगलं अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं चत्तारि लोगुत्तमा अरिहंता लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरिहंते सरणं पव्वज्जामि सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि क्रों ह्रीं स्वाहा।

इस सूरिमंत्र को ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी ने अपने संग्रह प्रतिष्ठासार में सूरिमंत्र दिया है पं. गुलाबचंदजी ने अपने प्रतिष्ठा संग्रह ग्रंथ प्रतिष्ठा रत्नाकर में पं. मन्मूलाल प्रतिष्ठाचार्य की डायरी से संग्रहीत कर लिखा लेकिन वह ब्र. सीतलप्रसाद की यथावत नकल है।

आचार्य जयसेन के पूर्व एवं परावर्ती आचार्यों ने कहीं भी किसी प्रकार के सूरिमंत्र का उल्लेख अपने ग्रंथों में नहीं किया। प्राण प्रतिष्ठा मंत्र भी परवर्ती विद्वानों ने अपने संग्रहीत ग्रंथों में जो सूरिमंत्र लिखे हैं वह विभिन्न प्रकार के हैं जैसे प्रतिष्ठादर्पण में गणधराचार्य श्री कुन्धसागरजी ने लिखा- “ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रूं ह्रीं हः अ सि आ उसा अर्ह ॐ

स्मृत्व्यू ह्यल्व्यू ज्मृत्व्यू त्मृत्व्यू ल्मृत्व्यू ळ्मृत्व्यू प्ल्व्यू म्ल्व्यू भ्ल्व्यू क्ष्मृत्व्यू क्मृत्व्यू हूं हों
णमो अरिहंताणं ऊं ह्रीं णमो सिद्धाणं ऊं हूं णमो आइरीयाणं ऊं ह्रीं णमो उक्खंजायाणं ऊं हः
णमो लोए सव्वसाहूणं अनाहत पराक्रमास्ते भवतु ते भवतु ते भवतु ह्रीं नमः।

‘प्रतिष्ठा चंद्रिका’ में पं. शिवरामजी पाठक ने लिखा है

ऊं ह्रीं ऐं श्रीं भू ऊं भुवः ऊं स्वः ऊं माः ऊं हाः ऊं जनः तत्सविहवरे एयं गर्भो
देवाय धी महीधि योनि असिआ उसा णमो अरिहंताणं अनाहत पराक्रमस्ते भवतु ते भवतु।
प्रतिष्ठाचार्य श्री सौरया जी ने अपने “प्रतिष्ठा दिवाकर” ग्रंथ में लिखा है।

आचार्यकल्प पं. आशाधरजी ने अपने प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रंथ में सूर्य मंत्र का निर्देश
तो नहीं किया लेकिन केवलज्ञान होने पर निम्नांकित मंत्र पाठ का निर्देश दिया-

“ऊं केवल णाण दिवायर किरण कला वप्पणासि यण्णाणो। णव केवल लद्धागम
सुजणिय परमपरा ववएसो। असहायणाण दंसणसहिओ इदि केवली हु जोएण। जुत्तोत्ति
सजोगिजिणो अणाइणि हणारिसे उत्तो। इत्येषो र्हस्साक्षद् त्रावतीर्णो विश्वं पात्विति स्वाहा।”

इसके अलावा हमारे पास 6 प्रकार के संग्रहीत प्रतिष्ठा ग्रंथ हैं उनमें ब्र.
सीतलप्रसाद जी और पुष्पजी ने तो आचार्य जयसेन का ही मंत्र संग्रहीत किया। बाकी पं.
शिवरामजी पाठक के प्रतिष्ठा चंद्रिका गणधराचार्य श्री कुन्धसागर के संग्रहीत प्रतिष्ठा विधि
दर्पण एवं पं. नाथूलालजी शास्त्री के प्रतिष्ठा प्रदीप एवं श्री सौरया जी के “प्रतिष्ठा
दिवाकर” संग्रह ग्रंथों में पृथक्-पृथक् सूरिमंत्र दिए हैं। उन्होंने ऐसे किसी भी ग्रंथ का
निर्देश नहीं दिया कि यह सूरिमंत्र उन्होंने कहाँ से संग्रहीत किया। श्री सौरया जी ने आचार्य
श्री विमलसागर जी से सूरिमंत्र प्राप्त होने का निर्देश दिया है।

गणधराचार्य श्री कुन्धसागरजी द्वारा संग्रहीत प्रतिष्ठा ग्रंथ “प्रतिष्ठा विधि दर्पण”
में द्वितीय खण्ड पृष्ठ 292 पर लिखा है कि गुरु परम्परा से प्राप्त आचार्यों ने सूरि मंत्र को
गोप्य रखा इसलिए शास्त्रों में वर्णन नहीं मिलता। सूरि मंत्र देने के संदर्भ में गणधराचार्य
जी के दिगम्बर मुनि महाव्रती द्वारा ही सूरि मंत्र देने की बात लिखी है। ‘दिगम्बर होकर
प्रतिष्ठाचार्य को सूरिमंत्र नहीं देना’ ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया मैं नहीं कह सकता यह निर्देश
उन्होंने कहाँ से प्राप्त किया। पंच कल्याणकों के समस्त संस्कार प्रतिष्ठाचार्य करें और फिर
जहाँ मुनि सम्भव न हो वहाँ फिर प्रतिष्ठाचार्य सूरि मंत्र दे या न दे इसका समाधान नहीं
दिया, दिगम्बर होकर प्रतिमा संस्कार करना अलग बात है कि दिगम्बर होकर महाव्रत धारण
करना अलग बात है।

प्रतिष्ठा प्रदीप संग्रहीत प्रतिष्ठा ग्रंथ में पं. नाथूलालजी शास्त्री ने ग्रंथ में द्वितीय
भाग पृष्ठ 185 पर सूरिमंत्र का 108 बार जाप प्रतिष्ठाचार्य करे। पश्चात् उसी मंत्र को मुनि
से प्रतिमा में दिलाने का निर्देश दिया है।

प्रतिष्ठा चंद्रिका संग्रहीत ग्रंथ के पृष्ठ 236 पर पं. श्री शिवरामजी पाठक लिखते
हैं कि मुनि ब्रह्मचारी के अभाव में स्वयं नमन होकर प्रतिष्ठाचार्य 108 बार जाप करके
समस्त प्रतिमाओं को मंत्रित करे।

यद्यपि मैंने जीवन में अनेकों बार महाव्रती मुनिराजों के अभाव में प्रतिमाओं को दिगम्बर होकर सूरिमंत्र दिए हैं मुझे नहीं लगता कि यह गलत है। क्योंकि सूरिमंत्र का पाठ अंतरंग बहिरंग परिग्रह का कुछ समय के लिए त्याग कर मूर्ति का संस्कार किया गया है। सूरि मंत्र देना भी एक संस्कार की ही क्रिया है। मेरे देखने में यह नहीं आया कि किसी आगम में आचार्य ने ऐसा कहीं उल्लेख किया हो कि सूरिमंत्र किस विधि से कौन, कैसे दे। अगर परम्परागत सूरिमंत्र प्रतिमा में देने की बात आई है तो मेरी दृष्टि में भी यह अच्छी परम्परा है कि सम्पूर्ण संस्कारों के बाद प्रतिमा में एक निर्ग्रन्थ सूरिमंत्र दें इससे दो लाभ हैं एक तो निर्ग्रन्थ जिन प्रतिमा की तीर्थंकर जैसी सम्पूर्ण पात्रता के लिए सूरिमंत्र से आभाषित करना। दूसरे महाव्रताचरण जैसा महामार्गी पूज्य व्यक्ति ही महाव्रताचरण की अंतिम श्रेणी में अवस्थित होने की पात्रता का संस्कार दे। इस दृष्टि से भी सार्थक है। लेकिन महाव्रती के अभाव में प्रतिष्ठाचार्य संस्कारित करें! इसमें मेरी दृष्टि में कहीं दोष नहीं है।

सहायक ग्रंथ

- | | |
|----------------------------|-------------------------------|
| 1. प्रतिष्ठातिलक | - आचार्य नेमिचंद्र जी |
| 2. प्रतिष्ठा पाठ | - आचार्य जयसेन जी (वसुविन्दु) |
| 3. प्रतिष्ठा दीपक | - आचार्य नरेन्द्र सेन जी |
| 4. प्रतिष्ठा पाठ | - आचार्य वसुनंदि जी |
| 5. प्रतिष्ठा सारोद्धार | - आचार्य कल्प पं. आशाधर जी |
| 6. जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय | - आचार्य हस्तिमल्ल जी |
| 7. प्रतिष्ठाकल्प | - आचार्य माघनंदि जी |
| 8. जिनसंहिता | - श्री कुमुदचन्द्राचार्य जी |
| 9. प्रतिष्ठा सारोद्धार | - श्री ब्रह्मसूरि जी |
| 10. प्रतिष्ठा कल्प | - श्री अकलंक भट्टारक |
| 11. प्रतिष्ठादर्श | - श्री राजकीर्ति भट्टारक |
| 12. प्रतिष्ठा पाठ | - आचार्य इन्द्रनंदि जी |
| 13. प्रतिष्ठासार संग्रह | - ब्र. सीतलप्रसादजी |
| 14. प्रतिष्ठा चन्द्रिका | - श्री शिवराम पाठकजी |
| 15. प्रतिष्ठा विधि दर्पण | - श्री आ. कुन्धसागरजी |
| 16. प्रतिष्ठा प्रदीप | - श्री नाथूलाल जी |
| 17. प्रतिष्ठा रत्नाकर | - श्री गुलावचंद जी |
| 18. प्रतिष्ठा दिवाकर | - श्री विमलकुमार सौरया जी |
| 19. पंचसंग्रह | - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन |

- | | |
|------------------------|---|
| 20. सिद्धिविनिश्चय | - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन |
| 21. मूलाचार | - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन |
| 22. पंचास्तिकाय | - परमश्रुत प्रभावक मण्डल मुम्बई |
| 23. षट्खण्डागम | - अमरावती प्रकाशन |
| 24. तत्त्वार्थसार | - जैन सिद्धान्त प्रकाशक संस्था, कलकत्ता |
| 25. द्रव्य संग्रह टीका | - वीतरागवाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ |
| 26. भोक्षमार्ग प्रकाशक | - वीतरागवाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ |

जैन साहित्य में रामकथा

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन*

रामकथा प्राचीन काल से ही जैन साहित्यकारों को प्रिय रही है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा कन्नड़ आदि क्षेत्रीय भाषाओं में रामकथा पर अनेक जैन ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

राम का एक नाम पद्म भी था। यही नाम जैन साहित्यकारों को अधिक प्रिय लगा। इसी आधार पर विमलसूरी ने प्राकृत में पउमचरियं, रविषेण ने संस्कृत में पद्मचरितम् तथा स्वयम्भू ने अपभ्रंश में पउमचरिउ की रचना की।

जैन साहित्य में जब रामकथा लिपिबद्ध होना शुरू हुई, सम्भवतया तक कथा के कई रूप प्रचलित हो चुके थे। बाल्मीकि रामायण, अद्भुत रामायण और पालि के दशरथ जातक की परम्परा प्रचलित थी।

अब तक उपलब्ध जैन साहित्य में रामकथा का वर्णन करने वाला पहला ग्रन्थ विमलसूरी का प्राकृत पउमचरियं है। कतिपय विद्वानों ने इसे चौथी शती की रचना माना है और कतिपय इससे भी पूर्व की। विमलसूरी के उल्लेख के अनुसार रामकथा का अवतरण जैन साहित्य में उनके पूर्व ही हो चुका था। उन्होंने पउमचरियं में लिखा है कि मैं नामावली में निबद्ध और आचार्य परम्परा से प्राप्त समस्त पद्मचरित आनुपूर्वी से संक्षेप में कहूँगा—

णामावलियणिबद्धं आयरिपमरंपरागयं सर्व्वं।

वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण।।

तिलोयपण्णति में जिन श्रेष्ठ श्लाकापुरुषों की गणना है, उनमें राम की भी गणना की गयी है। बाद के ग्रन्थकारों में स्वयम्भू का पउमचरिउ, गुणभद्र का उत्तरपुराण और रविषेण का पद्मचरित या पद्मपुराण विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैन साहित्य में रामकथा का विकास दो धाराओं में हुआ है। पहली धारा विमलसूरी के पउमचरियं को आधार मानकर चली है, दूसरी गुणभद्र के उत्तर पुराण को। 1. पउमचरियं की कथा राक्षस तथा वानर वंश के वर्णन के साथ प्रारम्भ होती है। राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर से रामकथा को जानने की इच्छा प्रकट की। इसपर गौतम पउमचरियं सुनाते हैं।

राक्षसवंशीय राजा रत्नश्रवा तथा कैकसी के चार सन्तानें थीं। रावण, कुम्भकर्ण,

* पूर्व अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल अपने पुत्र रावण को देखा तब शिशु माला पहने हुए था। इस साला में पिता को रावण के दस सिर दिखाई दिये, इस कारण शिशु का नाम दशानन या दशग्रीव रखा गया। अपने मौसरे भाई का वैभव देखकर रावण आदि भाई बड़े होने पर तप करने के लिए चले और तप के द्वारा अनेक विद्याएं प्राप्त कीं। इसके बाद बालि, सुग्रीव, हनुमान आदि का वर्णन है।

21वें पर्व से मूल कथा आरम्भ होती है। जनक तथा दशरथ की वंशावली के बाद दशरथ की तीन पत्नियों का उल्लेख है। कौशल्या, सुमित्रा तथा सुप्रभा ये तीन रानियां थीं। एक दिन नारद ने रावण से कहा कि आपकी मृत्यु जनक की पुत्री के कारण दशरथ के पुत्र द्वारा होगी। इस पर रावण ने अपने भाई विभीषण को इन दोनों को मार डालने के लिए भेजा। वहां नारद ने जनक और दशरथ को रावण के इस समाचार से पहले ही सावधान कर दिया। दोनों अपने पुतले महल में रखकर गुप्त रूप से परदेश चले गये। विभीषण ने इन दोनों मूर्तियों को ही वास्तविक जनक और दशरथ समझ उनके सिर काट कर समुद्र में फेंक दिये। परदेश में दशरथ कैकेयी के स्वयंवर में पहुंचे। कन्या ने दशरथ के गले में माला डाली। इसपर अन्य राजा बिगड़ गये। उनसे राजा दशरथ का युद्ध हुआ। कैकेयी वीरांगना थी। उसने स्वयं दशरथ का रथ चलाया। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उसकी चतुराई से युद्ध में विजयी हुए। कैकेयी की चतुराई से प्रसन्न होकर दशरथ ने उसे मनचाहा वर मांगने को कहा। कैकेयी ने कहा-जब आवश्यकता होगी तब मांग लूंगी।

कैकेयी सहित राजा के चार रानियां हो गयीं। इनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकेयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न।

राजा जनक के विदेहा नामक रानी से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुईं। पुत्र का नाम भामण्डल रखा तथा पुत्री का नाम सीता रखा गया। बड़े होने पर सीता का स्वयंवर हुआ। स्वयंवर में राम ने घनुष चढ़ाया। उनका सीता के साथ विवाह हो गया। दशरथ राम को राज्य देकर तपस्या के लिए जाने की सोचने लगे। तभी कैकेयी ने अपना वर मांगकर भरत को राज्य मांगा। यह सुनकर राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण की ओर चले गये। कैकेयी और भरत ने वन में जाकर राम से लौट चलने का अनुरोध किया, पर सब व्यर्थ हुआ। राम अयोध्या नहीं लौटे।

इसके बाद वन भ्रमण का विस्तार से वर्णन है। वन में भ्लेच्छ राजाओं से राम और लक्ष्मण के अनेक युद्ध हुए। राम ने कई विपत्तिग्रस्त लोगों की सहायता भी की। जटायु से भेंट होने के बाद राम दण्डक वन में रहने लगे।

इसके बाद सीता हरण और उनकी खोज का वर्णन है। चन्द्रनखा तथा खरदूषण के पुत्र शम्बूक ने सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की। सूर्यहास प्रकट हुआ। लक्ष्मण संयोग से वहां पहुंचे। शम्बूक खड्ग ले, इसके पूर्व ही उन्होंने उसे उठा लिया। खड्ग की परीक्षा के लिए उन्होंने वहीं पास के एक बांस-समूह पर उससे प्रहार किया। उसी बांस समूह में शम्बूक तपस्या कर रहा था। लक्ष्मण के इस प्रयोग से बांसों के साथ उसका भी सिर कट गया। चन्द्रनखा ने अपने मृत पुत्र को देखा। वह बहुत विलाप करने

लगी। वापस आकर पति से सारा समाचार कहा। खरदूषण के साथ लक्ष्मण का भयंकर युद्ध हुआ। खरदूषण के आह्वान पर रावण उसकी सहायता के लिए आया। सीता को देखकर उनपर मोहित हो गया। रावण सीता के अपहरण का उपाय सोचने लगा। उसने अपनी विद्या के बल से जाना कि राम को सहायतार्थ बुलाने के लिए लक्ष्मण ने सिंहनाद का संकेत बताया है। उसने प्रपंचपूर्ण सिंहनाद किया। राम लक्ष्मण की सहायता के लिए सीता को अकेली छोड़कर चले गये। रावण सीता को अकेली पाकर हर ले गया।

सीता हरण के बाद राम बहुत दुःखी होते हैं। इसके बाद सुग्रीव के साथ राम की मैत्री का वर्णन है। साहसगति ने सुग्रीव का रूप धारण कर सुग्रीव की पत्नी का अपहरण कर लिया था। राम ने सुग्रीव को उसकी पत्नी प्राप्त करा दी। सुग्रीव की आज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते हैं। कुछ ही समय में रत्नजटी नामक विद्याधर आकर बताता है कि सीता का हरण रावण ने किया है। रावण एक महान बलशाली राजा था इसलिए विद्याधरों ने इसके साथ युद्ध करने से इनकार कर दिया। तभी उन्हें अनन्तवीर्य केवली का वचन याद आया कि जो व्यक्ति कोटि-शिला को उठायेगा, वही रावण को मारेगा। सबने कोटिशिला उठाने की परीक्षा की। लक्ष्मण ने शिला उठा ली। विद्याधर अब भी रावण से डरते हैं और हनुमान को लंका भेजने की सलाह देते हैं। हनुमान लंका जाते हैं और वहां पर अनेक तरह का विनाश करके सीता का सन्देश लेकर राम के पास लौट आते हैं।

इसके बाद युद्ध का वर्णन है। सुग्रीव आदि विद्याधरों के साथ राम लंका के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में वानर वंशी विद्याधरों की सेना को समुद्र नामक राजा रोकता है जिससे युद्ध होता है। अन्त में समुद्र की पराजय होती है। राम कृपा करके उसका राज्य उसे वापस लौटा देते हैं। सेना लंका पहुंचती है। वहां रावण के साथ भयंकर युद्ध होता है। अन्त में रावण-लक्ष्मण पर चक्र चलाता है। वह चक्र लक्ष्मण को लगने के बदले उनकी प्रदक्षिणा देकर हाथ में आ जाता है। लक्ष्मण इसी चक्र से रावण का वध करते हैं।

राम अयोध्या लौटकर राज्य करने लगते हैं। भरत विरक्त होकर दीक्षा ले लेते हैं। लोकापवाद के भय से राम सीता को वन में छोड़वा देते हैं। सीता वज्रबंध के आश्रम में रहती है। वहीं उनके लवण और अंकुश दो पुत्र पैदा होते हैं।

बड़े होने पर लवण और अंकुश का राम और लक्ष्मण के साथ युद्ध होता है। बाद में नारद के द्वारा पारस्परिक परिचय होने पर पिता-पुत्रों में मिलाप होता है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के कहने पर राम सीता को बुला लेते हैं। सीता अग्नि-परीक्षा देती है और उसमें सफल होने के बाद आर्यिका हो जाती है।

किसी दिन दो देव राम और लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा करने के लिए आते हैं और लक्ष्मण को राम की मृत्यु का असत्य समाचार सुनाते हैं। लक्ष्मण अपने भाई की मृत्यु के समाचार सुनते ही अपने प्राण त्याग देते हैं। अब राम को लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार मिलता है। वे अत्यन्त दुःखी होते हैं और विक्षिप्त से हो जाते हैं। अन्त में लक्ष्मण की अन्त्येष्टि करने के बाद राम मुनि हो जाते हैं और साधना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। पउमचरियं की कथा यहां समाप्त होती है।

2. उत्तरपुराण की कथा बौद्ध साहित्य के दशरथ जातक की तरह प्रारम्भ होती है। वाराणसी में दशरथ नाम के राजा राज्य करते थे। उनके चार पुत्र थे- राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। दशानन विनमि विद्याधर वंश के पुलस्त्य का पुत्र था। किसी दिन उसने अमितवेग की पुत्री मणिमती को तपस्या करते देखा और उसपर मोहित होकर उसकी साधना में विघ्न डालने लगा। मणिमती ने निदान किया कि मैं तेरी ही पुत्री होकर तेरा नाश करूँगी। मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ में आयी। उसके जन्म के बाद ज्योतिषियों ने रावण को बताया कि यह तुम्हारा नाश करेगी। रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कहीं छोड़ आएँ। एक रत्नमंजूषा में रखकर मारीच उस कन्या को मिथिला देश में गाड़ आया। हल जोतते समय वह रत्नमंजूषा दिखाई पड़ी। लोग उसे राजा जनक के पास ले गये। जनक ने खोलकर देखा तो उसमें से एक सुन्दर कन्या निकली। जनक ने उसका नाम सीता रखा और पुत्र की तरह उसका लालन-पालन करने लगे।

बहुत समय के बाद राजा जनक ने राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिए बुलाया। यज्ञ समाप्त होने के बाद राम का सीता के साथ विवाह हो गया। वे दशरथ से आज्ञा लेकर वाराणसी में रहने लगे।

नारद ने रावण के सामने सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया जिससे रावण ने सीता को हर लाने का संकल्प किया। उसने अपनी बहिन शूर्पणखा को सीता के मन की परीक्षा करने के लिए भेजा। शूर्पणखा ने लौटकर बताया कि सीता के मन को चलायमान करना असम्भव है।

एक दिन राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में विहार कर रहे थे। मारीच स्वर्ण मृग का रूप धारण करके राम को दूर ले गया। इतने में रावण राम का रूप बनाकर आया और सीता से कहने लगा कि मैंने मृग को महल भेज दिया है। वह सीता को पालकी पर चढ़ने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव में पुष्पक विमान है जो सीता को ले जाता है। रावण अपनी आकाशगामिनी विद्या नष्ट होने के डर से पतिव्रता सीता को स्पर्श नहीं करता।

दशरथ को स्वप्न द्वारा यह पता चला कि रावण ने सीता का हरण किया। उन्होंने यह समाचार राम के पास भेज दिया। इसी मौके पर सुग्रीव और हनुमान बालि के विरुद्ध सहायता मांगने राम के पास पहुँचे। हनुमान को लंका भेजा गया और वे सीता को सात्वना देकर वहाँ से लौट आये। इसके बाद लक्ष्मण ने बालि का वध किया और सुग्रीव को उसके राज्य का अधिकार दिलाया।

इसके बाद वानरों और राम की सेना ने लंका के लिए प्रस्थान किया। लंका में भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में लक्ष्मण ने चक्र से रावण का सिर काट लिया। दिग्विजय के बाद सब लौट आये। सीता के आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सीता के त्याग का यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। लक्ष्मण की एक असाध्य रोग से मृत्यु हो जाती है और राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वी सुन्दर को राजपद पर तथा सीता के पुत्र अतिसंजव को युवराज पद पर अभिषिक्त करके मुनि दीक्षा ले लेते हैं और तप करके मोक्ष जाते हैं। सीता भी अनेक रानियों के साथ

दीक्षा ले लेती हैं और तप करके स्वर्ग प्राप्त करती हैं। इस तरह कथा समाप्त होती है।

जैन साहित्य में रामकथा की इन धाराओं का पर्याप्त विकास हुआ है। पहली धारा का आधार लेकर जिन ग्रन्थों की रचना हुई उसमें विमलसूरि का पउमचरियं, रविषेण का पद्मचरित, स्वयम्भूदेव का पउमचरिउ, हेमचन्द्र का त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित, जिनदास का रामपुराण, पम्प कवि की पम्परामायण, पद्मदेव विजयगणि का रामचरित तथा सोमसेन का रामचरित मुख्य हैं।

दूसरी परम्परा के ग्रन्थों में गुणभद्र का उत्तरपुराण, कृष्ण कवि का पुण्यचन्द्रोदयपुराण, पुष्पदन्त का महापुराण, चामुण्डराय का त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण, बन्धुवर्मा का जीवन सम्बोधन तथा नागराज का पुण्यास्रवकथासार मुख्य हैं।

भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी जितना रामकथा सम्बन्धी साहित्य जैन साहित्यकारों द्वारा लिखा गया वह उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में से ही किसी एक को आधार मानकर निबद्ध हुआ है।

कथावस्तु की दृष्टि से वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध रामकथा में बहुत-सी समानताएं और असमानताएं पायी जाती हैं। बौद्ध परम्परा में रामकथा का प्रसार नहीं हुआ। रामकथा के अनेक रूप होते हुए भी जैन परम्परा में इसका प्रचार अत्यधिक हुआ है। मूल रामचरित की कथावस्तु क्या थी, इसके विवाद में न पड़कर यदि वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धाराओं के रामकथा सम्बन्धी साहित्य को उठाकर देखें तो ज्ञात होगा कि कथावस्तु में पाये जाने वाले अन्तर के बावजूद रामकथा के पात्रों का चरित्र, क्रमशः निखरता ही गया है। राम को ही नहीं रामकथा के अन्य सभी पात्रों को एक नयी लालिमा, एक नया रूप, एक नयी चेतना और एक नया विकास आगे-आगे के साहित्य में मिला है। जैन साहित्य पात्रों के चारित्रिक विकास की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना जा सकता है। बाल्मीकि रामायण में राम ने मात्र रावण का ही वध नहीं किया बल्कि बालि, शम्बूक तथा अनेक राक्षसों को भी मारा, अहिंसा की मूल भित्ति पर प्रतिष्ठित जैन धर्म यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि राम जैसा महापुरुष, जिसे इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त करना है, अनेक मनुष्यों की हत्या करे। इसी कारण राम के चरित को बेदाग रखने के लिए जैन रामायणकारों ने रावण, बालि और यहाँ तक कि शम्बूक का नाश भी लक्ष्मण के हाथ से कराया और राम को नरहत्या से अछूता बचा लिया।

इसी प्रकार जैन रामायणकारों ने हनुमान और सुग्रीव को केवल मनुष्य ही नहीं बताया प्रत्युत उन्हें विद्याधर कहकर आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याओं से युक्त बताया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राम के उज्ज्वल चरित से राम कथा के सभी पात्रों के चरित्र आलोकित हैं। रामकथा भारत की महनीय सांस्कृतिक निधि है।

विगत वर्षों में रामकथा पर प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी है। जैन ग्रन्थकारों द्वारा लिखित अनेक महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। इधर के लगभग तीन दशकों में उन ग्रन्थों पर अनुसन्धान कार्य भी विभिन्न विश्वविद्यालयों में हुए हैं पर वे सभी प्रायः साहित्यिक अध्ययन की कोटि में आते हैं। अभी सामाजिक और सांस्कृतिक अनुसन्धान का श्रीगणेश भी नहीं हुआ। इस ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए।

राजा श्री खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख

डॉ. शशिकान्त*

किसी भी ऐतिहासिक घटना अथवा व्यक्ति के विषय में कोई विवरण तभी इतिहास की कोटि में आता है जब वह किसी पुष्ट प्रमाण पर आधारित हो। यह प्रमाण प्रथमतः वे समकालीन अभिलेख होंगे जो उस घटना या व्यक्ति के विषय में उपलब्ध हों। उन अभिलेखों से जो तथ्य ज्ञात हों उनका समन्वय और सम्बद्धीकरण पश्चात्पूर्वी साहित्यिक उल्लेखों तथा अन्य सामग्री से करके एक ऐतिहासिक वृत्त बनाया जा सकता है। अतः सर्वप्रथम यह आवश्यकता होती है कि समकालीन अभिलेखों को खोजा जाय और उनमें जो विवरण उपलब्ध हो उसको वस्तुपरक दृष्टि से देखा व जाँचा जाय। इसमें आग्रह यह रहना अपेक्षित है कि यथासंभव शब्दों का सरल अर्थ लिया जाय और उसमें अपनी कल्पनाशीलता से पौराणिक उपमाओं को आरोपित न किया जाय।

प्रायः तीसरी शती ईसवी पूर्व से एक हजार वर्ष पर्यन्त का समय भारत के इतिहास में ऐसा है जिसके बारे में मुख्य साधन-स्रोत देश भर में वन-प्रान्तरों में बिखरे, शिला-खण्डों पर उत्कीर्ण, अभिलेख हैं। इन अभिलेखों की जानकारी विगत 200 वर्षों के भीतर ही हुई। प्रारंभ में अंग्रेज सैलानियों और सैन्य अधिकारियों की जिज्ञासा के फलस्वरूप उनकी जानकारी हुई। 1861 ई. में Archaeological Survey of India की स्थापना के बाद पुरा-सम्पदा की खोज का कार्य भारत की ब्रिटिश सरकार की देख-रेख में विधिवत् व्यवस्थित हुआ। इन अभिलेखों की लिपि को पढ़ने और उनका आशय स्पष्ट करने का कार्य भी 19वीं शती ईस्वी में यूरोपियन जिज्ञासुओं द्वारा प्रथमतः किया गया। हम भारतवासी तो अपनी लिपियों और भाषाओं को भूल ही चुके थे। ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं के बारे में जो भी साहित्यिक उल्लेख उपलब्ध थे वे एकांगी, अतिरिजित और अस्पष्ट प्रकार के थे। यदि 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में मौर्य सम्राट् अशोक के और गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के अभिलेख पढ़े न गये होते तो आज अशोक और समुद्रगुप्त के बारे में कुछ भी जानकारी न होती। कलिंग के खारवेल का तो पता ही नहीं चलता क्योंकि उसके विषय में जानकारी का एकमात्र साधन-स्रोत 1825 ई. में अंग्रेज सैलानी मि. स्टर्लिंग द्वारा अकस्मात् दृष्टिगत 'हाथीगुम्फा अभिलेख' है।

खारवेल का जैन साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं है, अन्य भारतीय साहित्य में भी

* ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-226004.

उल्लेख नहीं है और किसी विदेशी साहित्यिक स्रोत से भी उसके बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। उड़ीसा में पुरी जिले में उदयगिरि की पहाड़ी पर बड़ी हाथीगुम्फा के मुहाने की सिरदल पर 17 पंक्तियों में ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख जो 'खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख' के नाम से अब अभिज्ञात है, खारवेल के विषय में जानकारी का एक मात्र व एकल स्रोत है।

एक-सौ वर्ष से भी अधिक समय तक उसको पढ़ने और उसका भाष्य करने के प्रयत्न किये जाते रहे। 1885 ई. में डॉ. भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा एक पाठ प्रकाशित किया गया था जो पहला ऐसा पाठ था जिससे इस लेख का ऐतिहासिक महत्व प्रकट होता था। 1927 ई. में डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल और डॉ. राख्वाल दास बनर्जी द्वारा इस अभिलेख का वाचन और भाष्य प्रकाशित किया गया। 1929 ई. में डॉ. बेनी माधव बरुआ ने भी इसका वाचन और भाष्य प्रकाशित किया। 1942 ई. में डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार ने भी भाष्य किया। इस अभिलेख के अनुसंधान से जुड़े अन्य प्राच्यविदों में जार्ज ब्यूलर, टी. ब्लॉख, प्रो. कीलहोर्न, डॉ. जे. एफ. फ्लीट, लूडर्स, डॉ. एफ. डब्ल्यू. टामस, प्रिन्सेप, स्टेन क्रोनो, मुनि जिनविजय, रामप्रसाद चांदा और प्रो. एम. एस. रामास्वामी उल्लेखनीय हैं।

1971 ई. में हमारी पुस्तक *The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka - A Critical Study* प्रकाशित हुई। उसमें हमने इस विषय में हुई समस्त शोध का मंथन कर और भाषा-शैली व भाव-व्यंजना को दृष्टिगत रखते हुए अभिलेख का पुनर्वाचन किया तथा त्रुटित, खंडित, अस्पष्ट या मिट गये अंशों को पुनर्स्थापित कर एक सुवाच्य पाठ प्रस्तुत किया। उसका आशय भी भाव, प्रसंग, परंपरा और ऐतिहासिक तथ्यों के सापेक्ष प्रस्तुत किया। इस सबका व्यापक स्वागत विद्वत् समाज में भारत में और विदेशों में हुआ। कई देशी और विदेशी विश्वविद्यालयों में इस पुस्तक को पाठ्यक्रम में सम्मिलित भी किया गया।

इस पुस्तक का द्वितीय परिवर्धित संस्करण 2000 ई. में D.K. Printworld (P) Ltd., Sri Kunj, F-52, Bali Nagar, New Delhi-110015 से प्रकाशित हुआ। विगत 30 वर्षों में हुए शोध अध्ययन को इसमें समाहित कर लिया गया। Appendix-III में इस अभिलेख से संबंधित कतिपय बिन्दुओं पर अतिरिक्त प्रकाश डाला गया। Section-III में प्राकृत भाषा और भारतीय लिपियों पर विशेष अध्ययन दिया गया।

दोनों ही संस्करणों में परिशिष्ट में नागरी लिपि में लेख का मूल पाठ और उसका हिन्दी रूपान्तर भी दे दिया गया। यह विशेषकर जैन विद्वानों की जिज्ञासा को उत्प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है।

शोधादर्श वर्ष 2000 ई. के अंक 40, 41 व 42 में इस पुस्तक और विषय की प्रभूत चर्चा हुई है। पुनः अंक 56 (जुलाई 2005) और अंक 59 (जुलाई 2006) में भी इस विषय की चर्चा की गई है।

1920 के दशक में श्वेताम्बर आम्नाय के मुनि कल्याणविजय और मुनि पुण्यविजय ने खारवेल में अभिरुचि प्रदर्शित की थी जिसका आशय खारवेल को श्वेताम्बर

आम्नाय का पोषक सूचित करना था। इसके लिए उन्होंने “हिमवन्त-धेरावली” नामक एक ग्रन्थ को अपना आधार बनाया था। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के बारे में मुनि जिनविजय जी जो स्वयं एक श्वेताम्बर मुनि थे, ने श्वेताम्बर विद्वान पंडित सुखलाल जी के सहयोग से 1930 में जांच की थी और यह निष्कर्ष दिया था कि “पढ़ने के साथ ही हमें वह सारा ही ग्रन्थ बनावटी मालूम हो गया और किसने और कब यह गढ़ डाला उसका भी सब हाल मालूम हो गया”। उपरोक्त निष्कर्ष दिये जाने के बाद पुरावेत्ताओं और इतिहास के विद्वानों द्वारा इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में ग्रहण नहीं किया गया। तदपि कुछ श्वेताम्बर मुनि-विद्वान आम्नाय के पक्ष का साधन करने की दृष्टि से उसका प्रचार करते रहे और इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता की वास्तविकता से अनभिज्ञ कुछ विद्वानों को विभ्रम में डालने में भी सफल हुए। 1970 के दशक में आचार्यश्री हस्तिमल जी द्वारा इस प्रसंग में किया गया योगदान उल्लेखनीय है।

दिगम्बर आम्नाय के साधु समुदाय में आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने इस विषय में अभिरुचि प्रदर्शित की और 1990 के दशक में यह विशेष रूप में प्रकाश में आयी। आम्नाय की प्रभावना के व्यामोह में मुनिभक्त विद्वानों ने कतिपय काल्पनिक प्रस्थापनायें की और “राजा खारवेल” को “मुनि खारवेल” भी बना डाला जिसके लिए न तो इस अभिलेख में कोई संकेत है और न ही अन्यत्र कोई उल्लेख है।

हाथीगुम्फा अभिलेख से जो विशिष्ट जानकारी प्राप्त होती है वह संक्षेप में निम्नवत् है:-

अभिलेख का प्रारम्भ “नमो अरहंतानं नमो सब सिधानं” से होता है, जो कि जैनों के णमोकार मंत्र के प्रथम दो पद हैं। अभिलेख का यह प्रारम्भ स्पष्टतः यह सूचित करता है कि इस अभिलेख को लिखाने वाला जैन धर्म का अनुयायी रहा होगा। णमोकार मंत्र का यह प्राचीनतम लिखित पाठ है जो यह भी इंगित करता है कि मूल पाठ यही था।

खारवेल स्वयं को “पूजानुरतउवासग-खारवेल सिरि” कहता है, जिसका तात्पर्य यह है कि वह देवपूजा में अनुरक्त एक श्रावक था।

इस अभिलेख का लेखन खारवेल के 13वें राज्यवर्ष में जैन साधुओं की एक सभा के आयोजन से सम्बंधित है, जो उपस्थित साधुओं द्वारा द्वादशांग के वाचन के लिए आहूत की गई थी, ताकि अवशिष्ट श्रुतज्ञान को, जो भगवान महावीर के निर्वाण के बाद वर्ष 165 से, धीरे-धीरे विच्छिन्न हो रहा था, संरक्षित किया जा सके। इस सभा और वाचना का दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही आम्नायों की साहित्यिक अनुश्रुतियों में उल्लेख नहीं है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह मतभेदों का समन्वय करने का एक प्रयास था जो संघभेद के पहले किया गया था।

अभिलेख की भाषा ‘प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी’ प्राकृत नहीं है वरन् यह शिलालेखीय प्राकृत है जो अशोक के अभिलेखों की प्राकृत से व्युत्पन्न है। यह मौर्य कालीन राजभाषा (Official Language) के निरन्तर-क्रम (continuation) में थी।

अभिलेख में वर्ष 103, वर्ष 113 और वर्ष 165 का उल्लेख है। सम्पूर्ण

ऐतिहासिक परिदृश्य को दृष्टिगत रखते हुए ये वर्ष महावीर निर्वाण संवत् (ईसवी पूर्व 527) में रहे सूचित होते हैं।

प्राचीन उपलब्ध अभिलेखों में खारवेल के इस अभिलेख में ही सर्वप्रथम भारतवर्ष (भरधवस), उत्तरापथ (उत्तरापथ) और तमिल देशों के संघ (तमिर-दह-संघात) का उल्लेख प्राप्त होता है।

इसी अभिलेख से यह भी विदित होता है कि अशोक मौर्य से पहले मगध के नन्द राजाओं ने कलिंग की विजय की थी और उनके दक्षिण की ओर अभियान को रोकने के लिए तमिल देशों का एक संघ बना था।

खारवेल का यह हाथीगुम्फा अभिलेख प्राचीन भारत के इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रलेख (document) है क्योंकि जो सूचनायें इसमें प्राप्त होती हैं वे अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। मौर्य सम्राट अशोक के ईस्वी पूर्व 236 में निधन के बाद मौर्य साम्राज्य का विघटन हुआ और उसके परिणाम स्वरूप जो प्रादेशिक राज्य उदय में आये उनमें एक राज्य कलिंग में खारवेल के पितामह द्वारा स्थापित राज्य भी था। इस अभिलेख में प्राप्त विवरण के आधार पर खारवेल के राज्यकाल में कलिंग के इस राज्य ने विशेष महत्व अर्जित किया। जो अन्तर्साक्ष्य इस अभिलेख में उपलब्ध है उससे खारवेल का राज्यकाल लगभग 185 ईस्वी पूर्व से 172 ईस्वी पूर्व रहा सूचित होता है। ईस्वी पूर्व 172 खारवेल के राज्यकाल का 13वां वर्ष था और उस समय उसकी आयु 37 वर्ष थी।

खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख एवं जैनधर्म

डॉ. चितरंजन प्रसाद सिन्हा*

हाथीगुम्फा अभिलेख भारतीय अभिलेखिकी में अपने ढंग का अनोखा है। इसमें कलिंग नरेश खारवेल के कार्यों की चर्चा है। महाराज खारवेल प्राचीन भारत के अत्यंत विख्यात सम्राटों में अपना स्थान रखते हैं। उसके राजकीय सम्बोधन में 'ऐरा', महाराज, महामेघवादन तथा कलिंगाधिपति।

उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पर्वतमाला के दक्षिण भाग में एक प्राकृतिक गुफा है जिसे कुछ अंशों में काट कर लमण का रूप दिया गया है। यह हाथीगुम्फा के नाम से सुविख्यात है। इस लयण (गुफा) के ऊपरी भाग में प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में यह लेख उत्कीर्ण है। यह अन्य अभिलेखों में प्राप्त होने वाली राजप्रशस्तियों से सर्वथा भिन्न है। यह अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्ति न होकर मात्र वृत्त आलेख है। इसमें अलंकारयुक्त, सीधी-साधी भाषा में खारवेल के कार्यों की घोषणा की गयी है। किन्तु काल-कारण से यह लेख इतना क्षतिग्रस्त है कि इसका पाठोद्धार समुचित रूप से कर सकना किसी के लिए सम्भव नहीं हो सका। पाठोद्धार के लिये विद्वानों को अनुमान या कल्पना का भी सहारा लेना पड़ा है।

इस अभिलेख की ओर सर्वप्रथम स्टर्लिङ्ग का ध्यान 1825 ई. में आकृष्ट हुआ। इन्होंने एशियाटिक रिसर्चेज, XV (पृ. 313 एवं आगे) में इसका वर्णन किया है। उसके उपरान्त 1837 ई. में किटो द्वारा अभिलेख से तैयार किये गये कॉपी के आधार पर प्रिंसेप ने इसका प्रकाशन जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, VI (पृ. 1075-91 प्लेट L.VIII) में किया है। कनिंघम ने कारपस इन्स्क्रिप्शन इंडिकेरम (प्लेट, XVIII, पृ. 27 एवं आगे, 98-101, 132 एवं आगे) में 1877 में प्रकाशित किया तथा राजेन्द्र लाल मित्रा द्वारा भी एंटीक्वीटीज ऑफ उड़ीसा, 11 (पृ. 16 एवं आगे) में 1880 में प्रकाशित किया गया।

1885 ई. में भगवान लाल इन्द्र जी द्वारा प्रथम बार प्रामाणिक पाठ दिया गया। इन्होंने खारवेल नाम का भी उल्लेख किया है। ब्यूह्वर ने 1895 एवं 1898 में कुछ सुधार किया था। ब्लॉक द्वारा 1906 ई. में इस अभिलेख का छाया तैयार कर किलहोर्न को भेजा गया था। इसी के आधार पर फ्लीट ने 1910 में अपना पाठ प्रस्तुत किया था। विशेषकर

* पूर्व निदेशक, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना।

16वीं पंक्ति के पढ़ने के सम्बन्ध में अपना विचार दिया था²। ल्यूडर³ ने भी इसका सार प्रस्तुत किया था। 1913 ई. में आर.डी. बनर्जी ने इसके कुछ अंश पर विचार किया था। 1917 में इस अभिलेख दो स्टैम्पेज लिया गया था। के. पी. जायसवाल को इस दुष्पाठ्य किन्तु महत्वपूर्ण अभिलेख को पढ़ने में दस साल लगे थे। बिहार रिसर्च सोसाइटी के जर्नल के अंक 3 भाग 4 में हाथीगुम्फा अभिलेख पर इनका पहला लेख प्रकाशित हुआ। उसके बाद भी कई लेख प्रकाशित हुए हैं। 1919 में के. पी. जायसवाल तथा आर.डी. बनर्जी ने संयुक्त रूप से इस अभिलेख का निरीक्षण किया। इसका स्टैम्पेज भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के एम. पाण्डेय द्वारा तैयार किया गया। इस आधार पर बिहार रिसर्च सोसाइटी के जर्नल के अंक XIII 1927 में प्रकाशित किया गया। पाठ की दृष्टि से जायवाल और बनर्जी का संयुक्त प्रयास तथा बरूआ का अध्ययन विशेष विचारणीय समझा जाता रहा है। स्टेन कोनो, थामस, मुनि जिन विजय, राम प्रसाद चन्दा आदि विद्वानों ने भी इस लेख के पढ़ने का प्रयास किया है। दिनेश चन्द्र सरकार ने इन पाठों के पश्चात् अपना पाठ उपस्थित किया है जो अभी तक लोगों में मान्य है। किन्तु अभी हाल में इसका एक नया पाठ शशिकान्त ने प्रस्तुत किया है।

अभिलेख का आरम्भ अर्हतों के नमस्कार से हुआ है⁴। इसलिए यह प्रायः निश्चित समझा जाता है कि खारवेल जैन धर्मानुयायी थे। इसका समर्थन उनके विरुद्ध पूजानुरत-उवासग तथा कलिंग जिन के सन्निवेश भी पूजा (पंक्ति 12) से भी होता है। जैनधर्म के इतिहास को जानने की दृष्टि से इस अभिलेख का अत्यधिक महत्व है। या यों कहा जाय कि देश में पाई जाने वाली शिलालेखों में जैनधर्म के लिये यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

ऐसा विश्वास है कि अंग, बंग तथा मगध की भाँति कलिंग में भी अत्यंत प्राचीन काल से जैनधर्म का प्रभाव रहा है। वहाँ का लोक-जीवन जैनधर्म के आधार और विचारों से अनुप्रमाणित रहा है। नगेन्द्रनाथ बसु के भी अनुसार "भगवान पार्श्वनाथ ने अंग-बंग और कलिंग में जैनधर्म का प्रचार किया था⁵। धर्म-प्रचार के लिये वे ताम्रलिप्त बन्दरगाह से कलिंग गये थे। भगवान महावीर भी कलिंग गये थे। कुमारी पर्वत पर उनका समवसरण लगा था तथा वहाँ भगवान का उपदेश हुआ था। उत्तराध्ययन सूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर के समय में कलिंग जैनधर्म का केन्द्र था तथा कलिंग पिहुंड नामक बन्दरगाह प्रसिद्ध जैनतीर्थ था। हाथीगुम्फा शिलालेख में जिस पिथुंड का उल्लेख है संभवतः वह पिथुंड और पिहुंड दोनों एक ही है।

किन्तु ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में नन्दवंश के किसी राजा द्वारा कलिंग पर आक्रमण किया गया। इस युद्ध में कलिंग को पराजित होना पड़ा। इस विजय के प्रतीक रूप में नन्दराज 'कलिंग जिन' प्रतिमा को अपने साथ अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गया। सम्भवतः यह प्रतिमा कलिंग में राष्ट्रीय प्रतिमा के रूप में मान्य थी। हाथीगुम्फा अभिलेख से भी इसका समर्थन होता है। नन्दराजा महापद्मनन्द के पौने तीन सौ वर्ष पश्चात् खारवेल ने अपने शासन के 12वें वर्ष में उत्तरापथ के राजाओं को त्रस्त किया था। इस अभियान में वह पाटलिपुत्र आया था और मगध नरेश वृहस्पतिमित (वहसतिमित) ने उसकी

अधीनता स्वीकार की और वह मगध और अंग से प्रचुर धनराशि लेकर लौटा। जब खारवेल लौटा तो वह नन्द राजा द्वारा लायी गयी कलिंग जिन मूर्त्ति को भी अपने साथ कलिंग लेता आया। कलिंग वासियों ने अपने अराध्य देवता के पुनः कलिंग पधारने पर राष्ट्रीय स्तर पर स्वागत किया और राष्ट्रीय उत्सव मनाया। यह जैनधर्म के प्रति कलिंग वासियों की अगाध श्रद्धा का प्रतीक था। इस पुरातात्विक प्रमाण से यह स्वतः स्पष्ट है कि कलिंग में नन्दराजा के समय से ही जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था।

राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में खारवेल का मन धर्म की ओर अधिक उन्मुख हुआ। कुमारी पर्वत (उदयगिरि) पर उसने अर्हत देवालय के निर्माण की व्यवस्था की। अर्हत मन्दिर के पास ही एक विशाल भवन भी बनवाया था। यह मन्दिर संभवतः पत्थर का बना हुआ था। जिस गुफा में यह लेख लिखा है, वह गुफा भी बनवाई गयी थी।

अभिलेख के पंक्ति 15 से ऐसा ज्ञात होता है कि तेरहवें वर्ष में खारवेल ने कोई ऐसा आयोजन किया था जिसमें उसने देशभर में ज्ञानियों, तपस्वियों, ऋषियों, अर्हत्तों आदि को एकत्र किया था। वस्तुतः यह आयोजन किस प्रकार का था, वह अभिलेख के पाठ से स्पष्ट नहीं है। शशिकान्त ने इसे जैन अर्हत्तों की संगीति होने का अनुमान किया है और इस संगीति का स्थल भी उन्होंने हाथीगुम्फा की छत पर एक मन्दिर के ध्वंसावशेषों के रूप में ढूँढ निकाला है। यदि उनका यह अनुमान ठीक है, जिसकी सम्भावना हो सकती है, तो कहना होगा कि अशोक और कनिष्क ने जो कार्य बौद्धधर्म के लिये किया था, वहीं कार्य खारवेल ने जैनधर्म के लिये किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैनधर्म को स्थापित करने में खारवेल ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। किन्तु इस प्रकार की किसी संगीति का उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

खारवेल के वंश-कुल के सम्बन्ध में लोगों ने तरह-तरह की कल्पनाएँ उपस्थित की हैं। 'ततिये-कलिंग-राजवंसे युगे (पंक्ति 2-3) से कुछ विद्वानों ने उनके कलिंग के तीसरे वंश में होने का अनुमान प्रकट किया है। किन्तु यह अनुमान युग-पुरुष के अर्थ को ठीक से ग्रहण न करने के कारण ही किया गया है। युग पुरुष का प्रयोग वंशावली के प्रसंग में पीढ़ी के अर्थ में होता है। तात्पर्य है कि खारवेल कलिंग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में थे। चेदि राजवंश (पंक्ति-1) के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि वे चेदिवंश के थे। यहाँ चेदि का तात्पर्य चेदि प्रदेश से है या पौराणिक राजवंश से, कहना कठिन है। दोनों प्रकार की संभावनाएँ प्रकट की जा सकती हैं। सामान्य मान्यता है कि खारवेल चेदिवंश के थे और कलिंग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में हुए थे।

अभिलेख में जीवन परिचय देते हुए पिता-पितामह किसी का भी उल्लेख नहीं है। इसमें मात्र खारवेल के अपने निजी कार्यों की ही चर्चा है। आरम्भ में उनके शैशव की चर्चा करते हुए उनके खेल-कूद और शिक्षा का उल्लेख किया गया है। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वे युवराज हुए तथा 24 वर्ष की अवस्था में उन्होंने राजभार ग्रहण किया अर्थात् राज्याभिषेक हुआ। तदन्तर 13 वर्ष तक शासक के रूप में उन्होंने जो कुछ किया उसका उल्लेख इस अभिलेख में हुआ है। इस प्रसंग में वैयक्तिक बातों में केवल एक ही बात

कही गयी है कि 7वें राजवर्ष में उन्हें वजिधरवती नाम्नी रानी से एक पुत्र हुआ।

अभिलेख में खारवेल के लोक-हिताय कार्यों और विजय अभिमानों की चर्चा है। लोक हिताय कार्यों में कलिंग नगरी खिबिर के गोपुरों, प्राकारों, मकानों का प्रतिसंस्कार, तालाब के बांधों की मरम्मत, बगीचों का संवारना, लोकरंजन के लिये नृत्य, गीत वादन का आयोजन, तनसुलियवाटा प्रणाली का विस्तार, राजकर को माफी तथा दान आदि का उल्लेख है।

राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से खारवेल के अभिमानों का विशेष महत्व है। इस अभिलेख में उसके दूसरे, चौथे, आठवें, ग्यारहवें और बारहवें वर्ष में किये गये अभियानों का संक्षिप्त उल्लेख है। इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसके ये अभियान सैनिक शक्ति प्रदर्शन मात्र थे। उसने किसी प्रकार का भू-विजय किया ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

इनका पहला अभियान पश्चिम दिशा में ऋषिक (मूसिक) नगर तक हुआ था। ऋषिक अथवा मूसिक नगर की अवस्थिति का ठीक ज्ञान अबतक नहीं किया जा सका है। अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह कन्हवेणा (कृष्ण-वेणा) नदी के निकट कहीं था। कुछ विद्वान उसके कृष्णा नदी होने का अनुमान करते हैं। किन्तु यह नदी कलिंग के पश्चिम नहीं दक्षिण बहती है। कुछ लोग इसे वेणगंगा अनुमान करते हैं। यह मध्य प्रदेश के चांदा जिले में सिवनी के निकट प्राणहिता नदी में मिलती है, जो सिरोच के निकट गोदावरी में गिरती है। कुछ इसे वेणगंगा के स्थान पर उसकी सहायक नदी कन्हन के रूप में पहचानते हैं। अभिलेख में यह भी कहा गया है कि वह सातकर्णी की चिन्ता नहीं कर (उपेक्षा कर) वहाँ तक पहुँचा था। सातकर्णी आघ्र-सातवाहन नरेशों का नाम रहा है। इससे अनुमान होता है कि यह स्थान सातवाहन-राज्य के निकट था अथवा उसके अन्तर्गत था।

खारवेल ने दूसरा अभियान चौथे वर्ष में किया था। यह अभियान भी पश्चिम दिशा में ही था। इस बार उसने विन्ध्य पार कर राष्ट्रिकों और भोजकों को परास्त किया। अभिलेख में इनके मुकुट, छत्र, शृंगार आदि के, जो उनके राजचिह्न थे, नष्ट किये जाने का उल्लेख है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वतंत्र राज्य थे। अशोक के अभिलेखों में इनका उल्लेख अपरान्त (पश्चिमी भारत) में हुआ है। लोग भोजकों की अवस्थिति बरार में और राष्ट्रिकों की खान देश (अहमदनगर) में अनुमान करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुदूर पश्चिम में इस भूभाग तक पहुँचने में खारवेल ने सफलता प्राप्त की थी। पर अभिलेख की भाषा से ऐसा ध्वनित नहीं होता। उसका यह अभियान विन्ध्य के किसी प्रदेश में ही सीमित था और वह कलिंग से बहुत दूर नहीं था। इसलिए ये राज्य नर्मदा के दक्षिण वेणगंगा से आगे ही कहीं रहे होंगे।

खारवेल ने तीसरा अभियान आठवें वर्ष में उत्तर की ओर किया। इस बार उसने राजगृह के निकट गोरथगिरि (गया जिला अन्तर्गत बराबर पर्वत) तक धावा मारा। शशिकान्त की धारणा है कि खारवेल अपने इस अभियान में आगे बढ़ते हुए मथुरा का विमोचन करते हुए यमुना तक पहुँच गये थे। किन्तु अभिलेख में जिस अंश के आधार पर शशिकान्त ने यह कल्पना की है, वह सुपाद्य नहीं है। राजगृह से मथुरा के बीच उन दिनों

कोसल (अयोध्या), वत्स (कौशाम्बी) और पंचाल (अहिच्छत्रा) के तीन महत्वपूर्ण स्वतंत्र राज्य थे जिनके शासकों की लम्बी शृंखला का परिचय उनके सिक्कों से मिलता है। यदि खारवेल मथुरा तक गया होता तो इन राज्यों में से कम से कम दो को रौंद कर ही जाता। यह कल्पनातीत है कि वह इन राज्यों के बीच से जाय और उनका उल्लेख न करे। स्मरणीय है कि प्रथम अभियान में ऋषिक नगर तक पहुँचने में सातकर्णी का उल्लेख करना वह नहीं भूलता। यदि मथुरा तक जाता तो अभिलेख में इन राज्यों का उल्लेख अवश्य होता; अपने समय में इन राज्यों का महत्व कम नहीं था। उनके उल्लेख के अभाव में खारवेल के मथुरा तक पहुँचने की कल्पना नहीं की जा सकती। पंक्ति 11 एवं 12 में स्पष्ट संकेत है कि वह मगध के आगे उत्तरापथ की ओर गया ही नहीं।

चारहवें वर्ष में उसने अपना तीसरा अभियान पिथुण्ड नगर के विरूद्ध किया था। इसके सम्बन्ध में शशिकान्त का अनुमान है कि वह दक्षिण दिशा में होगा। पिथुण्ड की पहचान लोग टालमी वर्णित पितिन्द्र (Pityndra) से करते हैं जिसे उसने मैसोलिया (Maisolia) और अर्वरनोई (Arvarnoi) का प्रमुख नगर बताया है। वह मैसोलिया (Maisolia) के अन्तर्गत में गोदावरी और कृष्णा के बीच के तटवर्ती भू-भाग में था। यह भी अनुमान किया जाता है कि वह विजयपुरी अमरावती और विजयवाड़ा के आस-पास आन्ध्र पथ में कहीं रहा होगा। काशी प्रसाद जायसवाल ने समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित अवमुक्त के साथ इसकी समता देखने की चेष्ट की है। यदि जायसवाल का अनुमान ठीक हो तो अविमुक्त क्षेत्र को ब्रह्मपुराण में गौतम (गोदावरी) के तट पर कहा गया है। खारवेल के अभियान वर्णन से भी यही झलकता है कि पिथुण्ड कलिंग के पास ही कहीं दक्षिण सीमा पर गोदावरी नदी के आस-पास रहा होगा।

बारहवें वर्ष में खारवेल ने अपना चौथा अभियान उत्तरापथ के राजाओं के विरूद्ध किया था। पर अभिलेख की पंक्तियाँ स्पष्ट न होने के कारण इस अभियान के स्वरूप का अनुमान नहीं किया जा सकता। इतना ही स्पष्ट है कि इस अभियान में वह पाटलिपुत्र आया और मगध नरेश वृहस्पतिमित्र (बहसतिमित) ने उसकी अधीनता स्वीकार की। बारहवें वर्ष के प्रसंग में ही अभिलेख में पाण्ड्य की ओर भी अभिमान करने की बात ज्ञात होती है। इस अभियान में थल सेना के साथ नौ सेना के प्रयोग की भी बात कही गयी है। यह भी वर्णन है कि उसने उसी वर्ष पाण्ड्य राजा से बड़े-बड़े हाथी-जहाज छीने या बलपूर्वक भेंट में लिये। इसके अतिरिक्त उसने हीरे, जवाहरात, हाथी-घोड़े तथा अन्य उपहार भी प्राप्त किये।

खारवेल के इन अभियानों का वर्णन अभिलेख में प्राप्त होता है। उससे यही होता है कि उसके अभियानों का उद्देश्य राज्य सीमा का विस्तार न होकर केवल सम्पत्ति प्राप्त करना ही रहा है। पिथुण्ड के गदहों के हल से जुतवाने की बात से ऐसा अवश्य लगता है कि उसने उस क्षेत्र पर अधिकार किया होगा।

खारवेल का राज्य बहुत विस्तृत नहीं था। उसके अभियानों के आधार पर उसकी राज्य सीमा का सहज अनुमान किया जा सकता है। उत्तर में वह मगध को छूता था; पश्चिम

में उसकी सीमा कदाचित्त वेणगंगा तथा दक्षिण में वह गोदावरी तक थी। पूर्व में समुद्र उसकी प्राकृतिक सीमा थी। खारवेल की राजधानी के सम्बन्ध में कुछ लोगों का अनुमान है कि उसका नाम खिबिर था; कुछ लोग उसका नाम कलिंग नगरी बताते हैं। यह नगरी कहाँ थी कहना कठिन है; पर उसे प्राची नदी के तट पर ही कहीं होना चाहिए जहाँ उसने महाविजय प्रासाद बनवाया था।

खारवेल के शासन-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों की सम्मति में खारवेल का समय द्वितीय शताब्दी ई. पूर्व का प्रथममार्द्ध है। किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है।

हाथीगुम्फा अभिलेख के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिंग का राजा खारवेल एक महान विजेता तथा अपने समय का एक प्रभावशाली सम्राट था। जिस कलिंग पर मगधेश्वरों (नन्दो और मौर्यों) ने अपनी राजसत्ता स्थापित की थी, उसी देश के शासक ने अपने भुजबल से अपने समय के मगध सम्राट को नतानस्तक होने के लिए बाध्य किया। एक बार नहीं, अपितु दो-दो बार उत्तरापथ पर आक्रमण करके खारवेल ने अपनी शूरता का परिचय दिया। शातकर्णी के बल की अवहेलना करके उसने मूषिक नगर का विध्वंस किया, पिथुण्ड नगर को उसने विनष्ट किया और दक्षिण (तामिल देश) के पाण्ड्य राजा से अपने विजय-स्वरूप प्रचुर धन प्राप्त किया। शौर्य से भयभीत होकर एक यवन नरेश ने भागकर मथुरा में शरण ली। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि खारवेल अपने समय का सबसे प्रचंड योद्धा और विजेता था। उसकी-वैजयंती सर्वदा फहराती ही रही। विश्व के अन्य महान शासकों की भाँति महाराज खारवेल में अन्य गुण भी विद्यमान थे। उसने लोकहित के जो कार्य किये, उनके द्वारा उनकी प्रजावत्सलता सिद्ध होती है। वह एक महान दानी तथा जैन धर्म का परिपोषक भी था। हाँ, यह अवश्य है कि उसने अपने महान् सैन्यबल के बावजूद भी एक सुसंगठित सम्राज्य का निर्माण नहीं किया। एक महान विजेता होने पर भी वह एक महान साम्राज्य निर्माता नहीं था। उसकी शासन-निपुणता का विवरण उसके अभिलेख द्वारा हमें नहीं प्राप्त होता, अतएव हम यह नहीं कह सकते कि वह एक सुयोग्य शासक भी था। भारत के राजनीतिक नभोमण्डल पर कलिंगाधिपति का उदय एक ऐसे नक्षत्र के रूप में हुआ जो उज्वल तो था किन्तु जिसकी आभा केवल अल्पकाल के ही लिए चमकती रही। उसकी विजयों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा।

संदर्भ :

1. ओरिजिन ऑफ इन्डियन ब्राह्मी अल्फाबेट, इन्डियन स्टडीज, नं. III, पृ. 13.
2. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1910, पृ. 242 एवं आगे।
3. इपिग्राफिका इण्डिका, X, पृ. 160-61, (सं. 1345)।
4. नमो अरहंतानं नमो सविसिधानं ...।
5. बलभद्र जैन, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, पृ. 187.

केरली संस्कृति में जैन योगदान

राजमल जैन*

एक जैन लेखक के लिए उपर्युक्त विषय पर कलम चलाना शायद अपने मुंह मियां मिट्टू बनने के समान लग सकता है किन्तु जब यह सुनने को मिलता है कि केरल के जीवन पर जैनधर्म की कोई छाप नहीं है, तो अधिक कष्ट होता है कि प्राचीन काल की सबल जैन परम्परा को किस प्रकार शून्य कर दिया जाता है। इस कारण यहाँ संक्षेप में इस योगदान की चर्चा की जाएगी। पक्षपात के दोष से बचने के लिए संबंधित स्रोत या लेखक का नाम भी दे दिया गया है।

प्राकृत, मलयालम और प्राचीन तमिल

प्राचीन काल में जैन शास्त्रों की प्रिय भाषा प्राकृत ने मलयालम को प्रभावित किया है। यही नहीं, जैन मणिप्रवाल भाषा शैली तथा संस्कृत के प्रयोग में भी अग्रणी रहे हैं। कुछ प्राकृत शब्द तो आज भी मलयालम में प्रचलित हैं। केरल गजेटियर के खंड-2, पृ.-236 पर यह मत व्यक्त किया गया है, "The impact of the Jain terminology on Malayalam is detected by the presence of loan words from Prakrits of Ardhamagadhi, Jain Maharastri and Jain Saursemi than (Accuda), Stamavm (Athamava), Ambujam (Ambuya), jagam (Jaga), Yogi (Jogi), Narayam (Narayam), Prakajam (Pamkava), Makaviram Magasira), Vairam (Vavara), Vivegikaga) (Vivega) Vedivan (Veddiava) are some such words."

तमिल सहित द्रविड भाषाओं पर जैन प्रभाव

दक्षिण भारत की प्रादेशिक भाषाओं के आकार और विकास में जैनों की प्रमुख भूमिका रही है यह तथ्य सभी निष्पक्ष भाषाविद् अच्छी तरह जानते हैं। संस्कृत का प्राधान्य विशेषकर केरल में बहुत बाद की बात है। ब्राह्मण वर्ग ने तो संस्कृत को अपने लिए सुरक्षित रखा था। केरल के अत्यंत सम्मानित समाज सुधारक श्री चट्टमि स्वामी और नारायण गुरु का संघर्ष इसका उदाहरण है। प्राचीन तमिल साहित्य भी केरल की बहुमूल्य विरासत है। उसके संपोषण में जैनों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। (आठवीं सदी तक तमिलनाडु और केरल का इतिहास एक ही रहा है।) गजेटियर पृ.-235-236 पर ठीक ही लिखा है कि, "The earliest votaries of Dravidian literature have been Jains- Robert Caldwell most pertinently remarks 'Doubtless the Jains themselves

* बी-1/324, जनकपुरी, नई दिल्ली - 110058.

used Sanskrit in southern as in northern India at the commencement of their works as teachers (probably for a century or two before they set themselves to the task of developing amongst each of the Dravidian races a popular literature independent of their rivals the Brahmins.)- Some of the oldest Tamil works extant were written or claimed to have been written by the Jains. The Naladiyar and the Kural are said to belong to the Jain cycle in the history of Tamil literature. Some scholars arrived at this conclusion from the internal evidence of the works themselves. Caldwell is of the view that 'Tamil is indebted for its high culture and its comparative independence of Sanskrit chiefly to the Jains' जैन मुनियों, धर्म प्रचारकों आदि द्वारा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास और प्रयोग का प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने प्राकृत को देववाणी आदि नहीं कहा बल्कि इसके विपरीत उन्होंने संबंधित क्षेत्र की भाषा को अपनाया और उसी में अपना उपदेश आदि देने के साथ ही साथ उसमें बहुमूल्य साहित्य का सृजन भी किया। कन्नड, तमिल के प्राचीन कोश, व्याकरण, काव्य, महाकाव्य आदि इसके प्रमाण हैं। तमिल का उपदेशात्मक या नीतिपरक विपुल साहित्य जैनों की विशेष देन है। वह भी केरल की विरासत है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस साहित्यिक निधि को अन्य किसी धर्म की देन बतलाने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। न तो पिछली सदियों में और न ही आजकल जैन मुनियों ने प्राकृत में अपना या महावीर का संदेश सुनने का कभी आग्रह किया। जैन मुनि के लिए यह विधान भी है कि वे अन्य भाषाएं सीखें और लोक भाषा में अपना उपदेश दें। वास्तव में, जैन संघ सदा ही लोक भाषाओं का प्रबल दावेदार रहा है।

मलयालम भाषा में 'केरलचरित्रम् (केरल का इतिहास), दो बृहदाकार खंडों में केरल हिस्ट्री असोसिएशन' द्वारा प्रकाशित किया गया है जिसमें (पृ.-1023-24) पर भी जैनों के योगदान की चर्चा है। किन्तु जैनधर्म के साथ बौद्धधर्म का भी नाम जोड़ा गया है। यह विचारणीय है कि बौद्धधर्म तो केरल में सातवीं और नौवीं सदी के बीच ही लुप्त हो गया था। जो भी हो, इस इतिहास के कुछ अंश इस प्रकार हैं- "जैन-बौद्धधर्मों के प्राबल्य के साथ केरल में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को पुष्टि मिली। जैन बौद्ध संन्यासियों ने नाना प्रकार के धर्म ग्रंथों का केरल में प्रचार किया। कुजि कुट्टन तंपूरान अपने केरलम् काव्य के द्वितीय सर्ग में लिखते हैं, "बौद्ध जैनियों ने अपने योग बल से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थी और अपने वैद्यक ज्योतिष आदि शास्त्रों से संबंधित पुस्तकों की रचना की थी। केरल के ब्राह्मणों ने इनका परिचय जैन बौद्ध ग्रंथों से प्राप्त किया था।"

"कुजिकुट्टन तंपूरान का यह मत गौर करने योग्य है कि मलयाली ब्राह्मणों ने ज्योतिष, अमरकोष, ज्योतिर्गणित, आयुर्वेद आदि विद्याओं का ज्ञान जैनियों और बौद्धों से पाया था। इसलिए उनके प्रति केरलीय ब्राह्मणों ने विरोध का प्रदर्शन नहीं किया किन्तु अनुनय-अनुरंजन के द्वारा उन्हें अपने वश में करने का प्रयत्न किया था। तंपूरान का कहना है कि तच्चों (तच्च बढई) द्वारा प्रचार किया गया तच्चशास्त्र (बढईगिरि का ग्रंथ), कणियान जाति द्वारा प्रचारित ज्योतिष, वेलन जाति द्वारा प्रचारित वैद्यशास्त्र केरल में

अतिप्राचीन काल से चली आ रही परम्परा पर आधारित है।" तंपूरान का समय उन्नीसवीं सदी का अंत और बीसवीं सदी का प्रारम्भ है। इसलिए उनके मत के साथ बौद्धधर्म की संगति नहीं बैठती है। इन उल्लिखित विषयों की चर्चा आगे की जाएगी।

दाम्पत्य सम्बन्ध

पति-पत्नी संबंध का आदर्श भी जैन संस्कृति की एक महत्वपूर्ण देन केरल को है। इस संबंध में उपर्युक्त केरलचरित्रम् के पृ.-1098 पर यह मत व्यक्त किया गया है, "दाम्पत्य संबंध में एक पत्नी और एक पतित्व का प्रारम्भ कब से हुआ, इसके संबंध में कोई निश्चित मत निर्धारित करना कठिन है। केरल में जैनधर्म के प्रभाव ने इस दिशा में अपना अंशदान किया होगा। शिलप्पादिकारम् में वर्णित दाम्पत्य लक्षण में ऐहिक सुखों से विरक्त का जैन दर्शन परिलक्षित होता है जिसमें दाम्पत्य रति दैहिक न होकर आध्यात्मिक स्तर पर वर्णित है। इस काव्य में स्पष्ट संकेत मिलता है कि स्त्री-पुरुष संयोग में लैंगिकता की अपेक्षा आत्मिक एवं दैवी छाया का होना अधिक वांछनीय है"। यहां इतना ही उल्लेख किया जाता है कि शिलप्पादिकारम् में जैन श्राविका कण्णगी और उसके पति कोवलन की करुण कहानी है जो कि आज भी केरल के जनमानस पर छाई हुई है। यह महाकाव्य चेरवंश के युवराज इलंगो अडिगल की अमर कृति है। केरल को उसपर गर्व है। उसका अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इलंगो जैन साधु हो गए थे। उनका समय ईस्वी की दूसरी सदी है। (अधिक विवरण एवं तथ्यों के लिए देखिए कोडंगल्लूर।)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार प्रत्येक प्राणी को तब तक जन्म और मरण का दुःख सहन करना पड़ता है जब तक कि वह स्वयं तप कर मोक्ष प्राप्त न कर ले। इस दुःख से उसे कोई ईश्वर नहीं बचा सकता, उसे स्वयं ही आत्म कल्याण की राह पर चलना होता है। केरल में पुनर्जन्म के सिद्धांत में व्यापक विश्वास भी जैन सिद्धांतों के व्यापक प्रचार का परिणाम जान पड़ता है। केरलचरित्रम् के शब्दों में "ईस्वी आठवीं-नवीं शताब्दी में प्रचलित जैन धर्म के सिद्धांतों के अनुसार जो जीव इहलोक के सुखों से अतृप्त होकर मर जाता है उसका पुनर्जन्म होता है।" पृ.-1131

शिक्षा का प्रारंभ नमोस्तु जिन से

केरल में बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ नाना मोना से शुरू होता था जिसका अर्थ नमोस्तु है। किन्तु इस संबंध में यह याद रखने योग्य है कि इस शब्द का वास्तविक संबंध जैन परम्परा से है। बौद्ध तो शरणम् तक सीमित रहते थे। खेद की बात है कि बौद्ध धर्म के मानने वाले अमरसिंह ने अमरकोष में जिन शब्द का केवल बुद्धधर्म संगत पर्याय देकर जैनधर्म के साथ न्याय नहीं किया। जिन शब्द बुद्ध से भी प्राचीन काल से जैन देवता या तीर्थंकर के अर्थ में प्रयुक्त होता आ रहा है। (इस संबंध में स्वयं गौतम बुद्ध का कथन "जिननिकेतन श्रीमूलवासम्" नामक प्रकरण में देखिए।) केरल गजेटियर ने भी अमरकोष का पर्याय दोहरा दिया ऐसा लगता है। उसके पृ.-241 पर यह उल्लेख है, "It was the practice in Kerala to initiate first lessons in reading and writing with

the ceremonial invocation of Jina or Buddha Namostu Jina was later on replaced by the Brahmin gurus as Hari Sri Ganapathaye Namah. पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि जैन शब्द ही जिन से बना है तथा जो जैनों के परस्पर अभिवादन से परिचित हैं उन्हें यह ज्ञात होगा कि जैन एक दूसरे से मिलने पर जयजिनेन्द्र का ही प्रयोग करते हैं। बुद्ध के लिए जिन शब्द अधिक नहीं चला। केरल में तो उनका धर्म कभी-कभी लुप्तप्राय हो चुका था।

शिक्षा के क्षेत्र में जैनों का योगदान केरल में आज भी स्कूल के पूर्व में प्रचलित शब्द पळळिवकूटम् से भी सूचित है। मंदिरों, मठों के साथ विद्यालय हुआ करते थे और भारत के अनेक स्थानों पर आज भी होते हैं। इलंगो अडिगल इसी प्रकार के मठ या मंदिर में निवास करते थे। इरिंगालकुडा का भरत मंदिर, जो कि किसी समय जैन था, विद्या का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। वैदिक स्कूल शालै कहलाते थे।

आयुर्वेद और जैन

केरल में आयुर्वेद का बहुत प्रचार है जो कि बलवती प्राचीन परम्परा का परिणाम है। इस शास्त्र के अध्ययन में अष्टांगहृदय नामक ग्रंथ का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके रचयिता वाग्भट्ट बौद्ध थे ऐसा विश्वास किया जाता है। (देखिए गजेटियर का पृ.-240। किन्तु इस मत की समीक्षा आवश्यक है।)

जैन धर्म में तीर्थंकर की वाणी को बारह अंगों में संकलित किया गया है। उसके बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद है। उसके एक भेद पूर्व के अंतर्गत अर्धमागधी में निबद्ध प्राणावाय में अष्टांगहृदय आयुर्वेद का विस्तार से वर्णन है। आचार्य देशभूषण अभिनंदन ग्रंथ में एक लेख “आयुर्वेद के विषय में जैन दृष्टिकोण और जैनाचार्यों का योगदान” में आयुर्वेदाचार्य राजकुमार जैन ने प्राणावाय की परिभाषा निम्न प्रकार उद्धृत की है “काय चिकित्साष्टांग आयुर्वेद भूतकर्मजांगुलिप्रमः प्राणापानविभागोपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्त्राणावायम्” अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष और उनकी चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद आदि, पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के कर्म, विषैले जीव-जंतुओं के विष का प्रभाव और उसकी चिकित्सा तथा प्राण-अपान वायु का विभाग विस्तारपूर्वक वर्णित हो, वह प्राणावाय होता है। इस अत्यंत प्राचीन परिभाषा में अष्टांग आयुर्वेद का उल्लेख स्पष्ट रूप से है। अतः इस नाम के ग्रंथ के जैन होने की संभावना बनती है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा बिना मांस और अशुचि पदार्थों के सेवन के भी की जा सकती है यह सिद्ध करने के लिए जैन आचार्य उप्रादित्य ने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना की थी। उसका भी दक्षिण भारत में आदर है। इस ग्रंथ में अष्टांगहृदय को “समंतभद्रै प्रोक्तं” अर्थात् समंतभद्र द्वारा कथन किया गया कहा गया है। उससे भी अष्टांगहृदय जैन ग्रंथ है ऐसा सूचित होता है। यह भी शोध का विषय है।

पंद्रहवीं सदी में आशाधर नाम के एक जैन विद्वान हुए हैं जिन्होंने जैन गृहस्थों और जैन मुनियों के आचार के विषय में सागार धर्माभूत और अनगार धर्माभूत नाम के बहुत आदृत ग्रंथों की रचना की है। ऊपर दिए गए अभिनंदन ग्रंथ में डॉ. तेजसिंह गौड़ ने अपने

लेख “जैन संतों की आयुर्वेद को देन” में आशाधर के सम्बन्ध में यह लिखा है, “इन्होंने वाणभट्ट के प्रसिद्ध ग्रंथ अष्टांगहृदय पर उद्योतिनी या अष्टसंगहृदयद्योतिनी टीका लिखी थी। आशाधर की ग्रंथ प्रशस्ति में इसका उल्लेख है-

आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तु वाणभटसंहिता।

अष्टांगहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्चयः॥

स्वयं आशाधर ने सागार धर्माभूत के पृ.-141 पर पुत्रोत्पादन धर्म संतति के लिए किया जाए यह लिखते हुए अष्टांगहृदय का एक श्लोक उद्धृत किया है जो निम्न प्रकार है-

पूर्ण षोडशवर्षा स्त्री पूर्ण विंशेन संगता।

शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुऽनिले हृदि॥

वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः।

रोगयाल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा॥

पूर्ण सोलह वर्ष की स्त्री का पूर्ण बीस वर्ष के युवा से संयोग होने पर वीर्यवान् उत्पन्न होता है। इससे कम उम्र में यदि संतान उत्पन्न होती है तो वह रोगी और अल्पायु होती है।

पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि यदि अष्टांगहृदय अजैन कृति होती तो जैनधर्म की आचार संहिता का महान संकलनकर्त्ता आशाधर संभवतः इस ग्रंथ पर इतना जोर नहीं देता। उपर्युक्त उल्लेखों को देखते हुए विद्वानों को इस ग्रंथ के जैन ग्रंथ होने की संभावना पर भी विचार करना चाहिए।

रसवैशेषिकसूत्रम् और नागार्जुन

केरल के आयुर्वेदिक कालेज में रसवैशेषिकसूत्रम् नाम का एक ग्रंथ पढ़ाया जाता है और उसका कर्त्ता दूसरी सदी के बौद्ध आचार्य नागार्जुन हैं ऐसा माना जाता है। किन्तु इसी ग्रंथ की श्री शंकर लिखित भूमिका में यह प्रतिपादित किया गया है कि यह रचना सातवीं सदी के किसी बौद्ध मलयाली लेखक की है जिसका नाम भी नागार्जुन था। इसी भूमिका में भी बौद्ध और जैन धर्म संबंधी भ्रांति परिलक्षित होती है। भूमिका लेखक ने केरल में बौद्ध अंशदान का उदाहरण देते हुए लिखा है कि चित्तुराल नाम के गांव के पास बौद्ध अवशेष देखे जा सकते हैं। वहां बौद्ध नहीं अपितु जैन अवशेष हैं। इस गांव के पास की जिस पहाड़ी पर ये अवशेष हैं वह तिरुच्चरणट्टमलै कहलाती है अर्थात् चारणों की पवित्र पहाड़ी जो कि किसी समय जैनों के लिए पावापुरी के समान पवित्र स्थान थी। अब वहां का गुफा मंदिर भगवती मंदिर कहलाता है किन्तु उसमें महावीर, पार्श्वनाथ और अंबिकादेवी की प्रतिमाएं आज भी देखी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त वहां की चट्टान पर लगभग तीन जैन प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। ऐसा सम्भवतः जिन मूर्तियों संबंधी ज्ञान के अभाव के कारण होता है। वहां के पुजारी भी उन प्रतिमाओं को बुद्ध की मूर्ति बतलाते हैं।

आचार्य हस्तीमलजी ने बृहताकार ग्रंथ ‘जैनधर्म का मौलिक इतिहास’ में नागार्जुन नामक एक जैन आचार्य का परिचय दिया है जिसकी कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं- आचार्य नागार्जुन, “प्रारंभ से ही प्रबल साहसी होने के कारण पर्वतों की गुफाओं एवं जंगलों में

घूम-घम कर वनवासी महात्माओं के संसर्ग से वनस्पतियों, जड़ियों और रसायनों द्वारा रस बनाना सीख लिया।” उनकी जीवनी में आगे कहा गया है कि नागार्जुन ने अपने गुरु पादलिप्त सूरि को स्वर्ण बनाने, पैरों में लेप लगाकर गगन में विहार आदि द्वारा प्रभावित करने का भी उपक्रम किया था। इस पर सूरिजी ने नागार्जुन को समझाया कि वे सांसारिक विभूतियों के प्रलोभन से दूर रहकर अपनी आत्मा को कल्याण के मार्ग में लगावें। नागार्जुन ने वैसा ही किया। उनका समय गुप्तवंशी चंद्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त का समय बताया है अर्थात् चौथी सदी ईसवी का पूर्वार्द्ध। आचार्य नागार्जुन ने दक्षिणापथ के श्रमण या जैन साधुओं को भी एकत्रित किया था। क्या यह संभव नहीं कि रसवैशेषिक सूत्रम् इन ही की कृति हो। यह भी स्मरणीय है कि उक्त सदी में तमिलगम में जैन धर्म का अत्यधिक प्रभाव था। इस प्रश्न पर शोध की आवश्यकता है विशेष कर केरल के कवि कुजिकुट्टन तंपूरान के इस कथन के प्रकाश में कि केरल के ब्राह्मणों ने वैद्यक का ज्ञान जैनों से भी प्राप्त किया था।

प्रस्तुत लेखक ने उपर्युक्त दो ग्रंथों का ही सरसरी तौर पर अध्ययन किया था। अन्य ग्रंथों पर भी जैन प्रकाश की संभावना संबंधी खोज होनी चाहिए।

ज्योतिष और जैन

कुजिकुट्टन तंपूरान का यह मत भी समीचीन है कि केरल के ब्राह्मणों ने ज्योतिष का ज्ञान जैनों से भी प्राप्त किया था। केरल के ज्योतिष इतिहास में ही नहीं, अपितु भारतीय ज्योतिष के इतिहास में भी जैनों का बहुमूल्य योगदान है। स्व. डॉ. नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य ने भारतीय ज्योतिष का एक विस्तृत ग्रंथ लिखा है जिसके चौदह संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने “केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि” नामक प्रश्न ज्योतिष के एक प्राचीन ग्रंथ की भूमिका में केरल में लोकप्रिय प्रश्न ज्योतिष आदि के सम्बन्ध में जो तथ्य दिए हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख यहां किया जाएगा। वे लिखते हैं, “डॉ. श्याम शास्त्री ने वेदांग ज्योतिष की भूमिका में बताया है ‘वेदांग ज्योतिष के विकास में जैन ज्योतिष का बड़ा भारी सहयोग है, बिना जैन ज्योतिष के अध्ययन के वेदांग ज्योतिष का अध्ययन अधूरा ही कहा जाएगा। भारतीय प्राचीन ज्योतिष में जैनाचार्यों के सिद्धांत अत्यंत ही महत्वपूर्ण है।’ विशेषकर दक्षिण भारत के सम्बन्ध में उनकी सूचना है कि आर्यभट्ट ने भी जैन युग की उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी संबंधी कालगणना को स्वीकार किया है। पांड्य राष्ट्र में आचार्य सर्वनंदी ने गणित ज्योतिष ग्रंथ लिखा था। कन्नड़ में लीलावती नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। डॉ. नेमिचंद्र का कथन है कि “जैनाचार्यों ने ज्योतिष-गणित संबंधी ग्रंथों की रचना संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल एवं मलयालम आदि भाषाओं में भी की है।”

उपर्युक्त चूडामणि की प्रस्तावना में प्रश्न ज्योतिष का विकास क्रम बताते हुए डॉ. नेमिचंद्र ने इस विषय का प्रथम जैन ग्रंथ अर्हचूडामणिसार को बताया है और उसे आचार्य भद्रबाहु की कृति माना है। वे लिखते हैं कि, “अर्हचूडामणिसार के पश्चात् प्रश्न ग्रंथों की परंपरा बहुत जोरों से चली। दक्षिण भारत में प्रश्न निरूपण करने की प्रणाली अक्षरों पर ही आधारित थी। 5वीं, 6ठी शती में चंद्रोन्मीलन नामक प्रश्न ग्रंथ बनाया गया है जैनों की 5वीं, 6ठी शताब्दी की यह प्रणाली बहुत प्रसिद्ध थी, इसलिए इस प्रणाली को ही लोग

चन्द्रोन्मीलन प्रणाली कहने लगे थे। चन्द्रोन्मीलन के व्यापक प्रचार के कारण घबड़ा कर दक्षिण भारत में केरल नामक प्रणाली निकाली गयी है। केरलप्रश्नसंग्रहखू, केरलप्रश्नरत्न, केरलप्रश्नतत्त्वसंग्रह आदि केरलीय प्रश्न ग्रंथों में चन्द्रोन्मीलन के व्यापक प्रचार का खंडन किया है “प्रोक्तं चन्द्रोन्मीलनं दिक्वस्त्रैस्तच्चाशुद्धम्”। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि वहां इस उद्धरण में यह कह दिया गया है कि चन्द्रोन्मीलन का कथन दिक्वस्त्रै ने किया है, वह अशुद्ध है। दिक्वस्त्र का अर्थ है दिशा ही जिनके वस्त्र हैं अर्थात् दिगम्बर जैन मुनि। केरल में एक ग्रंथ प्रश्नचूड़ामणि नाम का भी मिलता है। वह भी ज्योतिषाचार्य के अनुसार जैन आचार्य द्वारा प्रणीत हो सकता है। उसके अंत में “ॐ शान्ति श्री जिनाय नमः” लिखा है।

डॉ. नेमिचन्द्र के अनुसार केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि का रचनाकाल 13वीं सदी का मध्य भाग हो सकता है तथा उसके रचयिता समंतभद्र हैं जो कि आयुर्वेद और ज्योतिष के विद्वान थे। वे कांची के समंतभद्र से भिन्न हैं।

मांसाहार

केरल के लोगों के आचार-विचार के संबंध में जैनधर्म के प्रभाव का विश्लेषण केरलचरित्रम् में उपलब्ध है। यह इस प्रकार है- “हिन्दुओं के आचार-विचार में बौद्ध-जैन धर्मों का काफी प्रभाव मिलता है। मांसाहार का वर्जन इसमें प्रमुख है।” पृ.-323.

जरा विचार करें, बौद्ध धर्म में तो मांसाहार का वर्जन नहीं है। स्वयं गौतम बुद्ध ने ‘शूकर मांस का भक्षण किया था।’ उन्होंने अपने जीवन काल में ही तीन प्रकार से प्राप्त मांस के भक्षण की अनुमति अपने अनुयायियों को दी थी। महायानियों ने आगे चलकर उसमें दो प्रकार और जोड़ दिए। मांसाहार की अनुमति अवश्य ही एक कारण है कि बौद्ध धर्म मांसाहारी देशों में फैल गया। इसलिए मांसाहार के वर्जन का श्रेय जैनधर्म को ही दिया जाना चाहिए। केरल के इतिहासकार श्रीधर मेनन ने लिखा है कि केरल अठारहवीं सदी तक शाकाहारी रहा। बौद्धधर्म तो इस सदी से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ही केरल से लुप्त हो चुका था। जिस धर्म के लोग मांस खाते हों, उसे शाकाहार का श्रेय कैसे दिया जा सकता है।

अष्टमंगल-द्रव्य

केरल में ‘तालप्पोलि’ नाम के एक उत्सव में अष्टमंगल द्रव्यों का प्रयोग भी जैन प्रभाव की सूचना देते हैं। डॉ. के. के. एन. कुरूप ने भगवती और अन्य मंदिरों में इस उत्सव के संबंध में यह मत प्रकट किया है, “The cult of Talappoli in shirnes and Bhagavti temple of Kerala is a legacy in which the Jains had their contribution in shrines of Kavus of North Malabar where Teyyattam of Bhagavati is performed, the practice of virgin is also observed in festivals. The virgin girls who had observed several ritual like holy bath and clad in white clothes proceed with Talappoli before the Teyyam of Bhagavati; In festival and other occasions the eight auspicious articles like umbrella, conch. Swastik, Purna kumbha and are provided for prosperity and happiness as a tradition. This custom is also relating to Jainism.” (p. 9. Aspects of kerala History and culture). जैन विधि-विधान और स्थापत्य कला से परिचित यह जान सकेंगे कि

जैन धर्म में अष्ट मंगल द्रव्यों का बड़ा महत्व है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त ईसा की पहली-दूसरी सदी की कुछ जैन प्रतिमाओं के साथ या जैन आयागपट के रूप में इन ही अष्ट मंगल द्रव्यों का अंकन पाया गया है।

कला और स्थापत्य

इन क्षेत्रों में भी केरल के जैन शायद सबसे अग्रणी रहे हैं। कुणवायिलकोट्टम का जैन मंदिर, जिसे डच लोगों ने नष्ट किया बताया जाता है, केरल के मंदिरों यहाँ तक कि वहाँ की मस्जिदों के निर्माण के लिए आदर्श था। मालाबार मेनुअल खंड 1, पृ.-218 में विलियम लोगन्स ने इस संबंध में लिखा है- "The Jains do, however, seem to have left behind one of their peculiar styles of temple architecture, for the Hindu temples and even Muhammadan mosques of Malabar are all built in the style peculiar to the Jains, as it is still to be seen in the Jain Bastis at Mudbidri and other places in the South Canara district." मंदिरों की इस शैली के सम्बन्ध में लोगन्स ने प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता फर्गुसन का यह मत उद्धृत किया है कि मूडबिद्री या तुलु प्रदेश के लगभग सभी मंदिर जैनों के हैं। उनकी निर्माण शैली न तो द्रविड़ है और न ही उत्तर भारतीय बल्कि उसका साम्य नेपाल के मंदिरों से अधिक है। इनके स्तंभ ऐसे लगते हैं मानों लकड़ी के चौकोर लट्ठे ही हों और बरामदों की ढलवाँ छतें काष्ठ मंदिरों का स्मरण दिलाती हैं। लोगन्स ने इस शैली की व्यापकता कन्याकुमारी तक बताई है। मस्जिदें भी इसी शैली में क्यों बनीं इसका कारण भी लोगन्स ने यह बताया है कि नौ मस्जिदें तो जैन मंदिरों के स्थान पर बनीं हैं उनके साथ मंदिरों की भूमि भी मस्जिदों को दे दी गई। पहले मंदिरों को ज्यों का त्यों उपयोग में लाया गया किन्तु बाद में यही शैली अपना ली गई।

केरल में जैनों ने चरणों (footprints) गुहा-मंदिरों (cave temples) शिला-शय्याओं (rock-beds) छतरीनुमा शिलाच्छादित समाधि-स्थलों टोपी कल्लु Topikallu, kudakkal आदि का भी निर्माण किया और मूर्ति कला में भी यथेष्ट योगदान किया। श्री ए. श्रीधर मेनन अपनी पुस्तक Social and Culture History of Kerala में लिखा है- "The Jain relics form an important part of the sculptural heritage of Kerala."

अनेक जैन मंदिर मस्जिदों के रूप में परिणत कर दिए गए। इसी प्रकार अनेक जैन मंदिर आज शिव, विष्णु अथवा भगवती मंदिर के रूप में परिवर्तित हैं। जैन कला और स्थापत्य का आकलन करते समय इनको भी ध्यान में रखना उचित होगा। इसमें एक कठिनाई यह भी आती है कि स्पष्ट संकेतों के होते हुए भी इनके संबंध में कुछ कथाएं प्रचलित कर दी गई हैं जिससे इतिहास धूमिल हो गया है।

मंदिरों की बहुलता जैनों के कारण

यह सभी जानते हैं कि प्राचीन समय में और कुछ अंशों में आज भी वैदिक धर्म का मुख्य लक्षण यज्ञ करना रहा है। इसके लिए यज्ञशालाएं हुआ करती थीं जबकि जैन मूर्तियों की पूजा करते थे और अब भी करते हैं। इसके लिए मंदिरों का निर्माण किया जाता

था और किया जाता है। केरल में मंदिरों की संख्या बहुत अधिक बताई जाती है। इसका कारण यज्ञ तो संभवतः नहीं हो सकता। चास्तव में, संस्कृत में कुछ मंत्र आदि बोल कर स्वाहा स्वाहा में साधारण लोगों को अधिक आनंद की अनुभूति नहीं होते देखकर संभवतः वैदिकों में भी मंदिर निर्माण की प्रवृत्ति जगी ऐसा कुछ इतिहासकारों का मत है। यदि इलंगो अडिकल की अमर रचना शिलप्पाधिकारम् ध्यान से पढ़ें तो ज्ञात होगा कि ब्राह्मण यज्ञादि में ही अधिक विश्वास करते थे। Sri M.S. Ramaswami Ayyangar, author of *Studies in South Indian Jainism*, opines that "Idol worship and temple building on a grand scale in South India have also to be attributed to Jain influence. The essence of Brahminism was not idol worship. How came it then that the Dravidians built large temples in honour of their Gods? The answer is simple. The Jains erected statues to their Tirthankaras and other spiritual leaders and worshipped them in large temples. As this method of worship was highly impressive and attractive, it was imitated." (p. 77) अपने मत के समर्थन में उन्होंने उन अनेक देव कुलिकाओं (niches) का उदाहरण दिया है जो कि शैव संतों के सम्मान में बहुत अधिक बनाए गए हैं तथा मंदिरों में उन्हें प्रतिष्ठित किया गया है।

संगीत समयसार

केरल में संगीत के क्षेत्र में संगीतशास्त्र नामक ग्रंथ की प्रसिद्धि है। उसका प्रकाशन त्रिवेद्रम् की संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत किया गया है। उसके रचनाकार पार्श्वदेव नाम के जैन आचार्य हैं। इन्होंने मंगलाचरण की प्रथम पंक्ति में ही समयसरण (तीर्थकर की उपदेश सभा) का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने आपको सम्यक्त्वचूडामणि कहा है। सम्यक्त्व एक जैन पारिभाषिक शब्द है। इसका नामकरण की आचार्य ने संभवतः कुंदकुंदाचार्य की बहुत आदृत एवं प्रसिद्ध कृति समयसार के अनुकरण पर किया है ऐसा प्रतीत होता है। पार्श्वदेव ने अपना परिचय "दिगंबरसूरि" के रूप में दिया है। इसमें उन्होंने संगीत प्रतियोगिता के नियम, निर्णायक की योग्यता आदि का भी उल्लेख किया है। लोक व्यवहार सिद्ध राग के अंतर्गत आचार्य ने कर्णाट गौड़, द्राविड गुर्जरी, दक्षिण गुर्जरी आदि का विवेचन किया है। यह संगीत समयसार कुंदकुंद भारती दिल्ली द्वारा हिन्दी अनुवाद आदि सहित आचार्य बृहस्पति के संपादन में प्रकाशित हो चुका है। प्रश्न किया जा सकता है कि कर्नाटक के इस दिगंबर जैन साधु को राग, आलाप आदि संगीत की विधाओं से क्या लेना-देना? इसके उत्तर के लिए केरल-कर्नाटक की तत्कालीन परिस्थिति पर विचार करना चाहिए। उन दिनों शैव-वैष्णव भक्ति आंदोलन जोरों पर था। आचार्य की यह भावना रही होगी कि जैनों को भी संगीतमय भक्ति में पीछे नहीं रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि जैन धर्म के तीर्थकर के सम्मुख नृत्य और गायन की बहुत प्राचीन परंपरा है। मान्यता है कि तीर्थकर के जन्म आदि के समय इन्द्र नृत्य करता है। जैन धार्मिक उत्सवों के समय आज भी इन्द्र जैसी वेश-भूषा बनाकर संगीत के साथ नृत्य-गायन का आयोजन होता है। मधुर कंठ का वरदान प्राप्त जैन साधु भी संगीतमय

उपदेश देते हैं। राजस्थान में जैन साधुओं द्वारा लावणी नामक संगीत रचना का बड़ा प्रचार है। स्वयं पार्श्वदेव ने लिखा है कि गमकों से मन की एकाग्रता होती है। तन्मयता भी तो इस एकाग्रता को संभव बनाती है। आचार्य स्वयं भी मीठी तान और लय के धनी रहे होंगे।
चित्रकारी

जैन मंदिरों में प्राचीन काल से ही तीर्थंकर के जीवन, बाहुबली मुनियों पर जुल्म (हस्तिनापुर में) नेमिनाथ की बारात और उनका वैराग्य, पार्श्वनाथ को कमठ द्वारा ध्यान से विचलित करने के लिए कष्ट दिया जाना, लोभ, परिणाम, तीर्थंकर माता के स्वप्न, अहिंसामयी वातावरण में सिंह और गाय का एक साथ पानी पीना, गजलक्ष्मी, तीर्थंकर की उपदेश सभा समवसरण, प्राकृतिक दृश्य, तीर्थस्थानों के चित्र, धर्मचक्र, कमल, कलश आदि मांगलिक पदार्थों का चित्रण मंदिर की दीवारों आदि पर किया जाता रहा है। दक्षिण भारत के जैन मंदिरों में तो इसका प्रचलन था। केरल में साष्टांग प्रणाम करती हुई भक्त महिला का भी प्रस्तर अंकन कोविलों में देखा जा सकता है। नाग कोविल के मंदिर में, शुचींद्रम के कोविल में एवं कुछ अन्य मंदिरों में इस प्रकार के अंकन हैं।

संगम कालीन साहित्य में भी इस प्रकार की चित्रकारी के संकेत मिलते हैं। केरल गजेटियर (P. 121) का कथन है, **Sangam classics refer to the figures of Gods and scenes of nature painted on walls and canvas. We are led to believe that the Jains were the first to initiate the practice of painting on the walls."**

कार्तिक दीपम् उत्सव

केरल में कार्तिक मास में शानदार तरीके से दीपोत्सव मानाया जाता है। यह उत्सव भी प्राचीन काल से, कम से कम संगम काल से चला आ रहा है। गजेटियर ने उसे चोल देश के किसानों के इसी प्रकार से जोड़ने का प्रयत्न किया है। दूसरे उसने यह अनुमान किया है कि प्राचीन काल के चेर शासकों के समय में यह उत्सव भगवान मुरुग के सम्मान में मनाया जाता रहा होगा किन्तु उसके संपादक ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें चेर शासकों के समय के काव्य में ऐसा कोई संदर्भ नहीं मिला। स्पष्ट है कि ये कथन अटकल पर आधारित हैं। केरल में जैनधर्म का प्रचार था इससे संभवतः इन्कार नहीं किया जा सकता। इस दीपोत्सव का संबंध भी जैन परंपरा से संबंधित किया जा सकता है।

ईसा से 527 वर्ष पूर्व भगवान महावीर का निर्वाण आधुनिक पटना के समीप स्थित पावापुरी में कार्तिक मास की चतुर्दशी के अंतिम प्रहर में स्वाति नक्षत्र में हुआ था। उस समय सर्वत्र शोक छा गया। उस निर्वाण रात्रि का विशद वर्णन दो हजार वर्ष प्राचीन प्राकृत ग्रंथ कल्पसूत्र में उपलब्ध है। उसमें लिखा है- जं रयणि च णं भगवं महावीरे कालगये जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लइ नव लिच्छई कासीकोसलगा अट्टारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभोयं पोसहोववासं पट्टवइंसु, गते से भावुज्जोए द्क्कुज्जोवं कस्सिस्सामो ॥127॥ अर्थात् जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके संपूर्ण दुःख पूर्ण रूप से नष्ट हो गए, उस रात्रि में कासी कोसल के नौ मल्ल राजा और नौ

लिच्छवि राजा कुल अठारह गणराजा अमावस्या के दिन आठ प्रहर का प्रोषधोपवास करके वहाँ रहे हुए थे। उन्होंने यह विचार किया कि ज्ञानरूपी प्रकाश चला गया है अतः हम द्रव्योद्योत करेंगे अर्थात् दीपावली प्रज्वलित करेंगे। तभी से दीपावली का प्रारंभ हुआ।

ईस्वी सन् 784 में रचित जैन हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन प्रथम ने स्पष्ट लिखा है कि निर्वाण के समय देवों और मनुष्यों ने भगवान के शरीर की पूजा की और दीप प्रज्वलित किए। उनके शब्दों में-

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरै-दीपितया प्रदीप्तया।

तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥19॥

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।

समुद्यमः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥20॥

अर्थ- उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलायी हुई देदीप्यमान दीपकों की पवित्र से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याण की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे। उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के लिए लेखक पं. बलभद्रजी का आभारी हैं।

भारत के जैन आज भी उक्त तिथि को प्रातः निर्वाणोत्सव मनाते हैं। अंतर इतना ही पड़ा है कि दीपमालिका संध्या के समय की जाने लगी है। किन्तु दक्षिण जिसमें जैनधर्म का किसी समय अत्यधिक प्रसार था, अब भी प्रातः काल ही दीपावली मनाता है और सुबह के समय ही आतिशबाजी करता है जबकि पावापुरी में मनुष्यों और देवों ने दीपोत्सव, किया था। यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाए तो केरल के दीपम् उत्सव का औचित्य समझ में आ सकता है। संस्कार इतनी जल्दी नष्ट नहीं होते।

केरल में जो प्राचीन जैन मंदिर ब्राह्मणों के अधिकार में चले गए हैं, उनके बाहर की दीवारों पर एक के ऊपर एक अनेक पवित्रियों में जो सैकड़ों दीप-आधार बने हुए हैं उनसे ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि जैन कितनी धूमधाम से भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव अथवा दीपावली मनाते रहे होंगे।

सर्पकलम्

पार्श्वनाथ और पद्मावती की लोकप्रियता के कारण केरल में नागपूजा का प्रचलन अधिक लक्षित होता है। इस तथ्य का एक और प्रमाण केरल में रंगीन चूर्णों से जमीन पर की जानेवाली चित्रकारी है जिसे कलम कहा जाता है। इसका रिवाज भी नायर लोगों तथा निम्न जातियों में ही अधिक है। कोई बिरला ही नंपूतिरि परिवार कलमकारी करता हो। इस चित्रकारी में सर्पकलम् प्रमुख है। इसमें तीन, पांच या सात फणवाले सर्प बनाए जाते हैं किन्तु ये साधारण सर्प नहीं होते अपितु देवरूप होते हैं। इसके संबंध में *Studies in folklore of Kerala* में डॉ. चुम्मर चूंडल ने पृ.-9 पर यह मत व्यक्त किया है कि केरल की इस कलमकारी पर मैसूर क्षेत्र का सीधा प्रभाव है। उक्त प्रदेश में जैनधर्म के प्रभाव के विषय में संभवतः अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। लेखक

ने Indian Serpent Lore के लेखक Vogel का यह अभिमत भी उद्धृत किया है कि "The divine serpents are many headed." पुलवन जाति के लोग इस कला में प्रवीण होते हैं। ये भी निम्न वर्ग के माने जाते हैं।

लोकवार्ता (Folklore) संबंधी इस पुस्तक की भूमिका में श्री वी. वनममलै ने अपना यह स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि, "Any influence on folklore by Aryan culture is marginal."

कण्णगी कथा का जैन संबंध

कण्णगी और कोवलन जैन दंपति थे। उनकी करुण कहानी तमिल में केरल के युवराजपाद इलंगो ने लिखी थी। कण्णगी का केरल में कोडंगल्लूर नामक स्थान पर मंदिर बना था। इस दंपति की जीवन गाथा अब लोकवातों के रूप में विभिन्न रूपों में केरल में पुनरावृत्त ओर अभिनीत होती है। श्री चूडल के अनुसार कण्णगी को भद्रकाली का रूप दिया गया, उसके बाद वह काली बनी और श्रीकुरुम्ब बना दी गई जो कि इस समय कोडंगल्लूर के भगवती मंदिर की देवी हैं तथा जिसमें कण्णगी के जीवन का घटनाएं कुछ विकृति के साथ प्रति वर्ष दोहराई जाती हैं। इस देवी को अब दुर्गा और पार्वती भी कहा जाने लगा है। कण्णगी वार्ता के केरल के विभिन्न स्थानों में कम से कम 6 प्रकार पाए जाते हैं। उससे स्त्रबोधित गीत तोट्टम् पाट्टकल कहलाते हैं।

कण्णगी से संबंधित एक उत्सव कोडंगल्लूर में होता है जिसे भरणी उत्सव कहते हैं। उसके मंदिर को अपवित्र आदि किया जाता है। पहले उस मंदिर पर जीवित मुर्गे फेंके जाते थे जिसे केरल सरकार ने बंद कर दिया है। इसी प्रकार अश्लील गाने, गालियों आदि का भी चलन था। अब केरल सरकार अश्लील कथन जो करने वालों को पकड़ती है। श्री चूडल ने लिखा है कि इस उत्सव में चैट्टी लोग जो ----- निम्न वर्ग में आते हैं, अधिक संख्या में भाग लेते हैं। वे यह भी पृ.-67-68 पर सूचित करते हैं कि कुम्माटी लोगों का गोमटेश्वर से संबंध है तथा "Kummatti is a Malayam-Tamil word, and it reminds us of the influence of Vaisyas mainly merchants, were these who took part in it. It seems that Kummatti was invented to unlock Jainism." (P. 69)

रथोत्सव

केरल के अनेक मंदिरों में रथोत्सव मनाया जाता है। इसके संबंध में यह अनुमान लगाया गया है कि इस पर बौद्ध प्रभाव है। गजेटियर (पृ.-238) का कथन है कि, "It is contended by some writers that the temple processions in Kerala own much of their features to Buddhistic ritualistic performances. The elephant procession (Anal Ezhunnalippu) with its accompaniments of Muthukuda, Alavattam, Venchamaram etc. has marked similarity to the processions of the Buddhists." केरल के इतिहास के जानकार यह भलीभांति जानते हैं कि सातवीं सदी में जब चीनी यात्री ह्वेनसांग केरल में आया था तो उसे दिग्ंबर साधु बहुत अधिक संख्या में देखने को मिले थे और यह कि बौद्ध धर्म केरल से नौवीं सदी में लुप्त ही हो गया था। ऐसी स्थिति में लगभग एक हजार वर्ष के बाद भी

उसका अनेक मंदिरों के रथोत्सव पर प्रभाव बताना ऐतिहासिक खींचातानी ही मानी जाए तो कुछ अनुचित नहीं होगा। इसके विपरीत जैन धर्म केरल में आज भी जीवित है। उसकी रथोत्सव की परंपरा बहुत प्राचीन है। भादों में दस दिनों के पर्यूषण पर्व के अंत में, महावीर जयंती तथा नवीन मंदिर या मूर्ति की प्रतिष्ठा आदि अवसरों पर रथयात्रा निकाली जाती है। पिछले दशक में उत्तर भारत में अनेक स्थानों पर गजरथ निकले हैं। इन रथों में हाथी जोते जाते हैं और इन ऊंचे रथों में तीर्थंकर प्रतिमा विराजमान की जाती है। केरल जैसे हाथी बहुत आश्चर्य नहीं। हाल ही में गोमटेश्वर रथ तथा तीर्थवंदना रथ सारे भारत में घूमा था। इन तथ्यों को देखते हुए जैन परंपरा पर भी विचार किया जाना चाहिए।

पेरियपुराणम्

ईसा की छठी शताब्दी में तमिलगम् में जैनधर्म इतना अधिक व्याप्त था कि शैव धर्म के अनुयायियों को इस धर्म के प्रभाव तथा जैनधर्म के अनुयायी "दुष्ट राजाओं (Evil kings)" के प्रभाव से उस समय के तमिल देश को मुक्त कराने की चिंता हुई। इनमें सबसे प्रमुख नाम ज्ञानसंबंदर का है। बताया जाता है कि इन्होंने जैन मुनियों, पंडितों को वाद-विवाद में हराया और कुछ चमत्कार दिखाए। इन चमत्कारों में एक यह भी था कि शैव या वैदिक ग्रंथ तो पानी में डालने पर तैरते हुए ऊपर आ गए और जैनों के ग्रंथ पानी में डूब गए। समय है कि ऐसी घटना केरल में भी घटी हो और यही कारण है कि केरल में जैन ग्रंथों का अभाव है। जैन पल्लव राजा महेंद्रवर्मन प्रथम को शैव बना लिया गया। उसने जैनों पर अत्याचार किए और बहुत-से जैन मंदिरों को शैव मंदिरों के रूप में बदल दिया। इसके बाद संबंदर ने जैन पांडय राजा सुंदरर की कूबड़ चमत्कारिक रूप से सीधी कर दी। यह कार्य जैनों से नहीं हो सका था ऐसा कहा जाता है वह भी शैव हो गया। उधर धर्मसेन नाम के 25 वर्षों तक जैन आचार्य पद पर रह चुके मठाधीश की उदर पीड़ा भी शिव की कृपा से उनकी बहिन ने ठीक करा दी। वे शैव संत बन गए और अप्पर कहलाने लगे। सुंदरर ने एक ही दिन में बैंगे नदी के किनारे 8,000, (आठ हजार) जैन मुनियों को शूली पर चढ़ा दिया। इस कांड पर दक्षिण भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है, "There is no reason to believe that, even in those days of intense religious strife, intolerance descended to such cruel barbarities." (p. 413) पेरियपुराण तो यही कहता है कि जैन स्वयं ही शूली पर चढ़ गए क्योंकि वे चमत्कार नहीं कर पाए थे। वास्तव में उन्होंने इस मुनिधर्म का पालन किया होगा कि प्राणों का संकट आने पर भी बदले का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सोचना चाहिए कि मेरे अशुभ कर्मों के कारण यह संकट आया है।

इस घटना का उत्सव तमिलनाडु में मदुरै के मीनाक्षी मंदिर में मनाया जाता है। एक चित्र भी था, सुना है कि अब मिटा दिया गया है। इसी प्रकार का एक उत्सव केरल के शुचींद्रम मंदिर में भी होता है। वहां बैरागी को खून से सनी तलवार दिखानी पड़ती है।

उक्त तीनों एवं अन्यो के प्रयास से शिव की भक्ति के गीतों से संयोजित जो पंथ चला उसे शैवसिद्धांत कहते हैं। इस मत में जो 63 संत हुए हैं उनका विवरण पेरियपुराणम् में है। यह पुराण संभवतः 12वीं सदी में चोल राजा कुलोत्तुंग की प्रेरणा से

रचा गया। उक्त त्रेसठ संतों में प्रथम तीन तो संबंदर, अप्पर और सुंदरर हैं। केरल के केवल दो ही संत हैं। छः ऐसे भी हैं जो कहां के थे यह पता नहीं है। (लेखक की जानकारी 1990 के लगभग की) इस पुराण पर जैन प्रभाव है ऐसा कुछ निष्पक्ष विद्वान स्वीकार करते हैं। लेखक ने अडयार लाइब्रेरी में एक पुराविद को यह प्रभाव बताया तो वह बोले which is prior? मैंने कहा ours.

- संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भाषा में भी अर्थात् प्राचीन काल से ही जैन ग्रंथों में 63 शलाकापुरुष या श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-विवरण उपलब्ध हैं। इस संख्या में 24 तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती आदि 63 महापुरुषों की गणना है। इनमें राम और कृष्ण भी हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित नाम से स्वतंत्र ग्रंथ भी हैं। नौवीं सदी में प्राकृत में रचित तिलोयमण्यत्ति में पूरा विवरण उपलब्ध है।

पेरियपुराण पर जैन प्रभाव के संबंध में इतिहास, पुरातत्व की विदुषी प्रो. चंपक लक्ष्मी ने Medieval Bhakti Movements in India नामक अभिनंदन ग्रंथ में अपने निबंध Religion and Social Change in Tamilnadu (c 600-1300) में यह मत व्यक्त किया है—"The Saiva hymnists i.e. those who composed the Bhakti hymns, were also of the higher castes but later, in the twelfth century and at the time of the codification of the Saiva canon, a deliberate attempt was made to introduce several fictitious saints in addition to the historical figures to increase the number to 63, many of whom were drawn from low castes including the paraiya or untouchable. The number 63 was a direct borrowal from the Jain Puranas dealing with the 63 Salakapurusas or great beings." (P. 167)

पेरियपुराण की रचना का एक प्रमुख कारण एक जैन ग्रंथ की लोकप्रियता भी था। वह ग्रंथ था तमिल भाषा के श्रेष्ठ पांच महाकाव्यों में से एक जीवकचिंतामणि जो कि आज भी तमिल में अध्ययन का विषय है। इसमें जैन चरित ग्रंथों के प्रसिद्ध नायक जीवंधर का चरित्र, उनके अनेक विवाह तथा उनके द्वारा यह प्रतिपादन कि सांसारिक जीवन बिताने के बाद भी यदि संयम धारण किया जाए तो कर्म बंधनों से मुक्ति संभव है। जीवंधर हेमांगद देश जो कि कर्नाटक में स्थित माना गया है, के शासक थे। वैराग्य होने पर वे महावीर स्वामी की उपदेश सभा या समवसरण में गए। वहां महावीर के प्रमुख शिष्य या गणधर सुधर्म स्वामी ने उन्हें मुनि दीक्षा दी थी। वे विपुलाचल से संसार बंधनों से मुक्त हुए। चोल शासक कुलोत्तुंग को उक्त चरित की प्रसिद्धि से चिंता हुई। इसलिए उसने पेरियपुराणम् की रचना कारंबाई उपर संदर्भित पुस्तक में भी एन. सुन्नमण्यम् ने पृ.-185 पर लिखा है, "The story of the circumstances under which the Periyapuram was written, as tradition has it, indicates the Cola king's anxiety to stop the spreading influence of Jainism made him encourage Sekkilar in the composition of the account of the lives of the Nayanmars."

जगहों के नाम

अयोध्या, उज्जैन, नागपुर, उरैयूर, नागपट्टिणम् जैसे स्थल-नाम सांस्कृतिक महत्व की सूचना देते हैं। केरल में भी जगहों के ऐसे नाम हैं जो यह सूचित करते हैं किसी

समय वे जैनधर्म से संबंधित रहे हैं।

पालक्काड या पालघाट (केरल) में एक मुहल्ला है जो कि जैनमेडु कहलाता है। उसी में प्राचीन चंद्रप्रभु मंदिर है। उस मुहल्ले में रहने वाले कुछ तमिल लोगों ने उसका दूसरा ही नाम रख लिया है किन्तु जैनमेडु का प्रयोग अभी भी होता है।

जैनधर्म से संबंधित स्थल-नामों का विशेष अध्ययन केरल के ही मलयालम लेखक श्री वी. के. के. वालथ (अब स्व.) ने विशेष रूप से किया है। उनकी खोज के परिणाम नीचे उल्लिखित प्रकाशनों में उपलब्ध हैं वे हैं- *Jain Influence on some Kerala place Names, abstract of the chapter Studies in Dravidian Place names, publication of Place Names Society, Tiruvananthapuram. (and) Keralathile Sthala Chrithrangal Ernakulam Jilla (This book is in Malayam)* यह श्री वालथ ने ही लेखक को दी थी। उनका यह निष्कर्ष है कि, "The words such as Kall (kallu), Ampalam, Palli, Kottam meaning temple are very ancient and bear the long lasting marks of Jainism." उनका यह मत है कि ये शब्द ब्राह्मणों की संस्कृत में नहीं पाए जाते। उदाहरण के लिए कल्लिल। यह Kal+il से बना है। कल का अर्थ है पाषाण और इल से आशय है मंदिर। इस स्थान पर एक गुहा मंदिर है जिसमें महावीर, पार्श्वनाथ और पद्मावती देवी की मूर्तियां पाषाण पर उत्कीर्ण हैं। अब वह भगवती मंदिर कहलाता है। कालांतर में कल्लिल शब्द का व्यवहार सभी जैन मंदिरों के लिए होने लगा। कोडंगल्लूर का सीधे विच्छेद कर उन्होंने अपने मत की स्थापना की है। इसी प्रकार के अन्य नाम हैं - *Kallatikootu, Kalleekkaatu, Kallar, kallatippeetta, kalpatti, kalleekkulannara (This was the temple of Ambika now known as Heemambika), Kalpaattilam, Kalpaattikkunnu etc.*

विद्वान लेखक का मत है कि शंकराचार्य की जन्मभूमि कालडी (Kaalati) भी जैनों द्वारा चरण उत्कीर्ण करने की प्रथा की ओर संकेत कर रही है। वे लिखते हैं, *Engraving the foot prints of Jina on rocks was a usual practice among Jains the place name Kaalati might have originated in this way.* त्रिचूर जिले में कूडलमाणिक्यम् नाम का एक मंदिर है जो किसी समय जैन मंदिर था। उसमें स्थापित मूर्ति ऋषभ पुत्र भरत की है ऐसा लेखक सहित कुछ विद्वानों का मत है। उसका प्राचीन नाम भी श्री वालथ के अनुसार माणिककन कल्लू था। सिलप्पादिकारम् में एक मंदिर *Vallayampalam* नाम से उल्लिखित है जो कि नष्ट हो गया। अब वह स्थान ----- कहलाता है। जिनदेव के विशेषण थे- *Ponnayirkoon, Ponneyilnathan* आदि जो मंदिर पहाड़ पर हैं, वे *Ponmala, Ponmuti* आदि नामों से जाने जाते हैं। ईसाइयों का प्रसिद्ध केन्द्र *Kurismuti* पहले *Ponmala* ही था। श्री वालथ का मत है कि हाथी, अश्व, नाग आदि जैनों के प्रिय प्रतीक हैं। इन प्रतीकों से संबंधित अनेक स्थल नाम केरल में हैं जैसे *Anmala, Kutirmala, Kutiraan, Kutiravattaam, Naagmala, Nagampatam etc.* इसी प्रकार जैन साधुओं की स्मृति में निर्मित पाषाण स्मारकों के कारण भी अनेक स्थल नामों का विकास हुआ है जैसे- *Unnukal, Muttikkal, Kallara etc.*

केरल गजेटियर ने पृ.-229 पर यह उल्लेख किया है कि जैन साधु चैत्य या विहार में भी रहा करते थे और ऐसे स्थानों को कोट्टम कहा जाता था। इस जानकारी के अभाव में कुछ विद्वान इन शब्दों को देखते ही उन्हें बौद्ध कह बैठे हैं। डॉ. के. के. पिल्लै ने तमिलनाडु के विशेष संदर्भ में भारत का इतिहास लिखा है। उसका एक अध्याय केरल में जैनधर्म से भी संबंधित है। उसमें लेखक ने आठ बातें ऐसी गिनाई हैं जिन पर जैन प्रभाव संभव है। उनका संक्षिप्त उल्लेख यहां किया जाता है।

1. अय्यप्पा

केरल में अय्यप्पा की पूजा का बड़ा महत्व है। उसका श्रेय बौद्धों को दिया जाता है। एक लेखक का उद्धरण देकर डॉ. पिल्लै यह कहते हैं कि अय्यप्पा के रूप में पूजित देव वास्तव में जैनों का ब्रह्म यक्ष है जिसका वाहन गज है। प्रस्तुत लेखक का भी मत है कि अय्यप्पा का संबंध बौद्ध परंपरा से नहीं अपितु जैन परंपरा से जान पड़ता है।

2. नागपूजा

केरल के नागराज मंदिर (नागरकोयिल), तमिलनाडु में नागमलै, नागपट्टिणम नागलपुरम् आदि का उदाहरण देकर डॉ. पिल्लै यह मानते हैं कि केरल में नागपूजा का प्रचलन जैनों के कारण संभव है।

3. यक्षी, भगवती और मंत्रवाद

भगवती की पूजा केरल में अत्यंत लोकप्रिय है। उन्होंने यह भी लिखा है कि केरल के भगवती मंदिर पहले जैन थे। भगवती की कल्पना हिन्दुओं ने जैनों से ली है।

यक्षी की उपासना के सम्बन्ध में उनका यह कथन है कि यक्षी पहले ग्रामीण देवता थी। जैनों ने लोगों को आकर्षित करने के लिए उसका दर्जा बढ़ाया, बाद में हिन्दुओं ने भी उसे अपना लिया। इस कथन के समर्थन में वे अंबिका का उदाहरण देते हैं। प्रस्तुत लेखक का मत है कि केरल के जैनों में पद्मावती देवी और ज्वालामालिनी देवी अधिक लोकप्रिय हैं। उसके अतिरिक्त, शासनदेवी की मान्यता जैनों की अपनी है।

जैन लोक मंत्रवादी थे ऐसा उपर्युक्त लेखक का मत है। उनका कथन है कि जैन तान्त्रिक प्रभाव में आ गए थे और पद्मावती तथा ज्वालामालिनी देवियों की साधना करते थे। कुछ जैन मुनि भी इनके प्रभाव में थे। लेखक का संकेत हेलाचार्य (ज्वालामालिनी कल्प के रचयिता) और आचार्य इन्द्रनंदि (भैरव पद्मावती कल्प के कर्ता) की ओर जान पड़ता है। हिन्दुओं पर भी इसका प्रभाव जैनों के कारण पड़ा इस कथन में सत्यांश संभव है विशेषकर पद्मावती देवी की प्रतिमाओं की केरल में अधिकता को देखते हुए। डॉ. पिल्लै ने मणियार जाति का भी इस प्रसंग में उल्लेख किया है। इस जाति के लोग संस्कृत, आयुर्वेद, गणित आदि में निष्णात होते हैं संभवतः इस जाति के नाम की उत्पत्ति 'गणी' से है। यह शब्द जैन परम्परा का है।

4. शिवजी का नंदी

भारत के अन्य भागों की भांति केरल के शिव मंदिरों में भी नंदी की स्थापना की जाती है। नंदी के विषय में डॉ. पिल्लै का यह अभिमत है कि, "The idea of the Bull

which is considered the vehicle of Siva is in all probability borrowed from the Jains. The Jains consider the Bull an embodiment of Dharma. It is known that the earliest Tirthankar was Rishabha. The sanctity attached to the bull was probably derived from the Jain belief." (P. 102) इस संबंध में श्री वालथ का भी यही मत है। यह स्मरणीय है कि प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का लांछन (पहचान चिन्ह) वृषभ या बैल है। जैन मान्यता है कि उन्होंने लोगों को खेती करना सिखाया था। इसलिए उनका चिन्ह वृषभ निर्धारित किया गया। शिव और ऋषभ में इतनी समानताएं हैं तथा वैदिक धारा के पुराणों में उनका चरित्र इतना पवित्र बताया गया है कि इस मान्यता पर विश्वास का आधार बनता है कि दोनों एक ही हैं। केवल संप्रदाय विभिन्नता के कारण दोनों के स्वरूप में कुछ अंतर आ गया है।

5. तिरुमेनी अभिवादन

केरल में परस्पर सम्मानपूर्ण अभिवादन के लिए प्रयुक्त तिरुमेनी शब्द के संबंध में डॉ. पिल्लै ने एक महत्वपूर्ण सूचना दी है जो इस प्रकार है- "It is possible that the word Tirumeni is derived from the Jain usage. In kalgumalai of Tirunelveli District, there are some Jain sculptures, the inscriptions below them end with the expression Tirumeni" (तिरुनेमि? नेमिनाथ का विहार दक्षिण में अधिक हुआ था) which means the sacred image. Tirumeni is a form of respectful address very common in the Malayalam country. It is not unlikely that this was adopted in Malyalam and Tamil from Jain practice." यह तथ्य भी तमिलनाडु और केरल में जैनधर्म के व्यापक एवं दीर्घस्थायी प्रभाव का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

6. रत्नत्रय और मोक्षमार्ग

इतिहासकार डॉ. पिल्लै ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि केरली संस्कृति में जैनों के योगदान का आकलन केवल मंदिरों से ही किया जाना उचित नहीं है। उन्होंने जैनधर्म के तीन रत्नों या रत्नत्रय एवं मोक्षमार्ग का उल्लेख करते हुए जैनधर्म की रागद्वेष पर विजय, अहिंसा और अपरिग्रह की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। उनका मत है कि, "All these principles were adopted in Kerala as well as the rest of the country." उन्हें इस बात पर भी आश्चर्य है कि केरल में कोई प्रमुख जैन आचार्य नहीं हुआ। प्रस्तुत लेखक को भी इस पर आश्चर्य है। या तो जैन ग्रंथ नष्ट कर दिए गए या उनका अभी सर्वेक्षण ही नहीं हुआ है। जैन मंदिरों के साथ शास्त्र भंडार हुआ करता है। मंदिर में लोग उनका स्वाध्याय भी करते हैं। यदि केरल के जैन आचार्यों ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे तो कम से कम कुंदकुंदाचार्य जैसे आचार्य के ग्रंथ तो उपलब्ध होने चाहिए। इस संबंध में भी अनुसंधान की आवश्यकता है।

7. जीवदद्यापूर्ण नाग संस्कृति

डॉ. चन्द्रशेखर नायर ने केरल के जातिवाद विरोधी एवं प्रमुख आधुनिक समाज सुधारक या लोगों को वर्णवाद के कठोर पंजे से मुक्ति दिलानेवाले चट्टम्पि स्वामी की एक जीवनी महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद नाम से प्रकाशित की है। स्वामीजी का समय

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी का प्रारंभ है। उन्होंने प्राचीन मलयालम और जीवकारुण्यम् जैसे ग्रंथों में नाग लोगों की संस्कृति के संबंध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके शिष्य श्री नारायण गुरु भी केरल में उनके ही समान पूज्य हैं। चट्टम्पि स्वामी जीव हिंसा के कट्टर विरोधी थे। जीवकारुण्यम् में उन्होंने लिखा है कि महान लोगों ने अहिंसा परमोधर्म का ही उपदेश दिया है। डॉ. नायर के शब्दों में, “स्वामीजी का पूर्ण विश्वास है कि परम श्रेयस्कर मोक्ष की सिद्धि अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही हो सकती है।” केरल की ऋषि-परंपरा का उल्लेख इस जीवनी में इस प्रकार किया गया है- “ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित है कि प्रारंभ से लेकर अखंड रूप में जो ऋषि परंपरा केरल में होती आ रही है, उसके साथ ही बौद्ध-जैन भिक्षुओं का जीवन इतिहास केरल के सांस्कृतिक इतिहास का अंश बना रहा है। असंख्य बौद्ध-जैन विहारों का ध्वंस हो चुका है और आज भी उनके आश्रम अथवा विहार मिलते हैं।” (पृ.-157) यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि बहुत अधिक संख्या में जैन स्मारक केरल में किसी न किसी कारण नष्ट हो चुके हैं तथा प्राचीन काल में अहिंसापूर्ण संस्कृति ही केरल की मुख्य संस्कृति थी।

8. कल्याणम्

दक्षिण भारत में, जिसमें स्पष्ट ही केरल भी शामिल है, विवाह के लिए कल्याणम् शब्द प्रचलित है। इस संस्कृत शब्द का अर्थ है- मंगल, भलाई, शुभ-कर्म आदि। इसमें विवाह का अर्थ कैसे आ गया? यदि विवाह को एक उत्सव मानें, तो इस शब्द में जो नवीन अर्थ आ गया है, उसे समझा जा सकता है। जैन परंपरा के अनुसार किसी भी तीर्थंकर के पांच कल्याणक या महोत्सव होते हैं। वे इस प्रकार हैं- गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण। इसके अतिरिक्त जब कभी किसी मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है, तब भी ये उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं। प्राचीन काल में केरल सहित तमिलनाडु में जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। छठी-सातवीं शताब्दी में तो ऐसा लगता था कि सारा तमिल देश जैन हो जाएगा इसलिए यह संभावना सामने आती है कि इन महोत्सवों के अनुसरण पर विवाह को भी “कल्याणम्” कहा जाने लगा होगा। इस सांस्कृतिक संभावना पर भी विचार किया जा सकता है। हजारों वर्षों से केरल में प्रवाहित जैन सांस्कृतिक धारा और पुरातात्विक अवशेषों के होते हुए भी जब यह कह दिया जाता है कि जैनधर्म का केरल में कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा तब ऐतिहासिक अनुसंधान की हानि ही होती है। जैनधर्म केरल में आज भी जीवित है। उसके अनुयायियों की वर्तमान संख्या को ध्यान में रखकर संभवतः इस प्रकार के निष्कर्ष यदि निकाले जाएं तो यह शुभ नहीं है। संस्कृति चाहे वह केरल की हो या अन्य किसी भूभाग की, वह एक समुद्र के समान है। उसमें नदियों की भांति अनेक धाराएं आकर मिलती हैं। फिर भी किसी एक ही धारा को प्रधानता देना या शुष्क धारा को आवश्यकता से अधिक महत्व देना और आज भी प्रवहमान धारा को गौण करना सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से कहां तक उचित है?

South East Asia and Indian Ocean in Jaina Literature

Prof. Bhagchandra Jain*

South East Asia, like central Asia and Far East, (China, Japan, and Korea) is also an important region of Indian Cultural heritage. In the east of India there are several countries as Burma, Malaysia, Indonesia, Siam, Cambodia, Laos, Vietnam, Philippines, Sri Lanka etc. where not only the religious missionaries reached for propagation of their religions but also established colonies. The trading relation of India with these countries goes back to a few centuries B.C. It was enriched by efforts of Ashoka who started the Dharmavijayayātrā in the leadership of Ācārya Upagupta by sending Buddhist religious missionaries in 3rd B.C. These countries were not culturally well developed. Indian missionaries went there for their religious propagation and made them forward on the great path of culture.

Indian colonization in South East Asia was started during Suṅga-Sātavāhana period and reached to climax in Gupta period. Further they remained under Indian rulers up to 13th C.A.D. The Jain Āgama Texts do not furnish much information about the subject. It starts with the commentaries and narrative literature which leave the impression that wherever the Jain traders went, they established the cities after the names of ancient cities of their motherland, like Baṅka, Takṣaśilā, Sarayū, Campā, Ayodhyā, Kauṭhār, Pāṇḍuraṅga, Āmrāwati etc. Phunan (Cambodia and Siam) was established by Kauḍinya Brāhmaṇa. Sumātrā, Jāvā and other islands of Indonesia and Malaya and Burma were ruled over by Indian kings. In almost

* Former Director, Parshwanath Vidyapeeth, Tukaramchal, Sadar, Nagpur-440001.

all the countries of South East Asia there are hundreds of Hindu temples, Mathas, Buddhist Vaihāras, stūpas and caityas erected by Indian kings and trades and inscriptions inscribed in Sanskrit and Prakrit languages. In a collective way, these countries are included into Greater India.

The Pāli Text Niddesa submits a list of countries where the Indian trades used to visit for the purpose of earning the wealth. They were as follows: Gumba, Takkola, Takkasilā, Kālamukha, Maraṇapāra, Vesuṅga, Verapatha, Jāvā, Tamalī, Baṅga, Elavaddhana, Suvanṇakūṭa, Suvanṇabhūmī, Tambapaṇṇī, Suppāra, Bharukaccha, Suratṭha, Aṅgaṇeka, Gaṅgaṇa, Paramagaṅga, Yona, Paramayona, Allasanda, Marukantāra, Jannupatha, Ajapatha, Meṇḍhapatha, Sankupatha, Chattapatha, Vaṁsapatha, Sakunapatha, Musikapatha, Daripatha and Vettadhārā. The geographical position of some of the places or countries cannot be decided. Allasanda (Alexendria), Yona (Yavana) etc. are situated in the far West and Bharukaccha and Suppāra (Sopārā) in the Western India. Suvanṇabhūmī was in South East Asia. Likewise, Takkola, Jāvā, Suvanṇakūṭa and Baṅga etc. were also situated in the South East of India.

We are aware of the fact that Samrāt Ashok sent Soṇa and Uttarā to Suvanṇabhūmī for propagation of Buddhism. Some more Ācāryas also paid a visit to Svarṇadvīpa in later period. Jain, Buddhist and Vedic Texts mention the name of Svarṇabhūmī which indicates that the ancient Indian thinkers were acquainted with Svarṇabhūmī and other South East Asian countries.

The territory of Svarṇabhūmī is still unknown. But our ancient Texts refer to the names of those countries and Dvīpas which are situated in the South Asia and whose geographical position could be decided in a better way.

In this connection, the following verses may be mentioned where India is said to be divided into nine parts:-

*Bhāratasyāsya varṣasya nava bhedān vivodha me.
Samudrāntarītā jneyāste tvagamyaḥ parasparam.
Indradvīpaḥ kaserūmān tāmraparṇī gabhastimān.*

Nagadvīpastathā saumyo gāndharvo varuṇastathā.

Ayam tu navamasteṣāṃ dvīpaḥ sāgarasamvṛtaḥ.

Yojanānāṃ sahasram vai dvīpo 'yam dakṣiṇo śatam.

The nine parts were Indradvīpa, Kaśerūmān, Tāmraparṇī, Gabhastimān, Nāgadvīpa, Saumya, Gāndharva, Vāruṇa and Dakṣiṇa. Of these, Indradvīpa, Kaśerūmān, Vāruṇa and Tāmraparṇī may be clearly identified with Burma, Malaya, Bornio, and Srilanka respectively. Nothing much is known about Gabhastimān and other countries. The Garuḍa and Vāman Purāṇas mention the names of Kaṭāha and Simhal in place of Saumya and Gāndharva- *Nāgadvīpaḥ kaṭāhascasimhalo vāruṇastathā.*

The references to Kaṭāha Dvīpa are obviously found in Jain and other literature. The kathāsaritsāgara refers to a story of Candrasvāmin who went to Nārikeladvīpa, Kaṭāhadvīpa, Karpūradvīpa Suvarṇadvīpa and Simhal Dvīpa in search of Kanakavarma. Here the Nārikela Dvīpa may be identified with Nikovar Dvīpa, Kaṭāha with Kedāha in Malaya Prāyadvīpa and Karpūradvīpa with Bornio. Some more Dvīpas in South East Asia are included into the Vāyupurāṇa (18th Chapter) as follows: Aṅgadvīpa (in bay of Bengal), Malayādvīpa (Malāyā), Yamadvīpa (Yamakoṭi close to Srilanka), Saṅkhadvīpa (close to Malāyā), Kuśadvīpa and Varāhadvīpa (Baravā), Yavadvīpa (Jāvā), Suvarṇakuḍya (Phunan-Combodia, Kin-lin, Malāyā Prāyadvīpa), Samudradvīpa (Sumātrā), Karmaraṅga (Malāyā Prāyadvīpa), Vārusaka (Varusa-Sumātrā), and Bālīdvīpa (Bālī).

The Jainas and other trades used to visit very oftenly the Svarṇadvīpa with the purpose of earning wealth. There were three routes to reach Svarṇabhūmī: I) First route from Northern India to Tāmralipti through the Ganges, then Andaman-Nikovar Dvīpa and Malāyā Prāyadvīpa: II) the second route was-starting from eastern sea-ports like Dantapur, Cinnagaṅjam and Kāverīpattanam to Malāyā Prāyadvīpa through Bay of Bengal; and III) the third route was-starting from Simhal to Malāyā through Nikovar. There were some ways to reach the South East Asian countries from Malāyā Prāyadvīpa. Singapur is situated in the South of Malāyā. There were three

options for Indian traders: I) starting from the Southern part of Sumātrā to reach the eastern countries like Campā, Kambuj-Combodia and Vietnam. This route was very long and full of calamities; II) From Malakka to the Eastern countries. This route was shortest one but full of robbers; III) the third route was adopting the land route through eastern part of bay of Bengal and by unloading the goods there to reach sea-ports of Siam through land route. This route was more favourable and fearless of robbers. Likewise, Sea-voyage from Tāmralipti to Burma and then Siām, Champā and Kambuj was also easier.

The Motifs of sea-voyage

Sea-voyage appears to be very common in mediaeval literature. There was some stereotype motifs, which were also followed by Jaina writers in their literature. Before starting their sea-voyage, these traders exchanged their information as to what commodities were in different places and where they could be sold with greater profit. Horses were sold in Kośala in return for elephants; betel nuts were exported to Utrāpatha in exchange for horses; and pearls were exported to eastern country (Pūrva deśa) in exchange for Cāmaras (fly-whisks). Conchs were available in Dvārakā. From the Barbara-kulatusks and pearls were brought in exchange for clothes. Palāsa flowers could fetch gold in Svarṇadvīpa... Buffaloes and cows fetched *netra-paṭṭa* in China and Mahacina. Neem could buy jewels in Ratnadvīpa. Men were in great demanding the kingdom of women etc. (Kerala). In the busy market places, men from different parts of the country came and had conversations in different languages.

Here thee are two motifs well known from Gupta period, firstly, relating to the ardent desire of a young son of a rich merchant to earn wealth by his own diligence. His father at first dissuades him from undertaking the journey saying that there was wealth enough in his house to last fro several generations, but in the end, allows the young man to travel to foreign country to earn wealth.

The second motif is the description of the caravan consisting of an army of horses and wheeled vehicles for transport of

merchandise. In Sūrpāraka he sold away the excellent horses of the northern breed which he brought with him and earned large profits thereby. At Sūrpāraka, According to the Kuvalayamālā, there was a merchant, named Bhadda-seṭṭhi whose wealth was lasted for several generations, and there was also a guild of local merchants. It was their custom to hold a reception in honour of merchants and outside and to learn from them the country of their origin, the destination, field of trade, the nature, value, and volume of commodity in which he is interested and all such matters relating to his business. It was the ancient and traditional custom of the great emporium city of Sūrpāraka which also a flourishing seaport for oceanic commerce with the western world.

The *Sidha-yātrā* was applied to sea-journey including going and safe return. This had become a technical phrase in medieval literature.

The Jain literature gives details of preparation for sea-voyage which include the following items relating to preparatory ritual and the equipment of the ship: I) arrangements of boats or ships (*Jaṇavattaim*), II) loading of merchandise (*bhamdaim*); III) bringing together other sailors (*nijjhamaya*), IV) calculation of the duration of the journey both outward and inward (*gaṇijjaediyāham*), V) fixation of the date and time of departure (*laggam*), VI) observation of portends whether favorable or vice verse (*niruvijjamtinimittaim*); VII) making announcements about the journey (*kīramtiavasuo*); VIII) prayers to proper deities (*sumarijamti iṭṭhadevae*); IX) feeding the Brāhmins (*bhujavijjamti bambhaṇe*); X) paying respects to select persons (*puijjamti visitṭhayane*); XI) worshipping of deities (*accijjamti devae*); XII) arrangement of sails (*sajjijjamti seyavāde*); XIII) raising of the mast (*ubbhujjamti kuvakhambhae*); XIV) fitting the furniture for sitting and sleeping (*sayāṇe*) XV) collecting loads of timber for plank and fuel (*kaṭṭha-samcae*); and XVI) filling the containers with fresh sweet water (*jala-bhayāṇe*).

When the ship was to take off auspicious musical instruments were sounded, counc-shells were blown, auspicious songs were

sung, *ahmnins* muttered the *āsīsa*; and thus in the sound of invocation and *jaya jaya* the ship took off its voyage, the sails were unfurled, the ropes and riggings were pulled up, the oars began to be operated, the helmsman took observations, the ship fell into its course, favorable winds began to blow. Thus the ship started its journey being tossed on the high sea waves.

The ship reached to its destination. It touched the landing, and the merchant got on the coast. It was then the custom to pay a visit to the king by making suitable presents, while obtaining from him his consent or tacit charter to trade in his territory. They paid all the customs, charges and taxes (*diṭṭho rāyā kao pasāo*). In the trade of precious stones and gems, it was customary not to utter the value loudly by word of mouth but through a piece of cloth or a scarf on the jewels and pearls to be sold. Then the buyer and seller put their hands under the cloth, both the them negotiating by means of some signs conveyed through the fingers of the hands (*diṇṇa hattha-saññā*). It is also stated that after taking other goods in exchange and before leaving the place the foreign merchant make some charitable gifts to the local religious teachers and establishments (*diṇṇam dānam*).

On the return journey, the greedy merchant pushed his friend in the mid-ocean and raised a false cry of his having slipped into the sea. The pious merchant after struggling for some time against the waves sank under the water and either lost his life or reached to a *Dvīpa* and got married with its king's daughter. In case he lost his life, he became a *Vyantaradeva* whom, in order to revenge him against the mischief-making merchant, caused the storm leading to shipwreck. The ships were well guarded along with a lot of bustle of instructions. However, there were attacks from the *Bhillas* or *Dasyus* who robbed the caravans of all that was valuable.

This had become a literary motif as appears from other Jain and non-Jain works. The *Kuvalayamālā* gives a strange reference to the capture of the floating merchant by some people on *Tārādvīpa* and preparing from his blood and flesh an ingredient considered

an essential in making of gold (P. 69). This ingredient was known as Momai in Muslim time and was highly praised by Unanian physicians.

The motif of the Bharumḍa bird darting from the sky and catching hold of and carrying human victim to another place otherwise difficult of access was well-known in medieval time story-literature and occurs in the *Brhatkathāślokaśaṅgraha* of Buddhasvāmī, ascribed to Gupta period.

Another motif is an auspicious sign before starting the sea-voyage. There is a list of eight auspicious girls in the *Kuvalayamālā* (p. 93) holding respectively sprouted water-jars, fan-palm, fly-whick, parasol, mirror, mṛdaṅga, harp, drum and cloth and ornaments. These were regarded as eight celestial nymphs of Indra's heaven and frequently referred in literature as *aṣṭakanyā* or *sabhākanyā*. These are depicted on the railing pillars at Mathurā during the Kuṣāṇa period. Some of which were obtained from the Jain Kaṅkālī Tīlā and others from Buddhist stūpa.

We also find the Jain literature the conventional description of sea as it was visible from the top of the Vijayapurī palace (*Kuvalayamālā*, P. 173).

Another motif may be referred to cult-practices and beliefs in Mantras amongst the tribes of Pulindas, Kāpālikas, Mātaṅgas, Rākṣasas, Vidyādharas on hilltops and forests formed the part of Śābaravidyā. This may be impact of Vidyādhara cult on Śābaravidyā. The Jain temples became the centers for performance of *Sādhanā* and for the perfection of *Vidyās*.

The Jain literature has a description of caravan with a large number of camels, bullocks, horses and donkeys. it is also referred that sometimes the monks and nuns went with the caravan and became a serious cause for inviting the calamities.

The sea-ports and Dvīpas

Jain literature mentions some important seaports like Sūrpārak, Bhr̥gukaccha, Aṇahipur, Śrīpur, Vijayapur. There is a nice description of a Sārthavāha in the *Kuvalayamālā* taking his caravan, or a trading expedition, from Takṣaśilā to Sūrpāraka which was perhaps the biggest sea-port. It is Sopārā in modern days which comes in the

district Thāṇe. The eighth pillar inscription of Ashoka is found here which indicates its importance during the Mauryan period. It would have been Samudrapaṭṭan of Aparānta. The Sūrpāraka Jātak refers to its importance and describes the interesting sea-voyage of the traders. It refers to a prince name Suppāraka Kumār of Bhṛgukaccha. The Sabhāparva of Mahābhārata (31.65) mentions the victory of Sahadeva over it.

Bhṛgukaccha was also one of the great sea-ports of Gujarat wherefrom Uttamakumar went to Śūnyadvīpa (Śrīlaṅkā) through Motapallī seaport in South (Uttamakumāracarit of Jinakīrti and Jinaharṣasūri of 16th C.A.D.). It comes under the territory of Sūrpāraka. It is Bhadonch of modern times. The Sabhāparva of Mahābhārata mentions that the hebitants of Bhṛgukaccha went with gits to the Rājyasabhā of Yudhiṣṭhir (51.10)- *Balim cakrtsnāmādaya bharukacchanivāsinaḥ. Upaninyurmahārājā hayan gandhāradeśajan.* The Girnar inscription of Rudradaman also refers to its importance.

Tilakpur was another seaport of South where Bhavisyadatta and Bandhudatta went from Hastinapur for earning the wealth. They had 500 hundred ships with them. The Bhavisayyattakahā of Dhanapāl mentions that they were robbed in Tilakpur Pattan. This seaport may be identified with Tiruvankur or Tiruvanjikalam of Keral. Smith is of opinion that Tiruvanjikalam was situated on the bank of Pariyār River (Early History of India, P. 477).

Puṇyapāl started his journey with seven ships from Ratnapur to Śrīlaṅkā via Śrīpur. This Śrīpur is situated on the bank of Mahānadī in Raipur district. From here he went to Soparapur. Some Jaina traders also took up their journey from Virāṭnagar to Simhal via Śrīpur.

The Surasundaricarit of Dhaneśvarasūri mentions that Jinadatta, the father of Ranapāl borrowed some money from Manman and kept his son Rantnapāl with him as mortgage. Ratnapāl goes to Kālakūṭadvīpa for earning wealth and returns the borrowed money to Manman. Then he goes to South at Basantapur and searches his father. Now this Basantapur may be identified with Varkala in Keral, which is situated at the bank of sea. As regards the

Kālakūṭadvīpa, it is mentioned in the Mahābhārata (Sabhāparva, 20.26-27) where its situation is shown between Kuru and Gaṇḍakī River in Bihar. It may be a name of Kālinjar hill. The *Kuvalayamālā* of Udyotanasūri mentions the name of Vijaya or Vijayapurī (p. 152) where the different idioms of speech were spoken by the shopkeepers in the market place. It appears a big town where merchants from all over the country displayed their goods. The situation of Vijayapurī is given as South Sea coast (Dāhiṇa-samudda-velā). According to Dr. Vasudevasaran Agrawal, it was actually situated on the bank of Kriṣṇa (?) a few miles above the sea coast up to a point the river was navigable to big ships which landed on docks. It was the same as Nāgārjunīkuṇḍa, the famous capital of Ikṣvāku kings as stated in their inscriptions. It seems to be a historical fact that the monument of Vijayapurī stood intact and the place enjoyed wide celebrity. The leader of the caravan in the *Kuvalayamālā* was one Vaisravaṇadatta. There follows a description of the attack on the Sārtha and its plunder by wild Bhillas.

Dr. A.N. Upadhye in his introduction to the *Kuvalayamālā* says that in the South of India there are some towns with their names beginning with Vijaya, such as Vijayapur, Vijayanagara, Vijayanti; and some of them pretty ancient. It is located on the Western Coast, as it is reached after crossing the Sahyādri; secondly, it is situated right on the sea-shore; and thirdly, its southern wall was washed by the waves of the ocean (173.31). He is therefore of view that it may be identified with Vijayadurga in Ratnagiri district, one of the best Konkan ports. About the identification Vaijayanti (mentioned in the Kadamba copper plates) and Jayantipur (of the Vijayanagar grant), he mentions a difference of opinion. Some like them to be Banavāsī, in the South Kanara District, while R.G. Bhandarkar proposes Vijayadurga. Udyotanasūri distinguishes Jayanti from Vijaya. The environment of Vijaya and the route to it from Ayodhyā, as stated by him in the *Kuvalayamālā*, very well suit the present day Vijayadurga which was included in the Vijayapur territory. This may be somewhat different from Vijayanagar established

in 1336 A.D. by Harihar and Bukka, the two brothers who fought out with Bahamani Sulatanas.

Suvarṇadvīpa or Svarṇabhūmī and other Dvīpas

From Burma to Malāyā region was called Suvarṇabhūmī and its eastern region (Combodia, Laos, Vietnam, Sumatra, Java, Bali, Bornio etc.) was named, as Svarṇadvīpa. It appears that South East Asia was named as Svarṇabhūmī or Svarṇadvīpa. The same has been referred by Talmi as Chryse Chora. It is also supported by Alberuni. This region was famous for gold and other precious metal and therefore its name Svarṇadvīpa or Svarṇabhūmī is quite meaningful. The earliest reference to this region is found in connection with trade. The stories of sea-traders visiting to Svarṇabhūmī are occurred in the *Kathāsaritsāgara*, *Bṛhatkathāmañjarī* and *Bṛhatkathāślokaṅgraha*.

The *Bṛhatkathāślokaṅgraha* refers to a story of a sea-trader named Acera who visits with his companions to Svarṇabhūmī in search of gold. They had to face some misfortunes in reaching the destination. The mountain route was very much narrow (Ajapatha) and covered with creepers (vetrapatha). Somehow they could reach to the bank of a river which was covered with golden sand. This story indicates the spirit of sea-traders.

The *Kathāsaritsāgara* (Taraṅga 54, Śloka 97) also mentions a number of stories of sea-trades. Accordingly, Samudrasūra starts his sea-voyage and reached to Kalashapur seaport of Svarṇabhūmī. The cargo of a sea-trader Rudra was sunk while returning from Svarṇabhūmī. Likewise, some other stories are related with Īsvaravarma and Yasaḥketu (Taraṅga 57, Śloka, 86). Another story mentions that a ship of a queen of Kaṭāhadvīpa was sunk near Svarṇadvīpa while returning to India (ibid, Taraṅga 123). Kaṭāhadvīpa may be identified with modern Kedda or Kedeh (Kadar). This Island was a centre of sea-trades Guhasena went to Kaṭāhadvīpa from Tāmralipti with his wife.

The *Kathākośa* speaks of a story of Nāgadatta who starts his sea-voyage with 500 cargoes. When he entangled with mountains,

he informed about the calamity to Sundar, the king of Svarnabhūmī through a letter, which was tied with a string into a leg of parrot.

The *Samarāiccakahā* of Haribhadrasūri draws our attention to obstacles of sea-voyage. Dhana, the son of a Sārthavāha starts his sea-voyage from Susammanagar. His wife Dhanaśrī manages to make him drunk the poison. He then hand over his all belongings to Nanda. The shop reached to Mahākaṭāha where he sold of his goods. He could not make a profit out of it. He then purchased Paratīrabhaṇḍa (the goods to be sent to other countries) and reached to Kaṭāhadvīpa where he earned a lot by way of disposing and purchasing the goods (Caturtha Bhava).

In Pancama Bhava of the *Samarāiccakahā*, Sanatkumar and Vasubhuti Sārthabāhas went to Tāmralipti with Samudradatta. The ship reached to Svarnabhūmī in two months. From Svarnabhūmī he went to Srilanka (Sinhal) where his ship was sunk on the way just after thirteen days of his departure.

According to another story, Dharan Sārthavāha starts his sea-voyage from Vaijayanti seaport in Karnataka and reached to Svarnadvīpa where he heaped of hundred bricks of gold and went to Ratnadvīpa.

Here the Tāmralipti seaport (*Samarāiccakahā*, p. 241) may be identified with Tamalik or Damalipta in Midnapur district of West Bengal wherefrom the cargoes were used to travel to Sinhal, China, Java etc. The *Mahābhārata* (*Sabhāparva*, 2.24-25) refers to Tāmralipti and Sumha separately. *Daśakumāracarita* mentions the Kālimandir of Tāmralipti. According to the Viṣṇupurāṇa (4.24.64) it was ruled over by Devarakṣita in pre-Gupta period. The *Mahāvamsa* (11-12th Chapter) also refers to Tāmralipti. It was a great centre for learning.

The *Āvaśyakacūrṇī* (p. 709) presents a vivid picture of sea-voyage. It says that the ships were used to ply from Madurai to Saurashtra. Two sisteers Mati and Sumati started their journey by ship and wee caught by a cyclone.

The *Jñātādharmakathā* (8.75) says that there were some sea-

traders (navavaṇiyaga) who used to undertake the sea-voyage with praying Jinas. They started their journey from Champā and reached to Gambhīr (Poyapattana), the possible second name of Tāmralipti and then Svarṇadvīpa and Kāliyadvīpa. The Kāliyadvīpa was very much famous for gold and silver. The Jaina traders used to purchase them against their goods like sugar, garments etc. (ibid. 17).

Malāyā Prāyadvīpa (Malayesia) is situated in South East of Bay of Bengal. This was the shortest route to enter into East and South East Asia from India, Europe and Western Asia. Traders used this route to enter into Svarṇadvīpa. In opinion of Itsing, Lang-Kia-Su or Lankasuk is the name of Kedāh or Kaṭāhdvīpa. According to a story of the Kathāsaritsāgar, Samudrasūr reached to Kalashapur. While going to Svarṇabhūmī his ship was destroyed. Therefore Kalashapur or Ko-Lo-Ko-Fen may have been a part of Malāyā Prāyadvīpa. Kedda or Kadāh may be identical where the following Buddhist Sanskrit inscription is found:-

*Ye dharmā hetuprabhavā teṣāṃ hetuṃ tathāgato
(hyavadat).*

Teṣāṃ ca ye nirodha Evamvādi Mahaśramaṇaḥ.

Ajñānācciyate karmajanmanaḥ karmakāraṇaṃ.

Jñānāna kriyate karma karmabhāvāna jāyate.

Sumātrā is situated in South of Malāyā. It comes under Indonesia. According to French scholar Ferrand, Yavanadvīpa is the name of Sumātrā. There is Yavananagara, which is identified with Jūnāgadḥ in Gujarat where the Jain Tirthakṣetra Girinār is situated.

Śrīvijaya is the most famous Indian colony in Sumātrā which was established in about 4th C.A.D. Śailendra dynasty ruled over the country. The Kuvalayamālā refers to Vijayapur. Dr. V.S. Agrawal identifies it with Nāgārjunīkoṇḍā. It may have some relations with Vijayapurī of Sumātrā on the line of Champā and other countries.

Jāvā is identified as Yavadvīpa. It was traditionally associated with king Astin, the Apabhramsa form of Hastinapur, the most ancient centre of Jainism. It is also said that it was established by king of Kaliṅga, the Jaina Emperor. Ho-Ling is the Chinese form

of Kaliṅga. Bornio, Bali, Philippine, Combodia etc. have been the Indian colonies under the kingship of Varman family which has also been a patron of Jainism. The Kuvalayamālā refers to king Dṛḍhavarman who wanted to proceed to Vijayapurī. Several Sanskrit inscriptions of Puṇḍavarman are found in Java who may have been related with Dṛḍhavarman. Bornio, Bali, Philippine, Malayesia, Indonesia and Combodia were also ruled over by Varman family. It is observed that the art and architecture of Combodia is very much influenced by Jaina culture. The temple art of Ankor may be related with Jainism.

Simhal was originally named as Tāmraparṇī where prince Vijayasīṅgh from Lāt or Gujarāt got down. His father's name was Simhavāhu. Simhal may be named after his name. Then it was called Śrīlankā. Before Samrat Ashok sent Mahendra and Saṅghamitrā to Śrīlankā for propagation of Buddhism, Jainism was in existence as indicated in the Mahāvamsa. They had to face the clashes with Vidyādharas or Yakṣas. Pāṇḍukābhaya succeeded in obtaining their cooperation and constructed a Vihār for Jotiya and other Nigaṇṭṭhas nearby Anurādhāpur (Mahāvamsa, 33.79). The Jaina tradition also supports that the Vidyādharma cult was there in Śrīlankā and there was a Jain temple on Trikūṭagiri near Kishandhā Nagarī (Harivamsapurāṇa), The Karakaṇḍacariu also mentions that there was a Jain temple on Malayagiri (p. 44-69).

The Saṭkhaṇḍāgama (Pustak, 13, Vargaṇākhaṇḍa) is of the view that the language of Śrīlankā was not sweet and described it as Kubhāṣā. Śrīlankā was also named as Ratnadvīpa. It was famous for pearls. The Kuvalayamālā refers to a conference of the merchants relating to the conditions of their trade. In this connection, one merchant said that he went to Ratnadvīpa with leaves of the Nimba tree and brought gems from there (p. 65).

The Kuvalayamālā narrated a story of Lobhadeva which gives a clear picture of Ratnadvīpa. He said that there was a village of Uccasthala situated to the south-west of Takṣaśilā in Uttarāpatha. There lived a Sārthavāha's son, Dhanadeva. As he was highly greedy,

deceitful and avaricious of other's wealth, he was nicknamed Lobhadeva. He requested his father to allow him to go to Dakṣiṇāpatha for earn in wealth. The horses, conveyances etc. of the caravan were ready. His father indicated to him the possible dangers and instructed him in tactful behaviour to suit an emergency. He reached Dakṣiṇāpatha and camped at Sopāraka with an old Sreṣṭhin. In due course, he sold horses and earned enormous wealth. The traders told him that neem-leaves could secure precious stones in the Ratnadvīpa, but the journey to it was full of risks. The gains of Ratnadvīpa captivated the mind of Lobhadeva who proposed to Bhadraśreṣṭhin that they might sail thither for trade. The traders along with Lobhadeva started their sea voyage on an auspicious day. After a rough sea journey, they reached the Ratnadvīpa. After trading profitably there, on their return journey, when their ship, full of exchange-commodities, reached the mid-sea, that avaricious Lobhadeva, fearing that Bhadraśreṣṭhin would be his partner on reaching the shore, took him to the ante-room under some pretext, cruelly pushed him into the sea, and raised a cry of accident, rather too late. He pretended to jump into the sea to meet his friend; but the sailors dissuaded him, and that suited him well. Lobhadeva, however, floating precariously with a plank touched Taradvīpa almost unconscious. The story runs further. In the story so many elements are reflected like difficulties of sea-voyage, result of demerits and something about Ratnadvīpa and Tārādvīpa. Nothing is known about Tārādvīpa, Kudaṅgadvīpa, and Kānanadvīpa.

Some more stories are found in Jaina literature about Ratnadvīpa. The Pṇnyapālcarit refers to Ratnapur. The Vasudevahiṇḍi describes the natural beauty of Simhaladvīpa and its richness. The Śrāvaka Pratikramaṇasūtra of Ratnasekharasūri, the Āvasyakacūrṇī of Jinadāsa Gaṇi Mahattara and Tilakamañjari of Dhanapāla also refer to the Simhaladvīpa.

Thus the Jaina literature presents a good picture of South East Asia and Indian Ocean and assists us in understanding the heritage of various islands.

आचार्य कुंदकुंद और उनके चौरासी पाहुड

ले. जितेन्द्र सौगानी*

आज से दो हजार वर्ष पूर्व दक्षिण प्रांत के कोण्डकुड ग्राम में एक श्रावक परिवार में आपका जन्म हुआ। आप बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के थे। एक बार अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य श्री विशाखाचार्य जिनके उपनाम अरहद बली और गुप्तीगुप्त थे। संघसहित वे कोण्डकुड ग्राम में आये और उनकी दृष्टि बालक कुंदकुंद पर पड़ी। कुंदकुंद को होनहार जानकर उनके माता-पिता से चर्चा की और उनकी आज्ञा लेकर कुन्दकुन्द को अपने संघ में ले गये और उन्हें धर्मशिक्षा से सम्पन्न करके ग्यारह वर्ष की आयु में मुनि बना दिया। कुंदकुंद अर्न्तमन से बहुत प्रसन्न हुए। वे आचार्य भद्रबाहु स्वामी को परम्परागुरु मानने लगे और श्री विशाखाचार्य को अपना दीक्षा गुरु मानकर मुनि धर्म का पालन करने लगे। मुनि होते समय आपकी आयु मात्र ग्यारह वर्ष की थी। गहन तपस्या करके आप ऋद्धिधारी मुनि हो गये। एक दिन विदेह क्षेत्रस्थ श्री तीर्थकर को वन्दन करते हुए श्री प्रथम तीर्थकर सीमंधर स्वामी के दर्शन का भाव जागा और विदेह क्षेत्र जाने का निश्चय कर दिया। उसी समय पूर्वजन्म का एक मित्रदेव अचानक आपके दर्शन को आया और चर्चा करके अपना परिचय दिया और आचार्य कुन्दकुन्द को अपने साथ विदेह ले गया।

विदेह पहुंचते ही आप भगवान सीमंधर स्वामी के समवशरण में पहुंचे। तीन प्रदक्षिणा देकर भक्ति सहित वन्दन किया और भगवान की दिव्यध्वनि सुनने लगे। विदेह क्षेत्र में मनुष्यों का शरीर पांच सौ धनुष का होता है किन्तु इनका शरीर केवल साढ़े तीन हाथ का था।

समवशरण में उपस्थित वहां के चक्रवर्ती ने आपको देखकर भगवान से निवेदन किया कि यह ईलायची के बराबर कौन है। भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि ये भरत क्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द हैं तुरन्त ही चक्रवर्ती ने आपकी वंदना की और समवशरण में उपस्थित सभी जनों ने आपको प्रणाम किया।

दिव्यध्वनि में अपना नाम आते ही आचार्य कुन्दकुन्द अपने को महाभाग्यशाली मानने लगे और आचार्य कुन्दकुन्द समवशरण में आठ दिन तक दिव्यध्वनि का लाभ लेते रहे।

आहार के हेतु एक दिन भी समवशरण के बाहर नहीं गये क्योंकि जब विदेह में

* बहुरंग स्टोर, इब्राहिमपुरा, भोपाल।

दिन होता है तब भारत में रात होती है और जब भारत में दिन होता है तो विदेह में रात होती है। अतः आप विदेह में निराहार ही रहे। आठ दिन बाद प्रभु की वंदना करके ऋद्धि बल से भारत पधारे और दक्षिण में पोन्नूर पर्वत पर आकर विश्राम किया। आप अट्टाईस मूलगुणों का पालन करते हुये निर्विकार रहते थे। तेरह प्रकार का सम्यक् चारित्र पालन करना आपका धर्म हो गया था। परन्तु तपस्या में रत आचार्य श्री को कई वर्ष के पश्चात् पश्चात् सीमंधर स्वामी की सुनी हुई दिव्यध्वनि का सार ग्रंथ रूप में लिखने का भाव हृदय में जाग्रत हुआ और ताड़-पत्र पर ग्रंथ लिखने लगे। अपने जीवनकाल में उन्होंने चौरासी पाहुडों की रचना की, जिनके नाम निम्न हैं:-

- | | |
|-------------------------|------------------------------|
| 1. अंग पाहुड (सार) | 2. आचार पाहुड |
| 3. अष्ट पाहुड | 4. आराधना सार (आराहणा पाहुड) |
| 5. आलाप पाहुड | 6. अभिषेक पाठ |
| 7. आयरिय भक्ति | 8. उत्पाद पाहुड |
| 9. उन्नात पाहुड | 10. एयक्त पाहुड |
| 11. कर्मविपाक पाहुड | 12. क्रम पाहुड |
| 13. क्रियासार पाहुड | 14. क्षपण सार |
| 15. गय पाहुड | 16. चरण पाहुड |
| 17. चारित्र पाहुड | 18. कुरल काव्य (तमिल) |
| 19. चूर्ण पाहुड | 20. चूली पाहुड |
| 21. चिक्क पाहुड | 22. जीव पाहुड |
| 23. जोणी सार | 24. तत्वसार पाहुड |
| 25. दिव्व पाहुड (दिव्य) | 26. दृष्टि पाहुड |
| 27. दर्शन पाहुड | 28. द्रव्य पाहुड |
| 29. नय पाहुड | 30. नियमसार पाहुड |
| 31. निदान पाहुड | 32. नित्य पाहुड |
| 33. निताय पाहुड | 34. नोकर्म पाहुड |
| 35. पंच पाहुड | 36. पंचास्तिकाय पाहुड |
| 37. पर्याय पाहुड | 38. प्रमाण पाहुड |
| 39. पुष्प पाहुड | 40. प्रकृति पाहुड |
| 41. प्रवचनसार पाहुड | 42. प्रतिक्रमण |
| 43. बंध पाहुड | 44. पांच वर्ण पाहुड |
| 45. बुद्धि पाहुड | 46. बोध पाहुड |
| 47. वारस अणुवेक्खा | 48. परिकर्म टीका |
| 49. भाव पाहुड | 50. भावसार पाहुड |
| 51. भक्ति संग्रह | 52. भया पाहुड |
| 53. मोक्ष पाहुड | 54. मूलाचार |

- | | |
|-------------------|----------------------|
| 55. योगसार पाहुड | 56. यिहय पाहुड |
| 57. रत्नसार | 58. रयणसार |
| 59. लब्धि पाहुड | 60. लोक पाहुड |
| 61. लिंग पाहुड | 62. वस्तु पाहुड |
| 63. विद्या पाहुड | 64. विहिया पाहुड |
| 65. शील पाहुड | 66. शिला पाहुड |
| 67. षड दर्शन | 68. समयसार पाहुड |
| 69. संस्थान पाहुड | 70. साल्मी पाहुड |
| 71. सूत्र पाहुड | 72. सिद्धांत पाहुड |
| 73. स्थान पाहुड | 74. सत्य पंथ परिकर्म |
| 75. सूना पाहुड | 76. शरण पाहुड |
| 77. दश भक्ति | 78. श्रमणसार |
| 79. तोय पाहुड | 80. द्रव्य सार |
| 81. सिद्ध भक्ति | 82. पंचगुरु भक्ति |
| 83. शोध पाहुड | |

इस प्रकार महान जिनवाणी की सेवा करते हुए तेरानवे वर्ष के हो गये और समाधिमरण प्राप्त कर स्वर्गवासी हो गये।

काल की गति विचित्र है। बाद के आचार्यों ने पाहुडों का संग्रह किया तो मात्र चौदह पाहुड उपलब्ध हो सके शेष काल के गाल में समा गये। इन उपलब्ध चौदह पाहुडों के नाम और उनकी गाथा संख्या निम्न है:-

1. समयसार-415, 2. प्रवचनसार-275, 3. नियमसार-187, 4. पंचास्तिकाय-173 एवं अष्ट पाहुडों में 1. दर्शन पाहुड-36, 2. सूत्र पाहुड-27, 3. चारित्र पाहुड-45, 4. बोध पाहुड-61, 5. भाव पाहुड-165, 6. मोक्ष पाहुड-106, 7. लिंग पाहुड-22, 8. शील पाहुड-40 इस प्रकार इन अष्ट पाहुडों के 502 गाथाएँ हुयीं। इसके पश्चात् बारसाणुबेक्खा के 91 पद्य और द्वादश भक्ति संग्रह के 114 पद्य हैं। उपरोक्त 14 पाहुडों के कुल 1757 पद्य हैं। ये सभी 14 पाहुड छप चुके हैं।

समयसार पाहुड की टीका एक हजार वर्ष बाद आचार्य अमृतचंद ने की। इन पर कलश भी लिखे और 47 शक्तियों के महत्व का पूर्ण वर्णन किया। नियमसार पर आचार्य पदमप्रभ मलधारी देव ने कलश लिखे। इस प्रकार 14 पाहुड और समयसार, नियमसार के कलशों को मिलाकर कुल 16 विधान भोपाल के निवासी राजमल जी पवैया ने लिखे।

सभी विधान काव्यमय हैं। समाज में इन विधानों का बहुत आदर हुआ। अनेकों विद्वानों ने प्रशंसा की।

आचार्य श्री रंजनसूरि देव पटना ने बनारस से पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मुखपत्र श्रमण में पांच पृष्ठ का लेख समयसार पर छापा। सभी पाहुडों के विधानों का सम्पादन

प्रसिद्ध विद्वान श्री देवेन्द्र कुमार जी नीमच वालों ने किया। कुछ का सम्पादन संहिता सूरी पंडित नाथूलाल जी ने किया। सभी पाहुड विधानों का प्राक्कथन जैनरत्न पं. ज्ञानचंद विदिशा ने लिखा।

उपरोक्त विधानों में से पांच विधानों का विमोचन अपने बचपन के साथी राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल जी शर्मा से राष्ट्रपति भवन में पांच बार में कराया। इस प्रकार आचार्य कुंदकुंद के 14 पाहुडों पर महत्वपूर्ण विधान लिखकर पवैया जी अजरअमर हो गये। इसके अतिरिक्त आपने डेढ़ सौ विधान लिखे हैं जो सभी छप चुके हैं। आपकी कुछ पांच सौ पुस्तकों में से अभी तक चार सौ पन्द्रह छप चुकी हैं। इन विधानों में आचार्य धरसेन, पुष्पदंत, भूतबली के षट्खण्डागम पर और आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर और आचार्य समंतभद्र के रत्नकरण्ड पर और अन्य आचार्यों के तत्त्वज्ञान तरंगिणी, आचार्य नेमीचंद्र के गोमटसार, द्रव्य संग्रह आदि ग्रंथों पर विधान लिखे। श्रवणबेलबोला में समयसार विधान हुआ। वहां के भट्टारक चारुकीर्ति जी ने आपका बहुत सम्मान किया और पचपन सौ रुपये देकर भक्त कवि की उपाधि दी। आप स्वतंत्रता सेनानी हैं, तीन बार जेल यात्रा कर चुके हैं। निरंतर 92 वर्ष की आयु में भी लिखते रहते हैं। आपकी आन्तरिक भावना है कि आचार्य कुंदकुंद के शेष पाहुड अगर मिल जायें तो उन पर भी विधान लिखे जायें। इसी पवित्र भावना के साथ आचार्य कुंदकुंद के चरणों में अपना प्रणाम करते हैं।

आपने पच्चीस हजार गीत लिखे हैं। इनमें से अभी तक दो हजार छपे हैं।

अज्ञात जैन विद्वान पं. नन्दलाल जी छावड़ा का साहित्यिक अवदान

प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन प्रेमी*

जैन काशी के नाम से प्रसिद्ध जयपुर नगरी प्रारम्भ से ही जैन शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन, लेखन एवं आध्यात्मिक शैली के रूप में प्रसिद्ध रही है। यहाँ जयपुर शैली के पं. टोडरमलजी, पं. जयचन्दजी छावड़ा, पं. सदासुखजी कासलीवाल जैसे अनेक विद्वान हुए हैं, जो जैनविद्या और उसकी विशाल परम्परा की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। जयपुर की विद्वत्परम्परा की एक यह भी विशेषता रही है कि गुरु-शिष्य परम्परा से तो विद्वान तैयार होते ही थे, साथ ही विद्वान अपने पुत्रों को भी जैन शास्त्रों का अध्ययन कराके विद्वान बनाने में महान गौरव का अनुभव करते थे और अपने जीवन की सार्थकता मानते थे। इसी विद्वत्परम्परा में प्रायः अब तक अज्ञात किन्तु अब एक यशस्वी विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके पं. कवि श्री नन्दलाल जी छावड़ा का नाम गौरव के साथ लिया जाने लगा है। पं. नन्दलाल जी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं एवं प्राचीन जैन शास्त्रों के मर्मज्ञ प्रसिद्ध विद्वान पं. जयचंद जी छावड़ा (जन्म वि. सं. 1795, मृत्यु वि. सं. 1881) के सुयोग्य विद्वान सुपुत्र थे, जिन्होंने आचार्य वट्टकेर स्वामी कृत “मूलाचार” नामक श्रमणाचार विषयक प्राकृत भाषा के महाग्रंथ पर आचार्य वसुनन्दि प्रणीत संस्कृत टीका आचारवृत्ति के आधार पर भाषा वचनिका लिखकर अपने को अमर कर लिया।

यद्यपि पं. नन्दलाल जी का इसके अन्तर्गत विशेष साहित्य अभी सामने नहीं आया है, पर हो सकता है एक दो अन्य कृतियाँ और भी हों, किन्तु कुछ उल्लेखों से स्पष्ट है कि आप अपने पिता पं. जयचन्दजी छावड़ा के लेखन कार्य में विशेष सहयोग करते रहे और यही कारण है कि थोड़े समय में ही पं. जयचन्दजी अनेक प्राकृत-संस्कृत भाषा के प्राचीन, जटिल और कठिन बड़े ग्रन्थों की टीकायें लिख सके। इस तरह आत्मख्याति से दूर पं. नन्दलाल जी ने पठन-पाठन, शास्त्रार्थ, व्याख्यान, प्रवचन, स्वाध्याय आदि स्व-पर कल्याण के कार्यों में ही अपने को अधिक व्यस्त रखा। जो भी हो यह स्पष्ट है कि पं. नन्दलाल जी जयपुर की विद्वत्परम्परा एवं शैली के एक विद्वत्तत्न थे, किन्तु अब तक उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अज्ञात रहना कम आश्चर्यकारी नहीं है। सम्भवतः यदि हम लोगों द्वारा इनका मूलाचार भाषा

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वचनिका जैसा विशाल ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाशित न होता तो प्रस्तुत महान् विद्वान का व्यक्तित्व और कृतित्व अब तक अज्ञात ही रहता। एक जिनवाणी सेवक पिता के समक्ष ही उसका बेटा भी उसी परम्परा का महान् विद्वान बन जाये, तो उस पिता के लिए इससे बढ़कर खुशी और जीवन की सार्थकता क्या हो सकती है?

व्यक्तित्व और कृतित्व

सर्वार्थसिद्धि, समयसार, अष्टपाहुड, प्रमेयरत्नमाला, ज्ञानार्णव जैसे संस्कृत-प्राकृत भाषा के लगभग पन्द्रह श्रेष्ठ ग्रन्थों पर ढूँढारी जैसी सरल भाषा में भाषा वचनिकाओं के कर्ता जयपुर के सुप्रसिद्ध विद्वान पं. जयचन्दजी छावड़ा के सुपुत्र और श्री मोतीराम जी छावड़ा फागई (जयपुर) ग्राम निवासी के सुपौत्र पं. नन्दलाल जी छावड़ा की निश्चित जन्मतिथि का उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु पं. जयचन्दजी की जन्मतिथि वि. सं. 1795 के आधार पर तथा पं. जयचन्द जी के 1-पं. नन्दलाल जी, 2-दीवान सदासुख जी छावड़ा (दीवानकाल वि. सं. 1857 से 1867) तथा एवं 3-दीवान कृपाराम जी छावड़ा (दीवानकाल वि. सं. 1869 से 1875 तक) इन तीन सुपुत्रों के नामोल्लेख (खण्डेलवाल जैन समाज का बृहद् इतिहास-डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल, पृष्ठ 214) के आधार पर पं. नन्दलाल जी का जन्म वि. सं. 1820 के आसपास में सम्भव है। क्योंकि ये अपने सभी भाईयों में ज्येष्ठ थे। यह भी एक पिता के जीवन की बहुत बड़ी साधना और सार्थकता है कि वह अपनी पूरी सन्तति को यशस्वी बनाये। पं. नन्दलालजी के पिता पं. जयचंद जी छावड़ा ने अपने सभी पुत्रों को स्वयं पढ़ा-लिखाकर बहुत ही सुयोग्य बनाया। अतः आप ही अपने पुत्रों के पिता भी थे और गुरु भी थे। अपने ज्येष्ठ पुत्र का विद्या के प्रति विशेष अनुराग होने से पं. जयचन्द जी छावड़ा ने उन्हें प्रारम्भ से ही अपने साथ रखकर निरंतर जैन शास्त्रों का गहन अभ्यास कराके इनमें पारंगत किया। तत्कालीन पं. सदासुखदास जी कासलीवाल, पं. मन्नालाल जी सांगाका तथा पं. नन्दलालजी तथा अन्यान्य अनेक विद्वानों की यह समस्त शिष्य मंडली एक साथ बैठकर शास्त्रों का अध्ययन करती थी। अपने पुत्र पं. नन्दलाल जी की प्रतिभा को देखकर आपको बड़ी प्रसन्नता होती थी।

पं. जयचन्द जी छावड़ा ने शास्त्र लेखन का कार्य अपनी पचास वर्ष की उम्र के आसपास दीर्घ अनुभव के बाद किया। इसीलिए इनके लेखन में प्रौढ़ता की स्पष्ट झलक सर्वत्र देखने को मिलती है। साथ ही एक कारण यह भी है कि इनके पुत्र पं. नन्दलाल का भी इनके लेखन में भरपूर सहयोग रहता था। ऐसे सुयोग्य विद्वान पुत्र पर गौरवयुक्त होना स्वाभाविक है। तभी तो उन्होंने बड़े गर्व के साथ आचार्य पूज्यपादकृत (सातवीं शती के) सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ की वचनिका में लिखा है-

लिखी यहै जयचन्द नै सोधी सुत नन्दलाल।

बुधलिखि भूलि जु शुद्धकरी बांची सिखैवो बाल।।

नन्दलाल मेरा सुत गुनी बालपने तैं विद्या सुनी।

पण्डित भयौ बड़ौ परवीन ताहू ने यह प्रेरण कीन।।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि पं. जयचन्द जी ने पं. नन्दलालजी को बचपन से ही जैन शास्त्रों का अभ्यास कराना प्रारम्भ कर दिया था और सम्भवतः इन्हें और अन्य शिष्यों को जैसे-जैसे नये-नये विविध जैन शास्त्र इन सबको वे पढ़ाते जाते थे, वैसे-वैसे पढ़ाने के निमित्त सरल ढूँढारी भाषा में उन-उन शास्त्रों की वचनिकाएँ भी लिखते जाते थे। क्योंकि जैन विद्या के अच्छे अभ्यास हेतु क्रमशः जिन ग्रन्थों का अध्ययन अत्यावश्यक होता है, पं. जयचन्द जी ने भी उन्हीं-उन्हीं शास्त्रों की उसी क्रम से वचनिकायें भी लिखीं। पूर्वोक्त उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि इन शास्त्रों के लेखन में पं. नन्दलाल जी की प्रमुख प्रेरणा और भूमिका रहती थी। पं. नन्दलाल एवं पं. ऋषभदास निगोत्या कृत मूलाचार भाषा वचनिका की आगे उल्लिखित अन्त्य प्रशस्ति के अनेक वे उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण हैं, जिनमें पं. जयचन्द जी की बहुशास्त्रज्ञता आदि के साथ ही पिता-पुत्र में गाय-बछड़े के समान प्रेम और इसी भाव से अपने पुत्र को ज्ञानवान बनाने की बात कही गयी है। पं. नन्दलाल जी के मित्र और शिष्य दोनों की तरह पं. ऋषभदास जी निगोत्या द्वारा मूलाचार भाषा वचनिका की अन्त्य प्रशस्ति में ये पद्य अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पं. जयचन्द जी द्वारा अपने पुत्र तथा शिष्यों को जैनधर्म के अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों के साथ ही न्याय, छंद, अलंकार, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों के ग्रंथों का विशेष अभ्यास कराने की बात कही गयी है। जयपुर के तत्कालीन दीवान अमरचंद जी के उल्लेख के बिना यह निबंध अधूरा ही रहेगा। क्योंकि पं. जयचन्द जी, पं. नन्दलाल जी, पं. ऋषभदास जी निगोत्या, पं. सदासुखदास जी आदि विद्वानों ने दीवान अमरचंद जी के आत्मीयता पूर्ण सहयोग, धर्म-वात्सल्य, संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और समर्पण के इन गुणों से युक्त दीवानजी का बड़े ही कृतज्ञ भाव से अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। मूलाचार वचनिका की अन्त्य प्रशस्ति के ये पद्य इस प्रकार हैं-

देश दुदाहार जैपुर नाम, नगरबसै अतिसुख को धाम।
 धीर-वीर-गंभीर-उदार, नृप जयसिंह सुगुण आधार॥
 राजकरै सबकौं सुखदाय, प्रजा रही अतिसुख मैं छाय।
 तिनकैं अमरचंद दीवाण जिनधरमी मरमी गुणवान॥
 ते श्रुतिरुचि हिरदै बहुधरै, पढन-पढ़ावन उद्यम करै।
 बड़ी सहैली मैं अभिराम, जाति छावड़ा जयचंद्र नाम॥
 तिनकी मति निरपक्ष विशाल, जिनमत ग्रंथ लखैं गुणमाल।
 विषयभोगसू रहै उदास, जिन आगम को करै अभ्यास॥
 न्यायछंद-व्याकरण अरु अलंकार साहित्य।
 मतकूं नीकैं जानिकै कहैं-वैन जै सत्य॥
 न्याय अध्यातम ग्रंथ की कथनी करी रसाल।
 टीका भाषा हूँ करी जाँमैं समुझै वाल॥
 भक्ति ज्ञान वैराग्य श्रुत अरु बहुगुन जे सार।
 तिनके कौलौं वरणिजे ग्रंथ होय विस्तार॥

तिनसम तिनकै सुत-भये, बहुग्यानी नंदलाल।

गाय-वत्य जिम प्रेमधरि, बहुत पढाए बाल।।

पं. जयचंद जी के समय जहाँ शास्त्र चर्चायें श्रावकों और विद्वानों के मध्य निरंतर होती थीं, वहीं जैनधर्म के कुछ सिद्धान्तों को लेकर अन्यान्य धर्मानुयायी विद्वानों से शास्त्रार्थ भी होते थे। ऐसे प्रसंगों में जहाँ भी शास्त्रार्थ हेतु चुनौती आती थी, पं. जयचन्द जी युक्तिशास्त्र और तर्कशक्ति में प्रवीण, प्रखर वक्तृत्व शैली, गहन विद्वत्ता और प्रभावक व्यक्तित्व के धनी अपने विद्वान सुपुत्र पं. नन्दलालजी को शास्त्रार्थ हेतु भेज देते थे और वे उस शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी को पराजित कर जैनधर्म की सदा विजयपताका फैला देते थे। ऐसे यशस्वी विद्वान पर समस्त जैन समाज को गौरवशाली होना स्वाभाविक है।

एक बार जैनधर्म और इसके सिद्धान्तों को जानने-समझने के लिए कुछ अंग्रेजों ने तथा कुछ अन्य मतानुयायी विद्वानों ने जैनधर्म के विषय में अनेक प्रश्न दिल्ली की जैन समाज के समक्ष समाधान हेतु रखे। किन्तु उस समय उन प्रश्नों का सटीक उत्तर देने वाला कोई विद्वान दिल्ली में उपलब्ध नहीं था, अतः सभी की सम्मति से जयपुर के तत्कालीन विख्यात विद्वान पं. जयचन्द जी छावड़ा के पास उन प्रश्नों को समाधान हेतु भिजवाया। इन्हें पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर विभिन्न शास्त्रों के आधार पर इनका यथोचित ऐसा समाधान प्रस्तुत किया कि जिन्हें पढ़कर सभी प्रश्नकर्ता अंग्रेज तथा दिल्ली की समस्त जैन समाज झूम उठी। ऐसे थे ये दोनों विद्वान। फिर भी बहुत आश्चर्य होता है कि इन विद्वानों को हुए बहुत लम्बा समय नहीं हुआ किन्तु इनके द्वारा लिखित साहित्य आदि के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व और जीवन के विषय में कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते और न ही इनके कृतित्व आदि के आधार पर उन प्रसंगों के सूत्र इकट्ठे करने या उन्हें ढूँढने अथवा इस दिशा में अनुसंधान का कोई अब तक प्रयास ही किया गया, जिनके आधार पर उनका जीवन परिचय रेखांकित किया जा सके। इधर जितना बन सका, वह प्रस्तुत निबंध मैंने स्वयं तथा मेरी धर्मपत्नी श्रीमती डॉ. मुन्नीपुष्पा जैन ने अपने "हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं. सदासुख दास का योगदान" नामक शोधप्रबन्ध में लिखा, जो कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, करौंदी, वाराणसी-5 से सन् 2002 में प्रकाशित हुआ है।

कृतित्व

जैसा कि पूर्व में यह उल्लेख किया ही जा चुका है कि अभी तक पं. नन्दलाल जी की विद्वत्ता की प्रशंसा के कुछ उल्लेख ही मिलते थे, किन्तु उनकी कोई कृति नहीं। पर जब से इनके द्वारा लिखित "मूलाचार भाषा वचनिका" नामक ग्रन्थ पहली बार हम दोनों के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाश में आया है, तब से जैन साहित्य और इनके लेखक विद्वानों की इतिहास परम्परा में पं. नन्दलाल जी का भी नाम जुड़ गया है।

मूलाचार भाषा वचनिका एवं इसके सम्पादन का इतिवृत्त

आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य पूज्यपाद आदि अनेक महान् आचार्यों के क्रमशः प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के अनेक ग्रंथों की पं. जयचंद जी छावड़ा कृत भाषा वचनिकाओं

का अध्ययन करते समय उन ग्रन्थों की अन्त्य प्रशस्ति या अन्य किसी न किसी प्रसंग में पं. छावड़ा जी अपने सुयोग्य विद्वान पुत्र पं. नन्दलालजी का गौरव के साथ उल्लेख अवश्य करते, किन्तु न तो इनकी किसी कृति का उल्लेख मिलता था और न विशेष परिचय ही, किन्तु सन् 1990 ई. वर्ष का वह दिन बड़ा ही शुभ कहा जायेगा, जबकि मैं सपरिवार राजस्थान और बुंदेलखण्ड के तीर्थों की वन्दनार्थ यात्रा के क्रम में अतिशय क्षेत्र तिजारा पहुँचा। संयोग से श्रुतपंचमी का वह शुभ दिन था। अतः तिजारा (राजस्थान) में स्थित प्राचीन दि. जैन मंदिर, जिसकी प्रतिष्ठा जयपुर के ही स्वनामधन्य पं. सदासुखदास जी के सानिध्य में कराई गई थी, इसमें जिनवाणी पूजन का विशेष कार्यक्रम था। मैं भी सपरिवार श्रुतपंचमी पर शास्त्रों की पूजन हेतु यहाँ पहुँचा। मंदिर की बड़ी वेदी पर बीचों-बीच काफी संख्या में हस्तलिखित शास्त्र विराजमान थे, जिनकी पूजन हो रही थी। अचानक मेरी दृष्टि बीच में रखे एक बड़े शास्त्र पर गयी, जो वेस्टन में लिपटा हुआ था, जिसमें ऊपर "मूलाचार" लिखा था। चूँकि यह ग्रंथ दिगम्बर जैन मुनियों के आचार धर्म का प्रतिपादक आचार्य वदटकेर कृत प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ है, जिसके समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर शोधकार्य करने पर मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" नामक विशाल शोधग्रन्थ पर पी-एच. डी. की शोध उपाधि सन् 1977 में प्रदान की थी। अतः इस ग्रन्थ को देखने-समझने और पढ़ने की इच्छा होना स्वाभाविक है।

हमने जब इस हस्तलिखित मूलाचार शास्त्र के कुछ पृष्ठों को पढ़ा और अन्त्य प्रशस्ति देखी तो आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि जिन विद्वान की प्रशंसा मात्र सुनते-पढ़ते थे, उन पं. नंदलाल जी छावड़ा द्वारा मूलाचार जैसे शौरसेनी प्राकृत भाषा के महान ग्रन्थ और इसकी आ. वसुनन्दि स्वामी द्वारा लिखित संस्कृत टीका-"आचारवृत्ति" के आधार पर यह वचनिका पुरानी हिन्दी के रूप में जानी मानी जयपुर की ढूँढारी भाषा में लिखी हुई थी। लगातार दो-तीन घंटे तक यत्र-तत्र के उपयोगी अंश इस शास्त्र के पढ़ने पर मेरी इच्छा अब तक अज्ञात एवं अप्रकाशित इस दुर्लभ महान् शास्त्र के संपादन और प्रकाशन की हुई। मेरी विदुषी धर्मपत्नी डॉ. श्रीमती मुन्नी पुष्पा जैन ने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा कि यदि इस कार्य की जिम्मेदारी लोगे, तो मैं भी इस बृहद् ग्रंथ की सुवाच्य प्रतिलिपि करने और अन्य प्रतियों से मिलान करने-कराने आदि में आपका सहयोग करूँगी। इस प्रोत्साहन के बाद मैंने इस मंदिर के उदारमना पदाधिकारियों से इस शास्त्र की प्राप्ति हेतु प्रस्ताव रखा तो उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। इस श्रुतपंचमी जैसे पवित्र पर्व पर ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ की प्राप्ति और इसके संपादन कार्य के संकल्प से बढ़कर, मैं जिनवाणी की यथार्थ पूजा और क्या हो सकती है?

इसी तीर्थयात्रा के क्रम में जब हम कुण्डलपुर (दमोह म. प्र.) तीर्थक्षेत्र की वन्दनार्थ पहुँचे, तो वहाँ ससंध विराजमान परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज को जब यह शास्त्र दिखाया तो वे भी आश्चर्य में बोले-अरे! अभी तक यह शास्त्र कहाँ छिपा था। हमने जब उन्हें पूरा विवरण सुनाकर इसके सम्पादन कार्य की चर्चा की तो उन्होंने इस कार्य हेतु हमें सहर्ष शुभाशीष दिया। मिलान हेतु हम इसकी दूसरी प्रति की तलाश

में अजमेर में सेठ सा. की कोठी के पास स्थित विशाल भव्य महापूत चैत्यालय के शास्त्र भण्डार पहुंचे तो वहाँ भी इसी मूलाचार भाषा वचनिका की एक अन्य हस्तलिखित प्रति मिल गयी। जिसकी फोटोकापी हमें सेठ सा. श्री निर्मलचन्द जी सोनी के सौजन्य से प्राप्त हो गयी। अब हम दोनों ने इन दोनों प्रतियों के साथ ही वसुनन्दि की संस्कृत आचारवृत्ति की मेरे पास सुरक्षित मूल हस्तलिखित प्रति की जीराक्स प्रति थी, उसके आधार पर मिलान करके इसका सम्पादन कार्य करने लगे, इसी बीच परमपूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का सम्प्रेद शिखरजी की ओर यात्राक्रम में ससंध बनारस आगमन हुआ। उस समय पूज्य उपाध्याय जी भरतसागर जी को यह शास्त्र और लम्बे समय से चल रहा सम्पादन आदि कार्य दिखाया तो उन्होंने इसे भा. अनेकान्त विद्वत परिषद से प्रकाशित कराने का आश्वासन दिया और 1996 में परमपूज्य भरतसागर जी महाराज एवं पूज्यनीया विदुषी आर्थिका स्याद्वादमती माताजी के शुभाशीष से दीर्घ परिश्रम के बाद इसका प्रकाशन पूर्ण हुआ। इधर उत्तरप्रदेश सरकार की ओर से संचालित उ. प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ ने इसके श्रेष्ठ संपादन कार्य पर सन् 1998 में इस ग्रन्थ पर विशेष पुरस्कार के साथ ग्यारह हजार की राशि एवं प्रशस्ति पत्र से राजभवन में आयोजित पुरस्कार समारोह में मा. राज्यपाल महोदय ने मुझे और श्रीमती मुन्नी जैन को सम्मानित किया।

इस प्रकार एक श्रेष्ठ विद्वान् पं. नन्दलालजी की अद्यावधि अप्रकाशित एक महान् कृति पहली बार जब सामने आयी तो प्रायः सभी मुनिसंघों, विद्वानों और समाज के स्वाध्याय प्रेमी श्रावकों ने इस शास्त्र का बहुमान से स्वागत किया। इसी माध्यम से पं. नन्दलाल जी के महान् व्यक्तित्व और कृतित्व से भी पहली बार पाठकों का परिचय हुआ। यद्यपि प्राचीन आचार्यों और विद्वानों ने ग्रन्थों का लेखन तो किया किन्तु आत्मश्लाघा के भय से अपने जीवन के विषय में क्रमबद्ध और विस्तार से किसी ने नहीं लिखा। यत्र-तत्र के उल्लेखों आदि के आधार पर ही उनका परिचय लिखा जाता है।

जहाँ तक पं. नन्दलाल जी का प्रश्न है, तो उन्होंने भी अपने विषय में विशेष कुछ भी नहीं लिखा है, इनके पिता पं. जयचंद जी छावड़ा एवं इनके मित्र और शिष्य पं. ऋषभदास जी निगोत्या ने ही इनके विषय में कुछ सूचनाएं दी हैं। आपके नाम के साथ 'कवि' उपाधि का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आपकी कोई न कोई पद्यमय महान् कृति भी होनी चाहिए, किन्तु अब तक उपलब्ध नहीं हुई। प्रयत्नपूर्वक आपकी एकमात्र गद्य कृति "मूलाचार भाषा वचनिका" ही प्राप्त हो सकी है। इसी ग्रन्थ के मंगलाचरण के रूप में हम इनकी कविता के उत्कृष्ट उदाहरण देख सकते हैं। वे इस प्रकार हैं-

बंदौ श्री जिनसिद्धपद आचारिज उवज्ञाय।
साधु-धर्म जिनभारती जिनगृह चैत्य सहाय।।
वट्टकेर स्वामी प्रणमि नमि वसुनंदी सूरि।
मूलाचार विचारिकें भाषौ लषि गुणभूरि।।

इस मंगलाचरण में पं. नन्दलाल जी ने सर्वप्रथम पंच परमेष्ठी सहित, जैनधर्म, जिनवाणी, जिनमंदिर और चैत्य- इन नवदेवताओं की वंदना की है। तदनन्तर शौरसेनी प्राकृत भाषा के महान् ग्रंथ मूलाचार के प्रणेता आचार्य वट्टकेर और इस ग्रन्थ पर संस्कृत भाषा में “आचारवृत्ति” नामक टीका के प्रणेता आचार्य वसुनन्दि स्वामी को नमन कर उद्देश्यपूर्वक मूलाचार ग्रंथ की देशभाषा में वचनिका लिखने की प्रतिज्ञा की है।

उपर्युक्त दो पद्य पं. नन्दलाल जी के उत्कृष्ट पद्य रचना के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इनके गद्य का वह उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासांगिक न होगा, जिसमें उन्होंने अपने अच्छे तर्कों द्वारा अनेक प्रश्नों का समाधान करते हुए मुनि-आचार विषयक ग्रंथ गृहस्थों को क्यों पढ़ना चाहिए? तथा प्रस्तुत भाषा वचनिका लिखने का उद्देश्य क्या है- इन सबका ऐसा समाधान प्रस्तुत किया है कि किसी प्रकार की आशंका रह नहीं जाती। प्रस्तुत है उस गद्य का उदाहरण-

“इहाँ कोऊ कहै- गृहस्थनि कौ तौ व्याकरण-काव्यादिक तथा पुराणादिक पुण्य-पाप का फल वांचना सुननां जोग्य हैं, मुनिधर्म का आचार कौन सौ वर्णें हैं? अर मुनि आचार कहाँ है? गृहस्थनि कौ मुनिधर्म के ग्रंथ वांचना, भाषा करनां जोग्य नांही।

ताका समाधान-जीव का हित मोक्ष है। ताके कारण संवर निर्जर हैं। ते-गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा- परीषहजय-चारित्र - तप रूप जो मुनिधर्म, तातैं होय हैं, अैसा निर्णय द्रव्यानुयोग-अध्यात्म, स्याद्वाद ग्रन्थनि में प्रमाण-नय-निक्षेप अनुयोगनतैं कीया है। यातैं मुख्य उपादेय तो मुनिधर्म ही है और ग्रन्थनि का सीखना-पढ़ना बहुत होय, अर इस धर्म का ज्ञान-श्रद्धान न होय तो अज्ञानी ही कहिए। अर इस धर्म का ज्ञान-श्रद्धान होय, अर व्याकरण-काव्यादिक थोरा ही पढ़या होय तो ज्ञानी ही कहिये। अर मुनिधर्म के ज्ञान-श्रद्धान बिना सम्यक्त्व कैसें होय? अर मुनि तौ धर्मात्मा है ही, परन्तु गृहस्थ अैसे ग्रन्थ सुनैं बिना धर्म-अधर्म का भेद तथा गुरु-कुगुरु का भेद तथा जैन-अन्य लिंग का भेद तथा दिगम्बर-श्वेताम्बर का भेद तथा पात्र कुपात्र अपात्र का भेद कैसें जानैं? अर बिना जानैं पूजा, स्तवन, नमस्कार, भक्ति, विनय, दान, वैयावृत्य रूप उपासनां कैसें करै? अर उपासना बिना गृहस्थ धर्म कहाँ? अर गुरु, अर कुगुरु सर्वकौ समान जानैं तो मिथ्यात्व का दोष लागै। तातैं गृहस्थनि कौ मुनिधर्म का स्वरूप अवश्य निर्णय करनां। अर इस धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ का व्याख्यान अवश्य करनां। अैसा विचारकरि या ग्रन्थ की भाषा-वचनिका आरम्भ किया है।”

पंडित नन्दलाल जी द्वारा मूलाचार महाग्रन्थ की भाषा वचनिका में लिखित गद्य का यह उदाहरण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण एवं परिपूर्ण तथा पर्याप्त है। मूलाचार भाषा-वचनिका की अन्त्य प्रशस्ति में पं. ऋषभदास जी निगोत्या ने लिखा है कि-

“साधुतणैं आचार कौ भाषा ग्रंथ न कोय।

तातैं मूलाचार की भाषा जो अब होय।।

तो सबही वाचै पढ़ै समुझै मुनि आचार।

परम दिगम्बर रूप कौ जानैं सकल विचार।।

तब उद्यम भाषा तणैं करण लगे नंदलाल।

मन्नालाल अर उदयचंद माणिकचंदरु जु वाला।।

नंदलाल तिनसौं कही भाषा लिखो बनाय।

कहाँ अरथ टीका सहित भिन्न-भिन्न समुझाय।।

इस ग्रन्थ के इन पद्यों से यह भी स्पष्ट है कि उस समय मुनि आचार सम्बंधी कोई ग्रन्थ लोक प्रचलित सरल भाषा में नहीं थे। सामान्य श्रावक भी संस्कृत-प्राकृत भाषा के ग्रन्थों को समझने में कठिनाई महसूस करते थे। अतः सभी जन आसानी से इन ग्रन्थों का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो सकें, इसी उद्देश्य से पं. मन्नालाल जी आदि की प्रेरणा से पं. नन्दलाल जी ने मूलाचार ग्रन्थ की भाषा-वचनिका लिखी। किन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहेंगे कि पंडित नंदलालजी इसकी वचनिका पूर्ण नहीं कर सके। मात्र आरम्भिक 516 गाथाओं अर्थात् छठे पिण्ड शुद्धि अधिकार पूर्ण करके सप्तम षडावश्यक अधिकार की पंद्रह गाथाओं की वचनिका पूर्ण कर पाये थे कि इनकी अचानक मृत्यु हो जाने से यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, जिसकी पूर्ति अनेक मित्रों की प्रेरणा से पं. जी के मित्र पं. ऋषभदास जी निगोत्या ने इस मूलाचार ग्रन्थ की शेष भाषा वचनिका पूर्ण की। निगोत्या जी ने लिखा है-

चौपाई- पूरन षट् अधिकार कराय, पंद्रह गाथा अरथ लिखाय।

सोलह अधिक पांच सै सही, सब गाथा यह संख्या लही।

दोहा- आयुष पूरन करि गये, ते परलोक सुजान,
विरह वचनिका मैं भयो यह कलिकाल महान्।

सब साधरमी लोक कै भयो दुःख भरपूर,
अधिर लख्यौ संसार जब भयो शोक तब दूर।।

भाषा मूलाचार की पूरन किहिं विधि होय।
शल्य बसै सबकै हृदय कारण वण्यो न कोय।

हंसराज भूपाल के वासी कारन पाय।

आये जयपुर नगर में तिनकूं धरम सुहाय।।

जाति निगोया जास की, ऋषभदास तसुनाम,

शोभाचंद सुत देव गुरु श्रुत रुचिकों शुभधाम।।

जयचंद अर नंदलाल की संगति करी विशेष।

तिनसूं श्रुत धारण करे तजि मिथ्यामत वेष।।

पं. ऋषभदास जी ने मूलाचार की यह अधूरी वचनिका किन-किन इष्टमित्रों की प्रेरणा से और कैसे की? इस विषय में वे मूलाचार भाषा वचनिका के अन्त में चौपाई छन्द में लिखते हैं-

संधही अमरचंद दीवान ऋषभदास पुनि दूजो जानि।

तिनसौं हंसराज निति कहैं, ग्रंथ वचनिका पूरन चहैं।।

तिनकै लागि रही अधिकाय, ऋषभदास तब किये उपाय।

श्री दीवानसूं असैं कहीं, मुनि ढिग माणिकचंद है सही।।

अर्थ लिखन कों जो मन धरै, ग्रंथ यहै हम पूरन करै।
 सोधन करै सु मन्नालाल, तिनकी मति श्रुत माहि विसाल॥
 तब दीवानजी मन हरषाय, तिन दोऊ सूं कही बुलाय।
 ऋषभदास कैसा मिल होय पूरन ग्रंथ करो तुम जोय॥

पं. निगोत्या जी ने इस अधूरी भाषा वचनिका को पूर्ण करके अपनी सरलता को जिस प्रकार निम्नलिखित दोहों में व्यक्त किया है, यह दर्शनीय है-

मंदमती हम पंगु ज्यों, ग्रंथ सुमेर समान।
 सो पूरन कैसें करै, उपज्यौं सोच अमान॥
 वानी समरण पोत चढि, श्रुत समुद्र के पार।
 हम उतरे बिन कष्ट ही, वानी जग मैं सार॥
 प्राकृत, संस्कृत ही पढै, जे पंडित मतिमान।
 मंदमती कै हेत यह, भाषा ग्रन्थ निदान॥
 सज्जन पंडित जे बड़े, तिनसौं विनती एह,
 जहाँ अर्थ नीकै नहीं, तहाँ शुद्ध करि लेह॥
 बालक हमकूँ जानियो, जे श्रुत बड़े सुजान।
 हास्य त्यागिकरि सोधियो, धरम प्रीति मन आन॥
 देश वचनिका रूप यह, भाषा जो हम कीन।
 मान वानि कौं त्यागि कै, धरम काज चित दीन॥
 लिखत-लिखावत श्रुत विषै, लागै दिठ उपयोग।
 अशुभ करम तासों झरै, शुभ मन वच तन योग॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि दो विद्वानों के सहयोग से शौरसेनी प्राकृत भाषा के मूलाचार जैसे प्राचीन एक महान् ग्रंथ की भाषा वचनिका वि. सं. 1888 में जयपुर में पूर्ण हुई। इससे यह भी स्पष्ट है कि पं. जयचंद जी छावड़ा की मृत्यु (वि. सं. 1881) के तीन-चार वर्ष बाद ही अर्थात् वि. सं. 1885 के आसपास ही पं. नन्दलाल जी छावड़ा का भी स्वर्गवास हुआ होगा। क्योंकि इनके द्वारा अधूरी मूलाचार वचनिका को पूरा करने में कम से कम तीन वर्ष का समय तो अवश्य लगा होगा। इस तरह पुरानी हिन्दी के रूप में प्रचलित जयपुर के आसपास की लोकप्रिय बोली 'ढूंढारी' में लिखित में प्रस्तुत मूलाचार वचनिका के प्रकाश में आ जाने से जहाँ इस साहित्य की श्रीवृद्धि हुई, वहीं हिन्दी गद्य के विकास में अब तक अचर्चित दो और महान् साहित्यकार विद्वान पं. नन्दलाल जी छावड़ा तथा पं. ऋषभदास जी निगोत्या का नाम भी अब हिन्दी और राजस्थानी साहित्य के इतिहास में जुड़ जाने से इनकी मूलाचार भाषा-वचनिका नामक महान् कृति तथा ये दोनों विद्वान भी अमर हो गये।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति एवं उनकी गुरु-शिष्य-परम्परा

डॉ. कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'*

गुलाबी नगरी जयपुर में भट्टारकों का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। मूलतः वे अंकावती-वर्तमान आमेर के निवासी थे। जयपुर-रामबाग के उत्तर में सवाई रामसिंह रोड पर नारायण सर्किल के निकट दिगम्बर जैन नसिर्यौ-भट्टारक जी के नाम से प्रसिद्ध स्थली में दिगम्बर जैन मन्दिर सुशोभित है। इस मन्दिर के प्रांगण में अपभ्रंश अकादमी संचालित है।

मन्दिर के सामने वाले भाग में सुन्दर उद्यान है। इसमें तीन छतरियों का निर्माण हुआ है। निचला भाग रिक्त है किन्तु ऊपरी मंजिल पर तीन कलात्मक छतरियाँ सुशोभित हैं। ये मुख्य मार्ग पर होने से इनके दर्शनों का सभी को अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है।

ये छतरियाँ अष्टकोणी हैं। श्वेत संगमरमर पाषाण से निर्मित हैं। अष्ट स्तम्भों पर आश्रित हैं। छतरियों के ऊपरी भाग वेलों से अलंकृत दर्शाये गये हैं। पूर्व दिशावर्ती भित्ति के मध्य पूर्व दिशाभिमुख एक लघुकाय कायोत्सर्ग नम्र प्रतिमा अंकित है जिसके बायें हाथ में संयम का उपकरण कमण्डल तथा दायें हाथ में पीछी का आकार प्रदर्शित है।

छतरियों के मध्य में अष्टकोणी श्वेत संगमरमर पाषाण पर चार दल के बत्तीस वर्तुलाकार कमल अंकित हैं। इन कमलों के मध्य में एक चौबीस दलीय कमल भी निर्मित हुआ है। पूर्व दिशाभिमुख चरण-पादुकार्य (चिन्ह) इन्हीं कमलों पर स्थापित हैं। इन्हीं के निकट संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में पूर्व दिशा की ओर से अभिलेखों के मूलपाठ वर्तुलाकार उत्कीर्ण किये गये हैं।

(1)

उत्तर-दिशावर्ती चरण छतरी-अभिलेख

(भट्टारक महेंद्रकीर्ति के चरण-चिन्ह)

पंक्ति-1

संवत् (विक्रम संवत्) 1853 माघ मासे शुक्ल पक्षे पंचमी (जाप्यमाला)
गुरुवासरे दुदाहरु देशे सवाई जयनगरे (कमंडल) महाराजाधिराज महाराज
श्री सवाई प्रतापसिंह जि राज्य प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे नंद्घाम्नाये (पीछी)
बला-

* बीसातारखेड़ा (दमोह) म.प्र.।

- पंक्ति-2** त्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदचार्यान्वये अंवावती (माला) पट्टोदयाद्रि दिनमणितुल्य भट्टाकेन्दु भट्टारक जि छी देवेन्द्र (कमण्डल) कीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक जि छी महेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक जि छी क्षेमेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे जि छी सुरेन्द्रकीर्ति जि देवपट्टे भट्टारक जि छी सु-
- पंक्ति-3** खेंद्रकीर्तिना इयं श्री महेन्द्रकीर्ति जि गुरोः पादुका प्रस्थाप्य महोत्सवेन प्रतिष्ठिता पूजकानां कल्याणावली करोतु श्रीरस्तु शुभं भवतु ॥

हिन्दी अनुवाद

संवत् 1853 में माघ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि दिन गुरुवार में ढुढाहरु देश के सवाई जयनगर में महाराजाधिराज महाराज श्री सवाई प्रताप सिंह जी के प्रवर्तमान राज्य में श्री मूलसंघ के नंद्याम्नाय में वलात्कार गण और सरस्वतीगच्छ-कुन्दकुन्दाचार्यान्वय में अंवावती-पट्ट रूपी पर्वत पर उदीयमान सूर्य समान भट्टारकों में चन्द्र समान भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति जी हुये। इनके पट्ट पर भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति तथा आपके पट्ट पर भट्टारक श्री क्षेमेन्द्रकीर्ति विराजमान हुए। पश्चात् श्री सुरेन्द्रकीर्ति, भट्टारक पट्टासीन हुये। भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के द्वारा श्री भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के गुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति की चरण-पादुकाएँ महोत्सव पूर्वक स्थापित कर प्रतिष्ठित कराई गयीं। यह प्रतिष्ठा अर्चकों का कल्याण करे, लक्ष्मी उनके हो और मंगल हो।

सार

इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि संवत् 1853 के निकट ढुढारी देश था तथा जयनगर (जयपुर) उसका प्रधान था। राजा थे महाराजाधिराज प्रताप सिंह जी। अंवावती आमेर का प्राचीन नाम रहा है। यहाँ भट्टारक-गादी भी रही है। भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति इस गादी के प्रधान थे। भट्टारक महेन्द्रकीर्ति इनके शिष्य थे। पश्चात् महेन्द्रकीर्ति के शिष्य हुए क्षेमेन्द्रकीर्ति तथा इनके शिष्य हुए सुरेन्द्रकीर्ति। सुखेन्द्रकीर्ति श्री भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य रहे ज्ञात होते हैं। गुरुओं के सम्मान में आपका कार्य स्तुत्य रहा है।

(2)

मध्यवर्ती चरण छतरी

(पादुकाएँ-भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति जी)

अभिलेख-मूलपाठ

- पंक्ति-1** संवत् 1853 माघ मासे शुक्ल पक्षे पंचमी गुरुवासरे ढुढाह देशे सवाई जयनगरे महाराजाधिराज महाराज श्री सवाई प्रताप सिंह जी राज्य प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये वलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंकुदाचार्यान्वये अंवावती पट्टोदयाद्रि दिनमणि तुल्य भट्टा-
- पंक्ति-2** रकेन्दु भट्टारक जि छी महेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक जि छी क्षेमेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक जि छी सुरेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक जि छी सुखेंद्रकीर्तिस्तेतेयं श्री क्षेमेन्द्रकीर्ति गुरोः पादुका स्थाप्य महोत्सवेन प्रतिष्ठिता॥ पूजकानां कल्याणावली करोतु॥ " श्रीरस्तु "

विशेष

इस लेख का समय और विषय-वस्तु प्रथम लेख के समान है। विशेषता यह है कि प्रस्तुत लेख में भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के द्वारा अपने दादा गुरु श्री क्षेमेन्द्रकीर्ति की चरण-पादुकाएँ महोत्सव पूर्वक स्थापित एवं प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है। इस प्रकार परदादा और दादागुरु के सम्मान का सुन्दर उल्लेख किया गया है। भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति की गुरु परम्परात्मक सम्मान करने की भावना सराहनीय रही है।

(3)

दक्षिण दिशावर्ती चरण छतरी (भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति जी के चरण चिन्ह) अभिलेख मूलपाठ

पंक्ति-1 संवत् (विक्रम संवत्) 1881 माघ मासे शुक्ल पक्षे पंचमी सोमवासरे दुढाहउ देशे सवाई जयनगरे श्रीमन्महाराजाधिराज महाराज श्री सवाई जयसिंह जि राज्य प्रवर्तमाने श्रीमूलसंधे नंघाम्नाये वलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारकेन्दु भट्टारक जि छी महेन्द्रकीर्तिस्पट्टे भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति-

पंक्ति-2 स्तत्पट्टे भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्री सुखेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे जि छी नरेन्द्रकीर्ति जि एतेषां मध्ये भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्तिना महमहोत्सव कृत्वा भद्रभावेन श्री सुरेन्द्रकीर्तिं गुरोश्चरणयुगलं प्रस्थाप्य प्रतिष्ठितं। पूजकानां कल्याणपरंपरां करोतु।। श्रीरस्तु "श्री"

भट्टारक आमेर-गादी के उत्तराधिकारी भट्टारक

प्रस्तुत अभिलेखों में प्रथम दो लेखों का समय संवत् 1853 (ईसवी 1910) बताया गया है। जयपुर को इस समय जयनगर कहा जाता रहा है। यह नगर अभिलेखों में दुढाह देश में बताया गया है।

प्रथम दो अभिलेखों में अंवावती और वहाँ विद्यमान भट्टारक-गादी पर विराजमान रहे भट्टारकों के नामोल्लेखों के आलोक में कहा जा सकता है कि अंवावती वर्तमान आमेर का प्राचीन नाम है।

तीसरा अभिलेख संवत् 1881 ईसवी 1938 का है। इस लेख में भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के पश्चात् भट्टारक-पट्ट के उत्तराधिकारी भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति का नामोल्लेख हुआ है। इसमें भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति को गुरु रूप में सम्बोधित कर यहाँ नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक द्वारा उनके चरणयुगल महोत्सव पूर्वक स्थापित किये गये थे।

ये सभी भट्टारक मूलसंध के अन्तर्गत नंघाम्नाय में वलात्कारगण सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुंदाचार्यान्वयी रहे प्रमाणित होते हैं।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति कृत चाँदनपुर-महावीर-पूजा

डॉ. गोपीचंद वर्मा ने अपनी रचना "दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का संक्षिप्त इतिहास एवं कार्य विवरण" प्रकाशक--रामा प्रकाशन 2636 रास्ता खजानोवालान्

जयपुर के दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर पाटौदी के शास्त्र भण्डार में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति कृत चौदैनपुर महावीर पूजा संगृहीत है। पूजा के तीन पद्य भी डॉ. वर्मा ने अपनी रचना में निम्न प्रकार दिये हैं-

अथ श्री वर्द्धमान जी की पूजा लिषि (खि) ते।
 श्री वरयुक्तां वीर जिनेन्द्र चौदणकाख्ये ग्राम समीपे।
 वंघमनिघ्नं सतत वेदे, स्वागत सिद्धै पूर्वभटान्यै॥1॥
 अंबावतीपट्ट सरोजभानु क्षेमेन्द्रकीर्ति जयताञ्जगत्यां।
 यदीय तौ वेस्वनु भावतश्च धर्मोमतो भूय सुरं रराज॥1॥
 भट्टारकेन्द्रेण तदीय पट्टा निविष्ट तेनैव सुरेन्द्रकीर्तिना।
 कृतातराचाल्प सुबुद्धितोर्चा ह्युयं सुशोध्या कविभि सुज्ञेया॥12॥
 तुर्ययमाष्टविधुप्रमितेब्दे चैत्र सिते शुभवृत्तमिताद्धिं।
 मंगलकं भुवने मनुजानां मे कुरु चैषाकृत वामय केयं॥13॥

इस रचना का समय विक्रम सम्वत् 1824 बताया गया है। तुर्य-4, यम-2, अष्ट-आठ, विधु (चंद्र)-1 संख्या के बोधक शब्द होने से तथा अंकानां वामतो गति के अनुसार भी रचना काल यही ज्ञात होता है।

इस कथन के आलोक में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति जी दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के अनन्यभक्त कहे जा सकते हैं। रचना प्रकाशित होना आवश्यक है।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की शिष्य-परम्परा:

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारक जी सवाई रामसिंह रोड जयपुर की चरण-छतरियों के प्रथम दो अभिलेखों से ज्ञात होता है कि भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के पदाधिकारी शिष्य सुखेन्द्रकीर्ति थे। तीसरे संवत् 1881 के लेख में भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति जी का नामोल्लेख हुआ है।

इस सन्दर्भ में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का मानस्तम्भ-लेख भी पठनीय है। दक्षिणदिशावर्ती लेख चौदह पंक्ति का है। इसमें 8 से 12 पंक्तियों में भट्टारकों के नामों तथा मानस्तम्भ-निर्माण-तिथि का भी निम्न प्रकार उल्लेख हुआ है-

- पंक्ति-8 1952 ईस्वीये स्वतन्त्रभारतस्य द्वितीयाब्दे माघ शुक्ल त्रयोदशयां शुक्र-
 पंक्ति-9 वासरे श्री पं. ह्युम्पनलाल श्री निवास शास्त्रिभ्यां प्रतिष्ठाप्य शुभवेलायां श्री
 मूलसंघे नंद्याम्नाये वलात्कार-
 पंक्ति-10 गणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री
 सुखेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ. नरेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ.
 पंक्ति-11 श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ. श्री महेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ. श्री
 चन्द्रकीर्तिदेवास्तेषां तत्वावधाने जयपु-
 पंक्ति-12 रीय दिगम्बर जैन पंचायतीय प्रबन्धकारिणी समितेरनुज्ञां लब्ध्या श्री
 मानस्तम्भारोपणं कृतम्।

प्रस्तुत उल्लेख में भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति और नरेन्द्रकीर्ति के नामोल्लेखों के पश्चात् श्री देवेन्द्रकीर्तिदेव, भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्तिदेव तत्पश्चात् भट्टारक चन्द्रकीर्तिदेव का नाम आया है। प्रथम दो नामों का उल्लेख दिगम्बर जैन नासिया भट्टारक जी नारायण सर्किल जयपुर की चरण छतरियों में भी हुआ है। अतः श्री देवेन्द्रकीर्तिदेव महेन्द्रकीर्तिदेव तथा चन्द्रकीर्तिदेव इन भट्टारकों का सम्बन्ध अंवावती-आमेर भट्टारक गादी से रहा प्रमाणित होता है। चन्द्रकीर्ति भट्टारक इस गादी के अन्तिम भट्टारक कहे जा सकते हैं।

आमेर गादी की भट्टारक पट्ट परम्परा इस लेख के आलोक में निम्न प्रकार ज्ञात होती है-

- भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति प्रथम
- भट्टारक महेन्द्रकीर्ति प्रथम
- भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति
- भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति
- भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति
- भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति
- भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिदेव (द्वितीय)
- भट्टारक महेन्द्रकीर्ति (द्वितीय)
- भट्टारक चन्द्रकीर्तिदेव

श्री पं. नाथूराम 'प्रेमी' की सम्पादन-कला अर्द्धकथानक के संदर्भ में

डॉ. जिनेन्द्र जैन*

भारतीय संस्कृति में गुणों का अनुकीर्तन एक स्वस्थ एवं नैतिक संस्कार के रूप में मान्य है। इसी भाव को विद्वत् जगत् में भी स्वीकार किया जाता है, जहाँ विद्वान् को राजा से भी श्रेष्ठ और पूज्य माना गया है। कहा भी गया है 'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।' विद्वान् के गुण-दोषों को समझने / जानने वाला कोई विद्वान् ही हो सकता है। इसलिए यह उक्ति भी सर्वत्र प्रचलित है कि-

विद्वान् हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।

न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्॥

इस उक्ति के अनुसार विद्वान् का अभिनन्दन विद्वानों द्वारा किया जाना निःसंदेह आज की प्रासंगिकता भी है और उपयुक्तता भी।

19-20वीं शताब्दी में जैन साहित्य के संरक्षण एवं उसके उद्धार के लिए अनेक जैन मनीषियों ने अपना सर्वस्व न्यौछावर किया है। तब जाकर आज हमें उन ग्रंथों का सम्पादित रूप स्वाध्याय एवं अध्ययन के लिए उपलब्ध हो रहा है। उन्हीं अधीति विद्वानों में स्व. पं. नाथूराम 'प्रेमी' का नाम बड़ी श्रद्धा से आज लिया जाता है। भारतीय वाङ्मय के सुप्रसिद्ध महामनीषी जैन इतिहासकार एवं समाज-सुधारक पं. नाथूराम प्रेमी का जन्म सागर जिले के देवरी नामक ग्राम में वि. सं. 1938 (ई. 1881) में हुआ था। पं. पन्नालाल बाकलीवाल, पं. गोपालदास बरैया जैसे जैन मनीषियों के सान्निध्य में रहकर पं. जी ने जैन साहित्य की अपूर्व सेवा की और उसके संरक्षण-संवर्द्धन में अपना सर्वस्व लगा दिया।

साधन सम्पन्नता की दृष्टि से साधारण से जैन परिवार में जन्मे पूज्य प्रेमी जी का जीवन संघर्षों के उतार-चढ़ाव में निरंतर हिचकोलें खाता रहा, किन्तु नींव के पत्थर की भांति जैन साहित्य के सम्पादन और जैन इतिहास के लेखन में वे अडिग रहे। जैन मित्र, जैन हितैषी जैसी जैनविद्या की प्राचीन एवं सम्मानित पत्रिकाओं का सफल सम्पादन आपकी सम्पादन-शैली का परिचायक है। आपकी जैन साहित्य और संस्कृति के प्रति सेवा-भावना के फलस्वरूप 1946 ई. में जैन समाज एवं साहित्य-प्रेमियों ने आपको 'प्रेमी अभिनन्दन

* एसोसिएट प्रोफेसर, प्राकृत एवं संस्कृत विभाग, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनू - 341306 (राजस्थान)।

ग्रन्थ' भेंट कर सम्मानित किया। आपके बहुमुखी व्यक्तित्व के संदर्भ में हिन्दी साहित्य जगत् के प्रसिद्ध मनीषी जैनेन्द्रकुमार तथा जैनविद्या मनीषी पं. सुखलाल संघवी के विचार विशेष महत्व रखते हैं, जिनसे पूज्य प्रेमी जी के स्वाभिमान से युक्त सादगीपूर्ण व्यक्तित्व की झांकी प्रत्येक पाठक के मन-मस्तिष्क को झंकृत कर देती है। पं. नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ में उनके सुपुत्र पं. हेमचन्द्र मोदी ने उनके विषय में तथा अन्य विद्वानों की दृष्टि में पं. जी का जैसा व्यक्तित्व उकेरा है, उसे इन निम्नांकित बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है-

1. सरल किन्तु स्वाभिमानपूर्ण जीवन।
2. विद्यानुरागी।
3. साम्प्रदायिकता से परे स्थित सत्यान्वेषी।

हिन्दी भाषी क्षेत्र में जन्मे पू. पण्डित प्रेमी जी ने अपने जीवन में संस्कृत, प्राकृत के साथ-साथ अंग्रेजी, मराठी, गुजराती इन भाषाओं पर भी पूर्ण अधिकार कर लिया था, जिसके फलस्वरूप साहित्य-जगत् में लगभग 19 से भी अधिक ग्रंथों का सानुवाद सम्पादन किया तथा लगभग 12 स्वतंत्र मौलिक ग्रंथ भी लिखे। मौलिक ग्रंथों में हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास तथा जैन इतिहास से सम्बद्ध कृतियों के लेखन के कारण आपकी छवि जैन इतिहासकार के रूप में विख्यात हो गयी। जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई में कार्य करते-करते आपने 'जैन हितैषी' नामक पत्रिका का लगभग 8 वर्षों तक सफल सम्पादन किया। उसी अवसर पर ई. 1912 में आपने हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय की स्थापना मुम्बई में की तथा स्वतंत्रता नामक प्रथम ग्रंथ के प्रकाशन से उसकी नींव रखी।

पण्डित जी की जैन हिन्दी साहित्य के प्रति विशेष आकर्षण एवं रुचि थी। उनके द्वारा सम्पादित हिन्दी की जैन कृतियाँ इसके प्रमाण हैं। 17वीं शताब्दी में कविवर बनारसीदास द्वारा रचित 'अर्द्धकथानक' का सम्पादन पं. जी के द्वारा किया गया। इस ग्रंथ के सम्पादन में आपकी सम्पादन-शैली एवं कला के नमूने देखे जा सकते हैं। 'अर्द्धकथानक' नामक कृति की भूमिका में दी गई विषय-सामग्री पं. जी की सूक्ष्म सत्यान्वेषी दृष्टि एवं असाम्प्रदायिक चिन्तन की परिचायक है। अर्द्धकथानक में दी गई प्रशस्ति के अनुसार कविवर बनारसीदास ने मनुष्य की उत्कृष्ट आयु 110 वर्ष स्वीकार की है-

बरतमान नर-आउ बखान, बरस एक सौ दस परवान॥673॥

अर्द्धकथानक कृति लेखक बनारसीदास की आत्मकथा है, जिसमें उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन के 55 वर्षों का घटनाबहुल विवेचन किया है। अर्थात् जीवन के आधे कथानक को सं. 1998 में उन्होंने लिखा, लेकिन 110 वर्ष तक वे जीवित न रह सके। उत्कृष्ट जीवनकाल 110 वर्ष का मानने से अर्द्धकथानक में 55 वर्षों का ही विवेचन है, इसलिए पं. प्रेमी जी ने ग्रंथ के शीर्षक को उपयुक्त एवं तर्कसंगत स्वीकार किया है। प्रेमी जी द्वारा सम्पादित अर्द्धकथानक में अनेक प्रकार की सामग्री को समाहित किया गया है, जिसमें जैन इतिहास ही नहीं बल्कि भारतीय भौगोलिक, साहित्यिक, भाषात्मक व सांस्कृतिक

वर्णनों का सजीव विवरण उपस्थित हो जाता है। सम्पादित अर्द्धकथानक के परिशिष्ट में दिए गये विशेष स्थानों के परिचय में लगभग 30 स्थानों का उल्लेख प्रेमी जी ने किया है, उनमें 'अमरसर' नामक स्थान की भौगोलिक स्थिति जयपुर के गोविन्दगढ़ के समीप स्पष्ट की है, उसका सम्बन्ध श्वेताम्बर खरतरगच्छ के जिनकुशलसूरि के साथ स्थापित किया है। इस स्थान पर शेखावतों के आदिपुरुष राव शेखा जी गढ़ बनाकर रहते थे। 'नरवर' नामक स्थान का उल्लेख भी ग्वालियर राज्य के एक प्राचीन स्थान से किया है, जिसका वर्णन ज्ञानार्णव की एक प्रति में भी किया गया है।

प्रेमी जी द्वारा सम्पादित इस कृति से ऐतिहासिक दृष्टि से और भी जानकारी प्राप्त होती है। रचनाकार ने जिन विद्वानों का नामोल्लेख घटना अथवा वृत्तान्त विशेष के संदर्भ में किया है, उन सभी विद्वानों का परिचय प्रेमी जी ने परिशिष्ट में विस्तार से दिया है। यह परिचय कथाओं के संदर्भ में भी विशेष महत्व रखता है, जो कथानक के बीच में समाहित है। प्रेमी जी ने सम्पादन-शैली में कथानक के वे प्रसंग पाद-टिप्पण के रूप में प्रस्तुत किए हैं, साथ ही अन्य ग्रंथों के सम्बद्ध संदर्भ भी दे दिए, जिससे उनकी सम्पादन-कला विशिष्ट प्रतीत होती है। अर्द्धकथानक के परिशिष्ट में प्रेमी जी ने कुछ जातियों का उल्लेख किया है। पद्य 29 में प्रयुक्त जातियों के उल्लेख का विश्लेषण करते हुए प्रेमी जी कहते हैं- जौनपुर में बसने वाली 36 जातियों को, जो पेशेवर शूद्र जातियाँ हैं, छत्तीस पउनियाँ कहा है। जायसी के पद्मावत में भी 36 कुरी का उल्लेख अनेक जातियों के लिए हुआ है, किन्तु वहाँ पर केवल शूद्र वर्ग ही समाहित नहीं है। प्रेमी जी ने इस संदर्भ में यह भी उल्लेख किया है कि जैन साहित्यकार ठक्कर (14वीं शताब्दी) ने भी इन 36 जातियों की संख्या का उल्लेख अपने ग्रंथ वर्णरत्नाकर में किया है। एक अन्य उल्लेख में श्रीमाल जाति का वर्णन बनारसीदास जी ने किया है। यद्यपि इस जाति का सम्बन्ध भिन्नमाल से है, किन्तु प्रेमी जी ने इसकी विस्तृत चर्चा करते हुए पुराणों में इसके प्राचीन नामों से (पुष्पमाल, रत्नमाल, श्रीमाल, भिन्नमाल) सम्बन्ध स्थापित किया है और श्रीमाल जाति के अन्तर्गत आने वाले 125 गोत्रों में से कुछ गोत्रों का उल्लेख रचनाकार द्वारा ग्रंथ में किया गया है।

पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित अर्द्धकथानक का दूसरा संस्करण अभी प्रकाशित किया जा चुका है। अपनी भूमिका में प्रेमी जी ने इस बात का उल्लेख किया है कि प्रथम संस्करण में तीन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया था। तत्पश्चात् पं. कैलाशचंद शास्त्री द्वारा ऐशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता तथा स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के ग्रंथ संग्रहालयों में संगृहीत दो प्रतियों के प्राप्त हो जाने पर इनसे भी पाठ-संशोधन करके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन किया गया है। प्राच्य ग्रंथों के सम्पादन के संदर्भ में यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियाँ यदि अन्य-अन्य स्थानों से प्राप्त हो जाती हैं, तो पाठ-संशोधन का अवसर सदैव बना रहता है। प्रेमी जी ने भी पूर्व-प्रतियों के पाठ-संशोधन के साथ-साथ इन दोनों प्रतियों के पाठ-संशोधन द्वितीय संस्करण में समाहित कर दिए हैं।

सम्पादित इस कृति के विषय-वैशिष्ट्य को उजागर करते हुए प्रेमी जी ने अंधविश्वास, अध्यात्ममत का विरोध और उसके समर्थक अनेक जैन श्रावकों का परिचय तथा समाज एवं शिक्षा की स्थिति का विस्तार से विवेचन किया है। कुल 675 दोहे एवं चौपाई में समाहित इस कथानक में सज्जन-दुर्जन विवेचन, गुण-दोषों का वर्णन करके बनारसीदास ने अपने वर्तमान जीवन की सार्थकता सिद्ध की है। उन्होंने कुछ भी छुपाए बिना सहज भाव से स्वयं को मध्यम कोटि का मनुष्य स्थापित किया है। जहाँ कहा है—
जे भाखहिं पर-दोष-गुन, अरु गुन-दोष सुकीठ।

कहहिं सहज ते जगत में, हमसे मध्यम जीउ।।668।।

ग्रंथ की भाषा के संदर्भ में प्रेमी जी ने बनारसीदास के इस कथन को ही- 'मध्यदेश की बोली बोलि, गरभित बात कहौं हिय खोलि।' आधार बनाते हुए मध्यदेश की बोली को इस ग्रंथ की भाषा माना है। प्रेमी जी ने बोली से तात्पर्य उस समय की सामान्य बोलचाल की भाषा ही लिया है, साहित्यिक भाषा नहीं। यद्यपि बनारसीदास की अन्य रचनाएँ- नाममाला, नाटक समयसार, बनारसीविलास आदि साहित्यिक भाषा में रचित हैं, लेकिन अर्द्धकथानक का विषय आत्मकथा को लिए हुए होने से आङ्ग्लविहीन सीधी-सादी बोलचाल की भाषा में ही निबद्ध है। आत्मकथा की परम्परा में हिन्दी साहित्य में अर्द्धकथानक प्रथम आत्मकथा है, जिसका उल्लेख पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने 'हिन्दी का प्रथम आत्मचरित' नामक लेख में किया है। डॉ. हीरालाल जैन ने अर्द्धकथानक की भाषा पर विचार करते हुए यह स्वीकार किया है कि इसमें ब्रज एवं अवधी भाषा के शब्द कम तथा उर्दू एवं फारसी भाषा के शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि चतुःसीमा में लगी हुई भाषाओं का सम्मिश्रण इस अर्द्धकथानक में हुआ है। प्राचीन संस्कृत साहित्य (मनुस्मृति 2/21) के अनुसार मध्यदेश की चतुःसीमा वाले प्रांत हैं- उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व में प्रयाग तथा पश्चिम में पंजाब। चीनी यात्री फाह्यान ने मथुरा से दक्षिण के प्रदेश को मध्यदेश कहा है। अर्द्धकथानक की मध्यदेश की बोली का रूप प्राचीन हिन्दी के अधिक नजदीक प्रतीत होता है, जिसमें प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश भाषा का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। जैसे-कोई-कोउ, होना-होइ।

श्री नाथूराम प्रेमी ने डॉ. हीरालाल जैन द्वारा भाषा-विषयक स्वीकृत मन्तव्य को पुस्तक की उपयोगिता मानते हुए इस कार्य के लिए उनके प्रति कृतज्ञ भाव प्रकट किया है तथा पुस्तक के अंत में जोड़े गये परिशिष्ट कृति मर्म को समझने में सहायक सिद्ध होंगे, ऐसा स्वीकार किया है। शब्दकोश, नामसूची, युक्तिप्रबोध के मूल उद्धरण, प्रमुख श्रावकों एवं जैन मनीषियों का परिचय ग्रंथ की महत्ता को सिद्ध करते हैं।

अंत में कहा जा सकता है कि आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी जी का न केवल हिन्दी जैन साहित्य, बल्कि जैन इतिहास और प्राकृत साहित्य को भी विशेष अवदान प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप प्रद्युम्नचरित, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, सज्जनचित्तवल्लभ, धूर्ताख्यान, अर्द्धकथानक जैसे प्राच्य ग्रंथों का उन्होंने सम्पादन किया तथा जैन और हिन्दी जैन साहित्य

का इतिहास, जैनधर्म और वर्ण व्यवस्था, भट्टारकमीमांसा, तारणग्रंथ, कर्नाटक के जैन कवि जैसी मौलिक रचनाएं समाज के सामने आ सकीं। प्रेमी जी के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि जैन पत्रिकाओं के सम्पादन में जितना श्रम और समय आपने दिया, यदि उतना समय और श्रम ग्रंथों के सम्पादन तथा मौलिक ग्रंथों के लेखन में लगाया गया होता तो आपके द्वारा आज सृजित साहित्य का चार गुना साहित्य समाज के सामने आ सकता था। निश्चय ही जैनविद्या एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रेमी जी का अपूर्व व अविस्मरणीय अवदान है।

वेदना की गणितीय समतुल्यतादि निश्चलताएँ

डॉ. एल. सी. जैन*

यहाँ हम वेदना (pathos) को अनुभव के अर्थ या feeling के अर्थ में ग्रहण कर चलेंगे। साधारणतः वेदना साता या असाता रूप में प्रकट होती है। ध्वलाकार के अनुसार सभी कर्मों की वेदना होती है, वह भी साता रूप अथवा असाता रूप। इस प्रकार एक सिद्धान्त यह बनता है कि कर्म अलग-अलग प्रकृति वाले होते हुए भी, तत्प्रकृतिरूप साता या असाता का अनुभव कराते हैं। इसे हम वेदना का आधार लेकर एक समतुल्यता का सिद्धान्त कह सकते हैं, ठीक वैसा ही जो आइन्स्टाइन ने गुरुत्वाकर्षण निमित्त (gravitational field) को गणितीय रूप देने में जड़ माना (inert mass) और गुरुत्वाकर्षणीय मात्रा (gravitational mass) में समतुल्यता सिद्धान्त (principle of equivalence) का आधार बताया था। यही निश्चलता विश्व में व्यापक सापेक्षता सिद्धान्त (principle of general relativity) के नाम से विख्यात हुई तथा तीन सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा परिपुष्ट की गयी।

इसके प्रायः दस वर्ष पूर्व प्रकाशित आइन्स्टाइन के सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त (special theory of relativity) में न्यायसंगत पाये गये वे प्रकाश की गति से निश्चलता लेकर जो निमित्त-नियम (field-laws) न्याय संगत पाये गये वे लारेञ्ज रूपान्तरणों (Lorentz transformations) के ग्रुप (समूह) को समाधानित करते थे। इसे सरलतम अभिव्यक्ति देने के लिए मिन्कोस्की ने आकाश-काल (space-time) को एक ऐसा सापेक्ष स्वरूप दिया जिसमें वेक्टर (सदिश) तथा टेन्सर की भाषा में विद्युच्चुम्बकीय निमित्त वस्तुओं को अभिव्यक्त किया जाने लगा। इसी में से $E=mc^2$ सूत्र निकाला गया जिसके आधार पर पुद्गलों की अपार शक्ति को प्राप्त किया जाने लगा।

सापेक्षता के व्यापक सिद्धान्त में रूपान्तरणों का ग्रुप (समूह) एक व्यापक रूप में किया गया जिसे बिन्दु या निर्देशांक रूपान्तरणों (Point or coordinate transformations) का समूह कहते हैं। निमित्त-वस्तुओं के गुरुत्वाकर्षणीय नियम इस समूह के प्रति सहचर पाये जाना आवश्यक माने गये तथा इसके लिए उपयुक्त तंत्र (frame) रीमान की आकाश-काल सम्बंधी ज्यामिति (geometry) पायी गई। इसमें भी वेक्टर तथा टेन्सर की भाषा ने कुछ अधिक सामान्य रूप लिया।

* सचिव, गुलाबरानी कर्म साइन्स भ्युजियम, सराफा, जबलपुर (म.प्र.)।

वेदना

अब हम कर्म सिद्धान्त के वेदना प्रसंग को लेते हैं। अग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु, चयन लब्धि के अंतर्गत बीस प्राभृतों में चतुर्थ प्राभृत का नाम “कर्म प्रकृति” है। इनमें कृति व वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार हैं। इनमें से कृति व वेदना नामक दो अनुयोग द्वार षट्खण्डागम के “वेदना” नाम से प्रसिद्ध इस चतुर्थ खण्ड में वर्णित है। विस्तार से धवला टीका पुस्तक नौ, दश, ग्यारह और बारह में दृष्टव्य है। वेदना से संबंधित अन्य ग्रंथों में दी गयी सामग्री के लिए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृ.-598 आदि दृष्टव्य हैं। वेदना निक्षेप, वेदना नय विभाषणता के पश्चात् वेदना नाम विधान में बंध, उदय व सत्व स्वरूप से जीव में स्थित कर्म रूप पौद्गलिक स्कन्धों में नयाश्रित प्रयोग प्ररूपणा के लिए प्रस्तुत अनुयोगद्वार की आवश्यकता बतलाई गई है। इसके अनुसार नैगम और व्यवहार नय के आश्रय से नोआगम-द्रव्य कर्म वेदना ज्ञानावरणीय आदि के भेद से आठ प्रकार की कही गयी है, कारण यह कि यथाक्रम से उनके अज्ञान, अदर्शन, सुख-दुख वेदना, मिथ्यात्व व कषाय, भवधारण, शरीर रचना, गोत्र एवं वीर्यादि विषयक विघ्नस्वरूप आठ प्रकार के कार्य (Functions) देखे जाते हैं जो अनुभावाश्रित तथ्य (empirical facts) हैं। यह वेदना विधान की प्ररूपणा हुई। नाम विधान की प्ररूपणा में ज्ञानावरणीय आदि रूप कर्मद्रव्य को ही “वेदना” कहा गया है। संग्रह नय की अपेक्षा सामान्य से आगे कर्मों को एक वेदना रूप से ग्रहण करने पर समतुल्यता का मूल सिद्धान्त (principle of equivalence) समाविष्ट हो जाता है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना आदि का निषेध कर एक नाम वेदनीय कर्म को ही वेदना स्वीकार किया गया है, क्योंकि व्यवहार में (in behaviour) सुख-दुख के विषय में ही वेदना शब्द प्रयुक्त होता है। शब्दनय की अपेक्षा वेदनीय कर्म द्रव्य के उदय से उत्पन्न सुख-दुख का अथवा आठ कर्मों के उदय से उत्पन्न जीव परिणाम को ही वेदना कहा गया है क्योंकि शब्द नय का विषय द्रव्य सम्भव नहीं है।

वेदना रूप द्रव्य के सम्बन्ध में उत्कृष्ट, अजघन्योत्कृष्ट तथा जघन्य आदि पदों की प्ररूपणा वेदना द्रव्य विधान है। इसमें पद मीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व नामक अनुयोगद्वार बतलाए जाते हैं। इसी प्रकार वेदना क्षेत्र, वेदना काल विधानों में पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारों से वर्णन मिलता है। अंततः इसी प्रकार वेदना भाव विधान का भी विवरण विस्तार से है। सामान्यतः तत्त्वार्थसूत्र में असाता एवं साता वेदनीय के आस्रव निम्न रूप में दृष्टव्य हैं-

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म परोभय स्थान्यसद्वेद्यस्य॥6.11॥

भूतत्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य॥6.12॥

वेदना द्रव्य विधान में पदमीमांसा में आठ कर्मों की द्रव्य वेदना के विषय में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोओम-नोविशिष्ट- इन 13 पदों द्वारा विचार किया गया है। यहाँ एक चूलिका में योग के अल्पबहुत्व, और योग के निमित्त से आने वाले कर्म प्रदेशों के भी अल्पबहुत्व

की प्ररूपणा है। प्रसंगानुसार अविभागप्रतिच्छेद, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समय, वृद्धि और अल्पबहुत्व प्ररूपणा का विस्तृत विवेचन इन 10 अनुयोगद्वारों द्वारा किया गया है। क्षपित कर्माशिक का लक्षण भी दृष्टव्य है। इसी प्रकार का विवरण यथा प्रायोग्य विधि से क्षेत्र, काल व भाव विधानों में मिलता है।

पुस्तक 11 में तदनुसार, प्रथम चूलिका में चार अनुयोगद्वार हैं- स्थितिबंध स्थान, निषेक, आबाधाकाण्डक प्ररूपणाएँ और अल्पबहुत्व। द्वितीय चूलिका में स्थितिबन्धवसाय स्थानों की प्ररूपणा में 3 अनुयोगद्वारों द्वारा जीव समुदाहार, प्रकृति समुदाहार और स्थिति समुदाहार निर्दिष्ट विवेचन है। पुस्तक 12 में प्रथम चूलिका जो वेदना भाव से संबंधित है, गुणश्रेणि निर्जरा का 11 स्थानों में विवरण दिया गया है। इसी प्रकरण में दूसरी चूलिका में अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थान का कथन बारह अनुयोगद्वारों द्वारा वर्णित है- अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर, काण्डक, ओजयुग्म, षट्स्थान, अधस्तन स्थान, समय, वृद्धि यवमध्य, पर्यवसान और अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ। इसी प्रकरण में तीसरी चूलिका में जीव समुदाहार का आठ अनुयोगद्वारों से विचार है- एक स्थान जीव प्रमाणानुगम, निरन्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, सान्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, नानाजीव प्रमाणानुगम, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, स्पर्शन प्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

पुनः वेदना प्रत्यय विधान, वेदना स्वामित्व विधान, वेदना-वेदना विधान, वेदना गति विधान, वेदना अनन्तर विधान, वेदना सन्निकर्ष विधान, वेदना परिमाण विधान, वेदना भागाभाग विधान, वेदना अल्पबहुत्व विधान- इन शेष अनुयोगद्वारों द्वारा कुल सोलह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा द्वारा वेदना खण्ड समाप्त होता है।

आइन्स्टाइन का सापेक्षण सिद्धान्त - एक अनुभववाद का मार्ग

आइन्स्टाइन की परिकल्पना में आकाश (space) और काल (time) सापेक्ष हो जाते हैं और विशिष्ट रूप से किन्हीं भी दो क्षेत्रस्थ या गमनशील आदि अवस्थागत अवलोकन कर्त्ताओं द्वारा किसी भी घटना (जो क्षेत्र और काल के निर्देशकों द्वारा प्ररूपित होती है) का गणितीय सम्बंध इस प्रकार निरूपित किया जाता है जो निश्चल हो। ऐसी दूरीक (metric) का मापदण्ड (jcale) रूपान्तरणों गत होकर भी निश्चल ही रहा आवे तो प्रकृति का नियम न्यायसंगत होता है। मात्र गति न होकर, यदि ऐसे अवलोकन कर्त्ताओं में त्वरण (acceleration) भी हो, तो यह निश्चलता की समस्या कुछ और जटिल हो जाती है, तथापि गुरुत्वाकर्षण के त्वरणादि से उत्पन्न सूक्ष्म शक्ति सम्बंधी अनेक सूत्र प्राप्त हो जाते हैं जो न्युटन के निरपेक्ष आकाश एवं काल से उपलब्ध न हो सके थे।

आइन्स्टाइन ने इस समय तक मात्र सम्मितीय ज्यामितीय वस्तुओं को ही उपयोग में लाया था तथा विद्युच्चुम्बकीय निमित्त को भी गणितीय सापेक्षता की परिधि में लाने के लिए, जहाँ आकर्षण और विकर्षण का समन्वय भी करने हेतु उन्होंने दूरीक (metric) में सम्मितीय (symmetric) और असम्मितीय (non-symmetric) अथवा प्रति-सम्मितीय (anti-symmetric) ज्यामितीय वस्तुओं का उपयोग किया। किन्तु वे केवल एक देश सफल हुए और अनेक समस्याएँ एतद्विषयक छोड़ गये। यथा, रूपान्तरणों

के समूह (group of transformations) का विस्तार, कणों के मध्य अन्तर्प्रक्रिया, नाभिकीय बलों या निमित्तों (fields) का निर्धारण आदि।

फिर भी आइन्स्टाइन ने श्रृंखलाबद्ध प्रक्रिया का उपयोग कर अणु की बंधीशक्ति को विमुक्त करने का अथवा स्कन्ध को विध्वंस (annihilate) कर एक नया मार्ग वैज्ञानिकों के लिये खोल दिया। हम इसी सम्बन्ध में वेदना द्रव्य के नाश करने, उसे नियंत्रित करने, विमुक्त करने, वेदना भावादि के परिप्रेक्ष्य में उसका अनुसरण करेंगे। क्वान्टम सिद्धान्त भी इस मार्ग का अनुसरण अंततः करता है। और कोण्डो द्वारा निर्मित नव सिद्धान्त में भी एक सूची सिद्धान्त बनाने की योजना कवागची उच्चतर परिवर्तन क्रम वाले आकाशों (higher order spaces) के आधार पर बनी तथा फलीभूत हुई। ये तीनों सिद्धान्त अत्यंत जटिल आधुनिकतम गणितों का आधार देकर बनाये गये और नित प्रति नई-नई शोधों को प्रोत्साहित करते रहे हैं, ताकि प्रकृति के गूढ़तम रूप से छिपे रहस्यों का पूर्णतः उद्घाटन हो सके। इन तीनों की विधियाँ, प्रारम्भ से ही भिन्न-भिन्न हैं और उनमें आपसी तुलनात्मक अध्ययन भी विगत शताब्दी से अभी तक चलते जा रहे हैं आइन्स्टाइन का दर्शन, क्वांटम सैद्धान्तिकों का दर्शन तथा कोण्डो का दर्शन विभिन्न पथ निर्धारण करते हुए भी अंततः उसी तत्व की खोज में लगे रहे हैं जिसका आविष्कार जैन कर्म सिद्धान्त ग्रंथों में अत्यंत विलक्षण ढंग से किया गया है।

करण लब्धि

करण लब्धि में जो अधःकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण की प्रक्रियाओं में परिणाम विशुद्धि के ऐसे गणितीय स्वरूप का विवेचन है जो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, क्षयादि में कार्यकारी हो जाती है। यहाँ भी विशुद्धि परिणाम का अर्थ वही है जो आत्मा के ऐसे परिणाम रूप है जो साता वेदनीय कर्म का बंध करते हैं। यह अर्थ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में विस्तार से वर्णित है। एक ओर बंध का कार्य और दूसरी ओर बंधमुक्ति का कार्य-यह विडम्बना रूप इस उत्कृष्ट विशुद्धि का चमत्कार अत्यन्त रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है। इस भारतीय परम्परागत विज्ञान का आधुनिक भौतिक, रासायनिक, जीवादि विज्ञानों के सीमांत (frontier) ज्ञान में क्या योगदान हो सकता है, अथवा उसकी गहरी भावनाओं तक पहुँच पाना आधुनिकतम विज्ञान की शोधों का पारस्परिक अवदान हो सकता है। यहाँ श्रुतसंवर्द्धन के नये प्रयासों का प्रारम्भ हो सकता है। सभी सिद्धान्तों में निश्चलता (invariance) का आधार लिया गया है, रूपान्तरणों के समूह के प्रति अथवा सहचलता (covariance) का आधार लेकर न्याय संगति निमित्त विधानों में लाई गयी है।

वादों की तुलना

आइन्स्टाइन के गणितीय परिकल्पित आकाश, काल और पुद्गल की सापेक्षतापूर्ण गणितीय संरचना कुटिल (curved) रूप धारण करती है जिसमें से यदि पुद्गल निकाल दिया जाये तो गणितीय संरचना सरल (flat) रूप धारण कर लेती है। आइन्स्टाइन का मार्ग सापेक्षता धारण किये हुए भी निश्चयात्मक (deterministic) माना जाता है, जबकि क्वांटम सैद्धान्तिकों का मार्ग संभावनापूर्ण (probablistic) माना जाता है।

आइन्स्टाइन का मार्ग अनुभववाद पर आधारित है जबकि क्वांटम सैद्धान्तिकों का मार्ग प्रयोगवाद पर आधारित है जिसे आइन्स्टाइन अपूर्ण प्रणाली रूप मानते हैं। आइन्स्टाइन का मार्ग विश्व संरचना के वृहदरूप को खोलता है जबकि क्वांटम सैद्धान्तिकों का मार्ग कण विज्ञान के रहस्यों को खोलता है। कोण्डो का मार्ग आइन्स्टाइन और क्वांटम सैद्धान्तिकों से आगे जाकर जीव विज्ञान को भी अपने सिद्धान्त में समन्वित कर देता है। अतः कोण्डो के मार्ग का अनुसरण करने पर भौतिक, रासायनिक एवं जीव विज्ञानादि का एक सूची सिद्धान्त तक पहुँचा जा सकता है और कर्म सिद्धान्त में उसे समन्वित करना लाभदायक सिद्ध हो सकता है। इसमें भी रूपान्तरणों के समूहों के प्रति निमित्त-नियमों में निश्चलता निकाली जाती है, जहाँ ज्यामिति गणित अत्यंत जटिल रूप धारण कर लेती है। जैसे कर्मवृक्ष द्वारा अनेक निरूपण कर्म प्रकृति सम्बंधी दिखाये जाते हैं, उसी प्रकार कोण्डो ने ऐसी ही रचना का आधार कवागुचीवृक्ष बनाकर दर्शाया है। कोण्डो का सिद्धान्त अनुभववाद एवं प्रयोगवाद, दोनों के मिले-जुले वाद रूप है जहाँ निश्चलता का प्राकट्य जरमिलो के प्रतिबन्धों पर आधारित है और जिसका मुखौटा (frame) कवागुची की उच्चतर (परिवर्तन क्रम) के आकाश की ज्यामिति है। आइन्स्टाइन ने अरीमानीय ज्यामिति का मुखौटा अंततः लिया और क्वांटम सैद्धान्तिकों ने हिल्बर्ट स्पेस का मुखौटा लेकर शोध किया।

नया अनुष्ठान

सन् 1929 में वाइल (Weyl) ने आइन्स्टाइन के एकसूत्री सिद्धान्त में गुरुत्वाकर्षण एवं विद्युच्चुम्बकीय निमित्तों को संयुक्त करने हेतु एक ऐसा मापदण्ड या गैज (gauge) निर्धारित किया जो कुछ वर्षों बाद मेट्रिक स्केल को गैज या फेज (gauge or phase) की ओर ले गया। इसका आधार लेकर क्वांटम फील्ड सिद्धान्त (Quantum field theory) निर्माण किया गया जो आइन्स्टाइन के सिद्धान्त का अनुगमन था। फेज या गैज को भाव कह सकते हैं तथा मेट्रिक को द्रव्य रूप मान सकते हैं। जहाँ द्रव्य में मात्रा रूप समान्तर श्रेणि में वृद्धि हानि लेता है वहाँ भाव में वृद्धि हानि गुणोत्तर रूप पाई जाती है। ऐसे क्वांटम निमित्त सिद्धान्त में तीन निमित्त- विद्युच्चुम्बकीय, नाभिकीय (प्रबल एवं निर्वल) को एक सूत्रीकृत कर अन्दुस्सलाम, वाइनवर्ग और ग्लेशो ने नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया था। यहाँ दो प्रकार का भाव होता है, वैश्वीकृत एवं स्थानीय (global and local) इस सिद्धान्त का फाइबर बंडिल ज्यामिति (fibre-bundle geometry) होता है।

वेदना गणित

वेदना कार्य प्रकृति, अन्य प्रकृतियों की भाँति ही एक ऐसे कर्म आकाश (Karma-space or functional-space) का मुखौटा ग्रहण करती है जिसका विशेष विवरण विटो वोल्टेरा (Veto-Volterra) के कर्म (functional or action) सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत हुआ है। एक ही अविभागी समय जब भंदात्म और तीव्रतम गति से होने वाले परमाणु विस्थापन द्वारा काल और क्षेत्र में एक नवीन प्रकार की सापेक्षता प्रकट करता है तो कर्म-आकाश (functional-space) की ज्यामिति के मुखौटे को ग्रहण करता है। कर्म शब्द के लिए फंक्शनल शब्द तो कृति के लिये फंक्शन (function)

शब्द उपयुक्त प्रतीत होते हैं। जैसे $y = \sin x$ में sine function का का ग्राफ बनता है और $y = F [X_a^b, t]$ एक फंक्शनल F का चित्रण करता है।

रूपान्तरण करने वाली क्रियाओं का करणों में जो एक समूह या ग्रुप बनता है वह गणितीय परिभाषा से निबद्ध होता है और उसे समाधानित करने वाले प्राकृतिक नियमों में किसी न किसी प्रकार की निश्चलता देखी जाती है, जो किसी न किसी प्रकार की सम्मितीयता (symmetry) लिये हुए रहती है। अनेक प्रकार की कृतियों में तथा कर्मों में यह अलग-अलग प्रकार की सम्मितीयता पाई जाती है। प्रति-सम्मितीयता (anti-symmetry) भी पाई जाती है और दोनों मिलकर असम्मितीयता (non-symmetry) लक्षण को प्रकट करते हैं। इसी का आधार उपर्युक्त सिद्धान्तवादों में किया गया है। सिद्धान्त ग्रंथों में इस लक्षण द्वारा शोध किया जाता है।

वेदना का विशुद्धि और संक्लेश से सम्बन्ध

शुभ और अशुभ रूप दो बीधियों के बीच एक अत्यंत सकरी गली है जो या तो विशुद्धि रूप होती है या संक्लेश रूप। हम संक्लेश परिणामों में चल रहे हैं या विशुद्धि रूप परिणामों में, पहिचानना कठिन होता है। दया या क्रूरता में चल रहे हैं यह भी बोध होना कठिन है। विशुद्धि, रूप परिणाम चिंतामणि रत्न के समान है, अतएव बोध ऐसा हो कि विशुद्धि का किनारा पकड़ा दे। असाता के बन्ध योग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं और साता के बन्ध योग्य परिणाम को विशुद्धि कहते हैं (धवल पुस्तक 6/1-9-7, 2/180/6)। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम-विशेष को संक्लेश कहते हैं। (कषाय प्रा. 4/3-22/30/15/13)। जीव के जो परिणाम बांधे गये अनुभाग सत्कर्म के घात के कारण हैं, उन्हें विशुद्धिस्थान कहते हैं (क. पा./5/4-22/619/380/7)। साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषाय स्थानों को विशुद्धिस्थान कहते हैं, और असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, (दुस्वर) और अनादेय आदिक परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायों के उदयस्थानों को संक्लेश स्थान कहते हैं। (धवल. 11/4, 2, 6, 51/208/2)। धवलाकार यह भी कहते हैं कि वर्द्धमान व हीयमान स्थिति को संक्लेश व विशुद्धि कहना ठीक नहीं है। वर्द्धमान व हीयमान कषाय को भी संक्लेश विशुद्धि कहना ठीक नहीं है। (जै. सि. को. खंड-3, पृ.-576)।

भाव विज्ञान के तृतीय अंक में करण लब्धि में विशुद्धि रूप परिणामों में उत्तरोत्तर वृद्धि का गणित स्वरूप "Cybernetics in Jaina Karma Theory" पृ.-23-30 में प्रतिबोधित किया गया है। अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण की अहम् भूमिकाएं यहां प्रत्यक्ष रूप सामने लाने के लिए विभिन्न की विशुद्धियों की पहिचान आवश्यक होती है जो गणितीय रूप में अंक वा अर्थ संदृष्टि आदि रूप से दर्शायी जाती है। पंच लब्धियों में से प्रथम चार लब्धियां तो भव्य वा अभव्य जीव दोनों के विशुद्धि उत्तरोत्तर क्रम में बढ़ती पाई जाती हैं, किन्तु करण लब्धि का पुरुषार्थ केवल भव्य जीव ही कर सकते हैं। कर्म का उदय तो कर्म की परिणति है और कषाय विकल्प जीव की

परिणति है, किन्तु पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक योग व्यवस्था में जैसे कर्मानुभाग का उदय होता है वैसे प्रतिफलन जीव के उपयोग आश्रयभूत होकर आकुलतादि में प्रकट होता है। अतः करण लब्धि की विशुद्धियाँ जो न केवल साता वेदनीय कर्म के बंध में निमित्त होती हैं वरन् निम्नलिखित रूप में करणों के अंतिम समय में उस कार्य करने में सक्षम भी सिद्ध होती हैं। यथा- क्षायिक सम्यक्त्व के लिये 3 करण, अनन्तानुबंधी कषाय के विसंयोजन के लिए 3 करण, चारित्रमोह के उपशम के लिए 3 करण, चारित्र मोह के क्षय के लिए 3 करण, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के लिये आदि के 2 करण, देशचारित्र के लिये आदि के 2 करण, सकल चारित्र के लिये आदि के 2 करण।

उपसंहार

करण अर्थात् परिणाम, विभिन्न प्रकार की विशुद्धि की उत्तरोत्तर विभिन्न प्रकार की वृद्धि लिए, विभिन्न काल लेते हुए, ग्रुप ऑपरेशन करते हुए विभिन्न-विभिन्न रूपान्तरणों को कर्म प्रकृतियों में प्रकट करते हुए पहिचान लिये जाते हैं। उनमें अलग-अलग प्रकार की निश्चलता होती है जो विशुद्धि के उत्तरोत्तर परिवर्तन की दर के द्वारा पहिचानी जाती है। जब विशुद्धि के उत्तरोत्तर परिवर्तन की दर में पुनः किसी नई दर से परिवर्तन होता है वहाँ नवीन प्रकार की शक्ति लिए परिणाम प्रकट होते हैं जो नये प्रकार की निश्चलता का आधार बनते हैं। जैसे न्युटन के दूसरे नियम में विस्थापन में परिवर्तन की दर से वेग ज्ञात होता है उसी प्रकार वेग के परिवर्तन की नई दर ऐसे त्वरण को बतलाती है जिसमें उसमें परिवर्तन लाने वाली शक्ति की पहिचान हो जाती है। यही हाल जीव के परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि रूप परिणामों की शक्ति का प्रकट होता है जो अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण की विभिन्न प्रकार की निश्चलता वा वृद्धि रूप शक्ति लिये हुए कर्म प्रकृति परिणामन में दृष्टिगत हो जाती हैं। षट् स्थानों में होने वाली हानि-वृद्धि भी इस रहस्य का उद्घाटन करती है।

इसी प्रकार सातावेदना कर्म के बंध में (जो विशुद्धि रूप में विभिन्न निश्चलताएँ लिए परिणामों के होंगे) उसी अनुपात में संबंधित दृष्टिगत होने की संभावना व्यक्त करते प्रतीत होते हैं। इसी आधार को लेकर जीव के विकास रूप अथवा अन्यथा दशाओं का गणितीय शोधाध्ययन अपेक्षित है जो काजुओ कोण्डो द्वारा सूचना तंत्र के या अन्यतंत्र के मोनाड्स (Monads) आदि अवधारणों पर आधारित होकर कवागुची ज्यामिति वाले वृक्ष के रूप में जीव या पुद्गलों में रूपान्तरण रूप विकास या अन्यथा दशाओं का दिग्दर्शन करते हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति में वर्णित जैनज्योतिष

डॉ. जयकुमार उपाध्ये*

प्राकृत आगम साहित्य का परिचय

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्मग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाईबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो महत्त्व है वही महत्त्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। आगम अपौरुषेय नहीं है, बल्कि महावीर स्वामी का साक्षात् उपदेश है जिसका संकलन गणधरों द्वारा किया गया है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी आगम-विज्ञान का अक्षय भण्डार है। अक्षर देह से वह जितना विशाल और विराट है उससे भी कहीं अधिक उसका सूक्ष्म एवं गंभीर चिंतन विशद् व महान है। आगम-साहित्य में जैन श्रमणों, आचार-विचार, व्रत-संयम, तप-त्याग, गमनागमन, रोग-चिकित्सा, विद्या-मंत्र, उपसर्ग-दुर्भिक्ष तथा उपवास-प्रायश्चित्त आदि का वर्णन करनेवाली अनेक परम्पराओं, जनश्रुतियों, लोक-कथाओं और धर्मोपदेश का पद्धतियों का वर्णन है। वास्तुशास्त्र, ज्योतिषविद्या, भूगोल-खगोल, संगीत, नाट्य, विविध कलाएँ, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान आदि अनेकानेक विषयों का यहाँ विवेचन किया गया है। इन सब विषयों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है जिससे हमारे प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की अनेक त्रुटित शृंखलाएँ जोड़ी जा सकती हैं।

परम्पराओं से प्राप्त ज्योतिष ग्रन्थ

जैन साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध है, किन्तु इस साहित्य की प्रारंभिक एवं आधारभूत भाषा प्राकृतभाषा है। प्राकृत-साहित्य में सिद्धान्त और दर्शन का जितना विवेचन है उतना ही लौकिक और जीव विज्ञान से संबंधित विषय भी प्रतिपादित हुआ है। त्रिविक्रम ने भी अपने प्राकृत शब्दानुशासन में देश्य भाषाओं की भाँति आर्षप्राकृत की स्वतंत्र उत्पत्ति मानते हुए उसके लिए व्याकरण के नियमों की आवश्यकता नहीं बताई। तात्पर्य यह है कि आर्ष भाषा का आधार संस्कृत न होने से वह अपने स्वतंत्र नियमों का पालन करती है। इसे प्राचीन प्राकृत भी कहा है।

साधारणतया मगध के आधे हिस्से में बोली जाने वाली भाषा को अर्धमागधी कहा गया है। अभयदेवसूरि के अनुसार, इस भाषा में कुछ लक्षण मागधी के और कुछ प्राकृत

* व्याख्याता, प्राकृतभाषा विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली।

के पाये जाते हैं, अतः इसे अर्धमागधी कहा है। इससे मागधी और अर्धमागधी भाषाओं की निकटता पर प्रकाश पड़ता है। मार्कण्डेय ने शौरसेनी के समीप होने से मागधी को ही अर्धमागधी बताया है। मतबल यह कि पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी के बीच के क्षेत्र में बोली जाने के कारण यह भाषा अर्धमागधी कही जाती थी। मागधी का शुद्ध रूप इसमें नहीं था। क्रमदीश्वर ने अपने संक्षिप्तसार में इसे महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण बताया है।

प्राकृत भाषा के मूल दो भेद हैं - कथ्य साहित्य, निबद्ध साहित्य। कथ्यभाषा, जो कि जनबोली के रूप में प्राचीन समय में वर्तमान थी, जिसका साहित्य नहीं मिलता है², किन्तु उसके रूपों की झलक छान्दस् साहित्य में मिल जाती है, वह प्रथम स्तरीय प्राकृत है।

द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषा को तीन युगों में विभक्त किया गया है। 'प्रथम युग', 'मध्य युग' एवं 'अर्वाचीन युग' या 'अपभ्रंश युग'।

प्रथम युगीन प्राकृतों में (1) शिलालेखी प्राकृत, (2) प्राकृत धम्मपद की प्राकृत, (3) आर्ष-पालि, (4) प्राचीन जैन सूत्रों की प्राकृत और (5) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत। इस युग की समय सीमा ई. पू. 6वीं शती से ईस्वी के द्वितीय शताब्दी तक है। बौद्ध जातकों की भाषा भी इसी युग के अन्तर्गत मानी जा सकती है।

दिगम्बर जैन परम्परा यह मानती है कि भगवान महावीर के उपदेशों को जो 12 अंग ग्रन्थों के रूप में संकलित किया गया था उसमें से केवल 12वाँ अंग दृष्टिवाद आगम सुरक्षित रहा और शेष 11 अंग ग्रन्थ विच्छिन्न हो गए। उपलब्ध दृष्टिवाद आगम के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थ लिखे जिनमें तीर्थंकरों की वाणी सुरक्षित है। 'कषायपाहुड', षट्खंडागम, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ, तिलोयपण्णत्ति, मूलाचार, भगवती आराधना आदि प्राकृत ग्रन्थ जैन आगम परम्परा के ही ग्रन्थ माने जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि ज्योतिष शास्त्र का सर्वप्रथम वर्णन दृष्टिवाद अंग ग्रन्थ में हुआ था। उसी के आधार पर प्राचीन आगम ग्रन्थों, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, धवला आदि ग्रन्थों में ज्योतिष विषयक सामग्री उपलब्ध होती है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर की वाणी 12 अंग ग्रन्थों में सुरक्षित हुई थी किन्तु उसमें से दृष्टिवाद नामक 12वाँ अंग ग्रन्थ लुप्त हो चुका है और शेष 11 अंग ग्रन्थ तथा उनपर लिखा गया व्याख्या साहित्य जैन आगमों के रूपों में आज उपलब्ध है।

जैन आगम परम्परा के स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र, भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आदि ग्रन्थों में भी ज्योतिष के विभिन्न अंगों का वर्णन प्राप्त होता है। इन आगमिक ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत ग्रन्थों की परम्परा में ज्योतिषकरंडक, अंगविज्जा, गणिविज्जा, जोइससार, लग्गसुद्धि, विवाहपडल, करलकखण, लोक-विजय यंत्र, रिट्टसमुच्चय, जोईसहीर आदि प्राकृत ग्रन्थों में ज्योतिष शास्त्र का विश्लेषण हुआ है।

सूर्यप्रज्ञप्ति ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति ये क्रमशः 6ठे तथा 7वें उपांग हैं। कई ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति को पाँचवाँ तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति को सातवाँ उपांग लिखा है। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य आदि ज्योतिष्क चक्र का वर्णन है। इसमें एक अध्ययन 20 प्राभृत, उपलब्ध मूलपाठ 2200 श्लोक परिमाण है। गद्यसूत्र³ 108 तथा पद्यगाथा 103 हैं। इसी प्रकार चन्द्रप्रज्ञप्ति में भी है। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र आदि ज्योतिष्क चक्र का वर्णन है।

सूर्यप्रज्ञप्ति प्राचीन उपांग ग्रन्थ है। इसका उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा स्थानकवासी तीनों परम्पराओं में प्राप्त है। सूर्यप्रज्ञप्ति के 20 प्राभृतों में खगोलशास्त्र की जितनी सूक्ष्म विचारणाएँ प्रस्तुत हुई हैं, उतनी अन्यत्र कहीं एक साथ प्रस्तुत नहीं हुई हैं। इसका उपक्रम मिथिला नगरी में जितशत्रु के राज्य में नगर से बाहर मणिभद्र चैत्य में वर्द्धमान महावीर के पधारने पर धर्मोपदेश के पश्चात् गणधर गौतम की जिज्ञासा के समाधान हेतु हुआ है। इसमें “मण्डलगतिसंख्या, सूर्य का तिर्यक् परिभ्रमण, प्रकाश्य क्षेत्र परिमाण, प्रकाश संस्थान, लेश्या प्रतिघात, ओजः संस्थिति, सूर्यावरक उदयसंस्थिति, पौरुषी छायाप्रमाण, योगस्वरूप, संवत्सरों के आदि और अन्त, संवत्सर के भेद, चन्द्र की वृद्धि अपवृद्धि, ज्योत्स्नाप्रमाण, शीघ्रगति निर्णय, ज्योत्स्ना लक्षण, च्यवन और उपपात, चन्द्र सूर्य आदि की ऊँचाई, उनका परिमाण एवं चन्द्रादि के अनुभव आदि” विषयों की विस्तृत चर्चा है। अतः यह ग्रन्थ खगोलशास्त्र के चिन्तकों के लिए पर्याप्त उपयोगी तथ्य उपस्थापित करता है।

सभी ज्योतिष्क देव पाँच यूथों में विभाजित होते हैं और वे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। केवल मनुष्य सृष्टि के लिए ही ये सतत् गतिशील रहते हैं ऐसा प्रतीत होता है, यहाँ सूर्य-चन्द्र की बहुलता के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण जैन सिद्धान्त की लाक्षणिकता के लिये आवश्यक है।

मुख्यतः जम्बूद्वीप (मध्यलोक) में दो सूर्य, दो चन्द्रों का होना माना जाता है। समय विभाजन इन ज्योतिर्मय देवों की गति से ही निर्धारित होता है। जम्बूद्वीप और उसके बाद वाले असंख्य द्वीप समुद्रों में सूर्य-चन्द्र हर समय प्रकाश फैला रहे हैं। यथा-

(1)	जम्बूद्वीप में	2 सूर्य	2 चन्द्र
(2)	लवणसमुद्र में	4 सूर्य	4 चन्द्र
(3)	धातकीखण्ड में	12 सूर्य	12 चन्द्र
(4)	कालोदधिसमुद्र में	42 सूर्य	42 चन्द्र
(5)	अर्ध पुष्करद्वीप में	72 सूर्य	72 चन्द्र
		132 सूर्य	132 चन्द्र

आगे मध्यलोक के असंख्यात द्वीपसमुद्रों के सूर्य-चन्द्र परस्पर द्विगुणित संख्या में उपस्थित हैं। ढाई द्वीप के बाहर सौर मण्डल अवस्थित हैं। अर्थात् सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र आदि का भ्रमण नहीं होता है। मात्र मनुष्य लोक में ज्योतिष्क यूथ सतत् गतिशील हैं। मानो

मनुष्यों को प्रकाश देते हुए सन्देश दे रहे हैं कि संसार भ्रमण से मुक्ति पाने का यही निश्चित स्थान है। तीन लोक के अन्य किसी भी स्थान से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है।

अधोलोक में ज्योतिर्मण्डल नहीं है। परन्तु, सात नरकों के जो पटल हैं वे प्रकाश से सम्बंधित हैं। 'रत्नशर्करा बालुका' आदि। सात पटलों के नाम क्रम से प्रकाश से च्युत होकर अन्धकार की ओर जा रहे हैं।

जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत विराजमान है। पर्वत की समतलभूमि से ऊपर 790 योजन पर तारा मण्डल है। वहाँ से 110 योजन ऊँचाई तक मात्र तिर्यग् लोक व्याप्त है। ज्योतिर्लोक को तिर्यग्लोक इसलिए कहा कि सारे ग्रह नक्षत्र सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा कर रहे हैं। वृत्ताकार में घूमते समय ग्रहों के पीठ सुदर्शन मेरु के तरफ होना चाहिए था। परन्तु ऐसा हुआ नहीं यह एक विचारणीय बिन्दु है। तारामंडल से 10 योजन ऊपर सूर्य, वहाँ से 80 योजन चन्द्रमा, वहाँ से 4 योजन नक्षत्र, से 4 योजन बुध, से 3 योजन शुक, से 3 योजन गुरु, से 3 योजन मंगल, से 3 योजन शनि उत्तरोत्तर ऊँचाई पर भ्रमणशील हैं।

सुमेरु पर्वत से 1121 योजन दूरी पर 'भ्रमणवीथी' है। सूर्य 184 मण्डलों में भ्रमण करता है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा सतत् भ्रमण कर रहे हैं। प्रथम सूर्य सुमेरु की आग्नेयदिशा से तथा द्वितीय सूर्य वायव्य दिशा से भ्रमण प्रारम्भ करता है। प्रथम चन्द्र ईशान दिशा से तथा द्वितीय चन्द्र नैऋत्य दिशा से भ्रमण प्रारम्भ करता है।

दोनों सूर्य के बीच भ्रमण करते समय 5 योजन 35/61 भाग अन्तर होता है। 184 मंडल के 183 अन्तर होते हैं। 1 मंडल का दूसरे मण्डल तक 2 योजन 48/61 भाग का अन्तर होता है। जम्बूद्वीप क्षेत्र एक लाख योजन के विषकम्भ वाला है। प्रत्येक सूर्य 180 योजन अवगाहन करके संचार करता है।

'सूर्यप्रज्ञप्ति' ग्रन्थ में 88 महाग्रहों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनके नाम भी अंकित हैं- इंगालए, वियालए, लोहिअक्खे इत्यादि।

ग्रन्थकार ने पाँच संवत्सर का एक युग माना है- 'ता' पंच संवच्छरिए णं जुगे'। 12वें प्राभृत में पाँच प्रकार के संवत्सर का उल्लेख किया है। (1) नक्षत्र संवत्सर, (2) चन्द्र संवत्सर, (3) ऋतु संवत्सर, (4) आदित्य संवत्सर तथा (5) अभिवर्धित संवत्सर। छः ऋतुओं का प्रमाण, छः क्षय तिथियाँ, छः अधिक तिथियाँ, एक युग में सूर्य और चन्द्र की आवृत्तियाँ और उस ससमय नक्षत्रों का योग और योगकाल आदि का वर्णन है।

'सावण बहुल पडिवए बालबकरणे अभिईनक्खत्ते।

सव्वत्थ पढम समये युगस्साआई वियाणाहि*॥ -(ज्योतिषकरणडक)

तुलना

'सावण बाहुल पाडिव रुद्धमुहुत्ते सुहोदये रविणो।

अभिजिस्स पढमजोए जुगस्स आदीइमस्स पुढे*॥ -(तिलोयपण्णत्ती)

जैन आगम के अनुसार नवीन वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा का होता है। इस दिन भगवान महावीर की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी। युग का आरम्भ श्रावण मास कृष्ण पक्ष प्रतिपदा तिथि अभिजित् नक्षत्र, बालव करण, रौद्र मुहूर्त सूर्य उदय के समय में होता है।

पूर्णिमा और अमावस्या का चन्द्र योग का अधिकार

पौर्णिमा	अमावस्या	कुलनक्षत्र	उपकुल नक्षत्र	कुलोपकुल नक्षत्र
1. श्रावणी	मघी	धनिष्ठा	श्रवण	अभिजित्
2. भाद्रपदी	फाल्गुनी	उ. भाद्रपद	पू. भाद्रपद	शतभिषा
3. अश्विनी	चैत्री	अश्विनी	रेवती	
4. कार्तिकी	वैशाखी	कृत्तिका	भरणी	
5. मार्गशीर्षी	जेष्ठी	रोहिणी		
6. पौषी	आषाढी	पुष्य	पुनर्वसु	आर्द्रा
7. मगधी	श्रावणी	मघा	आश्लेषा	
8. फाल्गुनी	भाद्रपदी	उ. फाल्गुनी	पू. फाल्गुनी	
9. चैत्री	अश्विनी	चित्रा	हस्त	
10. वैशाखी	कार्तिकी	विशाखा	स्वाति	
11. ज्येष्ठी	मार्गशीर्षी	मूल	ज्येष्ठा	अनुराधा
12. आषाढी	पौषी	उ. षाढा	पू. षाढा	

पूर्णिमा और अमावस्या का चन्द्र योग का अधिकार

चन्द्रमा जिस नक्षत्र के साथ संयोग करेगा वह मास का नाम होगा- जैसे चित्रा नक्षत्र पर चन्द्रमा पूर्ण कलाओं से युक्त होता है। वह 'चैत्र' मास कहलाता है। यह एक मौलिक सिद्धान्त यहाँ तक प्रतिपादित है जो आज तक अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। श्रावण माह में चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र में पूर्ण कलाओं से युक्त होता है तथा मघ मास का अमावस्या सही छः महीने बाद मघा नक्षत्र पर चन्द्रमा रहते हुए अन्धकार की रात्रि होती है। इसी तरह प्रत्येक पौर्णिमा के नक्षत्र मास को सही छः महीने बाद आने वाला नक्षत्र मास अमावस्या का होगा-

'दुवाल्स'¹⁰ पुष्णिमासु अमावासासु य चंदेण-णक्खत्तसंजोगो'

कुल 28 नक्षत्रों का उल्लेख है, जो अभिजित् नक्षत्र से प्रारम्भ होकर श्रवण आदि उत्तराषाढा पर्यन्त नक्षत्र संस्थान निर्धारित करके विश्वज्योतिर्विज्ञान को एक नये मौलिक चिन्तन का स्रोत प्रतिष्ठापित किया है।

सूर्य के ओज स्थान प्रकाश परिधि का निर्णय करते हुए समय, मुहूर्त, रात्रि, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत, वर्षसहस्र, वर्षशतसहस्र, पूर्व, पूर्वशत आदि उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तक 25 भेदों वाला कालचक्र की प्रतिपत्तियों का उल्लेख है।

काल'¹¹ प्रमाण - (धवला, 3/34)

- | | | |
|-----|--|------------------------|
| (1) | समय-एक परमाणु के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मंदगति से जाने का काल। | |
| (2) | असंख्यात समय | : 1 आवली |
| (3) | 4 संख्यात आवली | : 1 उच्छ्वास, प्राण 1 |
| (4) | 7 उच्छ्वास | : 1 स्तोक 5 1/4 सेकण्ड |
| (5) | 7 स्तोक | : 1 लव 37 1/2 सेकण्ड |

- | | | | |
|-----|-------------|---|--|
| (6) | 37 1/2 लाव | : | 1 नाली (घटी) |
| (7) | 2 नाली | : | 1 मुहूर्त, 48 मिनट, भिन्न मुहूर्त,
अंतर्मुहूर्त |
| (8) | 30 मुहूर्त | : | 1 अहोरात्र 24 घंटे |
| (9) | 15 अहोरात्र | : | 1 पक्ष |

सूर्यप्रज्ञप्तिकार ने सप्ताह की परिपाटी को स्वीकृत नहीं किया है तथा 15 दिन का पक्ष निर्धारित किया है। इनके दिन-रात्रि भेद से दिन के 15 स्वतंत्र नाम और रात्रि के 15 स्वतंत्र नाम उल्लिखित किये हैं। सोमवार, मंगलवार आदि वारों का उल्लेख प्राप्त होता है। 30 मुहूर्तों के रौद्र, श्वेत आदि नामों से 30 नाम अंकित किये हैं। 30 मुहूर्त का 1 अहोरात्र होता है जिसमें 15 दिन के तथा 15 रात्रि के मुहूर्त का विश्लेषण किया है।

तिथि के विषय में दिन के और रात्रि की तिथि के नाम अंकित किये हैं। उनकी संज्ञायें (1) णंदे, (2) भदे, (3) जए, (4) तुच्छे तथा (5) पुण्णे हैं। ये क्रम से 1 से 5, 6 से 10, 11 से 15 दिन की तिथियाँ वही संज्ञायें एक पक्ष में प्रयुक्त होती हैं। 1 संवत्सर के 12 मास निर्धारित किये हैं। उनके दो भेद किये हैं- (1) लौकिक मास-श्रावण से प्रारंभ होकर आषाढ़ को समाप्त होता है। (2) लोकोत्तर मास के नाम 12 हैं। वे अभिनन्दन से प्रारम्भ होकर 'वनविरोही' संज्ञा तक सूचित हैं।

उपसंहार

सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति भूगोल व खगोल का महत्वपूर्ण कोष है। डॉ. विन्टरनिट्स ने सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति को उनमें उल्लिखित गणित और ज्योतिष विज्ञान को महत्वपूर्ण माना है। डॉ. शुब्रिंग ने जर्मनी की हेम्वर्ग यूनिवर्सिटी में अपने भाषण में कहा कि 'जैन विचारकों ने जिन तर्कसम्मत एवं सुसंमत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से भी अमूल्य एवं महत्वपूर्ण हैं। विश्व-रचना के सिद्धान्त के साथ-साथ उसमें उच्चकोटि का गणित एवं ज्योतिष विज्ञान भी मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणित एवं ज्योतिष पर गहराई से विचार किया गया है। अतः सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन के बिना भारतीय-ज्योतिष के इतिहास को सही रूप से नहीं समझा जा सकता। वेबर ने सन् 1868 ई. 'फ्रेंच डी सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक निबंध प्रकाशित किया था। डॉ. आर. शाम शास्त्री ने इस उपांग का 'ए ब्रीफ ट्रान्सलेशन ऑफ महावीराज सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक संक्षिप्त अनुवाद किया है। इस आगम में आये हुए दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता का 'भास्कर' ने अपने सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में और ब्रह्मगुप्त ने अपने 'स्फुट सिद्धान्त' में खण्डन किया है, किन्तु डॉ. घिबौ ने 'जनरल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' में 'ऑन द सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक अपने शोधपूर्ण लेख में प्रतिपादित किया कि ग्रीक लोगों के भारतवर्ष में आगमन के पूर्व उक्त सिद्धान्त सर्वमान्य था। उन्होंने भारतीय ज्योतिष के अति प्राचीन ज्योतिष्य वेदांग ग्रंथ की मान्यताओं के साथ सूर्यप्रज्ञप्ति के सिद्धान्तों की समानता बताई है।

मोक्षमार्ग में आगम सर्वोपरि है। उसके हार्द को समझे बिना कोई भी संसारी प्राणी सम्यक्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता। श्रावक और साधु की चर्या के बारे में समग्र परिचय

आगमों से प्राप्त होता है¹²। श्रावक धर्म में दान एवं पूजा मुख्य है। मुनि धर्म में ध्यान एवं अध्ययन ये दोनों प्रमुख कार्य हैं। इसके बिना रत्नत्रय आराधना नहीं हो सकती। बिना रत्नत्रय के मोक्षमार्ग नहीं, इसलिए मनुष्य के विकास में सहायक इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति इन तीनों की सूचना ग्रह रश्मियों से प्राप्त होती है। जैन चिन्तकों के अनुसार ग्रह रश्मियाँ फल सूचक निमित्त मात्र हैं। व्यक्ति अपने प्रबल पुरुषार्थ से ग्रहों द्वारा सूचित फलादेश में उत्कर्ष और संक्रमण कर जीवन को मंगलमय बनाता है।

ग्रंथ-संदर्भ

1. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ 31, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन।
2. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 17, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री।
3. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 264, श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री।
4. सूर्य-प्रज्ञप्ति प्रस्तावना, पृ. 30, डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी।
5. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, अध्याय 3, सूत्र-1।
6. धवला ग्रंथ, खण्ड-4
7. सूर्यप्रज्ञप्ति, दशम प्राभूत (18वाँ प्राभूत) सूत्र 52/क/उ
8. ज्योतिष्करण्डक संस्कृत टीका।
9. तिलोयपण्णती, 1/70
10. दशम प्राभूत, सप्तम प्राभूत, चंदपण्णती-संपादक-मुनिश्री कन्हैयालाल कमल, पं. शोभाचंद्र भारिल्ल।
11. काल प्रमाण, धवला 3/34 ।
12. प्राकृत साहित्य में वर्णित ज्योतिष का आलोचनात्मक परिशीलन, पृष्ठ 373, शोध-प्रबंध, डॉ. जयकुमार उपाध्ये।

आयुर्वेद और पतञ्जलि

डॉ. गजेन्द्र कुमार जैन*

महर्षि पतञ्जलि के विषय में विद्वानों की दो धाराएँ प्रचलित हैं: (1) महर्षि पतञ्जलि ही चरक के रूप में आयुर्वेद शास्त्र अग्निवेशतंत्र के प्रति संस्कर्ता हैं, पतञ्जलि नाम से पाणिनीय अष्टाध्यायी के भाष्यकार हैं और पतञ्जलि के नाम से ही योगानुशासन के प्रणेता हैं, और (2) तीनों शास्त्रों के कर्ता भिन्न-भिन्न कालों में अवतरित भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। अतः यहाँ पर व्यक्तित्व निर्णय के विषय में कुछ युक्तियों को प्रदर्शित किया जा रहा है-

1. महर्षि चरक कुषाणवंशीय राजा कनिष्क के राजवैद्य थे।
2. कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा के टीकाकार वैश्यम्पायन शिष्य चरक ही अग्निवेशतंत्र के प्रति संस्कर्ता थे।
3. इरावती और चन्द्रभागा (पंजाब प्रदेश की) नदियों के बीच के स्थान कपिस्थल ग्राम में उत्पन्न होने से इनका विशेषण कपिष्ठल था और यह शबर गोत्र अर्थ में प्रयुक्त होता था।

महर्षि पतञ्जलि के तीन रूपों में एक व्यक्तित्व स्वीकार करने की पृष्ठभूमि में अनेक ग्रन्थों के वचन उपलब्ध हैं-

1. आचार्य चक्रपाणि का चरक संहिता टीका के आरम्भ का श्लोक-
पतञ्जलि महाभाष्य चरक प्रतिसंस्कृते।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेहिपतये नमः॥
2. नागेशभट्ट का वचन व्याकरण मंजूषा में आया है-
आप्तो नाममनुभवेन वस्तुतत्त्वम्य कात्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी य, स इति चरके पतञ्जलिः।
3. भाव प्रकाश में वर्णित क्रम के अनुसार में विशुद्ध नामक ऋषि के पुत्र और अनन्त शेषनाग के अवतार थे।
4. वाक्यपदीय ग्रन्थ के ब्रह्मकाण्ड में त्रिकरण श्रुद्धि के प्रसंग में उपलब्ध श्लोक-
कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समुपस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः। 1/147

के आधार पर वाक्यपदीय टीकाकार पुण्यराज ने अर्थापत्ति से इसका अर्थ महर्षि पतञ्जलि की प्रशंसा लिया है।

* उपाचार्य, शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, आभखो, ग्वालियर।

5. योगसूत्र पर राजमार्तण्डवृत्ति (11वीं शताब्दी) ने भी आचार्य चक्रपाणि के ही अभिप्राय के समान तीनों शास्त्रों के रचयिता के रूप में महर्षि पतञ्जलि के एक व्यक्तित्व को स्वीकार किया है।

6. रामभद्र दीक्षित कृत पतञ्जलिचरित की वन्दना-

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

7. महाभाष्य पस्पशाह्निक उद्योत का यह वाक्य-

योगसूत्रे पतञ्जल्युक्तेः।

8. अथ योगानुशासनम् और अर्थ शब्दानुशासनं वाक्यों में समानता।

इसके विपरीत तीनों व्यक्तित्वों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करने वालों के अपने तर्क हैं-

1. जे. एच. बुड्स की युक्तियाँ-

(क) द्रव्य का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से और विज्ञानवाद का खण्डन होने से योगसूत्रकार का काल वसुबन्धु के बाद 300-400 ई. टहरता है।

(ख) निरालम्ब सम्प्रदाय विज्ञानवादियों का खण्डन योगसूत्र 3/14-15 एवं 4/14-21 में है। अतः ये वसुबन्धु से परवर्ती हैं।

(ग) माघ के शिशुपालवध में योगसूत्र 1/33 का उल्लेख है अतः ये माघ (7वीं शती) के पूर्ववर्ती हैं।

(घ) सातवीं शती के आसपास ही गौडपाद ने सांख्य कारिका 23 के भाष्य में योगसूत्र 2/30-32 का और पतञ्जलि का उल्लेख किया है।

2. प्रोफेसर जेकोबी की युक्तियाँ-

(क) पतञ्जलि में योगसूत्र 3/17 में नामतः उल्लेख न करने पर भी भाष्यकार पतञ्जलि के स्फोटवाद का आश्रय लिया है।

(ख) योगसूत्र में अन्तःकरण का विभुत्व और परमाणु का उल्लेख वैशेषिक दर्शन के प्रभाव से है।

(ग) काल की सत्ता को काल्पनिक और क्षणों की सत्ता को वास्तविक मानना सौत्रान्तिक बौद्धों का प्रभाव है।

विमर्श-

1. महाभाष्य के प्रयोग-

(क) पुष्यमित्रं यजामहे, मित्रं याजयामः, पुष्यमित्र सभा।

(ख) चन्द्रगुप्त सभा।

(ग) अरुणद् यवनः साकेतम्।

इन वाक्यों के आधार पर स्पष्ट है कि महाभाष्य की रचना पुष्यमित्र के काल में हुई जो ईसा से तृतीय-द्वितीय शताब्दी पूर्व सिद्ध होती है। यही तथ्य (Manander king of Bactria) के साकेताक्रमण काल से भी सिद्ध होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य का भी यही काल है।

2. राजवैद्य चरक-

कनिष्क के राजवैद्य चरक का काल 2सरी शती है।

3. चरक संहिता में काप्य और कात्यायन ऋषियों का नाम आया है पर पतञ्जलि का नाम नहीं है।

4. चरक शाखा के ऋषियों में से किसी ऋषि द्वारा अग्निवेश तंत्र की रचना नहीं की गयी अपितु प्रतिसंस्कार किया गया है। जबकि अग्निवेश का नाम पाणिनी के गणपाठ में आया है और ये महर्षि पाणिनी से पूर्व विद्यमान थे।

5. चरक संहिता की पुष्पिकाओं में पतञ्जलि नाम न होकर चरक नाम आया है।

यदि शेषनाग के अवतार के रूप में तीन व्यक्तित्वों को पृथक्-पृथक् भी स्वीकार किया जाये तो राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों के समान ही पृथक्-पृथक् अस्तित्व सम्भव है। यह निश्चित है कि चरक संहिता की भाषा उपनिषद् कालीन है जबकि योगानुशासन ने सूत्र शैली का अनुसरण किया है। चरक संहिता की भाषा में प्रसादगुण है जबकि भाष्य की भाषा संक्षेपण की प्रवृत्ति लिए है।

योगसूत्र में ईश्वर को स्वीकार किया गया है जबकि चरक संहिता में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया गया है। चरक संहिता में सांख्य का स्वरूप ब्रह्म-परिणामवादी है तो योगसूत्र द्वैतवादी होने के साथ-साथ त्रैतवादी है। योगसूत्र में 26 तत्व माने गये हैं जबकि चरक संहिता में 24 तत्व।

इन सब तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि महर्षि चरक और दोनों पतञ्जलि व्यक्तित्व के रूप में भिन्न-भिन्न थे लेकिन अवतार मूल के रूप में शेषनाग से अभिन्न थे। जहाँ तक व्याकरण-मंजूषा में उद्धृत आप्त की परिभाषा के बाद का उद्धरण वचन का प्रश्न है, चरक पतञ्जलि: उसका अर्थ चरकोपरि पतञ्जलि करते हुए चरक संहिता की व्याख्या पर पतञ्जलि वचन माना गया है। आर्य प्रदीप में चरक की एक पातञ्जल व्याख्या का उल्लेख है इसका नाम पातञ्जलवार्तिक था। यजुर्वेद की चरक शाखा तो महाभारत काल से ही प्राप्त है इस सम्प्रदाय के ही किसी ऋषि ने या ऋषि समूह ने अग्निवेश तंत्र का प्रति संस्कार किया। यजुर्वेद के 86 भेदों में चरक के 12 भेद बताये गये हैं चरकानाम द्वादश भेदाः यथा कपिष्ठला चरकाः।

इसलिए तीनों व्यक्तित्वों को भिन्न मानना ही उचित है।

'आयुर्वेद और पतञ्जलि' का अभिप्रायः

उक्त विषयनाम से स्पष्ट है कि पातञ्जल योगसूत्र, पातञ्जल महाभाष्य एवं आयुर्वेदिक चरक संहिता के वर्ण्य विषय में समानता है अथवा नहीं। साथ ही वर्ण्य विषय का अभिप्राय योगदर्शन की विषय-वस्तु से है। अतः योगदर्शन की विषय-वस्तु को केन्द्र में रखकर कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं। दोनों शास्त्रों में सामान्यतः उपलब्ध तथ्य निम्नलिखित हो सकते हैं:-

1. योग, योगांग
2. कर्म
3. कर्मफल

4. कर्मबन्ध
5. मोक्ष की परिभाषा
6. मोक्ष का स्वरूप
7. मोक्षमार्ग
8. मोक्ष शास्त्र
9. मन
10. शरीर
11. पारिभाषिक शब्दावली
12. अन्य प्रतिपाद्य

1. योग

योग शब्द की व्यापकता

योगसूत्र में जहाँ योग शब्द युज् समाधौ धातु से निष्पन्न होकर प्रयुक्त हुआ है वहीं चरक संहिता में युज् समाधौ दिवादिगणीय (आ.प.); युजिर् योगे रुधादिगणी (उ. प.) और युज् संयमने चुरादिगणीय (प. प.) तीनों धातुओं से निष्पन्न 'योग' शब्दों का प्रयोग हुआ है। समाधि के अर्थ में 'योग' शब्द

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र 1/1 में प्रयुक्त 'योग' शब्द का अर्थ चित्त की वृत्तियों का निरोध अभिप्रेत है। चरक संहिता में इस अर्थ में अनेक स्थलों पर योग शब्द का प्रयोग हुआ है-

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानां अवर्तनम्।

मोक्षे निर्वृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥ च. शारीर 1/137

इसके अतिरिक्त योगियों के अष्टविध बल (च. शा. 140-141),

सत्याबुद्धि (च. शा. 5/16-19), सद्वृत्त (च. शा. 5/12) के सन्दर्भ में प्रयुक्त योग शब्द समाधि के ही पूर्वोक्त अर्थ में आया है।

योग के उपाय या प्रकार

योग दर्शन में चित्तवृत्तिनिरोध अर्थ वाले 'योग' के तीन उपाय बताये गये हैं प्रवर, मध्यम और अवर। समाधिपाद में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।- योगसूत्र 1/12 द्वारा उत्कृष्ट योगोपाय का वर्णन किया गया है, दूसरे पाद में तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र 2/1 द्वारा मध्यम साधकों के लिए योगोपाय बताया गया है, और इसी पाद में आगे यम-नियम आदि अष्टांग योग (योगसूत्र 2/29) का उपदेश अवर साधकों के लिए है। अष्टांग करते हुए पांच नियम बताये गये हैं:- शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिनियमाः। योगसूत्र (2/32), इसमें सम्मिलित शेष तीन तप आदि पूर्वोक्त क्रियायोग के अंग हैं।

चरक संहिता में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है, इस कारण ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग का कहीं पर भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। शेष योगांग तप, स्वाध्याय, शौच, सन्तोष का उल्लेख प्राप्त होता है। आयुर्वेदावतरण की भूमिका तप आदि से ही आरम्भ होती है-

विहनीभूता यदा रोगः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।

तपोपवासाध्ययन ब्रह्मचर्यव्रताजुषाम्। - च. सूत्र 1/6

तथा-

ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च।

धर्मार्थ काममोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

रोगस्तस्याप हर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च। -च. सू. 1/14-15

संयमन के अर्थ में युज् धातु का प्रयोग

प्राकृत वायु के कार्यों का वर्णन करते हुए इन्द्रियों के उद्योजक के रूप में वायु का निरूपण किया गया है- वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः सर्वेन्द्रियाणां उद्योजकः । - च. सूत्र 12/8

संगमन / संसक्ति के अर्थ में योग शब्द

रोग और आरोग्य के कारण के रूप में चार प्रकार का और एक प्रकार का योग क्रमशः बताया गया है- यह योग युजिर् योगे धातु से निष्पन्न है-

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च

द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतु संग्रहः। च. सू. 1/54

इस सूत्र में मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग ये तीन प्रकार बताये गये हैं, कहीं-कहीं पर तीन योग नाम से भी उपदेश है। ये चार योग रोग के कारण हैं। समयोग आरोग्य का कारण है-

शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।

तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः॥ -च. सू. 1/55

पातञ्जल महाभाष्य में यद्यपि तत्तत् प्रकरणों में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु योगदर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ न होने से शब्द प्रयोग को दार्शनिक धारा का सामञ्जस्य नहीं कहा जा सकता।

2. कर्म

तत्त्वविज्ञान अर्थात् पदार्थ विज्ञान में द्रव्याश्रित कर्म को एक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है जो वैशेषिक दर्शन का प्रतिपाद्य है। किन्तु पौर्वदैहिक कर्म के रूप में एक पृथक् तत्त्व का वर्णन कर्म सिद्धान्त का प्रतिपाद्य उससे भिन्न है। भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराओं में पौर्वदैहिक कर्म को अत्यन्त व्यापक रूप में समर्थन प्राप्त है। योग दर्शन में इसी कर्म का उल्लेख हुआ है-

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्ट्यादृष्टजन्मवेदनीयः। - योगसूत्र 3/12

इसी अर्थ में चरक संहिता में परिभाषा के साथ कर्म का विवेचन किया गया है। यह कर्म योग का भी कारण हो सकता है। इस प्रकार के योग की शान्ति उस कारणभूत कर्म के क्षय से बतायी गयी है-

न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।

क्रियाघ्ना कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥ -च. शा. 1/17

कर्म और पुरुषकार शब्दों में भेद स्थापित करते हुए 'कर्म' को परिभाषित किया

गया है और उस द्विप्रकारक कर्म के तीन-तीन प्रकार भी बताये गये हैं-

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्मयत् पौर्वदैहिकम्।

स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते य दिहापरम्॥

बलाबलविशेषात् तु तयोरपि च कर्मणोः।

दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम्॥ -च. विमान 3/30-31

3. कर्मफल

जैसा कि पूर्व के प्रकरण में बताया गया है कि छोटा-बड़ा ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसके फल का भोग नहीं करना पड़ता हो। अर्थात् यदि कर्म का क्षय तप आदि विशेष उपायों से नहीं किया जाता तो कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

योगसूत्र में कहा गया है कि उस कर्म का विपाक होने पर जन्म, आयु और भोग होते हैं-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र 3/13

यह सिद्धान्त चरक संहिता में भी समान रूप से स्वीकार किया गया है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। 'कर्मफल' संयुक्त शब्द का प्रयोग भी चरक संहिता विमान स्थान में आया है-

..... सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा इति। - च. वि. 8/37

4. कर्मबन्ध

कर्मफल के सिद्धान्त को भारतीय दर्शन में स्थान सर्वत्र दिया गया है किन्तु कर्मबन्ध का स्वरूप मात्र जैन दर्शन में बताया गया है। कर्मबन्ध के लिए प्रकरण में 'बन्ध' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। योगसूत्र में बन्ध शब्द का प्रयोग ज्ञात नहीं हो सका, किन्तु चरक संहिता में कर्म के प्रकरण में बन्ध शब्द का स्पष्ट प्रयोग है-

भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्।

न स्युः कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि॥

नाश्रयो न सुखं नार्ति न गति न वाक्।

न विज्ञानं न शास्त्राणि पुरुषो न भवेद् यदि॥

न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद् यदि। - च. शा. 1/39-40

बन्ध के लिए संग शब्द भी प्रयुक्त हुआ है-

यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स संगः। -च. शा. 5/12

5. मोक्ष की परिभाषा

चरक संहिता में कर्म के क्षय को मोक्ष के रूप में परिभाषित किया है और उसकी प्रक्रिया में रज और तम दोषों के अभाव के कारण सभी संयोगों से वियोग होना कहा है-

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।

वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते। - च. शा. 1/142

मोक्ष को पर्याय शब्दों के द्वारा प्रतिपादित करते हुए मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट किया गया है-

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।

अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते॥ च. शा. 5/23

इस प्रकार का विवरण योगसूत्र में प्राप्त नहीं होता।

6. मोक्ष का स्वरूप

संसारी और मुक्त जीव में अन्तर स्पष्ट करते हुए चरक संहिता में मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है-

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।

ससंज्ञाज्ञानविज्ञानाः निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।

निःसृतः सर्वभावेभ्यो चिन्हं यस्य न विद्यते।

ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति। - च. शा. 1/154-155

इसी से मिलता-जुलता समाधि का लक्षण योगसूत्र में प्राप्त होता है-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। - योगसूत्र 3/3

मुक्त का लक्षण

मुक्त जीव का कोई लक्षण इसलिए नहीं है क्योंकि उसके सभी करणों का अभाव हो जाता है-

नात्मनः करणाभावाल्लिंगमप्युपलभ्यते।

स सर्वकरणाभावान्मुक्त इत्यभिधीयते। - च. शा. 5/22

7. मोक्ष का मार्ग

योग दर्शन में मोक्ष नामक तत्व का उल्लेख नहीं है। विवेक ख्याति के प्रकरण में वीतराग के धर्ममेघ समाधि और उस धर्ममेघ समाधि से क्लेशकर्म की निवृत्ति प्रतिपादित करने वाले दो सूत्र कैवल्य पाद में आये हैं-

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेक ख्याते धर्ममेघ समाधिः।

ततः क्लेशकर्म निवृत्ति। - योगसूत्र 4/29-30

इस अवस्था को जीवन्मुक्त अवस्था कहा गया है। किन्तु चरकोक्त मोक्ष स्वरूप में शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म के संयोग के भी वियोग का अभिप्राय निहित है। जीवन्मुक्त और चरममुक्त (चरम संन्यास) इन दोनों प्रकार के मोक्ष के लिए जो मार्ग है वही योग का भी मार्ग है ऐसा जीवन्मुक्तों ने और योगियों ने निरूपित किया है-

एव मार्गोऽपवर्गाय अन्यथा बध्यते। -च. शा. 5/12

तथा-

एतत् तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।

तत्त्वस्मृति बलं येन गता न पुनरागताः॥

अयनं पुनराख्यातं एतद्योगस्य योगिभिः।

संख्यातधर्मैः सांख्यै-मुक्तैर्मोक्षस्य चापनम्॥ -च. शा. 1/150-151

8. मोक्ष शास्त्र

चरक संहिता के काल में मोक्ष शास्त्र नाम से भी कोई शास्त्र अवश्य रहा होगा

इसकी सूचना विरुद्ध वाक्यदोष के प्रकरण में प्राप्त होती है-

... समयः पुनस्त्रिधा भवति-आयुर्वेदिक समयः, याज्ञिक समयः, मोक्षशास्त्रिक समयश्चेति। - च. वि. 8

9. मन

चरक संहिता में मन को द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हुए उस काल में उपलब्ध मनोविज्ञान का परिचय दिया गया है। द्रव्य होने के साथ ही, आयु के एक घटक और व्याधि के आश्रय के रूप में सत्व नाम से मन को प्रतिपाद्य बनाया गया है। तत्त्वचिन्ता प्रकरण में चतुर्विंशति तत्त्वों में मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। जबकि योगदर्शन में मन का तात्त्विक विवेचन प्राप्त नहीं होता अपितु 'चित्त' का उल्लेख मात्र है। यद्यपि यह चित्र सांख्यदर्शन का प्रतिपाद्य है। चरक संहिता में प्राप्त मन का स्वरूप, कर्म, लक्षण वैशेषिक दर्शन से समानता रखते हैं, किन्तु सात्त्विक, राजस, तामस भेदों के भी उपभेदों के रूप में 16 मानस प्रकृतियों का वर्णन आयुर्वेद की मौलिक अवधारणा है। ऐसा वर्णन पातञ्जल योग सूत्र या अन्य दर्शनों में नहीं प्राप्त होता।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।

तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः॥ - च. सू. 1/55

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्ति व्यपाश्रयेः।

मानसो ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-स्मृतिसमाधिभिः॥ - च. सू. 1/58

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।

तद्यविद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशाः॥ - च. सू. 11/47

10. शरीर

चूंकि आयुर्वेद में शारीरिक और मानसिक व्याधियों के आश्रय के रूप में शरीर पुरुष को अधिकरण के रूप में स्वीकार किया गया है इसलिए आयुर्वेद शास्त्रापेक्ष शरीर का वर्णन चरक संहिता में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। किन्तु पातञ्जल योग में प्राण (प्राणायाम सापेक्ष), उदान और समान वायु का उल्लेख है। विभूति पाद में शरीर ज्ञान सम्बन्धी सन्दर्भों का संकलन निम्नानुसार है-

1.	सूर्य (सूर्यनाड़ी)	2/26
2.	चन्द्र (चन्द्रनाड़ी)	2/27
3.	ध्रुव (भूमध्य)	2/28
4.	नाभिचक्र	2/29
5.	कण्ठकूप	2/30
6.	कर्मनाड़ी (डायफ्राम)	2/31
7.	मूर्धा (सहस्रार)	2/32
8.	हृदय	2/34
9.	उदान	2/39
10.	समान	2/40
11.	श्रोत्र	2/41
12.	काय	2/42

11. पारिभाषिक शब्दावलि

प्रत्येक दर्शन की अपनी पारिभाषिक शब्दावली है। कुछ शब्दों को अन्य दर्शनों के द्वारा यथावत् स्वीकार भी कर लिया जाता है। चरक संहिता और योगसूत्र में योग दर्शन विषयक पारिभाषिक शब्दों का प्रायः यथावत् समावेश किया गया है। यहाँ पर ऐसे शब्दों की सूची दी जा रही है—

1. संशय

कर्मफल मोक्षपुरुषप्रेत्यभावादयः सन्ति न वेति संशयः। - च. शा. 5/12

संशयः उभयकोटिस्युग्विज्ञानम्। - योगसूत्र 1/30 पर भाष्य

2. विप्रत्यय

कार्याकार्य-हिताहित-शुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः। - च. शा. 5/12

3. विपर्यय

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्। - योगसूत्र 1/8

4. उपसर्ग

अहंकारादिषूपसर्गसंज्ञा। - च. शा. 5/12

5. अनिर्वेद

योगारम्भे सततमनिर्वेदः। - वही

6. वैराग्य

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। - योगसूत्र 1/15

7. नियमन

नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च। - च. शा. 5/12

8. अध

सर्वप्रवृत्तिष्वधसंज्ञा। - च. शा. 5/12

9. अभिनिवेश

सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः। - च. शा. 5/12

12. अन्य प्रतिपाद्य

चरक संहिता एवं योगसूत्र में प्रकरणवश आये हुए कुछ विषय और भी हैं जिनमें समानता है—

1. सत्याबुद्धि

सुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्याबुद्धिः प्रवर्तते।

यया भिन्नत्यतिबलं महामोहमयं तमः।

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निष्पृहः।

योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया।

यया नोपैत्यहंकारं नोपास्ते कारणं यया।

यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं सन्न्यस्यते यया।

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।

विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता। - च. शा. 5/16-17

इसी प्रकार की प्रज्ञा को योगसूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा नाम दिया गया है- ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योगसूत्र 1/48

2. त्रैकालिक ज्ञान / कैवल्य

पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।

ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपजायते॥ - च. शा. 5/21

इसी प्रकार का वर्णन योगसूत्र में भी आया है-

तद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। - योगसूत्र 3/50

3. जातिस्मर

पातञ्जल योगसूत्र में परिणाम त्रय के संयम से जातिस्मरण ज्ञान का उल्लेख है- संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्। (योगसूत्र 3/18)। इसी प्रकार का सन्दर्भ चरक संहिता में आया है- येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं तेन द्वितीयायामाजातौ संप्रयोगो भवति तदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते, तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति। स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्मैव मनोऽनुबन्धाद् अनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते। - च. शा. 3/13

अष्ट सिद्धि

यागसूत्र में अष्टसिद्धि का स्पष्ट उल्लेख है- तताऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिद्यातश्च।- योगसूत्र 3/45। ठीक इसी प्रकार सत्वबहुल अर्थात् शुद्ध मन के समाधान से प्राप्त होने वाली आठ सिद्धियों का वर्णन चरक संहिता में आया है-

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्धानां छन्दतः क्रियाः।

दृष्टि, श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्।

इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।

शुद्धसत्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते॥ - च. शा. 1/140-141

संसार का कारण

चरक संहिता सांख्य प्रस्थानीय शास्त्र है इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति को केन्द्र में रखकर ही संसार और मोक्ष का विवेचन किया गया है। मोक्ष में रज और तम का अभाव कारण है तो संसार में रज और तम से संयोग-

रजस्तमोर्ध्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।

ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्ववृद्ध्या निवर्तते॥ - च. शा. 1/36

उपधा

रज और तम का मनःसम्बन्ध उपधा है। यह उपधा ही दुःख और दुःख के कारणभूत आश्रय (शरीर) की जनयित्री है। इसलिए दुःखों से मुक्ति का एक मात्र उपाय है उपधा का त्याग-

उपधा हि परो हेतुः दुःख दुःखाश्रयप्रदः।

त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥ - च. शा. 1/95

इच्छा द्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखादुपजायते।

तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥ - च. शा. 1/134

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में आयुर्वेद और महर्षि पतंजलि के विषय में विचार प्रस्तुत किया गया।

जैन महिलाओं के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास

विमला जैन*

1. भारतीय संस्कृति नारी की स्वतंत्रता और अस्मिता को प्राचीन काल से संरक्षित करती रही है। हमारी संस्कृति महिलाओं को पत्नीत्व और मातृत्व के तटबंधों के बीच पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों के सम्यक् निर्वाह का संदेश प्रदान करती है। महिला के विकास का सर्वोच्च शिखर उसका मातृत्व ही है। अतः हम पश्चिम से आए नारी स्वातंत्र्य के अंधानुकरण से बचें और महिला को सशक्त करने और पराधीनता से मुक्त बनाने के लिए विवाह संस्था को पूर्ण सम्मान दें। महिला की स्वतंत्रता देह की मुक्ति और भोग की शक्ति तक ही सीमित नहीं है। महिला की स्वतंत्रता पति और माता के संबंधों से मुक्त होकर देह भोग की उन्मुक्त छूट तक ही सीमित नहीं है। प्रत्येक महिला का कर्तव्य है कि वह पत्नीत्व और मातृत्व की भूमिका का निर्वाह कर पारिवारिक एवं सामाजिक विकास में अपना पवित्र एवं रचनात्मक योगदान दें।
2. भारतीय महिलाओं ने अपनी निष्ठा, साहसिक भूमिका और सजगता से पूरे विश्व को प्रभावित किया है। महाभारत ने प्रभावी ढंग से द्रोपदी, सावित्री और शकुंतला के स्वतंत्र व्यक्तित्व, दृढ़ता, तेजस्विता, अप्रतिम साहस एवं स्वाभिमान का वर्णन किया है। आदि कवि बाल्मीकी ने रामायण में सीता की सजगता, मुखरता और उग्रता को उल्लेखित किया है। उन्होंने सीता के माध्यम से हर पल अपने पति के साथ रहने के हर महिला के अधिकार को संरक्षित किया है। रामचरित मानस में तुलसीदास ने अपनी सौम्यता के साथ सरल किन्तु सशक्त उक्तियों के माध्यम से पति संग रहने के सीता के अधिकार को संस्थापित किया है। सीता ने स्वविवेक से अपने पति राम के साथ वन जाने का निर्णय लेकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्थापित किया है।
3. भारतीय संस्कृति ने अपनी महिलाओं को स्वविवेक से निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रदान की है। पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने का अवसर प्रदान किया है। मध्यकाल में पद्मावत (मलिक मुहम्मद जायसी) ने पद्मावती को मानवीय सदगुणों की जननी घोषित करते हुए पुरुष की श्रेष्ठता के दंभ को ध्वस्त किया है। भारतीय नव जागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय ने सती दाह का विरोध किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन्

* जिला एवं सत्र न्यायाधीश, 30, निशात कॉलोनी, भोपाल, म.प्र. - 462003.

1868 में अपनी पत्रिका कविवचन सुधा में “नारि नर सम होंहि” की प्रभावी उद्घोषणा की है। महात्मा गाँधी ने मीराबाई के चरित्र से सत्याग्रह करने की प्रेरणा प्राप्त की।

4. स्वर्णिम भारतीय इतिहास की इस पृष्ठभूमि को देखते हुए भी वर्तमान में युवकों और युवतियों के बीच इण्टरनेट पर विवाह और ईमेल पर मिलन समारोह हो रहे हैं। अलग-अलग नगरों में रहते हुए अपने लेपटॉप कम्प्यूटर के माध्यम से युवकों और युवतियों के बीच प्रेम संबंध स्थापित हो रहे हैं। प्रोफेशनल युवा पतियों एवं पत्नियों की कार्य संबंधी यात्राएँ बढ़ती जा रही है। उनमें से कुछ दम्पति एक-दूसरे से यात्रा पर आते-जाते समय केवल एयर पोर्ट पर ही मिल पाते हैं। उन्हें एक नगर में एक-दूसरे के साथ कुछ समय के लिए भी रहना संभव नहीं हो पा रहा है। प्रोफेशनल और कैरियर नवयुगल के लिए पारिवारिक समय निरंतर घटता जा रहा है। वैवाहिक संबंधों में पारस्परिक मधुरता कम हो रही है। इन समस्याओं से महानगरों के नवयुगल सर्वाधिक प्रभावित हो रहे हैं। कार्यस्थल से माता-पिता के घर लौटने तक बच्चे सो जाते हैं। ऐसे माता-पिता अपने बच्चों से सप्ताह के अंत में अवकाश के दिन में ही भेंट कर पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अब साप्ताहिक माता-पिता बनते जा रहे हैं।
5. कुछ नवयुगल अपनी व्यस्तताओं के कारण अपने शिशु को जन्म ही नहीं देना चाहते हैं। कुछ नवयुगलों ने शिशु को जन्म ही नहीं देने का निर्णय कर लिया है। वे दोहरी आय किन्तु शिशु नहीं के सिद्धान्त का पालन कर रहे हैं। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि शिशु को जन्म देने से उनके पारस्परिक मिलने का समय और भी कम हो जायेगा। वे अपने प्रोफेशन के सर्वोच्च स्तर पर अपनी पारिवारिक व्यस्तता के कारण नहीं पहुँच सकेंगे। दुखद पक्ष यह है कि वे अपनी वर्तमान परिस्थितियों से संतुष्ट प्रतीत होते हैं।
6. भारतीय उद्योग परिसंघ द्वारा महानगरों से कराए गए सर्वे में यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है कि डबल इनकम नो किड्स का फंडा भारत में लोकप्रिय होता जा रहा है। ऐसे नवयुगल बढ़ते जा रहे हैं जिनके पास दोहरी आय के साधन तो हैं, पर कोई संतान नहीं है। वे ऐशो आराम का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसे नवयुगल, होटल, मनोरंजन, शॉपिंग, फिटनेस सेन्टर और ब्रांडेड कपड़ों पर व्यय कर रहे हैं। विदेशों और देश के पर्यटन स्थलों के भ्रमण पर व्यय कर रहे हैं। अनावश्यक वस्तुओं के क्रय पर व्यय कर रहे हैं किन्तु वे गर्भाधान और शिशु पर व्यय नहीं करना चाहते हैं।
7. प्रत्येक नवयुगल का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपने सम्मिलित प्रयास से शिशु को जन्म दे। अपनी कोख से शिशु को जन्म देना प्रत्येक महिला का परम कर्तव्य है। अपने शिशु का पालन-पोषण करना प्रत्येक माता का धर्म है। प्रत्येक महिला अपने विवाह के साथ प्राकृतिक रूप से ही भावी मातृत्व के सपनों में खो जाती है। गर्भ धारण करते ही अपने ममत्व और चात्सल्य से अपने गर्भस्थ शिशु को अभिसिंचित करती है। शिशु को जन्म देकर अत्यधिक प्रसन्न होती है। यदि नारी स्वयं को किसी भी कारण से ऐसे

मातृत्व सुख से वंचित करती है तो यह निश्चित है कि वह अपनी कोख के खालीपन को आमंत्रित करती है। अपने भावी जीवन में अपनी खाली कोख पर वह निश्चित ही आंसू बहाती रहेगी। उसके आंचल का दूध सूख जायेगा। नारी की मातृत्व की संवेदनाएँ समाप्त हो जायेगी। वह प्राकृतिक जीवन चक्र को ध्वस्त कर देगी।

8. प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ वरदान मातृत्व सुख केवल नारी को ही प्राप्त है। भारतीय संस्कृति नारी को सदैव मातृत्व की गरिमा से अभिमण्डित करती रही है। भारतीय नारी ने असाधारण विपरीत परिस्थितियों में भी मातृत्व के गंभीर उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए शिशु को संरक्षित और संवर्द्धित किया है। राम द्वारा परित्यक्त गर्भवती सीता ने भीषण वन में असह्य कष्ट उठाते हुए लव और कुश को जन्म दिया है। पहाड़ की गुफाओं में पड़ी असहाय अंजना ने हनुमान को जन्म दिया है। हमारे देश की जंगल में लकड़ी बीनती हुई आदिवासी महिलायें शिशु को जन्म दे देती हैं और सिर पर लकड़ी और हाथ में शिशु को लेकर अपने घर आ जाती हैं।
9. यह सही है कि वर्तमान समय में उच्च शिक्षित एवं प्रोफेशनल नव विवाहिताओं और माँ बनने वाली महिलाओं के लिए निजी क्षेत्र में नौकरी करना कठिन होता जा रहा है। अधिकांश कंपनियां नव विवाहित महिलाओं से उनकी योग्यता एवं कार्य अनुभव के साथ ही उनसे मातृत्व विवरण प्राप्त करती हैं। आवश्यक योग्यता एवं कार्य अनुभव होते हुए भी विवाहित, गर्भवती महिलाओं एवं छोटे शिशुओं की माताओं की तुलना में निजी क्षेत्र की अधिकांश कंपनियां अविवाहित महिलाओं को प्राथमिकता दे रही हैं।
10. यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि निजी क्षेत्र की कंपनियां गर्भवती महिलाओं एवं छोटे-छोटे शिशुओं की माताओं को घर बैठे काम दें। पार्ट टाइम जाब दें। उन्हें सीमित और निश्चित काल के लिए नियुक्त करें। टाइम बाउंड जाब की अपेक्षा उन्हें अपनी सुविधानुसार पूर्व निर्धारित घण्टों के लिए प्रोजेक्ट आधारित कार्य दें। यह भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि हमारे उच्च शिक्षित नवयुगल अपने प्रोफेशनल उत्तरदायित्व एवं अपने पारिवारिक/सामाजिक उत्तरदायित्वों के बीच आदर्श ढंग से समन्वय एवं संतुलन स्थापित करें। भारतीय संस्कारों का संरक्षण/संवर्द्धन करते हुए सांस्कृतिक विकास में अपना अनुपम योगदान प्रदान करें।
11. जैन समाज ज्ञान आधारित समाज है। जैन संस्कृति के रत्नत्रय में ज्ञान को महत्वपूर्ण रत्न और केन्द्रीय एवं आधारभूत कड़ी स्वीकार किया गया है। ईसा की द्वितीय शताब्दी में आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः में ज्ञान को केन्द्रीय भूमिका प्रदान की गई है। इसी तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण में विश्व के समस्त तत्त्वों के जानकार सर्वज्ञ तीर्थंकर को प्रणाम करते हुए हमने यह अभिलाषा व्यक्त की है कि उनका ज्ञान हमें प्राप्त हो। जैन संस्कृति में अध्ययन, शिक्षा और स्वाध्याय को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है और इसे प्रत्येक व्यक्ति के महत्वपूर्ण नियमित कर्तव्य के रूप में घोषित

किया गया है। पण्डित दौलतराम जी द्वारा 300 वर्ष पूर्व रचित छहढाला की निम्नांकित पंक्तियों में, जो हमारी माताएं बहिने सदैव पढ़ती हैं, ज्ञान को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है:-

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन।

यह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण॥

12. पुरा इतिहास काल में जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को स्वयं अध्ययन कराया है। उन्होंने स्वयं अपने उदाहरण के माध्यम से समाज की सभी स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। भगवान ऋषभदेव के स्त्री शिक्षा संबंधी महत्वपूर्ण उपदेश / आदेश को आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण के निम्नांकित श्लोक 16/98 में लेखबद्ध किया गया है:-

विद्यावान् पुरुषोलोके सम्मतिं याति कोविदैः।

नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम्॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि इस लोक में विद्यावान पुरुष को पण्डितों के द्वारा सम्मानित किया जाता है। विद्यावती नारी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करती है। अतः हे पुत्रियों! तुम विद्यार्जन हेतु सदा प्रयत्नशील रहो।

13. तीर्थंकर एवं आचार्यों की सतत प्रेरणा एवं उपदेश के कारण जैन श्रावकाचार में शिक्षा प्राप्ति का सर्वाधिक महत्व रहा है। शिक्षित और ज्ञानी महिलाओं को समाज में सदा अग्रणी और सम्माननीय स्थान प्रदान किया गया है। लौकिक शिक्षा प्राप्त कर श्रमण संस्कृति का अध्ययन करने की हमारी महिलाओं में सदैव जागरूकता एवं रुचि रही है।

14. नारी परिवार की आधारशिला है। वह सामाजिक रथ का सशक्त चक्र है। पवित्र सामाजिक संस्कारों की जननी है। संस्कृति की संरक्षिणी है। दिव्य शक्तियों से ओतप्रोत है। पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों की सफल प्रबंधक एवं संचालक है। नारी अपने नैसर्गिक गुणों से अपने घर को स्वर्ग बनाती है। पूरे परिवार को एक सूत्र में बांधती है। वह करुणा की जीवंत मूर्ति है। वह ममता, समता, सहिष्णुता, शांति, श्रमशीलता, सहनशीलता, सेवा और विनम्रता जैसी शुचिधाराओं की संगम है। ममता, समता, वात्सल्य, प्रेम, समर्पण और त्याग के गुणों से विभूषित नारियों ने भारत को ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व को अपनी कथनी और करनी के माध्यम से महत्वपूर्ण सांस्कृतिक अवदान दिया है। इन जैन नारियों ने अपने गौरव, गरिमा, तपस्या और त्याग की छवि सम्पूर्ण इतिहास में अंकित की है। जैन संस्कृति को अमरता प्रदान करने में इस नारियों ने बहुमूल्य योगदान दिया है।

15. ज्ञान दान श्रेष्ठतम एवं सर्वोत्कृष्ट दान है। ज्ञान से हमारे अनेक कष्टों का निदान हो जाता है। ज्ञान दान, भोजन दान और वस्त्र दान से श्रेष्ठ है। अतिथि को जल पिला कर हम उसे कुछ घण्टों के लिए संतुष्ट करते हैं। उसे भोजन देकर आधे दिन के लिए संतुष्ट करते हैं। वस्त्रदान से कुछ माह के लिए संतुष्ट करते हैं। घर दान कर

कुछ वर्षों के लिए संतुष्ट करते हैं। किन्तु ज्ञान दान देकर उसे पूरे जीवन के लिए संतुष्ट करते हैं। ज्ञान दान प्राण दान से भी ऊँचा स्थान रखता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने से व्यक्ति को एक निश्चित समय सीमा तक ही सुख और संतोष प्राप्त हो पाता है। ऐसा सुख एक निश्चित अवधि तक ही प्रभावी होता है किन्तु ज्ञान पाकर वह पूरे जीवन भर सुख और संतोष प्राप्त करता है। अपने परिवार को और अपने परिवार की अनेक पीढ़ियों को संतोष प्रदान करता है। ज्ञानदान से व्यक्ति के कष्ट एक घण्टे के लिए नहीं, एक दिन के लिए नहीं, एक वर्ष के लिए नहीं किन्तु पूरे जीवन के लिए दूर हो जाते हैं। अतः हम आज यह शपथ लें कि अपने परिवार, अपने संबंधियों और अपने समाज के सदस्यों को सदैव ज्ञानदान देने का प्रयास करें।

16. इस आलेख के प्रत्येक पाठक एवं विशेषतः प्रत्येक छोटी बहिन, बहू एवं बेटी से मेरा व्यक्तिगत आग्रह है कि:-
 - आप राष्ट्रीय समाचार पत्रों को प्रतिदिन पलटिए, पढ़ने का प्रयास कीजिए और रविवार को कम से कम एक राष्ट्रीय समाचार-पत्र अवश्य पढ़िए।
 - भारत सरकार की संस्था राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन. सी.ई.आर.टी.) द्वारा पहली से बारहवीं कक्षा तक की अधिकांश पाठ्य पुस्तकों हिन्दी तथा अंग्रेजी में प्रकाशित की गई है। इन पाठ्य पुस्तकों में प्रत्येक कक्षा के छात्र के स्तर की दृष्टि से न्यूनतम अपेक्षित ज्ञान, उपलब्धियों एवं जीवन मूल्यों का समावेश वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। जब भी आपको समय मिले। आप इन पुस्तकों को पढ़ें। हिन्दी भाषा तथा अंग्रेजी भाषा की पुस्तकों को एक साथ रखकर पढ़ें। ऐसा करने से आपकी अंग्रेजी भाषा का ज्ञान बेहतर होगा।
 - आप भाषा के चारों कौशल-सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना- विकसित करें। अपने उच्चारण पर विशेष ध्यान दें। आपका उच्चारण जितना स्पष्ट होगा, आपका लेखन और प्रस्तुतीकरण उतना ही शुद्ध और प्रभावी होगा।
 - अपने विषय से संबंधित एक राष्ट्रीय तथा एक अंतर्राष्ट्रीय मासिक पत्रिका अवश्य पढ़िए। पढ़कर इस पत्रिका को सुरक्षित रखिए। भविष्य में जब भी समय मिले, इन पुरानी पत्रिकाओं को पुनः पलटिए।
17. यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षित महिलाएं आधुनिक विज्ञान और तकनीक अपने ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक परिवार तक पहुंचायें। प्रत्येक मंदिर और धर्मशाला में ज्ञानकेन्द्र स्थापित करें। ग्रामों में और छोटे नगरों में रहने वाले जैन परिवारों का जीवन स्तर ऊँचा उठाएं। उन्हें इन तकनीकों से जोड़ें। जिससे वे भी हमारी प्रगतिशील समाज की मुख्य धारा में आ सकें। हमारी महिलायें जैन संस्कृति और जैन कला के वैज्ञानिक एवं तकनीकी पक्षों का प्रचार-प्रसार करें। जैन मान्यताओं, परंपराओं, जैन जीवन पद्धतियों एवं पारंपरिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण करें।
18. भारतीय संस्कृति माता को अनेकानेक उपाध्यायों और आचार्यों से श्रेष्ठ मानती है। इस

संदर्भ में निम्नांकित श्लोक, जिसका भावार्थ है कि दस उपाध्यायों से एक आचार्य, सौ आचार्यों से एक पिता तथा हजार पिताओं से एक माता श्रेष्ठ है, उल्लेखनीय है कि:-

उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।

सहस्रांस्तु पितृन् माता, गौरवेणातिरिच्यते॥

19. परम पूज्य विद्यासागर जी ने अपने सुप्रसिद्ध हिन्दी महाकाव्य मूकमाटी में एवं पूज्य क्षमासागर जी ने अपनी पुस्तक आत्मान्वेषी में माँ का जीवंत तथा आदर्श चित्रण किया है। उन्होंने माँ को विश्व प्रसिद्ध एवं विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवादित "माँ" उपन्यास के रचयिता गोर्की से भी अधिक ऊँचाई दी है। बाल ब्रह्मचारी दिगंबर संत द्वारा मातृत्व के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य का ऐसा विवेचन निश्चित ही अत्यधिक सराहनीय है:-

माँ की गोद में बालक हो।

माँ उसे दूध पिला रही हो॥

20. पूज्य ज्ञानसागर जी ने बुन्देलखण्ड के ग्रामीण क्षेत्र की निर्धन युवा प्रतिभाओं की पहचान की। उन्होंने ऐसी प्रतिभाओं एवं उनके परिवार का विश्वास अर्जित किया और हमें ऐसी प्रतिभाओं को उच्च शिक्षा प्रदान करने का अवसर दिया। नारी शिक्षा के क्षेत्र में उनकी यह व्यावहारिक एवं प्रभावी भूमिका अत्यधिक सराहनीय और अनुकरणीय है।
21. इस आलेख के माध्यम से प्रत्येक छोटी बहिन, बहू एवं बेटे से मेरा विनम्र आग्रह है कि हम ज्ञान आधारित समाज के सक्रिय एवं प्रभावी अंग बनें। लगातार कुछ नया करें। सदैव रचनात्मक कार्य करें। नई परिकल्पना करें। नई खोज करें। नई परिकल्पना और नई खोज को मिलाकर कुछ नया गढ़ने का प्रयास करें। घिसे पिटे विचारों को नया स्वरूप दें। पुराने विचारों को नए ढंग से लागू करें। अच्छे परिवर्तनों और नई प्रक्रियाओं को स्वीकार करने के लिए सदैव तत्पर रहें। प्रत्येक क्षण नई संभावना की खोज करें। अपने नजरिए में लोच रखें। अच्छी बात का आनन्द उठाएँ। भूल को सुधारें। हम किसी वस्तु या घटना को भले ही साधारण व्यक्ति की भाँति देखें किन्तु उसपर विशिष्ट व्यक्ति की भाँति साँचे। सभी स्तरों पर निरंतर नूतन तरीका अपनाएं। नित नवीन करने की ललक रखें। नई कार्य संस्कृति विकसित करें। कुशाग्र बुद्धि एवं रचनात्मक मनोवृत्ति वाले युवक/युवतियों को सामने लाएं। उनके विचारों को व्यावहारिक स्वरूप दें। नए विचारों की प्रतिस्पर्धा विकसित करें। ऐसी प्रतिस्पर्धा को संरक्षण और संवर्द्धन दें। नए विचार और सोच को पुरस्कृत और प्रोत्साहित करें।
22. आप अपने व्यक्तित्व में अच्छा नजरिया और सकारात्मक प्रवृत्ति विकसित करें। तकनीकी प्रशिक्षण के कारण केवल 15 प्रतिशत सफलता मिलती है। शेष 85 प्रतिशत सफलता अच्छे व्यक्तित्व के कारण मिलती है और अच्छे व्यक्तित्व का मूलभूत गुण अच्छा नजरिया है। अच्छी और सकारात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। अतः आप

अच्छा नजरिया सीखें, अच्छी प्रवृत्तियाँ अपनाएँ, सकारात्मक प्रवृत्तियाँ विकसित करें। जिंदगी के युद्ध हमेशा सबसे शक्तिशाली या तेज व्यक्ति नहीं जीतता। वही व्यक्ति देर से या जल्दी जीतता है जो सोचता है कि वह जीत सकता है। हम अपने जीवन की परिस्थितियों को तुरंत ही परिवर्तित नहीं कर सकते हैं किन्तु हम अपने व्यक्तित्व में सहजता और सरलता से सहन करने की प्रवृत्ति और शक्ति विकसित कर सकते हैं। हम देश में फैल रहे नकारात्मक वातावरण को नियंत्रित नहीं कर सकते, परन्तु हम अपने और अपने बच्चों के मस्तिष्क को अपनी इच्छानुसार नियंत्रित कर उसे सकारात्मक ढंग से विकसित कर सकते हैं।

23. आप सतर्क रहें। संवेदनशील बनें। सही चिंतन करें। सही चिंतन करने वाले व्यक्तियों से मिले-जुलें। उनकी अच्छी आदतें सीखें। अच्छे कार्यों को बार-बार करके हम अच्छी प्रवृत्तियाँ और अच्छी आदतें सीखें। आप प्रतिदिन सही शब्द बोलें, प्रतिदिन अच्छी पुस्तक पढ़ें, प्रतिदिन अच्छा आडियो टेप सुने, प्रतिदिन अच्छे व्यक्तियों के साथ रहें, प्रतिदिन सही और अच्छा काम करें और प्रतिदिन कुछ क्षण भगवान की प्रार्थना करें। आप कभी किसी को नीचा न दिखायें किसी की आलोचना नहीं करें। हंसी-मजाक में भी आलोचना नहीं करें। ऐसी आलोचना किसी को स्थायी चोट पहुंचा सकती है। नीचा दिखाने से किसी व्यक्ति का स्वाभिमान और आत्मविश्वास कम हो सकता है। जब कभी भी अवसर मिले अन्य व्यक्तियों की प्रशंसा करें। अपने से छोटे को बेहतर काम करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करें। प्रोत्साहन ऑक्सीजन की भाँति उपयोगी होता है। प्रोत्साहन से व्यक्ति अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करते हैं।
24. अपने व्यक्तित्व को विकसित करें। अपने भीतर छुपे नेतृत्व के गुणों को उभारें। अपने व्यक्तित्व में विजयी होने का नजरिया (Winning Attitude) विकसित करें। अपने व्यक्तित्व में कुशलता एवं प्रभावी गुणों की स्थापना करें। अपने व्यक्तित्व के मूल्यांकन में वृद्धि करें। अपनी विशेष योग्यता की पहचान कर उसे विकसित करें। स्वयं को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करें। ऊँचा उठाने के लिए नई-नई जानकारी प्राप्त करें।
25. आप सदैव यह स्मरण रखें कि विभिन्न बाहरी साधनों को अपनाकर आप अपने चेहरे की सुंदरता में थोड़ी-सी ही वृद्धि कर सकती हैं परन्तु आप अपनी दुर्भावनाओं और अपनी दुष्प्रवृत्तियों को नियमित एवं नियंत्रित कर अपने व्यक्तित्व की सुन्दरता में चतुर्मुखी वृद्धि कर सकती हैं। हमारे जीवन में अल्पताएँ, क्षुद्रताएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ आकर हमें सफल नहीं होने देती हैं और हमें आगे बढ़ने से रोक देती हैं। हमें महान नहीं बनने देती हैं। इन्हीं अल्पताओं और क्षुद्रताओं के कारण हम दूसरों की अनावश्यक आलोचना करते हैं। इस आलोचना के कारण हम सफलता के पथ से पतित हो जाते हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ हमारे व्यक्तित्व के विकास एवं सफलता के लिए बाधक और अहितकर होती हैं। दुष्प्रवृत्तियों का प्रभाव सर्वप्रथम हमारे ऊपर, हमारे बच्चों और परिवार के सदस्यों के ऊपर एवं इसके पश्चात् हमारे समाज के ऊपर

पड़ता है। अतः आप अपने आचरण से दुष्प्रवृत्तियों को बाहर निकालने का सतत और प्रभावी प्रयत्न करें। अपनी भूलों का निरीक्षण करें। अपने प्रमाद का गहनतापूर्वक परीक्षण करें। अपनी अल्पताओं और क्षुद्रताओं की समीक्षा करें।

26. भगवान ने आपको बड़ी क्षमता और शक्ति प्रदान की है। अतः आप अपनी क्षमता और शक्ति का सदुपयोग करें। सर्वप्रथम आप अपने ऊपर विजय प्राप्त कीजिए। अपने जीवन में आत्म-अनुशासन विकसित कीजिए। आप आज से ही आत्म अनुशासन के छोटे-छोटे बिन्दु विकसित करना प्रारंभ कर दें ताकि आप कल बड़ी सीमा तक अनुशासित हो सकें। पहली इच्छा को नियंत्रित करना सरल है। पहली इच्छा को संतुष्ट कर उसके पीछे-पीछे आने वाली अनेक इच्छाओं को संतुष्ट करना संभव नहीं हो पाता है। अतः हम अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करें और अपनी मांगों को सीमित करें। अपने अच्छे उद्देश्यों और अच्छे विचारों को कार्य में बदलिए। सफलता की इच्छा, तैयारी करने की इच्छा, प्रशिक्षण लेने की इच्छा, अपने कौशल को निखारने की इच्छा से ही आप आगे बढ़ सकते हैं। सफलता प्राप्त करने के लिए अपने जीवन में सतत रूप से निवेश करें। अपनी क्षमता को पहचानें। उसका समुचित सदुपयोग करें। निष्काम भाव से परिश्रम करें। प्रतिभा हमें स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाती है। अच्छा चरित्र हमें धीरे-धीरे बनाना पड़ता है। हम अपनी भावनाओं से नहीं किन्तु अपने चरित्र से संचालित हो। अच्छे विचार, साहस और संकल्प से अच्छा चरित्र और अनुशासित जीवनशैली बनाएं।
27. आप समय बचाने का सदैव प्रयास करें। प्रतीक्षा के समय का सदुपयोग करें। सदैव रचनात्मक कार्य करें और समय का सार्थक उपयोग करें। बस और ट्रेन में बैठने के समय का उपयोग हलके-फुलके काम करने और पढ़ने में करें। कभी भी बस और ट्रेन में बिना पुस्तक के नहीं बैठें। जब भी ट्रैफिक में फंस जायें, तो पुस्तक को बाहर निकालकर पढ़ें। विचारों को लिखने के लिए नोट पैड भी रखें। इस प्रकार आप व्यक्तिगत विकास और काम के लिए आप कुछ अतिरिक्त घण्टे हासिल कर सकते हैं। ब्रश करते समय अच्छी बातें स्मरण करें। स्नान करते समय अच्छे गीत गुनगुनाएं। अपनी शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति के क्षणों का निर्धारण करें। सर्वोच्च महत्व के कार्य इसी समय करें। स्वागत एवं सामाजिक संबंधों के लिए समय निर्धारित करें।
28. अंत में प्रत्येक छोटी बहिन, बेटी एवं बहू को मेरी यह विनम्र सलाह है कि इस आलेख को समय निकालकर पढ़ें, पुनः-पुनः पढ़ें एवं इस आलेख से प्रेरणा लेकर अपने एवं अपने परिवार के चतुर्मुखी विकास के पथ पर आगे बढ़ने का प्रयास करें। अतिभोग और अतित्याग से बचें। अतिवादी जीवन से बचकर सम्यक जीवन प्राचीन और अर्वाचीन श्रेष्ठ जीवन मूल्यों का व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक धरातल पर समन्वय करें और समकालीन परिस्थितियों में शाश्वत जीवन मूल्यों के संरक्षण का सार्थक प्रयास करें।



मंचासीन माननीय शिक्षामंत्री श्री लोकेश नाथ झा, श्रीमती लक्ष्मी सिंह, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर पूर्व सांसद श्रीमती उषा सिंह - 22/4/1986



श्रीमती लक्ष्मी सिंह, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर संबोधित करते हुए - 1986



माननीय शिक्षामंत्री श्री लोकेश नाथ झा संबोधित करते हुए - 1987



महावीर जयन्ती समारोह, 1987 में सभा को संबोधित करते हुए डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी, पूर्व उच्चायुक्त, भारत सरकार



माननीय शिक्षामंत्री, बिहार, श्री लोकेश नाथ झा एवं डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी, पूर्व उच्चायुक्त, संस्थान पुस्तकालय का अवलोकन करते हुए - 12/4/1987



डॉ. देव नारायण शर्मा, निदेशक, विद्वद्गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए - 12/4/1987



❖ जगदीशचन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला - 1988 को सम्बोधित करते हुए प्रो. विलास संगवे, कोल्हापुर



प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी को स्मृति चिह्न से सम्मानित करते आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर - 1990



आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए - 1990



डॉ. नन्दकिशोर प्रसाद, निदेशक, व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए - 1990



विद्वद् गोष्ठी को सम्बोधित करते महामहिम राज्यपाल, बिहार, डॉ. ए.आर. किदवई, 1993



स्थानीय पूर्व विधायक श्री नागेन्द्र सिंह गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए - 1993



महामहिम राज्यपाल, त्रिपुरा, प्रो. श्री सिद्धेश्वर प्रसाद पुस्तक का विमोचन करते हुए - 1996



महात्मा गांधी जयंती विशिष्ट समारोह में महामहिम राज्यपाल, त्रिपुरा, प्रो. श्री सिद्धेश्वर प्रसाद सम्बोधित करते हुए - 1996



जगदीशचन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला - 1996 में मंचासीन डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव,
डॉ. कुमार विमल, डॉ. रामजी सिंह एवं डॉ. युगल किशोर मिश्र



उच्चशिक्षा राज्यमंत्री श्री रामदास राय एवं विधायक रामदेव वर्मा संस्थान से प्रकाशित
पुस्तक का लोकार्पण करते हुए - 2000



उच्चशिक्षा राज्यमंत्री श्री रामदास राय संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए - 2000



उच्चशिक्षा राज्यमंत्री श्री रामदास राय संगोष्ठी को सम्बोधित करते हुए - 21/8/2000



श्री रशीद अहमद खान, जिला पदाधिकारी, वैशाली, संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए - 2003



संस्थान में श्री रामचन्द्र सिंह, चकरमदास (वैशाली) को महात्मा महावीर अवार्ड - 2005 से सम्मानित करते हुए बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति डॉ. विजय कुमार ठाकुर - 2005



श्री सी. ललसोता, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुज., दीप प्रज्वलित कर संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए - 2006



मंचासीन ग्रामीण विकास मंत्री, भारत सरकार, डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह, पूर्व विधायक योगेन्द्र प्रसाद साहू, डॉ. अशेश्वर यादव, कुलपति, बिहार विश्वविद्यालय एवं मनीषी डॉ. श्याम नारायण चौधरी - 31/3/2007



संस्थान के निदेशक व्यख्यानमाला को संबोधित करते हुए - 2007



माननीय मंत्री, डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह एवं डॉ. अशेश्वर यादव, कुलपति, बिहार विश्वविद्यालय संस्थान से प्रकाशित कैलेंडर (नवीन संस्करण) का लोकार्पण करते हुए - 2007



प्रो. श्याम नारायण चौधरी, पूर्व अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, आर.एन. कॉलेज,
हाजीपुर व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए - 2007



श्री निर्मल कुमार सेठी, अध्यक्ष, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, नई दिल्ली
सम्बोधित करते हुए - 2007



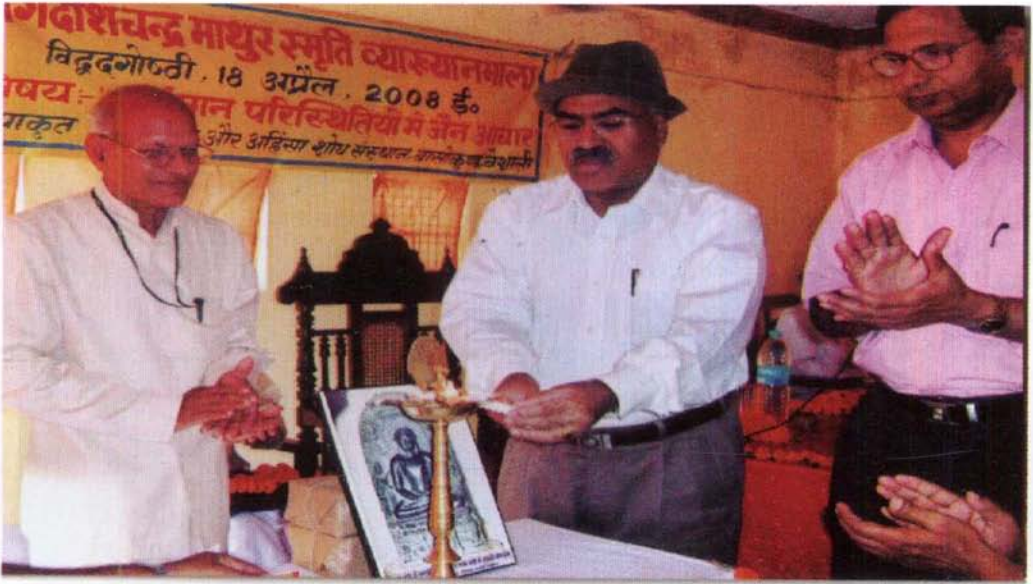
माननीय मंत्री, डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह सम्बोधित करते हुए - 2007



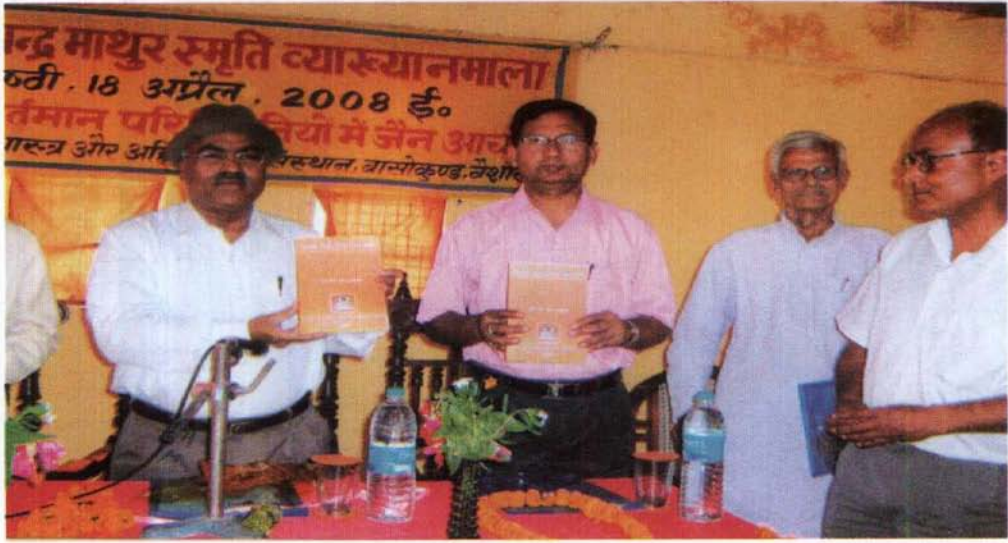
डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना, सम्बोधित करते हुए - 2007



डॉ. अशेश्वर यादव, कुलपति, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए - 2007



श्री जयराम लाल मीणा, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर, दीप प्रज्ज्वलित कर व्याख्यानमाला का उद्घाटन करते हुए - 2008



श्री जयराम लाल मीणा, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर, संस्थान से प्रकाशित पुस्तक का लोकार्पण करते हुए - 2008



राष्ट्रपति से सम्मान प्राप्त मनीषी डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', नागपुर, व्याख्यानमाला में सम्बोधित करते हुए - 2008



डॉ. देव नारायण शर्मा, पूर्व निदेशक, व्याख्यानमाला में अभिभाषण करते हुए - 2008



डॉ. नन्द कुमार यादव 'इन्दु', प्रतिकुलपति, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, व्याख्यानमाला में सम्बोधित करते हुए - 2008



आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुज., व्याख्यानमाला में अध्यक्षीय भाषण करते हुए - 2008



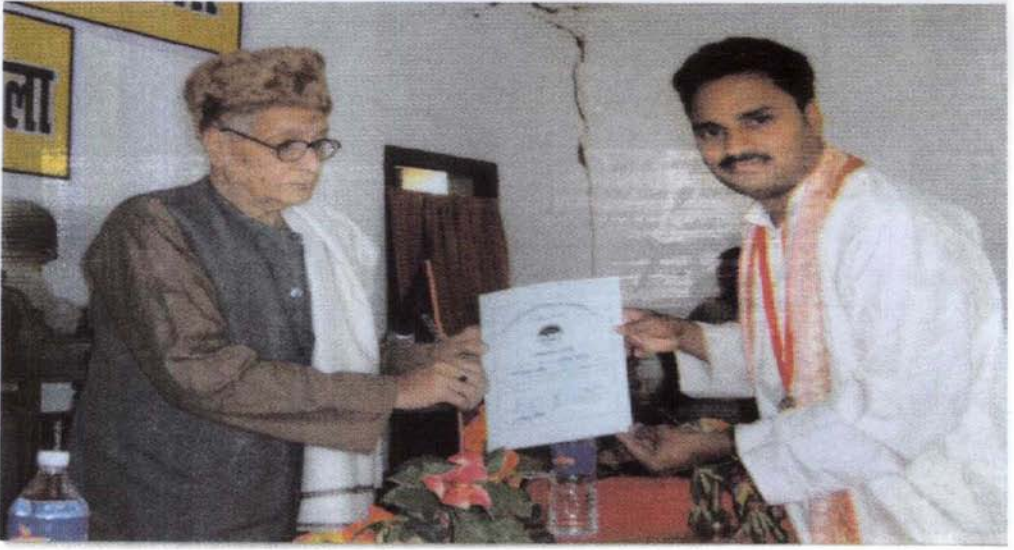
डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपुर, संस्थान के सर्वप्रथम छात्र अमरेन्द्र कुमार प्रभाकर को स्वर्णपदक एवं प्रमाण-पत्र प्रदान करते हुए - 2008



डॉ. हीरालाल जैन स्मृति व्याख्यानमाला - 2009 का उद्घाटन करते हुए डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, डॉ. देव नारायण शर्मा, डॉ. जयकुमार उपाध्ये, श्री प्रमोद कुमार चौधरी एवं श्री विजय कुमार सिन्हा - 27/11/2009



डॉ. जयकुमार उपाध्ये, नई दिल्ली व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए - 27/11/2009



संस्थान के सर्वप्रथम छात्र श्री राजेन्द्र पाटिल को स्वर्णपदक एवं प्रमाण पत्र से सम्मानित करते हुए डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव - 27/11/2009



डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, निदेशक, व्याख्यानमाला में सम्बोधित करते हुए - 16/12/2009



राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त डॉ. राजाराम जैन, नोएडा, व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए - 16/12/2009



डॉ. प्रमोद कुमार सिंह, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, 16/12/2009 को व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए



डॉ. विद्यावती जैन, नोएडा, व्याख्यानमाला को सम्बोधित करती हुई - 16/12/2009



मंचासीन विद्वद्गण - 23/2/2010



डॉ. मंजुबाला, व्याख्याता, मंगलाचरण करती हुई - 23/2/2010



डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, निदेशक, सम्बोधित करते हुए - 23/2/2010



डॉ. कमलेश कुमार जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,
व्याख्यान देते हुए - 23/2/2010



डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
सम्बोधित करते हुए - 23/2/2010



डॉ. उपेन्द्र मिश्र, सी.सी.डी.सी., बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
सम्बोधित करते हुए - 23/2/2010



डॉ. देव नारायण शर्मा, पूर्व निदेशक, अध्यक्षीय भाषण देते हुए - 23/2/2010



प्रशस्ति-पत्र

धम्मेषु ह्येव पुज्यो, विस्ससणिज्जोपि ओजस्सी य।
सुहसज्जो य पारणं, धम्मो मणणिज्जुदिवकरो ॥

प्राच्य भारतीय भाषाओं के अध्येता,
प्राकृत, जैनदर्शन, जैन साहित्य एवं जैन इतिहास के मनीषी विद्वान्,
जैन-संस्कृति के प्रचारक-प्रसारक, लेखक समीक्षक

प्रो. (डॉ.) लालचन्द्र जैन

भुवनेश्वर, उड़ीसा
के करकमलों में

शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में
उनके समग्र योगदान को सम्मानित करने के लिए
सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** के

मंगल आशीर्वाद एवं सत्प्रेरणा से
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रवर्तित
शौरसेनी-प्राकृत भाषा एवं साहित्य-विषयक

आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार

वर्ष 2000 ई.

इक्यावन हजार रुपयों की सम्मान-राशि के साथ
सबहुमान समर्पित किया जाता है तथा उन्हें

विद्वत्तल

के मानद विरूत से सादर विभूषित किया जाता है।

विनीत

साहू रमेशचन्द्र जैन
प्रबन्धन्यासी
भारतीय ज्ञानपीठ

सुरेश चन्द्र जैन
मन्त्री
कन्दकन्द भारती न्यास

दिनांक : 15 जनवरी 2004 गुरुवार वीर निर्वाण संवत् 2530,
समारोह स्थल : केन्द्रीय विद्यालय संगठन सभागार,
शहीव जीत सिंह मार्ग, नई दिल्ली - 110016

वर्ष 2000 के 'आचार्य विद्यानन्द-पुरस्कार' से सम्मानित मनीषी

प्रो. (डॉ.) लालचन्द जैन का यशस्वी जीवनवृत्त



प्राकृत भाषा, जैनदर्शन और जैन साहित्य के क्षेत्र में डॉ. लालचन्द जैन एक बहुश्रुत नाम है। विद्वानों की जननी मुन्देलखण्ड में 3 मई 1944 को स्व. श्री बालचन्द जी के यहाँ जन्मे डा. लालचन्द जैन ने जैन दर्शन एवं साहित्य की शिक्षा स्याद्धाव महाविद्यालय, वाराणसी से प्राप्त की तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि एवं 'जैनदर्शन में आत्मा का स्वरूप : तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। प्राकृत जैन शास्त्र एवं संस्कृत में स्नातकोत्तर उपाधि के साथ-साथ संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से जैनदर्शनार्चाय की उपाधि भी प्राप्त की।

जैन विश्वभारती लाहड़ (मानित विश्वविद्यालय) में अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर आप प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान वैशाली (बिहार) में अट्ठाईस वर्षों के अध्यापन-कार्य के पश्चात् वहीं से निदेशक के पद से सेवानिवृत्त हुए।

मौलिक ग्रन्थ :

- जैन दर्शन में आत्म विचार
- अद्वैतवाद
- भारतीय दर्शन में सर्वज्ञता : जैनदर्शन के आलोक में संपादित एवं अनुवादित ग्रन्थ :

- लीलावई कहा
- कंसवहो
- नय चक्र
- तत्त्वसार
- प्राकृत गद्य-पद्य बन्ध भाग 1-2-3
- जैन वाङ्मय में चम्पापुरी और मन्दागिरि
- समयसार
- समणसुत्र
- जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व

सम्पादक :

- महावीर विमल देशना (मासिक)
- जैन सिद्धान्त भास्कर (शोध पत्रिका)
- प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान ग्रन्थ माला के प्रधान संपादक

प्राकृत, जैन दर्शन एवं साहित्य से सम्बन्धित एक शतक से अधिक शोध निबन्ध आपकी लेखनी से प्रसृत हो चुके हैं तथा राष्ट्रीय स्तर की लगभग अर्धशतक संगोष्ठियों में भाग लेकर आपने महत्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत किए हैं।

प्रो. (डॉ.) विद्यावती जैन ने 'संत कवि देवीदास और उनके अप्रकाशित साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर आपके निर्देशन में डी.लिट. की उपाधि प्राप्त की। सात शोधार्थियों ने आपके निर्देशन में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की तथा छह छात्र आज भी आपके निर्देशन में शोधकार्यरत हैं। बिहार विश्वविद्यालय-मुजफ्फरपुर, मगध विश्वविद्यालय-बोधगया, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय-उदयपुर, काशी विद्यापीठ-वाराणसी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी, सर हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय-सागर, वीर कुंवरसिंह विश्वविद्यालय-आरा, बरकतुल्ला विश्वविद्यालय-भोपाल की विभिन्न समितियों के आप सम्मान्य सदस्य हैं।

संप्रति उत्कल संस्कृत विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर (उड़ीसा) में प्राकृत एवं जैन विद्याविभाग के निदेशक एवं देव कुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान, आरा के मानद निदेशक हैं।

डॉ. लालचन्द जैन की सुदीर्घकालीन शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रवर्तित शौरसेनी-प्राकृतभाषा एवं साहित्य-विषयक 'आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार' सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में सबहुमान समर्पित करते हुए हम उनके सुदीर्घ सक्रिय जीवन की भंगल कामना करते हैं।



प्रशस्ति-पत्र

सम्पद्संपातुं बंधु बालसंगारयं जिणिंदाणं।
वयणमिदं जगो जयदि, धम्मचक्कं तवोधारं।।

प्राकृत, संस्कृत एवं जैनदर्शन के अधीति विद्वान्,
प्राचीन पाण्डुलिपियों के यशस्वी सम्पादक, अनुवादक,
जैन-संस्कृति के प्रचारक-प्रसारक, जैन-वाङ्मय के अनन्य सेवी,

डॉ. ऋषभचन्द्र जैन

वैशाली, बिहार
के कारकमलों में

शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में
उनके योगदान को सम्मानित करने के लिए

सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** के

मंगल आशीर्वाद एवं सत्प्रेरणा से
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रवर्तित
शौरसेनी-प्राकृत भाषा एवं साहित्य-विषयक

आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार

वर्ष 2001 ई.

इक्यावन हजार रुपयों की सम्मान-राशि के साथ
सबहुमान समर्पित किया जाता है तथा उन्हें

प्राकृत-भाषा-विशारद

के मानद विरुद से सावर विभूषित किया जाता है।

विनीत

साहू रमेशचन्द्र जैन

प्रबन्धन्यासी

भारतीय ज्ञानपीठ

सुरेश चन्द्र जैन

घन्टी

कुन्दकुन्द भारती न्यास

दिनांक : 15 जनवरी 2004 गुरुवार वीर निर्वाण संवत् 2530,

समारोह स्थल : केन्द्रीय विद्यालय संगठन सभागार,

शहीद जीत सिंह मार्ग, नई दिल्ली-110016

वर्ष 2001 के 'आचार्य विद्यानन्द-पुरस्कार' से सम्मानित मनीषी

डॉ. ऋषभचन्द्र जैन का यशस्वी जीवनवृत्त



प्राकृत भाषा और जैन साहित्य के प्रचार-प्रसार में रत डॉ. ऋषभचन्द्र जैन का जन्म विद्वानों की जननी बुन्देलखण्ड में हुआ। 2 मार्च 1960 को श्री मल्लिकुमार जैन के यहाँ जन्मे डॉ. ऋषभचन्द्र जैन ने स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी से प्राकृत और जैनदर्शन में आचार्य (एम.ए.) उपाधि प्राप्त की। सर हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर से संस्कृत विषयक स्नातकोत्तर उपाधि में स्वर्णपदक एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से 'नियमसार-पाहुड-सुलस समीक्षात्मक-मध्ययन' विषय पर विद्यावारिधि (पीएच. डी.) की उपाधि प्राप्त की।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर वर्तमान में आप राजकीय प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) में अध्यापन-कार्यरत हैं। आप प्राकृत, संस्कृत, जैनदर्शन की प्राचीन पाण्डुलिपियों के वाचन, संपादन और अनुवाद के कार्यों के अधीति विद्वान् हैं।

संपादित एवं प्रकाशित रचनाएँ :

- श्री जैनसिद्धान्त भवन ग्रन्थावली भाग 1-2-3
- सचित्र जैन रामायण
- लीलायई कहा
- अर्हत्प्रवचन
- आत्मकल्याण प्रकाश
- अवधूरिजुवो दव्यसंगहो
- नियमसार
- प्राकृत-गद्य-पद्य ग्रंथ भाग-3
- प. जुगल किशोर मुखार स्मृतिग्रन्थ

शोध पत्रिकाओं का संपादन :

- जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन एण्टीक्वैरी
- वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन

'अनेकान्तः एक वृष्टि', 'अनेकान्त और स्याद्वाद', 'त्रव्यसंग्रह एक अध्ययन', 'जैन शिक्षा वर्तमान सन्दर्भ में', 'भगवान महावीर और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म', 'लोकव्यवहार में अनेकान्तवाद', 'धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान के क्षेत्र में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका', 'प्राकृत शब्दों का देशीकरण', 'प्राकृत भाषाओं का वर्ण-विधान', 'जैन श्रमणाचार में समितियों', 'जैन प्रप्रकारिता : एक मूल्यांकन', 'बारस अनुवेक्या में वर्णित दशधर्म', 'आचार्य कुन्दकुन्दस्य प्राकृतभक्तय', 'आचार्य कुन्दकुन्दस्य प्राकृतग्रन्थेषु सव्यज्ञानविषय', 'जैन परम्परा में श्रावक के भेद' सहित पचहत्तर से अधिक शोध लेख आपनी लेखनी से प्रसृत हो चुके हैं। आपने पच्चीस संगोष्ठियों में सहभागी होकर अपने आलेख प्रस्तुत किए हैं। आप अनेक संस्थाओं के पदाधिकारी एवं सलस्य हैं। वो शोधार्थी आपके निर्देशन में शोध कार्यरत हैं।

भगवान महावीर की जन्मस्थली कण्डपुर (विदेह) की ऐतिहासिकता के विषय में सप्रमाण शोधपूर्ण विस्तृत लेख लिखकर आपने इस विषय में व्याप्त अनेक भ्रान्तियों का प्रशस्त निराकरण किया है।

संप्रति राजकीय प्राकृत जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) में स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्यापन के साथ आप देव कुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान, आरा (बिहार) के मानव शोधधिकारी हैं।

शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवाओं का मूल्यांकन कर डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, वैशाली को भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रवर्तित शीरसेनी-प्राकृतभाषा एवं साहित्य-विषयक 'आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार' सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में सबहृदयान समर्पित करते हुए हम उनके सुदीर्घ सक्रिय जीवन की मंगल कामना करते हैं।

BUDDHA MISSION OF INDIA



Central Office :- Kacchi Talab, Gardanibagh, Patna : 800 001 (Bihar)

CERTIFICATE

BUDDHA VISHIST AWARD 2006

This is to certify that Buddha vishist Award is given to

RISHAV CHANDRA JAIN

for his work and Contribution in the field of
EDUCATION

on the occasion of 2550th Buddha Jayanti Celebration on 13 May 2006 at
Rabindra Bhawan, Patna, Bihar.

Er. Ramany Gautam

Chairman



Chief Guest

Dr. Kamal Prasad Baudha

Secretary



डॉ. ऋषभचन्द्र जैन , निदेशक को 'बुद्ध विशिष्ट अवार्ड-2006' से सम्मानित करते हुए बिहार विधानसभाध्यक्ष माननीय श्री उदय नारायण चौधरी एवं बिहार सरकार के माननीय मंत्री श्री जनार्दन सिंह -'सिग्रीवाल'- 13/05/2006



आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार समर्पण समारोह, नई दिल्ली में मंचासीन आचार्यश्री विद्यानन्द जी, डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, डॉ. लालचन्द्र जैन, डॉ. सत्यव्रत शास्त्री, डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, श्री सतीश जैन एवं सम्बोधित करते हुए डॉ. राजाराम जैन - 2004



डॉ. ऋषभचन्द्र जैन को आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार एवं 'प्राकृत भाषा विशारद' मानद उपाधि से सम्मानित करते हुए डॉ. सत्यव्रत शास्त्री, नई दिल्ली - 2004



डॉ. ऋषभचन्द्र जैन को अंगवस्त्र से सम्मानित करते हुए प्रो. वाचस्पति उपाध्याय, कुलपति, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली - 2004



डॉ. ऋषभचन्द्र जैन

जन्म : 2 मार्च, 1960

शैक्षणिक योग्यता

आचार्य (जैनदर्शन, प्राकृत एवं जैनागम),
एम. ए. (संस्कृत-साहित्य), तीनों में प्रथम
श्रेणी में प्रथम स्थान, लब्ध स्वर्णपदक-त्रय,
विद्यावारिधि (पी-एच.डी.), सिद्धांतशास्त्री

विशेषज्ञता

जैनदर्शन, प्राकृत एवं जैनशास्त्र,
संस्कृत-साहित्य, प्राचीन पाण्डुलिपियों का
वाचन, सूचीकरण एवं सम्पादन और अनुवाद,
प्राचीन कन्नड़, गुजराती आदि लिपियों का ज्ञान

प्रकाशित ग्रन्थ

जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग-1, 2, 3
अवचूरिजुदो दव्वसंगहो - (संपादन)
सचित्र जैन रामायण - (संपादन)
अर्हत्प्रवचन - (संपादन-अनुवाद)
नियमसार - (संपादन-अनुवाद)
लीलावई - (संपादन-अनुवाद)
प्राकृत-गद्य-पद्य-बंध, भाग-3 (हिन्दी अनुवाद),
जैनविद्या, प्राकृत साहित्य और भाषाएँ - (सं.)
Aspects of Non-Violence - (Ed.)
Migration in Bihar : Socio-
Demographic Analysis - (Ed.)
पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार स्मृतिग्रन्थ - (सं.)
आत्म-कल्याण-प्रकाश - (संपादन)

शोध-पत्रिकाओं का सम्पादन

जैन सिद्धांत भास्कर एवं जैन एण्टीक्वैरी, आरा
वैशाली इन्स्टीच्यूट रिसर्च बुलेटिन, वैशाली



सिद्धि गदे वीरजिणे वि-जदु-चदु-वे सुवास संकते ।
चित्त सिया तेरसिणं चंददिणे जाद-ऊसने संते ॥१॥
वेसालीप्र पागय-विज्जावीडस्स मूल-पदस्स ।
सिरि राजिंदपसादे रद्वई ठावणं किदवं ॥२॥

महावीर भगवान के निर्वाण से २४८२ (दो हजार चार सौ ब्यासी) वर्ष व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ल त्रयोदशी दिन सोमवार को महावीर जन्मोत्सव के अवसर पर वैशाली प्राकृत विद्यापीठ की शिलान्यास विधि राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद जी ने अपने कर-कमलों द्वारा सम्पन्न की ।



प्रमुख प्रवृत्तियाँ

1. स्नातकोत्तर अध्यापन
2. शोधकार्य
3. शोध प्रकाशन
4. विद्वद् गोष्ठियाँ एवं विशेष व्याख्यान
5. स्नातकोत्तर तथा शोध छात्रवृत्तियाँ